अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
सपन्	संपन्	२८०	३ टि०	शुभ	शुभ्र	३४१	१५
हूयी	हुई	२८१	६	परोपपातो	परोपघातो	३४२	२
रुचि	ऽरुचि	२८१	४ टि०	आथिक	आर्थिक	३४३	५
वितैर्निजैः	वित्तैर्निजैः	२८३	३ टि०	निःस्वाथ	निःस्वार्थ	३४८	२५
व्वसनेभ्य;	व्यसनेभ्यः	२८३	३ टि०	सयायाति	समायाति	३५१	२ टि०
भक्ताग्रामाः	भक्तग्रामाः	२८७	२०	विरूपिपोऽपि	विरूपोऽपि	३५४	२ टि०
ह	है	२८६	१० टि०	सभगः	सुभगः	३५६	३ टि०
रुपाय	उपाय	२८७	६ टि०	ममुद्र	समुद्र	३५७	१३
धेनुवो	धेनवो	२८८	२ टि०	भघति	भवति	३५७	६
युद्धापयोगी	युद्धोपयोगी	२९६	६	थो	यो	३५७	६
सवणोति	संवृणोति	२९६	७	विवाह-समुद्देश	विवाद-समुद्देश	३५९से	३६५ तक
वन	न	२९६	१०	मानाथहानि	मानार्थहानिं	३५८	६
विदान	विद्वान्	२९६	१५	कुता	कुनो	३५८	७
(शस्त्रधारी)	(शास्त्रधारी)	२९६	१८	पूर्वोक्ते	पूर्वोक्त	३५९	१८
[illegible]श्चैवं	यतश्चैव	२९६	२५	स्वाथ	स्वार्थ	३६०	६
[illegible]ाय	कार्य	२९८	२ टि०	वतमान	वर्तमान	३६०	१२
[illegible]रेऽप्रि	दूरेऽपि	२९८	३ टि०	प्रमणानि	मप्रमाणानि	३६०	३ टि०
विजयगीपु	विजिगीष	२९८	२३	यद्दिव्ये	यद्दिव्ये	३६१	२ टि०
धनु	धेनु	२९९	३	अभयुञ्जीत	अभियुञ्जीत	३६१	४ टि०
भुपस्य	भूपस्य	२९९	३ टि०	वृतो	वृत्तो	३६२	६
समादिष्टैर	समादिष्टै	३००	१ टि०	खिलाकरी	खिलाकर	३६२	१३
विपेपता	विशेषता	३१०	१६	कटजैः	कूटजैः	३६२	१ टि०
पशार[illegible]	यशोरपि	३१४	२	किया	क्रियां	३६२	२ टि०
कुल्याणं	कुल्यानां	३१६	३ टि०	कार्य	कार्यं	३६३	१ टि०
सुवणधातु	सुवर्णधातु	३१८	५ टि०	रोहणाम	रोहणं	३६४	१६
मातृपितरो	मातृपितरौ	३२०	६	यपथ	शपथ	३६४	२०
राजभारः	राज्यभारः	३२२	४	वेश्याः	वेश्यायाः	३६५	५
कपतः	कूपतः	३२२	६	मूख	मूर्ख	३६६	१०
भासेन	भ्यासेन	३२४	२०	छाड़ता	छोड़ता	३६६	७
वायुसे	वायुमें	३३०	१२	मर्यायाहोन	मर्यादाहीन	३६६	१६
श्रद्धाल	श्रद्धालु	३३०	२३	नगग्य	नगण्य	३६८	७
वप	वृष	३३४	२६	पारुषेण	पौरुषेण	३६८	१ टि०
विदेशको	को	३३६	५	पुरुपासह	पुरुपसिंह	३६८	६
विलम्बनं	वलम्बनं	३३७	११	पुरुयाथ	पुरुपार्थ	३६९	१७

नमः श्रीसमन्तभद्राय

श्रीमत्सोमदेवसूरि-विरचित

नीतिवाक्यामृत

(हिन्दी-अनुवाद-प्रस्तावना प्रभृति-अलंकृत)

•••••O•••••

अनुवादक व प्रकाशक

पं० सुन्दरलाल शास्त्री

जैनन्याय-प्राचीनन्याय-काव्यतीर्थ

मंत्री—श्री महावीर जैन ग्रन्थमाला

C/o २३ दरियागंज, देहली।

•••O•••

कार्तिक वीर नि० सं० २४७७

(दीपमालिकापर्व) विक्रम संवत् २००७

नवम्बर १९५०

मूल्य सजिल्द १२ रुपये

साधारण ११ रुपये

मुद्रक—अजितकुमार जैन शास्त्री, अकलंकप्रेस, सदरबाजार, देहली।

समर्पण

श्रीमत्पूज्य आध्यात्मिक सन्त गुरुवर्य्य श्री १०५ क्षुल्लक
गणेशप्रसादजी वर्णी न्यायाचार्यके
पवित्र कर-कमलोंमें,

जिन्होंने अज्ञान-तिमिरसे आच्छन्न मेरा मन-मन्दिर अपने
श्रेयस्कर श्रुतज्ञान-प्रदीपसे प्रकाशित किया; अतः जिनकी
असीम उपकृति से अनुगृहीत हूँ।

—सुन्दरलाल
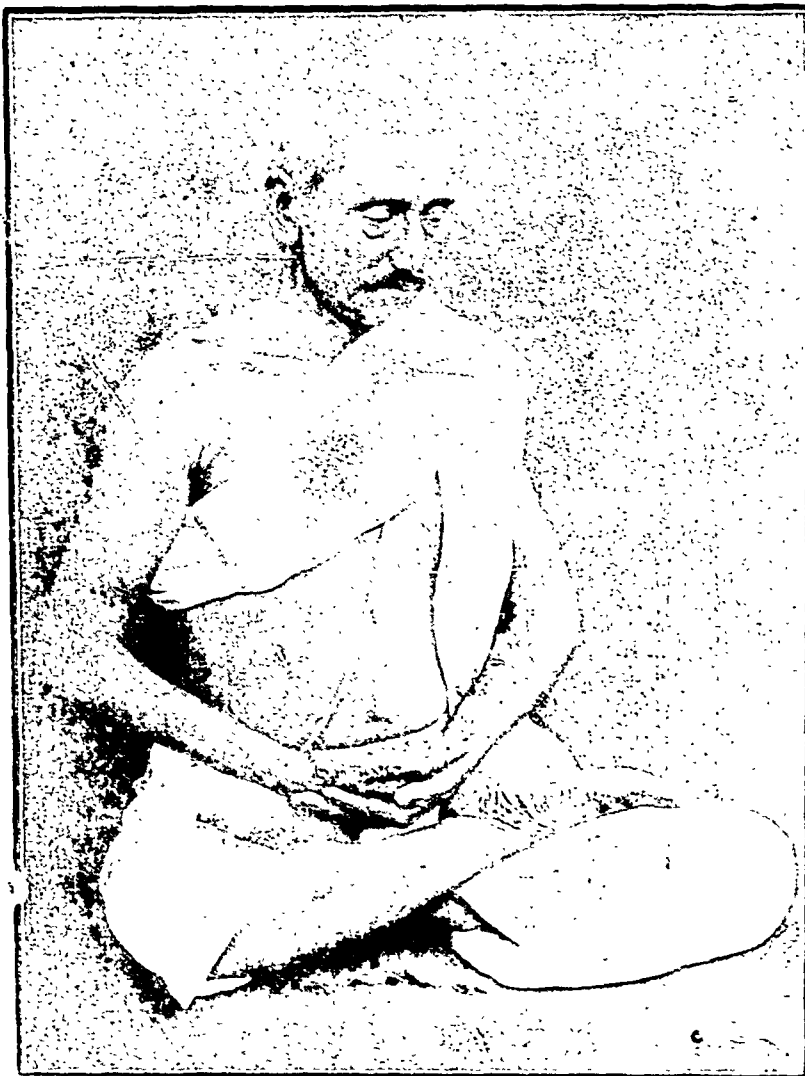
श्रीसत्पूज्य आध्यात्मिक सन्त श्री १०५ क्षुल्लक

गणेशप्रसाद जी वर्णी न्यायाचार्य ।

सम्पादकीय

श्रीमत्सोमदेवसूरिके 'यशस्तिलकचम्पू' व प्रस्तुत ग्रन्थरत्नके अध्ययन-मननसे हमारी मनोभूमिमें उनकी बहुश्रुत, सार्वभौम व अगाध विद्वत्ताके प्रति गाढ़ श्रद्धाका बीज अङ्कुरित एवं पल्लवित हुआ। अभिप्राय यह है कि हम श्रुतवाङ्मयकी पवित्रतम सेवा, आचार्यके प्रति गाढ़ श्रद्धा एवं समाज-राष्ट्रके नैतिक जीवन-स्तरको उच्चतम बनानेकी सद्भावनासे प्रेरित होकर अपनी विचारधाराका परिणाम-स्वरूप यह हिन्दी अनुवाद पाठकोंके कर-कमलोंमें भेंट कर रहे हैं। इस क्लिष्ट ग्रन्थकी उलझी हुई गुत्थियोंके सुलझानेमें हमें इसकी महत्वपूर्ण संस्कृत टीकाका तथा भाषानुवादको पल्लवित—विस्तृतरूप देनेमें यशस्तिलकचम्पू, आदिपुराण, कौटिल्य-अर्थशास्त्र, कामन्दकीय नीतिसार, चरक संहिता-आदि ग्रन्थों तथा संस्कृत टीकाकारसे उद्धरणों का आधार मिला। इसकी संस्कृत टीकामें वर्तमान गर्ग-आदि नीतिकारोंके उद्धरण जिन स्थानोंमें अशुद्ध, त्रुटित व अधूरे मुद्रित थे, उन्हें संशोधित, परिवर्तित करके उनका हिन्दी अनुवाद किया गया है, परन्तु विस्तारभयसे कुछ छोड़ दिया गया है।

संशोधन एवं उसमें उपयोगी प्रतियां—

इसका संशोधन एक मुद्रित मूल प्रति, एक सरस्वती भवन आराकी ह० लि० सं० टी० प्रति तथा तीन ह० लि० मूल प्रतियों (१ दि० जैन पंचायती मन्दिर मस्जिद खजूर दिल्ली २–३ भाण्डार० गवर्न० लायब्रेरी पूनासे प्राप्त) के आधारसे किया गया है। अर्थात् हमने मुद्रित सं० टीका पुस्तकसे अन्य प्रतियोंमें वर्तमान अधिक पाठ व पाठान्तरको कतिपय स्थलोंमें शामिल और कुछ स्थलोंमें टिप्पणीमें उल्लिखित चिन्हित करके उसका अनुवाद भी कर दिया है।

ज्ञातव्य व उल्लेखनीय

इसके सातवें त्रयी-समुद्देशके पहले सूत्रके 'चत्वारो वेदाः' का अर्थ हमने आर्हद्दर्शनकी अपेक्षासे प्रथमानुयोग-आदि चार वेद बता करके उसके समर्थक आर्ष प्रमाण भी टिप्पणीमें दिये हैं, परन्तु यह नैतिक ग्रन्थ सार्वभौम दृष्टिकोण से लिखा गया है, अतः यह अर्थ भी उपयुक्त मालूम होता है कि वैदिक संस्कृतिके आधार चार वेद हैं, १–ऋग्वेद, २–यजुर्वेद, ३–सामवेद व ४–अथर्ववेद। क्योंकि अर्हद्दर्शनानुयायी* श्रुति (वेद) व स्मृति ग्रन्थोंका उतना अंश प्रमाण मानते हैं, जिसमें उनके सम्यक्त्व व चारित्रकी क्षति नहीं होती। इस ग्रन्थका संस्कृत टीकाकार राजनैतिक विषयका प्रकाण्ड व बहुश्रुत विद्वान् था, क्योंकि उसने सोमदेव सूरिके प्रायः सभी सिद्धान्त भारतीय व प्राचीन नीतिकारोंके उद्धरणों द्वारा अभिव्यक्त किये हैं, परन्तु अर्हद्दर्शनसे संबंधि कतिपय विषयोंका उसने भ्रान्त अर्थ किया है

---

*सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः। यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणं ॥ १ ॥
श्रुतिः शास्त्रान्तरं वास्तु प्रमाणं कात्र नः क्षतिः ॥ २ ॥ यशस्तिलके सोमदेवसूरिः

और कतिपय विषयोंमें तो स्वरुचिसे नये सूत्र रचकर मूलग्रन्थमें घुसेड़नेकी निरर्थक चेष्टा की है। जैसे विशोपृद्ध समुद्देशके २२से२४ व २६ वां सूत्र। इनमें गृहस्थ, वानप्रस्थ व यतियोंके भेद व लक्षण किये हैं, जिनका अर्हद्दर्शनसे समन्वय नहीं होता। उक्त सूत्र किसी भी मु० व ह० लि० मूल प्रतियोंमें नहीं पाये जाते, प्रत्युत ग्रन्थकारने यशस्तिलक चम्पूमें उनका निरसन (खंडन) भी किया है, जिसका टिप्पणीमें उल्लेख है। इस ग्रन्थमें सभी नैतिक विषयोंका विवेचन है, केवल धर्मका ही नहीं, अतः पाठकवृन्द इसका मधुर अमृतपान नैतिक दृष्टिकोणसे करते हुए अनुगृहीत करें।

आभार

प्रकृत श्रुत-सेवाका सत्कार्य निम्नलिखित सज्जनोंके साहाय्यसे सुसम्पन्न हुआ है, अत: उनके प्रति हम कृतज्ञता एवं आभार प्रदर्शन करते हैं। श्रीमान् पूज्य गुरुवर्य्य १०५ श्री क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी न्यायाचार्य, श्री० के० भुजबली शास्त्री आरा, पूना गवर्न० लायब्रेरीके प्रबन्धक व वहाँसे प्रति मंगानेमें सहयोग देने वाले श्री० बा० नेमिचन्द्रजी वकील तथा श्री० बा० विशालचन्द्रजी बी० ए० एल० एल० बी० ऑनरेरी मजिस्ट्रेट सहारनपुर, पत्र द्वारा अनुवादकी सामग्री प्रदर्शन करने वाले श्री० श्रद्धेय पं० नाथुरामजी प्रेमी बम्बई, श्री० ला० बाबूरामजी दिल्ली, उचित सलाह देने वाले पं० दरबारीलालजी न्यायाचार्य दिल्ली, श्री० पं० चन्द्रमौलिजी शास्त्री प्रचारक अनाथाश्रम देहली, श्री० पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य सागर, श्री० पं० राजेन्द्रकुमारजी शास्त्री न्यायतीर्थ महामन्त्री दि० जैन संघ मथुरा, मेरी अनुपस्थितिमें प्रूफ संशोधन करने वाले व उसमें सहयोग देने वाले श्री० पं० अजितकुमारजी शास्त्री अकलङ्क प्रेस दिल्ली व श्री० पं० बाबूलालजी शास्त्री प्रकाशक जैन गजट दिल्ली श्री० पं० हीरालालजी शास्त्री दिल्ली एवं वर्णी संघ को दिल्ली लानेवाले, शास्त्र-मर्मज्ञ व विद्वानोंके प्रति सहानुभूति रखने वाले एवं हमें बहुत समय तक स्थान-आदिका सुविधाएँ देकर अनुगृहीत करने वाले श्री० धर्म० बा० राजकिशनजी व उनके सुपुत्ररत्न श्री० बा० प्रेमचन्द्रजी दरियागंज देहली, श्री० चिन्ता-मणिदेवी कलकत्ता एवं श्री० दा० सिंघई कुन्दनलालजी सागर-आदि ग्राहक महानुभाव एवं श्री० धर्म० बा० इन्द्रचन्द्रजी लील्हा कलकत्ता-आदि।

दरियागंज, देहली
९ नवम्बर १९५०
दीपमालिका-पर्व

सुन्दरलाल शास्त्री
प्राचीन न्याय-काव्यतीर्थ

धन्यवाद

निम्नलिखित उदार धर्मनिष्ठ सज्जन महानुभावोंने श्रुत-सेवाकी पवित्र भावन से प्रेरित होकर प्रस्तुत ग्रन्थ-रत्नको निम्नप्रकार प्रतियोंके ग्राहक बनते हुए, इसके प्रकाशनमें आर्थिक सहयोग प्रदान किया; अतः प्रकाशन सम्बन्धी इस मङ्गलमय बेलामें हम उन्हें हार्दिक धन्यवाद अर्पित करते हैं।

	नाम	प्रति संख्या
१	श्रीमान् दा० सिंघई कारेलाल कुन्दनलालजी सागर	१००
२	,, सेठ भगवानदास शोभालाल बैंकर्स-सागर	५०
३	,, छज्जूमल कुन्दनलालजी रईस सहारनपुर	२०
४	,, झूमरमल पन्नालालजी सेठी रामगंज मण्डी	१०
५	श्रीमती जयवन्तीदेवी ध० प० ला० जयप्रसादजी रईस सहारनपुर	१०
६	श्रीमान् बा० भगवानदास एण्ड कम्पनी प्रो० बा० ऋषभदासजी सहारनपुर	१०
७	,, नाथूराम मुन्नालालजी बैसाखिया सागर	१०
८	श्रीमती मनोरमादेवी धर्म० प० बा० नेमीचन्द्रजी छावड़ा कलकत्ता	१३
९	,, तारादेवी धर्म० बा० झूमरमलजी पाटनी कलकत्ता	१०
१०	,, मनसुखीदेवी धर्म० बा० सरदारीमलजी सेठी कलकत्ता	८
११	,, लक्ष्मीदेवी धर्म० प० सेठ निहालचन्द्रजी कलकत्ता	१०
१२	श्रीमान् बा० रघुवरदयालजी एम० ए०, एल० एल० बी०, करोलबाग देहली	१०
१३	,, दा० रा० ब० सेठ तोलारामजी गजराजजी गंगवाल कलकत्ता	१५
१४	,, ला० महावीरप्रसादजी ठेकेदार देहली	१०
१५	श्रीमती कमलादेवी धर्म० बंशीधरजी सरावगी कलकत्ता	१०
१६	श्रीमान् बा० छोगमल फूलचन्द्रजी कलकत्ता	१०
१७	,, रा० सा० बा० चांदमलजी पांड्या गोहाटी	१०
१८	,, ला० पद्मप्रसादजी मेरठ वाले दिल्ली	१०
१९	श्रीमती मखमलीदेवी धर्म० प० बा० दयाचन्द्रजी चीफ़ ऐड मिनिस्ट्रेटर ई० पी० आर० देहली	१०
२०	श्रीमान् शोभाराम रामचन्द्रजी रारा हापुड़	५
२१	श्रीमती चन्दोदेवी धर्म० रा० ब० स्व० ला० जिनेश्वरदासजी रईस सहारनपुर	५

२२ श्रीमती कस्तूरीदेवी धर्म० प० ला० बाबूरामजी सहारनपुर ५
२३ ,, रूपकलीदेवी धर्म० प० ला० घसीटामलजी पन्सारी सहारनपुर ५
२४ श्रीमान राज्यरत्न बा० बुद्धिसिंहजी एम० ए० कोटा ४
२५ ,, श्री० रा० सा० मटरूमलजी बैनाड़ा आगरा ५
२६ ,, ला० ख्याली़राम अमोलकचन्द्रजी आगरा ५
२७ ,, सेठ मगनमलजी C/o रा० ब० सेठ मूलचन्द्र नेमीचन्द्र अजमेर वाले आगरा ५
२८ ,, बा० बालचन्द्रजी मलैया बी० एस सी०, सागर ५
२९ ,, दि० जैन मन्दिर कूचासेठ मा० श्री० पं० महबूबसिंहजी दिल्ली ५
३० ,, दा० ला० सरदारीमलजी बैंकर्स गोटे वाले दिल्ली ५
३१ श्रीमती कलावतीदेवी धर्म० प० बा० राजेन्द्रप्रसादजी अम्बाला छावनी ५
३२ श्रीमान् शाहु शान्तिप्रसादजी रईस नजीबाबाद ५
३३ श्रीमती दुर्गादेवी धर्म० प० स्व० शाहु मूलचन्द्रजी नजीबाबाद ५
३४ ,, श्रीमतीदेवी धर्म० प० बा० सूरजभानुजी एम० ए० एल एल० बी०, हिसार ५
३५ ,, जयवन्ती देवी धर्म० प० ला० राजेन्द्रसिंहजी दिल्ली ५
३६ ,, विद्यावतीदेवी धर्म० प० ला० इन्द्रलालजी दरियागंज दिल्ली ५
३७ श्रीमान् ला० हरिश्चन्द्रजी प्रकाशचन्द्रजी गोटे वाले दिल्ली ५
३८ ,, बा० नथमलजी सेठी एन्ड कम्पनी कलकत्ता ५
३९ ,, जुहारमल चम्पालालजी कलकत्ता ५
४० ,, चांदमल धन्नालालजी कलकत्ता ५
४१ ,, गम्भीरमलजी महावीरप्रसादजी पांड्या कलकत्ता ५
४२ ,, छोटेलालजी नन्दलालजी सरावगी कलकत्ता ५
४३ ,, बा० मोतीलालजी विसाऊ कलकत्ता ५
४४ ,, रा० सा० ला० अमृतलालजी गोहानाके हस्ते ५
४५ ,, दि० जैन पंचान् हिसार मा० पं० सूर्यपालजी शास्त्री न्यायतीर्थ ८

सुन्दरलाल शास्त्री
प्रा० न्याय-काव्यतीर्थ
सम्पादक व प्रकाशक

अनुवादक व प्रकाशक

पं० सुन्दरलाल शास्त्री

प्राचीनन्याय-काव्यतीर्थ

विषयानुक्रमणिका

विषय — पृष्ठ-सख्या

१—धर्म-समुद्देश — १ से ४२ पृष्ठ तक

मङ्गलाचरण, धर्मका स्वरूप (श्रावक धर्मका विस्तृत विवेचन), अधर्म (मिथ्यात्वप्रभृति) का दुष्परिणाम, धर्मप्राप्तिके उपाय, आगम-माहात्म्य, उसकी सत्यता, चंचलचित्त तथा कर्त्तव्य-विमुखकी हानि, पात्र-दान, तप, संयम एवं धर्म, विद्या व धनसंचयसे लाभ तथा धार्मिक अनुत्साहसे हानि आलसियोंके मनोरथ, धर्म-पराङ्मुखता, स्वतः धार्मिक प्रवृत्ति व उसमें विघ्न, पापप्रवृत्तिकी सुलभता, पाप-निषेध, ठगोंके कार्य, कुसंग, परस्त्री-सेवन व पापका दुष्परिणाम एवं अर्थ-काम पुरुषार्थको छोड़कर केवल धर्म-सेवन करनेवालेकी आलोचना, विवेकीका कर्त्तव्य, अन्यायका दुष्परिणाम, पूर्वजन्ममें किये हुए धर्म-अधर्मका प्रबल व अकाट्य युक्तियों द्वारा समर्थन तथा भाग्य।

२ अर्थ-समुद्देश — ४३–४७

धनका लक्षण, धनिक होनेका उपाय तथा धनके विनाशक कारण।

३ काम-समुद्देश — ४८–५७

कामका लक्षण, सुख-प्राप्तिका उपाय, केवल एक पुरुषार्थके सेवनसे हानि, विविध कष्ट-सहन पूर्वक धन संचयसे हानि, सम्पत्तिकी सार्थकता, इन्द्रियोंको काबूमें न करनेसे हानि, इन्द्रियजयका स्वरूप व उपाय, कामी, स्त्रीमें आसक्त पुरुष, नीति-विरुद्ध कामके दोष, एक कालीन धर्म-आदि तीनों पुरुषार्थोंमेंसे जिसका सेवन लाभदायक है एवं जिस समय अर्थपुरुषार्थ मुख्य है।

४ अरिषड्वर्ग-समुद्देश — ५८–६२

अन्तरङ्ग शत्रुओं (काम-आदि) के नाम लक्षण-आदि

५ विद्यावृद्ध-समुद्देश — ६२–१००

राजाका लक्षण, कर्त्तव्य, राज्यका स्वरूप, वर्ण-आश्रमके भेद, कर्तव्य, उपकुर्वाणक, नैष्ठिक तथा कृतुपद ब्रह्मचारियोंका स्वरूप सच्चा पुत्र, पुत्र-शून्यकी क्षति, शास्त्रोंका अध्ययन, ईश्वर-भक्ति और लोक सेवा न करनेसे हानि, नैष्ठिक ब्रह्मचारीका माहात्म्य, गृहस्थ व उसके नित्य-नैमित्तिक अनुष्ठान, जैनेतर गृहस्थ, वानप्रस्थ और यतियोंका स्वरूप व भेद, राज्यका मूल, उसकी श्रीवृद्धिके उपाय, विनय, राज्य-क्षतिके कारण, राजनैतिक ज्ञान और पराक्रमी राजा, बुद्धिमान, केवल पराक्रमका परिणाम, नैतिक ज्ञानके सद्भाव-असद्भावसे लाभ-हानि, मूर्ख-दुष्ट राजा तथा राज-पुत्रको राज्यका अनधिकार और हानि, तथा राज्यपदके योग्य पुरुषद्रव्य, — ६२–८४

गुणशून्य व अयोग्य पुरुषमें राज्यपदकी अयोग्यता, गुणालङ्कृत पुरुष, बुद्धिके गुण-लक्षण, विद्याओंका स्वरूप, आन्वीक्षिकी-आदि राजविद्याओंके भेद, उनके अध्ययनसे लाभ, 'आन्वीक्षिकी' में अन्य नीतिकारोंकी मान्यता, उसकी समीक्षा (तथ्यनिर्णय), आन्वीक्षिकी आदिका प्रयोजन, उनपर मान्यताएँ, जैन सिद्धान्तके अनुसार उनके लोक प्रचार पर ऐतिहासिक विमर्श। — ८४–९३

विद्याध्ययन व विद्या-वृद्ध पुरुषोंकी संगति न करनेका दुष्परिणाम, शिष्ट पुरुषोंकी संगतिका माहात्म्य, राजगुरुओंके सद्गुण, शिष्टोंको विनयसे लाभ, राज-माहात्म्य, दुष्टसे विद्या-प्राप्तिका निषेध, शिष्यप्रकृति, कुलीन और सच्चरित्र शिक्षकोंका प्रभाव, हठी राजा एवं राजाके प्रति कर्त्तव्य

६ आन्वीक्षिकी-समुद्देश — १०१-११८

अध्यात्मयोग (धर्मध्यान), उसमें उपयोगी पार्थिवी-आदि धारणाओंका स्वरूप-लाभ, आत्मा के क्रीड़ास्थान, आत्म-स्वरूप, उसका पुनर्जन्म, मन, इन्द्रिय, विषय, ज्ञान एवं सुखका लक्षण, सुख भी जिस समय दुःख समझा जाता है, सांसारिक सुखके कारण और उनका लक्षण, दुःखका स्वरूप, दुःख भी जिस स्थितिमें सुख होता है, दुःखोंके भेद, उनके लक्षण, दोनों लोकोंमें दुखी-पुरुष — ११०

इच्छाका स्वरूप, दोष-शुद्धिका उपाय, उत्साह, प्रयत्न और संस्कारका लक्षण, पुनर्जन्म साधक संस्कार और शरीरका लक्षण, नास्तिक दर्शनका स्वरूप व फल, मनुष्य-कर्तव्यमें सर्वथा निर्दोषताका अभाव, अधिक दया व शान्तिसे लौकिक हानि, राजकर्तव्य (दुष्टनिग्रह), निन्दाका पात्र, पराक्रम-हीन पुरुषकी क्षति, धर्म-प्रतिष्ठा, दुष्ट-निग्रह न करनेसे हानि, राज्यपदका परिणाम, खलमैत्री एवं स्त्रियों पर विश्वास करनेका कटुकफल — १११-११८

७ त्रयी-समुद्देश— ११९-१३८

त्रयी विद्याका स्वरूप, उससे लाभ, धर्मग्रन्थोंका वेदमें अन्तर्भाव, ब्राह्मण-आदि तीन वर्णोंके समान कर्तव्य, द्विजातिका स्वरूप, ब्राह्मण और क्षत्रियोंके कर्तव्य, श्रीषेण राजाद्वारा अपने युवराज वीर पुत्र श्रीवर्मा (चन्द्रप्रभ तीर्थङ्करकी पूर्वपर्याय) के प्रति दिया हुआ क्षात्र धर्मका नैतिक सदुपदेश, वैश्य व शूद्र-कर्त्तव्य, प्रशस्त शूद्रोंका लक्षण, व उनमें ईश्वरोपासना-आदिकी पात्रता, ब्राह्मण-आदि चारों वर्णोंका समान धर्म तथा साधारण-विशेषधर्मका विश्लेषण — ११९-१२९

साधुओंका कर्त्तव्य, उससे च्युत होने पर शुद्धिका उपाय, अभीष्टदेवकी प्रतिष्ठा, श्रद्धा-हीनकी ईश्वरोपासनासे हानि, कर्तव्य-च्युतकी शुद्धि, धर्म, अर्थ व काम पुरुषार्थकी प्राप्तिका उपाय, कर्तव्य-च्युत राजाकी कड़ी आलोचना, कर्तव्य-च्युत प्रजाके प्रति राज-कर्तव्य, प्रजा-पालनसे लाभ, अन्य मतोंके तपस्वियों द्वारा राज-सन्मान, इष्ट-अनिष्टका निर्णय, मनुष्य-कर्त्तव्य (विनय) सदृष्टान्त, ब्राह्मण-आदिकी प्रकृति, उनकी क्रोध-शान्तिका उपाय, वणिकोंकी श्रीवृद्धि—आदि — १३०-१३८

८ वार्ता समुद्देश — १३९-१४८

वार्ता विद्या, उससे राजकीय लाभ, सांसारिक सुखके कारण, फसलके समय धान्य-संग्रह न करने, आमदनीके बिना केवल खर्च करनेसे तथा राजाकी धनलिप्सासे हानि, गोरक्षा, विदेशसे माल आनेमें प्रतिबन्धका कारण, व्यापार-क्षतिके कारण, व्यापारियोंकी गोल-मालीकी देखरेख, राष्ट्रके कण्टक, उनके निर्मूलनका उपाय, अन्न संग्रह द्वारा अकाल उत्पन्न करनेवाले व्यापारियोंसे राष्ट्रकी हानि एवं उनकी कड़ी आलोचना, तथा शरीर-रक्षार्थ मनुष्य-कर्त्तव्य व दृष्टान्त — १३९-१४८

९ दंडनीति-समुद्देश — १४९-१५२

दंड-माहात्म्य व स्वरूप, अपराध-निर्णय, दंडनीतिका उद्देश्य, छिद्रान्वेषी वैद्य और राजाकी कड़ी आलोचना, राजाद्वारा अग्राह्य धन, अनुचित दंडविधानका दुष्परिणाम — १४९-१५२

१० मंत्री-समुद्देश

आहार्यबुद्धि-युक्त राजाका स्वरूप एवं उसका दृष्टान्तों द्वारा समर्थन, प्रधानमंत्रीके सद्गुण, उनके सद्भाव-असद्भावसे लाभ-हानि, मंत्रपूर्वक आरम्भ किये हुए षाड्गुण्य (सन्धि-विग्रहादि) की सफलता, मंत्र-लाभ, मंत्रके अङ्ग, मन्त्री-कर्त्तव्य व मन्त्रणाके विषयमें विचार-धारा (मन्त्रके अयोग्यस्थान, मन्त्र जाननेके साधन, उसे गुप्त रखनेकी अवधि—आदि) १५३—१६६

प्राणियोंका शत्रु, स्वयं करने योग्य कार्यको दूसरों द्वारा करानेसे हानि, स्वामीकी उन्नति-अवनतिका सेवक पर असर, मन्त्रणाकालीन मन्त्री-कर्त्तव्य, मन्त्र-प्रयोजन सदृष्टान्त, जिस प्रकारका मन्त्री राजाका शत्रु है, मन्त्रियोंके कर्त्तव्य, उनपर राजकीय स्थितिका प्रभाव, उनकी असफलतामें बाधक कारण, मन्त्रियोंकी बातके उल्लङ्घनसे राजकीय हानि, मन्त्रणा-माहात्म्य, पराक्रम-शून्यको हानि, नैतिक-प्रवृत्तिसे लाभ, हित-प्राप्ति और अहित-परिहारका उपाय, मनुष्य-कर्तव्य (कर्तव्यमें विलम्ब न करना), मन्त्रियोंकी संख्या सम्बन्धी विचार-धारा, ईर्ष्यालु, बहुसंख्यक स्वच्छंद मंत्रियोंसे हानि, १७०—१७८

राजा व मनुष्य-कर्तव्य, मन्त्रियोंकी नियुक्तिमें सैद्धान्तिक तथ्य विचार, बहुसंख्यक मूर्ख मन्त्रिमण्डलसे हानि, बहु सहायकोंसे लाभ, अकेले मन्त्रीसे कार्यकी असिद्धि, आपत्तिकालमें सहायकोंकी दुर्लभता सदृष्टान्त, सहायकोंकी प्रधानता, उन्हें धन देनेसे लाभ, कार्यपुरुषोंका स्वरूप, मूर्खमें मन्त्रणाकी अधिकार हीनता-आदि, मूर्ख मंत्रीसे काय-सिद्धिमें असफलता, उसकी समर्थक दृष्टान्त माला, शास्त्रज्ञान-शून्य मनकी कर्तव्य-विमुखता तथा सम्पत्ति-प्राप्तिका साधन १७६—१८५

वज्रमूर्खका स्वभाव, मूर्ख मन्त्रीको राज्यभार सौंपनेसे हानि, कर्तव्य-च्युतके शास्त्रज्ञानकी निष्फलता, गुणहीनकी आलोचना, मन्त्रीके महत्वका कारण, मन्त्रणाके अयोग्य व्यक्ति, क्षत्रियोंकी प्रकृति, गर्व करने वाले पदार्थ, अधिकारीका लक्षण, धन-लम्पट राजमन्त्रीसे हानि, पुरुषोंकी प्रकृति, निर्दोषीको दूषण लगानेसे हानि, मित्रताके अयोग्य पुरुष सदृष्टान्त, स्नेह-नाशका कारण, शत्रुओंके कार्य, काम-वेगसे हानि सदृष्टान्त, मनुष्यकी धनलिप्सा, लोभ, जितेन्द्रिय-प्रशंसा, संतोषीका कार्यारम्भ, महामूर्ख व अधमपुरुषका कार्य, भय-शङ्काका त्यागकरके कर्तव्यमें प्रवृत्ति—आदि १८६—१६४

महापुरुषोंके गुण, मृदता व प्रियवचनोंसे लाभ, गुप्त रहस्यके प्रकाशकी अवधि, महापुरुषोंके वचन, नीच प्रकृति वाला मनुष्य और महापुरुषोंका स्वरूप, कार्य-सिद्धि न होने देनेवाला दोष, कुलीन पुरुष का स्वरूप, अच्छी-बुरी वस्तु सदृष्टान्त, अत्यन्त क्रोध, विचार-शून्यता, परस्परकी गुप्त बात प्रकट करनेसे हानि, शत्रुओं पर विश्वास करना, चंचलचित्त व स्वतन्त्र पुरुष—आदि १६५—२००

हीनशक्तिको बलिष्ठ शत्रुसे युद्ध करनेका कटुफल, आपत्ति कालीन राजधर्म सदृष्टान्त, अभिमानसे हानि, शत्रु-विनाशके उपायोंके ज्ञानसे लाभ सदृष्टान्त, नैतिककर्तव्य सदृष्टान्त, निरर्थक वाणी बोलने, मूर्ख व जिद्दीको उपदेश देने और नैतिक प्रवृत्ति-शून्य उन्नतिसे क्षति, कृतघ्न सेवकोंकी हानि, तीव्रतम अपराधियोंको मृत्युदंड देनेसे लाभ, लुब्ध राजकर्मचारियोंकी भयङ्करता और उनको वश करनेका तरीका, राजाका मंत्री-आदि प्रकृतिके साथ वर्ताव, प्रकृतिके कुपित होनेसे हानि, अवध्य अधिकारियोंके प्रति राजकर्तव्य, कथा गोष्ठीके अयोग्य पुरुष, उनसे कथा-गोष्ठी करनेका कटुकफल, क्रोधीके प्रति कर्तव्य, क्रोधीके समक्ष जानेसे हानि तथा जिसका गृहमें प्रवेश निष्फल है। २०१—२०६

११-पुरोहित-समुद्देश २१०-२२१

पुरोहित (राज-गुरु) का लक्षण या गुण, मंत्री-पुरोहितके प्रति राज-कर्तव्य, आपत्तियोंका स्वरूप व भेद, राजपुत्रकी शिक्षा, गुरु-सेवाके साधन, विनय, और विद्याभ्यासका फल, शिष्य-कर्तव्य, माता-पितासे प्रतिकूलवर्ती पुत्रकी कड़ी आलोचना, पुत्रकर्तव्य, गुरु, गुरुपत्नी, गुरुपुत्र और सहपाठीके प्रति शिष्यका वर्ताव, शिष्य-कर्तव्य, अतिथियोंसे गुप्त रखने योग्य बात, परगृहमें प्रविष्ट हुए पुरुषोंकी प्रवृत्ति, महापुरुषका लक्षण दूसरोंके कार्य साधनमें लोक-प्रकृति, राज कर्मचारीकी प्रकृति, धनिक कृपणोंके गुण-गानसे हानि २१०-२१७

राज-कर्मचारियोंमें पक्षपात-शून्य समदृष्टि, दरिद्रसे धन ग्रहण, असमर्थसे अपना प्रयोजन कहना, हठी, कर्तव्य-ज्ञान-शून्य व विचार-शून्यको नैतिक उपदेश देने और नीचके उपकार करनेकी निरर्थकता, मूर्खको समझानेमें परिश्रम करने, पीठ पीछे उपकार करने और विना मौकेकी वात कहनेकी निष्फलता, उपकारको प्रकट करनेसे हानि, उपकार करनेमें असमर्थ पुरुषको प्रसन्न करना, गुण दोपका निश्चय किये विना अनुग्रह व निग्रह करना-आदिकी निष्फलता, झूठी वहादुरी वताने वालोंकी और कृपणके धनकी कड़ी आलोचना एवं उदारकी प्रशंसा, ईर्ष्यालु गुरु, पिता, मित्र, तथा स्वामीकी कड़ी आलोचना २१८-२२१

१२ सेनापति-समुद्देश— २२२-२२३

(सेनापतिके गुण-दोष-आदि)

१३ दूत-समुद्देश— २२४-२३०

दूतका लक्षण, गुण, भेद, दूत-कर्तव्य, निरर्थक विलम्बसे हानि, दूतोंसे सुरक्षा सदृष्टान्त, शत्रु द्वारा भेजे हुए लेख और उपहारके विषयमें राजकर्तव्य सदृष्टान्त, दूतके प्रति राजाका वर्ताव, दूत-लक्षण एवं उसके वचनोंको सुनना, शत्रुका रहस्य जाननेके लिये दूतके प्रति राजाका कर्तव्य एवं शत्रु-भूत राजाके पास भेजे हुए लेखके विषयमें विजिगीपुका कर्तव्य

१४ चार-समुद्देश २३१-२३६

गुप्तचरोंका लक्षण, गुण, वेतन व फल, उनके वचनों पर विश्वास, गुप्तचर-रहितकी हानि सदृष्टान्त, गुप्तचरोंके भेद और लक्षण

१५ विचार-समुद्देश २३६-२४१

विचार पूर्वक कर्तव्यमें प्रवृत्ति विचार व प्रत्यक्षका लक्षण, ज्ञान मात्रसे प्रवृति-निवृति न करना, विचारज्ञका लक्षण, विना विचारे कार्य करनेसे हानि, राज्य, प्राप्तिके चिन्ह, अनुमानका लक्षण-फल, भवितव्यता प्रदर्शक चिन्ह, बुद्धिका असर, आगम व आप्तका स्वरूप, निरर्थक वाणी, वचनोंकी महत्ता, कृपणके धनकी कटु आलोचना और जन साधारणकी प्रवृत्ति

१६ व्यसन-समुद्देश २४२-२४८

व्यसनका लक्षण, भेद, सहज व्यसनोंसे निवृत्तिका उपाय, शिष्ट पुरुषका लक्षण, कृत्रिम व्यसनोंसे निवृत्ति, निजस्त्रीमें आसक्ति, मद्यपान, मृगया, दूत और पैशुन्य-आदि १८ प्रकारके व्यसनोंका स्वरूप व हानि ।

१७ स्वामि-समुद्देश

राजाका लक्षण, अमात्य-आदि प्रकृतिका स्वरूप, असत्य व धोखा देनेसे हानि, लोकप्रिय पुरुष, उत्कृष्ट दाता, प्रत्युपकारसे लाभ व सच्चा परोपकार, प्रत्युपकार शून्यकी कटु आलोचना, स्वामीकी निरर्थक प्रसन्नता, क्षुद्र अधिकारियों वाले राजाकी हानि, कृतघ्नता, मूर्खता, लोभ और आलस्यसे हानि, उत्साहीके गुण, अन्याय तथा स्वेच्छाचारका दुष्परिणाम, ऐश्वर्यका फल व राजकीय आज्ञाका उल्लङ्घन न करना राज-कर्तव्य (अपराधानुरूप दंड विधान), आज्ञाशून्य राजाकी कटु आलोचना और मनुष्यकर्तव्य (सजा पाये हुए व्यक्तिका पक्ष न लेना) एवं पररहस्य २४६--२५५

अपरीक्षित वेष व वर्ताव, राजकीय कोप व पापका दुष्प्रभाव, राजाद्वारा किये हुए तिरस्कार व सन्मानका असर, राजकर्त्तव्य (प्रजा कार्यकी देखरेख-आदि) एवं अधिकारियोंकी अनुचित-जीविका, राजकर्तव्य (रिश्वत खोरोंसे प्रजाकी रक्षा), रिश्वतसे क्षति, वलात्कारपूर्वक प्रजासे धन ग्रहण करने वाले राजा व प्रजाकी हानि, राजकीय, अन्यायकी सदृष्टान्त कड़ी आलोचना, मनुष्य जिसका सेवक है, दरिद्रकी लघुता, विद्याका माहात्म्य, लोकव्यवहार-पटुता, बुद्धिके पारदर्शी एवं कर्तव्यका बोध न कराने वालोंकी आलोचना। २५६—२६५

१८ अमात्य-समुद्देश— २६५-२८१

सचिव माहात्म्य, उसके विना कार्यकी असिद्धि, लक्षण, सचिव-कर्तव्य, आय-व्यय, स्वामी, तन्त्र-लक्षण, मन्त्री-दोष, योग्य अयोग्य अधिकारी, अयोग्योंसे हानि, बन्धु सम्बन्धके भेद, लक्षण, अधिकारी, अर्थसचिव आदि होनेके अयोग्य व्यक्ति एवं क्षति २६५—२७३

अधिकारियोंकी उन्नति, अयोग्योंसे कष्ट, उन पर विश्वास करनेसे हानि, सम्पत्ति-शाली अधिकारियोंका असर, अमात्य—दोष, राजतंत्र (मंत्री आदि) की नियुक्ति, उनकी स्वयं देख रेख, अधिकार, राजतंत्र, नीवी-लक्षण, आय व्ययको शुद्धि एवं उसके विवादमें राज—कर्तव्य २७४—२७७

रिश्वत-सम्बन्धी संचित धनके ग्रहण करनेका उपाय, अधिकारियोंको धन व प्रतिष्ठा-प्राप्ति, नियुक्ति, कार्य सिद्धिमें उपयोगी गुण व उसका समर्थन, अधिकारीका कर्तव्य, राज-कर्तव्य (अचानक मिले हुए धनमें और अधिक मुनाफाखोर व्यापारियोंके प्रति), अधिकारियोंकी फूटसे और धनाढ्य अधिकारियोंसे राजकीय लाभ, संग्रहके योग्य मुख्य वस्तु व धान्यसंचयका माहात्म्य आदि—

१९ जनपद—समुद्देश— २८२—२८८

देशकी नाममाला, व्याख्या व गुण दोष, वहु क्षत्रिय और ब्राह्मणवाले ग्रामोंसे हानि, परदेशमें प्राप्त हुए स्वदेश-वासीके प्रति राजकर्तव्य, शुल्क स्थानोंके अन्यायसे क्षति, कच्ची धान्य-फसल कटाने और पकी हुई में से सेना निकालनेका दुष्परिणाम, प्रजा पीड़ित करनेसे हानि, एवं पहिलेसे टेक्स-मुक्त प्रजाके प्रति राजकर्तव्य, मर्यादा उलङ्घनसे हानि, प्रजाकी रक्षा, न्याय-युक्त शुल्कस्थानोंसे लाभ, सेना व राजकोषकी वृद्धिके कारण, विद्वानों व ब्राह्मणोंके देने योग्य भूमि, भूमि दान और तालाब-दान आदिमें विशेपता अथवा वाद-विवादके उपरान्त न्यायोचित निर्णय

२० दुर्ग-समुद्देश २८९-२९२

दुर्ग शब्दार्थ, भेद, दुर्ग-विभूति (गुण), दुर्ग शून्य देशसे हानि, शत्रु के दुर्गको नष्ट करनेका उपाय व राजकर्तव्य (दुर्गके बारेमें)

२१ कोश-समुद्देश २६२-२६६
कोश शब्दार्थ, गुण, राजकर्तव्य, क्षीणकोश राजाका भविष्य, कोश-माहात्म्य व उससे हीन राजाके दुष्कृत्य, विजयश्रीका स्वामी, निर्धनकी आलोचना, कुलीन होने परभी सेवा अयोग्य पुरुष, धन-माहात्म्य, कुलीनता, बड़प्पनकी क्षति एवं खाली खजानेकी वृद्धि का उपाय

२२ बल-समुद्देश २६६-३०२
बल शब्दार्थ, प्रधान सैन्य, हाथी-माहात्म्य, उनकी युद्धोपयोगी प्रधान शक्ति, अशिक्षित हाथियोंसे हानि, हाथियोंके गुण, घोड़ोंकी सेना, उसका तथा उत्तम जातीय घोड़ोंका माहात्म्य, रथ, सैन्यका माहात्म्य, उत्साही सैन्य व उसके गुण, औत्साहिक सैन्यके प्रति विजिगीषु कर्तव्य, प्रधान सैन्य-माहात्म्य, सेवकोंको दिये हुए सन्मानका प्रभाव, सैन्य, विरक्ति, उसकी देख देख न करनेका दुष्प्रभाव, दूसरों द्वारा न कराने योग्य कार्य, धन-वेतन न मिलने परभी सेवकोंका कर्तव्य, कृपण राजाके विषयमें दृष्टान्त, कटु आलोचना-योग्य स्वामी व विचारशून्य राजाकी क्षति

२३ मित्र-समुद्देश ३०२-३०५
मित्र-लक्षण, भेद, गुण, दोष, मित्रता-विध्वंसक कार्य, निष्कपट मैत्रीका उज्वल दृष्टान्त, उसका आदर्श व प्रत्युपकारकी सोदाहरण दुर्लभता

२४ राजरक्षा-समुद्देश ३०५-३२३
राजकीय रक्षाका परिणाम व उपाय, स्वामी-हीन प्रकृति (अमात्य-आदि) की हानि, आयु शून्य पुरुष द्वारा किये हुए प्रयत्नोंकी निष्फलता, राज-कर्तव्य (आत्मरक्षा), स्त्री-सुखार्थ लोक प्रवृत्ति, जिसका धन संग्रह निष्फल है, स्त्रियोंकी प्रकृति, सुन्दर स्त्रीकी प्राप्तिका उपाय, स्त्रियोंकी रक्षा उन्हें अनुकूल रखनेका उपाय, पतिकर्त्तव्य (विवाहित कुरूप स्त्रियोंके प्रति), स्त्री-सेवनका समय, ऋतुकालीन उपेक्षासे हानि, स्त्रीरक्षा, उनके प्रतिकूल होनेके कारण, उनकी प्रकृति, दूतीपन, स्त्री रक्षाका उद्देश्य, वेश्यासेवनका त्याग, राजाको स्त्री-गृहमें प्रविष्ट होनेका निषेध, उनके विषयमें राज-कर्तव्य, स्वेच्छाचारिणी स्त्रियोंके अनर्थ, उनका इतिहास, स्त्री-माहात्म्य, उनकी सीमित स्वाधीनता, उनमें अति आसक्ति आदिका कटु फल, पतिव्रता-माहात्म्य तथा मनुष्य-कर्तव्य। ३०५-३१३
वेश्या गमनके दुष्परिणाम, प्रकृति, कृतघ्न कुटुम्बियोंके पोषणका कुफल, शारीरिक सौन्दर्य, कुटुम्बियोंका संरक्षण, स्वामीकी आज्ञा पालन, वैर विरोध करने वाले शक्तिशाली पुत्रों व कुटुम्बियोंका वशीकरण, कृतघ्नता करनेका दुष्परिणाम, अकुलीन माता-पिताका सन्तान पर कुप्रभाव एवं उत्तम पुत्र-प्राप्तिका उपाय, निरोगी व दीर्घजीवी सन्तान होनेका कारण, राज्य व दीक्षाके अयोग्य पुरुष, अङ्गहीनोंको राज्याधिकारकी सीमा, विनयका प्रभाव, पुत्रोंकी विनय व अभिमानका अच्छा-बुरा असर, पितासे द्रोह न करने वाले राजकुमार, उन्हें माता पिताकी भक्तिकी शिक्षा, माता पिताके अनादरसे हानि, उससे प्राप्त राज्यकी निरर्थकता, पुत्र-कर्तव्य पितृ-भक्ति दूषित राज्यलक्ष्मी, निरर्थक कार्यसे हानि, राज्य योग्य उत्तराधिकारी तथा अपराधीकी पहिचान। ३१४-३२२

२५ दिवसानुष्ठान-समुद्देश ३२३-३३५
नित्यकर्तव्य, यथेष्ट व अयोग्य कालीन निद्रासे लाभ-हानि, वीर्य-मल-मूत्रादिके वेग रोकनेसे

हानि, शौच व गृहप्रवेश, व्यायामसे लाभ, निद्रा-लक्षण,लाभ, स्वास्थ्योपयोगी कर्तव्य, स्नानका उद्देश्य, लाभ-आदि, आहार संबंधी सिद्धान्त, सुखप्राप्तिका उपाय, इन्द्रियोंको कमजोर करने वाला कार्य, ताजी हवासे लाभ, निरन्तर सेवन-योग्य वस्तु, सदा बैठने व शोकसे हानि, शरीररूप गृहकी शोभा, अविश्वसनीय व्यक्ति, ईश्वर स्वरूप व उसकी नाममाला। ३२३–३३०

अनियमित समयमें व विलम्बसे कार्य करनेमें क्षति, आत्मरक्षा, राज-कर्तव्य, राजसभामें प्रविष्ट होनेके अयोग्य व्यक्ति, विनय, स्वयं देखरेख करने लायक कार्य, कुसंगतिका त्याग, हिंसाप्रधान कामक्रीड़ाका निषेध, परस्त्रीके साथ मातृभगिनी-भाव, पूज्योंके प्रति कर्तव्य, शत्रुस्थानमें प्रविष्ट होनेका निषेध, रथ-आदि सवारी, अपरीक्षित स्थान आदिमें जानेका निषेध, अगन्तव्य स्थान, उपासनाके अयोग्य पदार्थ, कंठस्थ न करने लायक विद्या, राजकीय प्रस्थान, भोजन वस्त्रादिकी परीक्षा, कर्तव्यसिद्धिकी वेला, भोजन-आदिका समय, ईश्वरभक्तिका असर, कार्यसिद्धिके प्रतीक, गमन व प्रस्थान, ईश्वरोपासनाका समय, राजाका जाप्यमंत्र, भोजनका समय, शक्ति-हीनका कामोद्दीपक आहार. त्याज्य स्त्री, योग्य प्रकृति वाले दम्पतियोंके प्रणयकी सफलता, इन्द्रियोंको प्रसन्न रखनेके स्थान,उत्तम वशीकरण, उसका उपाय, मलमूत्रादिके वेग-निरोधसे हानि, विषयभोगके अयोग्य काल-क्षेत्र, कुलवधूके सेवनका अयोग्य समय, परस्त्री त्याग, नैतिक वेष-भूषा व आचरण, अपरीक्षित व्यक्ति या वस्तुका राजगृहमें प्रवेश-आदिका निषेध सदृष्टान्त तथा सभी पर अविश्वाससे हानि ३३१–३३५

२६ सदाचार-समुद्देश— ३३६–३४५

अत्यधिक लोभ, आलस्य व विश्वाससे क्षति,वलिष्ठ शत्रु-कृत आक्रमणसे बचाव, परदेश-गत पुरुषका दोष, अन्याय-वश प्रतिष्ठा-हीन व्यक्तिकी हानि, व्याधि-पीड़ित व्यक्तिके कार्य, धार्मिक महत्व, बीमारकी औषधि, भाग्यशाली पुरुष, मूर्खोंके कार्य, भयकालीन कर्तव्य, धनुर्धारी व तपस्वीका कर्तव्य, कृतघ्नताका दुष्परिणाम, हितकारक वचन, दुष्टोंके कार्य, लक्ष्मीसे विमुख एवं वंशवृद्धिमें असमर्थ पुरुष, उत्तम दान, उत्साहसे लाभ, सेवकके पापकर्मका फल, दुःखका कारण, कुसंगका त्याग क्षणिक चित्तवालेका प्रेम, उतावलेका पराक्रम, शत्रु-निग्रहका उपाय एवं राजकीय अनुचित क्रोधसे हानि, रुदन व शोकसे हानि, निन्द्य पुरुष, स्वर्ग-च्युतका प्रतीक, यशस्वीकी प्रशंसा, पृथ्वीतलका भाररूप, सुखप्राप्तिका उपाय (परोपकार), शरणागतके प्रति कर्तव्य–आदि ३३६–३४१

गुणगान-शून्य नरेश, कुटुम्ब-संरक्षण, परस्त्री व परधनके संरक्षणका दुष्परिणाम, अनुरक्त सेवकके प्रति स्वामी-कर्तव्य, त्याज्यसेवक, न्यायोचित दंडविधान, राजकर्तव्य, वक्ताके वचन, व्यय, वेष-भूषा, त्याग, कार्य-आरम्भ, सुखप्राप्तिका उपाय, अधमपुरुष, मर्यादा-पालन, दुराचार-सदाचारसे हानि-लाभ, सर्वत्र संदिग्ध व्यक्तिकी हानि, उत्तम भोज्य रसायन, पापियोंकी वृत्ति, पराधीन भोजन, निवासयोग्य देश, जन्मान्ध, ब्राह्मण, निःस्पृह, दुःखका कारण, उच्चपदकी प्राप्ति, सच्चा आभूषण, राजमंत्री, दुष्ट और याचकों प्रति कर्तव्य, निरर्थक स्वामी,राजकीय सत्ययज्ञ तथा सैन्य-शक्तिका सदुपयोग ३४२–३४५

२७ व्यवहार-समुद्देश— ३४६–३५७

मनुष्योंका दृढ़ बन्धन, अनिवार्य पालन पोषणके योग्य व्यक्ति, तीर्थ-सेवाका फल, तीर्थवासियोंकी प्रकृति, निन्द्य स्वामी, सेवक, मित्र, स्त्री, देश, बन्धु, गृहस्थ, दान, आहार, प्रेम,

आचरण, पुत्र, ज्ञान, सौजन्य, सम्पत्ति एवं उपकार तथा नियुक्तिके अयोग्य व्यक्ति, दानकी हुई वस्तुमें निःस्पृहता, मृत-कर्तव्य, सत्कार, धर्म (दान पुण्य प्रभृति) प्रकाशित न करना, दोष-शुद्धिका उपाय, धनार्जन संबन्धी कष्टकी सार्थकता, नीच पुरुषोंका स्वरूप, वन्द्य चरित्र-युक्त व्यक्ति, पीड़ा जनक कार्य तथा पंचमहापातकी । ३४६–३५२

प्रयोजन वश नीचपुरुषका संसर्ग, स्वार्थीकी प्रकृति, गृहदासीके साथ अनुराग करने व वेश्या संग्रहसे हानि, दुराचारियोंकी चित्तवृत्ति, एक स्त्रीसे लाभ, पर स्त्री व वेश्या सेवनका त्याग, सुखके कारण, लोभ व याचनासे हानि, दारिद्र्य दोष, धनाढ्यकी प्रशंसा, जलकी पवित्रता, उत्सव, पर्व, तिथि, तीर्थयात्रा, तथा पाण्डित्यका अलङ्कार, चातुर्य व लोक व्यवहार-पटुता, सज्जनता व धीरताका स्वरूप, भाग्यशाली पुरुष, सभाकी जघन्यता, हृदयहीनके अनुरागकी निष्फलता, निन्द्य स्वामी, वचनोंकी अपेक्षा लेखमें सत्यता, विश्वास न करने लायक लेख, तत्काल अनिष्ट करने वाले पाप, बलिष्टके साथ लड़ाई करनेसे तथा बलवानका आश्रय पाकर उससे उद्दण्डता करने से हानि, प्रवाससे होने वाला कष्ट तथा उसकी निवृत्तिका उपाय ३५२–३५७

२८–विवाद–समुद्देश ३५८–३६६

राजाका स्वरूप, उसकी निष्पक्ष समदृष्टिका प्रभाव, विधान परिषत्के अधिकारियों या सभासदोंका स्वरूप एक्जीक्यूटिव कौंसिल या पार्लियामेन्टके अधिकारियोंकी अयोग्यता, न्यायाधीश की पक्षपात दृष्टिसे होने वाली हानि, वाद विवादमें पराजित हुए व्यक्तिके लक्षण, अयोग्य सभासदों के काम, वाद विवादमें प्रमाण, और उन प्रमाणोंको असत्य साबित करने वाले कारण-कलाप, वेश्या व जुआरी द्वारा कही हुई बातको भी प्रमाण माननेका अवसर, विवादकी निष्फलता, धरोहर सम्बन्धी विवादका निर्णय, गवाहीकी सार्थकता, शपथके योग्य अपराधी व उसका निर्णय होने पर दंड विधान, शपथके अयोग्य अपराधी व. उनको शुद्धिका उपाय, मुद्दईके स्टाम्प वगैरह लेख और साक्षीके संदिग्ध होने पर फैसला देनेका तरीका, न्यायाधीशके बिना निर्णयकी निरर्थकता, ग्राम व नगर सम्बन्धी मुकद्दमा, राजकीय निर्णय व उसकी अवहेलना करनेवाले को कड़ी सजा। ३५८–३६२

दुष्ट-निग्रह, सरलतासे हानि, धर्माध्यक्षका राजसभा कालीन कर्तव्य, कलहके बीज व प्राणोंके साथ आर्थिक क्षतिका कारण, वाद विवादमें ब्राह्मण आदि के योग्य शपथ, क्षणिक चीजें, वेश्या-त्याग, परिग्रहसे हानि, सदृष्टान्त, मूर्खका आग्रह एवं उसके प्रति विवेकीका कर्तव्य–आदि ३६३–३६६

२९–षाड्गुण्य–समुद्देश ३६७–३८६

शम व उद्योगका परिणाम, लक्षण, भाग्य-पुरुषार्थ, धर्म-परिणाम व धार्मिक राजाकी प्रशंसा, राज कर्तव्य (उदासीन प्रभृति राजमंडलकी देखरेख), उदासीन, मध्यस्थ, विजिगीषु-कर्तव्य, शत्रुओंके भेद, शत्रुता और मित्रताका कारण, मंत्रशक्ति, प्रभु शक्ति और उत्साह शक्तिके लक्षण, मंत्रशक्ति-माहात्म्य व दृष्टान्तमाला एवं शक्ति त्रयसे व्याप्त विजिगीषुकी श्रेष्ठता, इनसे रहितकी जघन्यता आदि तथा षाड्गुण्य (संधि-विग्रह-आदि) का लक्षण–आदि ३६७–३७५

शक्तिहीन व अस्थिरके आश्रयसे हानि, स्वाभिमानीका कर्तव्य, प्रयोजनवश विजिगीषु-कर्तव्य, राजकीय कार्यमें विलम्बका निषेध, द्वैधीभाव, दोनों बलिष्ठ विजिगीषुओंके मध्यवर्ती शत्रु, सीमाधिपतिके

प्रति विजिगीषु-कर्तव्य, शत्रुको भूमि फल (धान्यादि उपज) और भूमि देनेसे लाभ-हानि, चक्रवर्ती होनेका कारण, वीरतासे लाभ, साम-आदि चार उपाय, साम नीतिका भेद पूर्वक लक्षण, दान, भेद और दंडनीतिका स्वरूप, शत्रुके यहांसे आये हुए दूतके प्रति राज-कर्तव्य और उसका दृष्टान्त, शत्रुके निकट सम्बन्धीके गृह प्रवेशसे हानि, उत्तम लाभ, भूमि लाभकी श्रेष्ठता, मैत्री-भावको प्राप्त हुए शत्रुके प्रति कर्तव्य, विजिगीषुकी निन्दाका कारण, शत्रु-चेष्टा जाननेका उपाय, शत्रु निग्रहके उपरान्त विजिगीषका कर्तव्य, प्रतिद्वन्दी पर विश्वास करनेके साधन, शत्रु पर चढ़ाई न करनेका अवसर, विजिगीषुका सर्वोत्तम लाभ, अपराधियोंके अनुग्रह-निग्रहसे हानि-लाभ, नैतिक व्यक्तिका सभा कर्तव्य, अग्रेसर होनेसे हानि, सभाके दोष, गृहमें आये हुए धनके बारेमें, धनार्जनका उपाय, दंड नीतिका निर्णय, प्रशस्त भूमि, राक्षसी वृत्तिवाले या पर प्रणेय राजाका स्वरूप, आज्ञा पालनके योग्य स्वामी, ग्राह्य-दूषित धन तथा धन प्राप्तिके भेद ३७६—३८५

३० युद्ध-समुद्देश ३८६-४०५

मंत्री व मित्रके दूषण, भूमि रक्षार्थ विजिगीषुकी नैतिक व पराक्रम शक्ति, शस्त्र युद्धका मौका, बुद्धि-युद्ध की सोदाहरण सफलता, माहात्म्य, डरपोंक, अतिक्रोध, युद्ध कालीन राज-कर्तव्य, भाग्य-माहात्म्य, बलिष्ठ शत्रु द्वारा आक्रान्त राज कर्तव्य, भाग्यकी अनुकूलता, सार-असार सैन्यसे लाभ-हानि, युद्धार्थ राज प्रस्थान, प्रतिग्रह स्वरूप, सप्रतिग्रह सैन्यसे लाभ, युद्धकालीन पृष्ठ भूमि, जल माहात्म्य, शक्तिशालीके साथ युद्ध करनेसे हानि, राज-कर्तव्य (सामनीति व दृष्टान्त) एवं मूर्खका कार्य सदृष्टान्त। ३८६—३६१

प्रशस्त व्यय, त्याग-माहात्म्य, बलिष्ठ शत्रुको धन न देनेका दुष्परिणाम, उसे धन देनेका तरीका, शत्रु द्वारा आक्रान्त राजकीय-स्थिति सदृष्टान्त, स्थान-भ्रष्ट राजा, समष्टि-माहात्म्य, दंड साध्य शत्रु सदृष्टान्त, शक्ति और प्रताप-हीन शत्रु सदृष्टान्त, शत्रुकी चिकनी-चुपड़ी बातोंमें आनेका निषेध, नीतिशास्त्र स्वरूप, अकेले विजिगीषुको युद्ध करने तथा अपरीक्षित शत्रु-भूमिमें जाने आनेका निषेध, युद्ध और उसके पूर्वकालीन राजकर्तव्य, विजयश्री प्राप्त कराने वाला मंत्र, शत्रुके कुटुम्बियोंको अपने पक्षमें मिलाना, शत्रु द्वारा शत्रुके नाशका परिणाम व दृष्टान्त व अपराधी शत्रुके प्रति राजनीति व दृष्टान्त ३६१—३६६

विजय प्राप्तिका उपाय, शक्तिशाली विजिगीषुका कर्तव्य और उसकी उन्नति, सन्धि करने लायक शत्रु, पराक्रम करने वाला तेज, लघु व शक्तिशाली विजिगीषुका बलिष्ठसे युद्ध करनेका परिणाम व दृष्टान्त, पराजित शत्रुके प्रति राज-नीति, शूरवीर शत्रुके सम्मानका दुष्परिणाम, समान और अधिक शक्तिशालीके साथ युद्ध करनेसे हानि, धर्म, लोभ व असुर विजयी राजाका स्वरूप, असुर विजयीके आश्रयसे हानि, श्रेष्ठ पुरुषके सन्निधानसे लाभ, निहत्थे शत्रु पर शस्त्र-प्रहारकी कड़ी आलोचना, युद्ध भूमिसे भागने वाले शत्रुओंके प्रति राजनीति तथा शत्रुभूत राजाओंकी अन्य बन्दीभूत राजाओंसे भेंट ३६६—३६६

मनुष्य मात्रकी बुद्धि-रूप नदीका बहाव, उत्तम पुरुषोंके वचनोंकी प्रतिष्ठा, सत्-असत् पुरुषोंके व्यवहार का तथा लोकमें प्रतिष्ठाका साधन, नैतिक वाणीका माहात्म्य, मिथ्या वचनोंका दुष्परिणाम, विश्वास-घात व विश्वासघातीकी कटु आलोचना, झूठी शपथका दुष्परिणाम, सैन्यकी व्यूह रचना, दुर्जी

स्थिरताका समय, युद्धशिक्षा, शत्रु के नगरमें प्रविष्ट होनेका अवसर, कूटयुद्ध और तूष्णीयुद्धका स्वरूप, अकेले सेनाध्यक्षसे हानि, ऋणी राजा, वीरतासे लाभ, युद्धसे विमुखकी हानि, युद्धार्थ प्रस्थित राजा व पर्वतनिवासी गुप्तचरोंका कर्तव्य, सेनाके योग्य स्थान, अयोग्यसे हानि व राज-कर्त्तव्य ३६६–४०५

३१ विवाह-समुद्देश— ४०६।४१०

कामसेवनकी योग्यताका समय, विवाहका परिणाम, लक्षण, ब्राह्म और दैव-आदि चार विवाहों के स्वरूप, उनकी श्रेष्ठता, गान्धर्व-आदि विवाहोंके लक्षण और उनकी उत्तमता आदि, कन्याके दूषण, पाणिग्रहण-शिथिलताका खोटा असर, नवा वधूकी प्रचण्डताका कारण, उसके द्वारा तिरस्कार और द्वेष-पात्र पुरुष एवं उसके द्वारा प्राप्त होनेयोग्य प्रणय (प्रेम), विवाहके योग्य गुण, उनके न होनेसे हानि कन्या के विषयमें, पुनर्विवाहमें स्मृतिकारोंका अभिमत, विवाह संबन्ध, स्त्रीसे लाभ, गृह-स्वरूप कुलवधूकी रक्षा, वश्याओंका त्याग और उनके कुलागत कार्य । ४०६-४१०

३२ प्रकीर्णक समुद्देश— ४११–४२५

प्रकीर्णक व राजाका लक्षण, विरक्त-अनुरक्तके चिन्ह, काव्यके गुण-दोष, कवियोंके भेद, कवि होने से लाभ, संगीत (गीत, नृत्य तथा वाद्य) गुण, महापुरुष, निन्द्य गृहस्थ, तात्कालिक सुखाभिलाषियोंके कार्य, दान-विचार, कर्जा देने के कटु फल व उसको लेने वालेके स्नेहादिकी अवधि, सत्यासत्य निर्णय, पापियोंके दुष्कर्म, भाग्याधीन वस्तुएं, रतिकालीन पुरुष-वचनोंकी मीमांसा, दाम्पत्य प्रेमकी अवधि, युद्धमें पराजयका कारण, स्त्रीको सुखी रखनेसे लाभ, लौकिक विनय-तत्परताकी सीमा, अनिष्ट प्रतीकार, स्त्रियोंके प्रति मनुष्य कर्तव्य, साधारण व्यक्तिसे भी प्रयोजन, लेख व युद्ध ४११–४१७

स्वामी व दाताका स्वरूप, राजा, परदेश, बन्धुहीन तथा दरिद्रके विषयमें, निकट विनाश वालेकी बुद्धि, पुण्यवान, भाग्यकी अनुकूलता, कर्मचांडाल, पुत्रोंके भेद, दाय भागके नियम, अतिपरिचय, सेवकके अपराधका दुष्परिणाम, महत्ताका दूषण, रतिक्रिया-मंत्र साधन व आहारमें प्रवृत्त हुए पुरुषके प्रति मनुष्य कर्तव्य, पशुओंके प्रति वर्ताव, मतवाले हाथी पर आरोहण व अत्यधिक अश्व (घोड़ा) क्रीड़ासे हानि, ऋण न चुकाने वाले की आलोचना, अत्यधिक व्याधि-ग्रस्त शरीरकी मीमांसा, साधुजीवन युक्त महापुरुष, लक्ष्मी-मीमांसा, राजाओंका प्रेम पात्र व नीच पुरुष— ४१७–४२२

मनुष्यकी महत्ता, महापुरुषोंकी आदर्श प्रकृति, सत असत संगका असर, प्रयोजनार्थीका कर्त्तव्य धनाढ्यके प्रति निर्धन-कर्तव्य, सत्पुरुषकी सेवाका परिणाम, प्रयोजनार्थीको दोष-दृष्टि न रखनेका संकेत, चित्त प्रसन्न करने वाली वस्तुएं, राजाके प्रति मनुष्य कर्तव्य, विचार पूर्वक कार्य न करने व ऋण बाकी रखने से हानि, नये सेवककी प्रकृति, प्रतिज्ञा निर्वाह, निर्धन अवस्थामें उदारता, प्रयोजनार्थीका कार्य तथा पृथक् किये हुए सेवकका कर्तव्य— ४२२–४२५

३३—ग्रन्थकार प्रशस्ति, अन्त्यमंगल तथा आत्म-परिचय ४२६–४२७

नोट—शुद्धिपत्र ग्रन्थके अंतमें देखिये। —सम्पादक

प्राक्कथन

श्रीमत्सोमदेवसूरि-कृत 'नीतिवाक्यामृत' वि० की ग्यारहवीं शताब्दी का रचा हुआ है। इस समय राजनीति कालानुसार परिपक्वावस्था को प्राप्त हो चुकी थी। यह साधारण धारणा कि 'प्राचीन युग में राजनीति को कोई स्थान नहीं था और न विद्वानों की इसमें अभिरुचि ही थी' कोई वजनदार उक्ति प्रतीत नहीं होती। निस्सन्देह हमारा देश धर्मप्रधान रहा है और इसलिये इतिहास के आदिकाल से जो भी क्रान्तियां समाज में हुईं वे धार्मिक रूपसें धर्मावरणमें तथा धार्मिक मंचसे ही हुईं, उनके संचालक भी धार्मिक नेता के रूप में ही हमारे सन्मुख आये और क्रांतियों में फलीभूत होने पर उनकी देवताओं की भांति पूजा भी हुई। यदि प्राचीन क्रांतिकारियों को धार्मिक चश्मे से न देख कर शुद्ध लौकिक दृष्टि से देखें तो यह तथ्य साफ दिखाई देने लगेगा और फिर राम कृष्ण बुद्ध महावीर व शङ्कराचार्य आदि सब हमें समाजके क्रांतिकारीके रूपमें ही दीखने लगेंगे उसी प्रकार जिसप्रकार कि आज महात्मा गांधी जवाहरलाल व सुभाषचन्द्र बोस आदि दिखाई देते हैं। किन्तु जिस समय उनका वही रूप संभव था उस समय लोक नेताओं को चाहे वे समाज के किसी भी पहलू को छुए ऋषियों की उपाधियोंसे विभूषित किया जाता था। यह उनकी विद्वत्ता का सही सम्मान था, क्यों कि उस समय जनता-जनार्दन में सेवा का जितना मूल्य था। उतना अर्थ संचय का नहीं। अर्थ विद्या के चरणों में लोटता था बड़े से बड़ा धनवान विद्वान के चरणस्पर्श कर अपना कल्याण समझता था, ऐसे ही ऋषि मुनियों में उस समय भारत के विद्वान् मिलते थे, जिनकी एक एक कृति अनुपम, अलौकिक तथा मौलिक रचना-युक्त होती थी।

राजनीतिसमाज-शास्त्र का ही अंग सदैव से रहा है और आज भी इसे समाजशास्त्र (Sociology) से सम्बन्धित माना जाता है। अतः यदि समाज-व्यवस्था के आदि युग में शुद्धराजनीति का कोई ग्रन्थ नहीं मिलता, तो आश्चर्य की कोई बात नहीं, किन्तु राजनीति पर चर्चा ही नहीं हुई हो, विद्वानों ने इस पर कोई विचार ही नहीं किया हो, सो बात नहीं है। जब से मानवने एक समाज रूप में सामूहिक जीवन बिताना आरम्भ किया, तभी से प्रत्येक व्यक्ति और समाज के बीच कर्त्तव्यों पर चर्चा होने लगी तथा जब से राज्य कायम हुए तभी से 'राजन्' के अधिकार तथा कर्त्तव्यों पर विवेचना शुरू हो गई, ऐसा प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर कहा जासकता है। 'राजन्' शब्द का प्रयोग राज्यों के गठन के साथ साथ ही आरंभ हुआ मालूम होता है। इतिहास के धुंधले युग से जिसकी जानकारी के लिये हमारे पास आज भी उपयुक्त सामग्री नहीं है, हम 'राजन्' शब्द का प्रयोग देखते हैं। किन्तु हमारे पास आज इस बात के पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं, कि हमारे देश में राजतंत्र के समानान्तर गणराज्य भी बहुत प्राचीन काल से हैं। ईसवी सन् से सैकड़ों वर्ष पूर्व भी हम को अपने देश में छोटे छोटे गणराज्य मिलते हैं। यूनान के आक्रान्ता सिकन्दर के भारत आरोहण के समय भी पंजाब में ही मालविक, क्षुद्रक आदि कई गणराज्य

थे। लिच्छवी राज्य स्वयं एक गणराज्य था किन्तु उस समय के गणराज्य और आज के गणतंत्र में कुछ भेद समझना चाहिये।

उस समय के गणराज्यों में अवश्य राजा नहीं होता था, परन्तु राज्यशासन राज्य के मुखियाओं द्वारा होता था। आज की भांति बालिगमताधिकार की प्रणाली से चुने हुए शासनकर्त्ताओंके बारे में कोई प्रमाण नहीं मिलता। ये गणराज्य संख्या में उस समय भी कम थे और छोटे छोटे थे। समय युद्ध और संघर्ष का था। आर्यजाति छोटे २ राज्यों की अपेक्षा बड़े २ संगठित राज्य स्थापित करनेकी चिंता में थी, यह राष्ट्र हित के लिये ही था। सिकन्दर के समकालीन भारतीय राजनीतिज्ञ आर्य चाणक्य ने जब गण-राज्यों में शिथिलता देखी, तो उसने स्वीकार किया कि 'यह जमाना गणराज्यों का नहीं है बल्कि भारतमें एक संगठित राज्यकी स्थापना होनी चाहिये, और उसकी प्रेरणासे उत्तरी भारत के गणराज्य चन्द्रगुप्तमौर्य द्वारा समाप्त कर दिये गये। और एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की गई। उसके बाद एकतन्त्र राज्य ही दिखाई देनेलगे। यद्यपि कुछ गणराज्य ईसा की तीसरी चौथी शताब्दी में मिलते हैं।

एकतन्त्र राज्य-स्थापना से यदि यह हम समझने लगें कि 'राजा' को मनमाने अधिकार थे और वह परमात्मा का 'प्रतिनिधि' माना जाता था तो हमारी बड़ी भूल होगी। जिस काल का हम विवेचन कर रहे हैं उस समय 'राजन्' के अधिकार तथा कर्त्तव्य नियत थे। इन कर्त्तव्यों का पालन न करने पर वह राज्यच्युत किया जा सकता था। और राजा का चुनाव योग्यता की कसौटी पर कसा जाता था हमें गुप्त राज्य के अंत तक 'राजन्' का बहुत निखरा हुआ रूप मिलता है। और एक तरह से 'जनतंत्र' प्रणाली का साक्षात्कार होता है।

श्री० चौधरी ने भारतीय इतिहास की भूमिका में उस युग के शासनतन्त्र के विषय में लिखा है—"इस समय (ई० की पहली शताब्दी) में सरकारें लोकतन्त्रीय व सुसंगठित थीं। यह सही है कि उस समय राजा तथा मंत्रियों के नियन्त्रण रखने के लिये कोई केन्द्रीय धारा सभा (पार्लियामेंट) नहीं थी। किन्तु यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि कुछ समय से शासनतंत्र का विकेन्द्रीयकरण बहुत कुछ हो चुका था। और केन्द्र का बहुत सा काम प्रान्तीय शासन द्वारा होता था। प्रान्तों में केन्द्रीय अफसरों पर लोक सभाओं द्वारा नियन्त्रण रक्खा जाता था और सरकारी भूमि तक भी बिना लोक सभाओं की स्वीकृति के बेची नहीं जा सकती थी। ग्राम शासन एक दम लोकतंत्रीय था, जहां शासन की सारी व्य-वस्था ग्राम पंचायतों द्वारा होती थी।

केन्द्रीय शासनतंत्र पर नियंत्रण करने के लिये भी आर्यचाणक्य के अनुसार 'जनपद सभाएें' होती थीं और राजा को इनके मत का आदर करना पड़ता था। "आर्थिक संकट के समय समाहर्ता प्रयोजन बतलाकर पौरजानपद से धन मांगे। राजा पौरजानपद से याचना करे।"

नियम-निर्माण के लिये धारासभाओं का यदि कोई प्रमाण नहीं मिलता तो इससे यह नहीं समझना चाहिये कि राजा जो नियम चाहे स्वेच्छा से बना दे। यद्यपि आज के समान लोकतंत्रीय धारासभायें नहीं थीं, तथापि नियम-निर्माण का अधिकार राजा के हाथ में नहीं था। समाजव्यवस्था, धार्मिकव्यवस्था तथा राजकीय व्यवस्था के आधारभूत सिद्धान्त उन तपे हुए, निःस्वार्थी तथा लोककल्याण-कर्ता विद्वान ऋषि

मुनियों द्वारा निश्चित होते थे, जिनके वचनों पर किसी को शंका ही न हो पाती थी। और उन सिद्धान्तों या नियमों का पालन राजा सहित सारे समाज को करना पड़ता था। शंका का स्थान इसलिये नहीं रहता था कि ऋषिमुनि विद्वानों की आप्तवाणी से केवल वही आदेश निकलते थे, जो देश-काल के अनुसार एक प्रकार से समाज की आवाज होते थे।

राजनीतिज्ञ महाराज मनु की मनुस्मृति ऐसा अतिप्राचीन ग्रन्थ है जिसमें राजा तथा प्रजा के कर्तव्य एवं अधिकारों का निरूपण है और जिसे आज भी-हजारों वर्षों के बाद भी आप्तवाणी समझा जाता है इसके अतिरिक्त ऋषिप्रवर शुक्राचार्य आदि अन्य ऋषियों ने भी अपने २ ग्रन्थों में समाज-व्यवस्था पर प्रकाश डाला है। इनके सिद्धान्तों को एक प्रकार से लिखित रूप में भारतीय कनवेंशन कहा जा सकता है। इन स्मृतियों द्वारा निरूपित नियमों के उल्लङ्घन का साहस शक्तिशाली से शक्तिशाली राजा को भी नहीं हो पाता था। अतः राजा पर इस प्रकार का नियंत्रण किसी भी आधुनिक लोकसभा से अधिक काम करने वाला था। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमें 'विदेहराज जनक'। राजा दशरथ, भगवान् राम' आदिके उदाहरणसे मिलता है जिनका आदर्श अपना सब कुछ त्यागकर जनता-जनार्दन की सेवा के लिये राजमुकुट धारण करना था।

भारत का राजा भगवान् का प्रतिनिधि बनकर प्रजा पर मनमाने अत्याचार करनेवाला राजा नहीं था। हमारा आदर्श तो राजर्षि था। राजा होते हुए भी त्यागीऋषि, जिसकी सारी वृत्तियां एकही चिंतन में रमती थीं, कि उसकी प्रजा अधिक से अधिक सुखी व समृद्ध कैसे हो इसलिये राजा के लिये 'पिता' 'प्रजा पालक' आदि सम्मान सूचक शब्दों का प्रयोग किया गया, किन्तु उसकी स्थिति ऐसी अनियंत्रित कभी नहीं होने दी कि वह प्रजा पर अत्याचार कर सके। आचार्य कौटिल्य ने राजा के लिये भी दण्ड की व्यवस्था की है।

वह लिखता है — निर्दोष व्यक्ति को दण्ड देने पर राजा को उस दण्ड से तीस गुना दण्ड दिया जाय और वह दण्ड का धन जल में खड़े होकर वरुणदेवता के नाम से ब्राह्मणों को दे दिया जाय। ऐसा करने से ठीक दण्ड देने के कारण उत्पन्न हुआ राजा का पाप शुद्ध हो जाता है। (कौ० अ० ४-१३)

आज जनतंत्रवाद तथा साम्यवाद का युग है। साम्यवाद का आधारभूत सिद्धान्त आर्थिक समानता है। उसका प्राथमिक तथा अन्तिम लक्ष्य रोटी केवल रोटी है। जनतंत्रवाद (आधुनिक) का आधारभूत सिद्धान्त है 'राज्यसत्ता में जनता का हाथ' दोनों ही भौतिक सुख के चश्मे से जनता का सुख देखते हैं यही आज के जीवन का चरम लक्ष्य है, किन्तु भारतीय परम्परा इसके विरुद्ध है। भारत ने— विशेषकर ऋषियों द्वारा नियन्त्रित भारत ने— कभी भी आर्थिक तथा भौतिक सिद्धि को चरम लक्ष्य नहीं माना। ऋषियों ने सदैव सन्तोष, अपरिग्रह तथा परहित का पाठ पढ़ाया। ऐसे आर्थिक संकट काल में जैसा आज विश्वमें है कंट्रोल की व्यवस्था के पूर्णरूप से असफल होने का एकमात्र कारण यह है कि इन कानूनों में वह बल, वह प्रभाव, वह कर्तव्यभावना नहीं है जो स्मृतिकारों की वाणी में थी और तब आर्थिकसंकट जैसी समस्या विकट रूप धारण नहीं करती थी। कोई आर्थिक संकट या अकाल पड़ने पर राजा तथा मंत्री पहले व्यक्ति होते थे जो हल-बैल लेकर खेतों को निकल पड़ते थे। राजा जनक तथा अग्रसेन का प्रजा-कष्ट

निवारण में हल बैल साधना लोक प्रसिद्ध है। अभी अभी हमारे नेता राष्ट्रपति श्री राजगोपालाचार्य ने हल-बैल संभालकर एक प्रकार से आज से सहस्रों वर्ष पूर्व राज्य-धर्म का ही साक्षात् कराया था। किसी भी स्मृतिकार ने राजा को जनता से अलग करने तथा बहुत उच्च व्यक्ति समझने की व्यवस्था नहीं की। यदि राजाओं के सम्मान की चर्चा भी हुई है तो वे ऐसे राजा हैं जिनके गुण किसी भी साधु तपस्वी से कम नहीं हैं। राजा के जितने गुण, कर्त्तव्य, जितना त्याग, जनकोष का जितना सदुपयोग व जितना आदर्श रहन-सहन प्राचीन भारतीय विधानों में चाहा गया था, आज तो वह सपने की बात सी लगती है। ऐसे ही आदर्श राम-राज्य का स्वप्न तो 'बापू' देखते थे। ऐसी ही आदर्श, मधुर राजनैतिक कल्पनाओं के झूले में तो 'बापू' झूलते झूलते चल बसे। आज की विश्व राजनीति तथा भारतीय परंपरा में सबसे बड़ा भेद है कि भारतीयपरंपरा राजनीति चारित्रिकआदर्श तथा सात्विकता की अपेक्षा करती है जबकि विश्व, मिकेविली के सिद्धान्तों (झूठ, धोखा, और दगा) को Fact (सत्य) या Diplemacy (राजनीति) कहकर राजनैतिक महत्व देता है। महाभारतकार व्यास ने कौरव-पांडव युद्ध में अधिक से अधिक संकटकालीन परिस्थिति में होते हुए भी धर्मराज युधिष्ठिर को धर्म-संकट में डाल दिया, जब कि उनसे यह कहा गया कि वे सिर्फ इतना कह दें कि 'अश्वत्थामा मारा गया'। इस आचरण की आज के राजनैतिक प्रचार विभाग से तुलना करें, तो आकाश-पाताल का अन्तर मालूम होता है। आज तो 'Everything is fair in love and war' का सिद्धान्त ही प्रत्येक राज्य का धर्म सा होगया है। यही नहीं, प्रत्येक देश करोड़ों रुपयों का व्यय केवल इसीलिये सहन करता है कि उसका देश विश्व की प्रचार दौड़ में पीछे न रह जाय। चाणक्य ने भी प्रचार की आवश्यकता का अनुभव किया था और उसने गुप्तचर विभाग को राज्य का एक आवश्यक अंग माना था। इससे पूर्व के शास्त्रकारों ने इस कार्य को इतना महत्व नहीं दिया मालूम होता है। बाद में समय के अनुसार राजतंत्र का रूप बिगड़ा और राजा का वह आदर्श न रह पाया जिसकी कल्पना स्मृतिकारों ने की थी और इसीलियें राजतंत्र सर्वत्र घृणा की वस्तु बन गया। यूरोप में तो इसके प्रति इतनी घृणा बढ़ी कि कई राजाओं को अपना सर तक देना पड़ा और उस के बाद आधुनिक जनतंत्र की आँधी बढ़ी उसका प्रसार भी हुआ, खून की नदियां भी बहीं, लेकिन जनता में सुख व सन्तोष आज भी नहीं है। अनेकों प्रणालियों के प्रयोग हुए और हो रहे हैं किन्तु कोई नुस्खा राम-बाण सिद्ध नहीं हुआ। कारण यह है कि—

"दर्द कुछ और है दवा कुछ और। दर्द दिल का माजरा कुछ और" रोग के निदान में राजनीतिज्ञों की भूल मालूम पड़ती है। विश्व की अशांति के निराकरण का कुछ आभास 'बापू' के निदान में मिलता है जो सौ फी सदी भारतीय नुस्खा है। प्रस्तुत शास्त्र अवश्य मार्ग प्रदर्शन करेगा, क्योंकि यह भारतीय ऋषि की आप्तवाणी है। इसी दृष्टि से अनुवादक महोदय के परिश्रम को श्रेय है और उनकी बहुश्रुत विद्वत्ता तथा प्रचुरज्ञान का यह प्रत्यक्ष प्रमाण है, कि अनुवादमें मूलग्रन्थकार की आत्मा ज्योंकी त्यों बनी हुई है। आशा है कि विश्व के सत्ताधारी राजनीतिज्ञ पुराने आचार्यों की आप्तवाणी से कुछ लाभ उठाने की चेष्टा करेंगे।

लाडनू
भाद्र शु० ७ वि० २००७

गंगाप्रसाद सिंहल
एम० ए०

प्रस्तावना ।

नीतिवाक्यामृत और आचार्य श्रीमत्सोमदेवसूरि ।

ग्रन्थ परिचय ।

'नीतिवाक्यामृत' संस्कृत वाङ्मय-वल्लरीका अनुपम व अतिशय सुगन्धित सुमन है। इसके रचयिता आचार्यप्रवर श्रीमत्सोमदेवसूरि हैं, जो कि उच्चकोटिके दार्शनिक, महाकवि, धर्माचार्य व राजनीतिके बहुश्रुत प्रकाण्ड विद्वान् थे। इनका समय विक्रम की ११ वीं शताब्दी का प्रथम पाद है।

इस विशाल ग्रन्थरत्न में मानवीय जीवन-स्तर को ऊंचे उठाने वाली धर्मनीति, अर्थनीति, समाजनीति व विशेषरूप से विशुद्ध राजनीतिका विशद व ललित विवेचन हैं। अर्थात् मानव संसार को अपनी मर्यादामें स्थिर रखने वाले राज्य शासन एवं उसे पल्लवित, संवर्द्धित एवं सुरक्षित रखने वाले राजनैतिक तत्वों का इसमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण से गम्भीर विचार किया गया है, अतः मन्थन किये हुए नीति समुद्र की इस सारभूत सुधा- (अमृत) पान से हमारे पाठक अवश्य सन्तृप्त एवं आल्हादित होंगे। संस्कृत गद्यमय व सूत्र पद्धति से लिखे हुये इस विशाल ग्रन्थ में धर्म, अर्थ, काम व अरिषड्वर्ग-प्रभृति नाम वाले ३२ समुद्देश-अध्याय हैं, एवं प्रत्येक समुद्देश में 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ॥ १॥ 'अधर्मः पुनरेतद्विपरीतफलः' ॥२॥ इत्यादि क्रम से ५०, ११, १७, ७, आदि सब मिलाकर १५५० सूत्र हैं तथा समुद्देशों के नामों के अनुसार विषय निरूपित हैं।

ऐसे महत्वपूर्ण संस्कृत नैतिक ग्रन्थ रत्न का हिन्दी में अनुवादित होना स्वाधीनता-प्राप्त भारतीय बन्धुओं के लिये विशेष उपयोगी था, अतः समाज व राष्ट्र के नैतिक जीवन पुष्प को विकसित करनेके उद्देश्य से मैं ६ वर्ष की कठोर साधना के पश्चात् इसका अभूतपूर्व, सरल, विस्तृत ललित एवं भावपूर्ण हिन्दी अनुवाद ४२५ पृष्ठों में पाठक पाठिकाओं को भेंट कर सका हूँ।

प्राचीन राजनैतिक साहित्य—

राजनैतिक ग्रन्थों में से 'कौटिलीय अर्थशास्त्र' जिसे २२०० वर्ष पहिले मौर्यवंशज सम्राट चन्द्रगुप्त के लिये आर्य चाणक्य ने बनाया था, राजनैतिक तत्वों से ओतप्रोत है! नन्दवंशका मूलोच्छेद करके उसके सिंहासन पर चन्द्रगुप्तको आरूढ़ कराने वाले आर्य चाणक्य बड़े भारी राजनीतिज्ञ थे, उनकी राजनैतिक बहुश्रुत विद्वत्ता का प्रदर्शक यह 'अर्थशास्त्र' है। चाणक्यके पश्चात्-कालीन एक और प्राचीन कामन्दक का 'नीतिसार' ग्रन्थ उपलब्ध है। यह श्लोकबद्ध है, इसमें भी राजनैतिक तत्वों का अच्छा विश्लेपण है।

कामन्दक के 'नीतिसार' के बाद हमारी धारणा के अनुसार यह 'नीतिवाक्यामृत' ग्रन्थ ही ऐसा बनाया गया है, जो कि उक्त दोनों ग्रन्थों की श्रेणी में रक्खा जा सकता है, क्योंकि इसमें शुद्ध राजनैतिक सिद्धान्तोंका ललित निरूपण किया गया है।

नीतिवाक्यामृत की संस्कृत टीका में उल्लिखित बृहस्पति, शुक्र, भारद्वाज व गर्ग आदि नीतिकारोंके उद्धरणों से प्रतीत होता है कि आचार्य श्रीसोमदेवसूरि के समक्ष तत्कालीन समस्त नैतिक साहित्य उपलब्ध था और उससे वे आर्यचाणक्य के समान परिचित थे तथापि नये अनुभव व नये तत्वों का सम्मिश्रण किये जाने से इसमें ग्रन्थकार की स्वतंत्र प्रतिभा व मौलिकता प्रत्येक स्थान में प्रस्फुटित हुई प्रतीत होती है।

ग्रन्थकर्ता का परिचय—

नीतिवाक्यामृत के रचयिता आचार्यप्रवर श्रीमत्सोमदेव सूरि हैं, जो कि दि० सम्प्रदाय में प्रसिद्ध व प्रामाणिक चार संघों में से देवसंघ के आचार्य थे। नीतिवाक्यामृत की गद्यप्रशस्ति व यशस्तिलक की पद्य प्रशस्ति से विदित होता है, कि सोमदेवसूरि के गुरु का नाम नेमिदेव व दादागुरु का नाम यशोदेव था एवं ये महेन्द्रदेव भट्टारक के अनुज थे। उक्त तीनों महात्माओं (यशोदेव नेमिदेव व महेद्र देव एवं सोमदेव की शिष्य परम्परा के सम्बन्ध में कोई ऐतिहासिक सामग्री (उनकी रचना, शिलालेख प्रभृति) उपलब्ध न होने से हम कुछ निर्णय न कर सके। प्रस्तुत ग्रन्थकार के गुरु प्रकाण्ड दार्शनिक थे, क्योंकि उन्होंने ९३ वा ५५ वादियों को परास्त कर विजयश्री प्राप्त की थी। इसी प्रकार महेन्द्रदेव भट्टारक की 'वादीन्द्रकालानल' उपाधि उनकी दिग्विजयिनी दार्शनिकविद्वत्ता प्रकट करती है।

ग्रन्थकार की दार्शनिक विद्वत्ता—

श्री सोमदेवसूरि अपने गुरु व अनुज के सदृश उद्भट दार्शनिक विद्वान् थे क्योंकि उन्होंने अपने यशस्तिलक चम्पू महाकाव्य के प्रारम्भ में कहा है कि 'मेरी बुद्धिरूपी गायने आजन्म तर्करूपी शुष्क घास खाया, उसी से सज्जनों के पुण्य से अब यह काव्यरूपी दुग्ध उत्पन्न हो रहा है'। इसी से यह बात प्रमाणित होतीहै कि ग्रन्थकर्ताके जीवनका बहुभाग दर्शनशास्त्रके अभ्यासमें व्यतीत हुआ था। इसीप्रकार 'स्याद्वादाचलसिंह' 'वादी पंचानन' व 'तार्किक चक्रवर्ती' उपाधियां उनकी दार्शनिक प्रतिभाकी प्रतीक हैं।

सोमदेवसूरिका महाकवित्व, धर्माचार्यत्व एवं राजनीतिज्ञता—

श्री सोमदेवसूरि द्वारा विरचित 'यशस्तिलकचम्पू' महाकाव्य उनके महाकवित्व का ज्वलन्त प्रमाण है। इसमें महाकाव्यके समान प्रसाद, माधुर्य व ओज ये तीनों गुण वर्तमान हैं, इसका मैंने मातृसंस्था (स्या० म० काशी०) में अध्ययन व मनन किया है, यह बड़ा अद्भुत, महाक्लिष्ट गद्य पद्यात्मक संस्कृत काव्य ग्रन्थ है, इसका गद्य भाग कादम्बरी से भी क्लिष्ट है। यह सुभाषित व नीति रत्नों का आकर है। इसमें ज्ञान की विशाल निधि संग्रह की गई है। माघ काव्य के समान इसके पढ़ लेने पर संस्कृत भाषाका कोई नया शब्द अवशिष्ट नहीं रहता। इसमें कुछ शब्द ऐसे हैं जो कि वर्तमान कोशग्रन्थों में नहीं पाये जाते। व्यवहार-पटुता व विषयव्युत्पत्ति कराने में यह ग्रन्थ अपूर्व है। इसके सिवाय

सोमदेवसूरिके 'वाक्ल्लोल पयोनिधि' 'कविराज कुञ्जर' एवं 'गद्य-पद्य-दिवाकर' आदि विशेषण इनके महाकवित्व के प्रदर्शक हैं एवं यशस्तिलकचम्पू के अन्तिम दो आश्वास, जिनमें उपासकाध्ययन श्रावकाचार का विशद विवेचन किया गया है, एवं जिसके बहुभाग का मैंने नीतिवाक्यामृत के धर्म समुद्देश में हिन्दी अनुवाद भी किया है, उससे पाठक स्वयं उनकी धार्मिक बहुश्रुत-विद्वत्ता का अनुभव कर लेंगे। मेरी समझ में स्वामी समन्त भद्राचार्य के रत्नकरण्डश्रावकाचार के बाद श्रावकों का आचार-शास्त्र अभी तक ऐसी श्रृङ्खलाबद्ध व्याख्यापूर्वक ऐसी उत्तमता के साथ किसी विद्वान द्वारा नहीं लिखा गया। इसी प्रकार सोमदेव सूरि की राजनीतिज्ञता राजनैतिक सिद्धान्तों से ओत प्रोत इस नीति-वाक्यामृत से एवं यशस्तिलक के ३रे आश्वास द्वारा जो कि राजनैतिक तत्वोंसे भरा हुआ है, प्रमाणित होती है।

अभी तक जैनाचार्यों व विद्वानों में से सोमदेव सूरि के सिवाय किसी भी विद्वान् व आचार्य ने 'राजनीति' विषय पर शास्त्र रचना नहीं की, अतः यह 'नीतिवाक्यामृत' जैन वाङ्मय में अद्वितीय है।

प्रस्तुत आचार्य श्री की ग्रन्थरचना—

नीतिवाक्यामृत की 'प्रशस्ति' एवं 'दान पात्र' से विदित होता है कि सोमदेवसूरि ने १—नीति वाक्यामृत, २—यशस्तिलकचम्पू, ३ युक्तिचिन्तामणि (न्याय ग्रन्थ), ४ —त्रिवर्गमहेन्द्रमातलिसंजल्प, स्याद्वादोपनिपत् एवं अनेक सुभाषित इस प्रकार ६ ग्रन्थों की रचना की है। इनमें से शुरू के दो ग्रन्थ—(नीतिवाक्यमृत और यशस्तिलक) उपलब्ध हैं, बाकी के ग्रन्थों का अभी तक कोई पता नहीं। नीतिवाक्यामृत को प्रशस्तिमें आचार्यश्री ने उक्त ग्रन्थोंका उल्लेख किया है,अतः नीतिवाक्यामृत ही अन्तिम रचना समझनी चाहिये।

विशाल अध्ययन एवं विचारों की उदारता—

नीतिवाक्यामृत व यशस्तिलक के गम्भीर अध्ययन से विदित होता है कि सोमदेवसूरि का अध्ययन केवल जैन वाङ्मय में ही सीमित नहीं था, परन्तु इन्होंने उपलब्ध समस्त न्याय, व्याकरण, काव्य, नीति-आदि समस्त विषयों पर अपना अधिकार जमा रक्खा था, उनमें सार्वभौम विद्वत्ता थी। यशस्तिलक के अन्तिम दो आश्वास उनकी जैन धर्म पर गाढ़ श्रद्धा के प्रदर्शक हैं, तथापि उन्होंने ज्ञान के मार्ग को सर्वसाधारण द्वारा उपादेय बताकर उसे संकीर्ण नहीं किया था। वे व्याकरण, न्याय दर्शनशास्त्र (जैन, जैमिनि, कपिल, कणचर चार्वाक व शाक्यसिद्धान्त), कलाएं छन्द व अलङ्कारशास्त्र को तीर्थमार्ग सदृश सर्वसाधारण समझते थे। ×

समय व स्थान—

यशस्तिलककी प्रशस्ति में लिखा है, कि चैत्र शु० १३, शक सवत् ८८१ (विक्रम संवत् १०१६) को जिस समय श्री कृष्णराजदेव पाण्ड्य, सिंहल, चोल व चेर आदि राजाओं को जीतकर मेलपाटी नामक सेना शिविर में थे, उस समय उनके चरणकमलोपजीवी सामन्त वद्दिग की—जो चालुक्यवंशीय

× लोकयुक्तिः कलाश्छन्दोऽलंकाराः समयागमाः। सर्वसाधारणाः सद्भिस्तीर्थमार्गा इव स्मृताः। यशस्तिलक पूर्व श्लोक १०।

अरिकेसरी के प्रथम पुत्र थे—राजधानी गंगाधारामें यह काव्य समाप्त हुआ और नीतिवाक्यमृत यशस्तिलक से भी पीछे बना है, क्योंकि नीतिवाक्यामृत की प्रशस्तिमें ग्रन्थकर्ता ने अपने को 'यशस्तिलक' महाकाव्यका कर्ता प्रकट किया है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि उक्त प्रशस्ति लिखते समय वे यशस्तिलक को समाप्त कर चुके थे।

दक्षिण के इतिहास से विदित होता है कि उक्त कृष्णराजदेव (तृतीय कृष्ण) राष्ट्रकूट या राठोर वंश के महाराजा थे और इनका नाम अकालवर्ष था। ये अमोघवर्ष तृतीय के पुत्र थे। इनका राज्य काल कम से कम शक संवत् ८६७ से ८९४ (वि० सं० १००२ से १०२९) तक प्रायः निश्चित किया है। ये दक्षिण के सार्वभौम और बड़े प्रतापी राजा थे। इनके अधीन अनेक माण्डलिक या करद राज्य थे। कृष्णराज ने—जैसा कि सोमदेवसूरिके यशस्तिलक की प्रशस्ति में लिखा है—सिंहल, चोल पांड्य और चेर राजाओं को युद्ध में परास्त किया था। इसके समय में शान्तिपुराण का कर्ता कनड़ी भाषा का सुप्रसिद्ध जैन कवि 'पोन्न' हुआ है, जो कृष्णराजदेव द्वारा 'उभय भाषा कवि चक्रवर्ती' की उपाधि से विभूषित किया गया था।

राष्ट्रकूटों द्वारा दक्षिणके चालुक्यवंशका सार्वभौमत्व अपहरण किये जाने के कारण वह निष्प्रभ होगया था। अतः जबतक राष्ट्रकूट सार्वभौम रहे, तब तक चालुक्य उनके आज्ञाकारी सामन्त या माण्डलिक राजा बनकर रहे, अतः अरिकेसरीका पुत्र 'वद्दिग' ऐसा ही एक सामन्त राजा था, जिसकी गंगाधारा नामक राजधानीमें यशस्तिलककी रचना समाप्त हुई है। अरिकेसरी के समकालीन कनड़ी भाषा का सर्वश्रेष्ठ जैन कवि 'पम्प' हुआ है, जिसकी रचना से मुग्ध होकर अरिकेसरी ने उसे धर्मपुर नामका गाँव पारितोषिक में दिया था। उसके बनाये हुए दो ग्रन्थ १ आदिपुराणचम्पू' और २'विक्रमार्जुनविजय' उक्त ग्रन्थ शक सं० ८६३ (वि० सं० ९९८)में—यशस्तिलक से १८ वर्ष पहिले—समाप्त हुआ है। इसकी रचना के समय अरिकेसरी राज्य करता था, तब उसके १८ वर्षबाद-अर्थात् यशस्तिलक की रचना के समय उसका पुत्र सामन्त 'वद्दिग' राज्य करता होगा, यह प्रमाणित होता है। अतः नीतिवाक्यामृत चालुक्य वंशीय अरिकेसरी के पुत्र सामन्त वद्दिग की प्रेरणा से बनाया गया था, यह निर्णीत है।

उपसंहार-ऐतिहासिक नवीन अनुसन्धान व चिन्तन-आदि पुष्कल परिश्रम व समयाश्रित होते हैं, अतः हम उक्त प्रस्तावना में ग्रन्थ व ग्रन्थकर्ता के विषय में ऐतिहासिक दृष्टिकोण से संक्षिप्त प्रकाश डाल सके हैं, आशा है कि सहृदय पाठक इसे इसी दृष्टि से पढ़ेंगे। इति शम् *

C/o रा० सा० सेठ तोलाराम नथमल,
लाडनू (मारवाड़)
भाद्र शु० ९ वि० सं० २००७

—सुन्दरलाल शास्त्री
सम्पादक

*उक्त प्रस्तावना में आचार्य श्री की गद्यपद्यात्मक प्रशस्ति के सिवाय श्री० श्रद्धेय विद्वद्वर्य्य पं० नाथूराम जी प्रेमी के 'जैनसाहित्य और इतिहास' का भी आधार लिया है, अतः हम श्रद्धेयप्रेमी जी के आभारी हैं —अनुवादक

श्रीसमन्तभद्राय नमः

श्रीमत्सोमदेवसूरिविरचित

नीतिवाक्यामृत

का

हिन्दी अनुवाद

१. धर्मसमुद्देश

❀ ग्रन्थकारका मङ्गलाचरण ❀

सोमं सोमसमाकारं सोमाभं सोमसंभवम् ।
सोमदेवं मुनिं नत्वा नीतिवाक्यामृतं ब्रुवे ॥१॥

अर्थः—अक्षयकीर्तिमान्, चन्द्रमाकेसदृश कान्तियुक्त, अन्तरङ्गलक्ष्मी (अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान अनन्तसुख और अनन्तवीर्यरूप आत्मिकलक्ष्मी) और बहिरङ्गलक्ष्मी (समवसरणविभूति आदि) से अलङ्कृत, सोमवंश (चन्द्रवंश) में उत्पन्न होनेवाले और त्रिकालवर्ती अनन्तानन्त पदार्थोंको हस्तमें रक्खे हुए आँवलेकी तरह प्रत्यक्ष जाननेवाले (सर्वज्ञ) ऐसे श्रीचन्द्रप्रभ तीर्थङ्करको नमस्कार करके मैं नीतिवाक्यामृत शास्त्रका[1] प्रतिपादन करता हूं।

१ चारों वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) तथा चारों आश्रमों (ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और यति) में वर्तमान जनता जिसके द्वारा अपने अपने सदाचारों (सत्कर्तव्यों) में स्थापित की जाती है उसे "नीति" कहते हैं अथवा विजयलक्ष्मी के इच्छुक राजा को जो धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थों से संयोग करावे उसे "नीति" कहते हैं। उस नीति को प्रतिपादन करनेवाले अमृततुल्य वाक्यसमूह इस शास्त्र में विद्यमान हैं इसलिये इसे "नीतिवाक्यामृत" कहते हैं।

अथवा इस शास्त्र के अमृततुल्य वाक्यसमूह विजयलक्ष्मी चाहनेवाले राजाकी अनेक राजनैतिक विषयों (सन्धि, विग्रह, यान और आसन आदि) में उत्पन्न हुई सन्देहरूप महामूर्छाका नाश करनेवाले हैं; इसलिये इसे "नीतिवाक्यामृत" कहते हैं। [नीतिवाक्यामृत संस्कृत टीका पृ० २ से]

※ अनुवादकका मङ्गलाचरण ※

जो है मोक्षमार्गका नेता, अरु रागादिक जेता है।
जिसके पूर्णज्ञान–दर्पण में, जग प्रतिभासित होता है ॥१॥
जिसने कर्मशत्रुविध्वंसक, नीतिमार्ग दर्शाया है।
उस श्रीआदिदेवको मैंने, शत शत शीश झुकाया है॥२॥

अब राज्यका महत्व बताते हैं :—

धर्मार्थकामफलाय राज्याय नमः।

अर्थः—मैं उस राज्यको आदरकी दृष्टिसे देखता हूँ जो प्रजाको धर्म, अर्थ, और काम इन तीन पुरुषार्थोंको उत्पन्न करनेमें समर्थ है।

अब धर्मका लक्षण बताते हैं:—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ॥१॥

अर्थः—जिन सत्कर्तव्योंके अनुष्ठानसे स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्ति होती है उसे धर्म कहते हैं। समन्तभद्राचार्य ने[१] भी कहा है कि जो प्राणियोंको सांसारिक दुःखोंसे छुड़ाकर उत्तम सुख (मोक्ष) में धारण करता है उसे धर्म कहते हैं।

आचार्य श्रीसोमदेवसूरिने यशस्तिलकचम्पूमें षष्ठ आश्वाससे लेकर अष्टम आश्वासपर्यन्त इस विषय की विशद व्याख्या की है। उपयुक्त होनेके कारण उसे यहाँ संक्षेपसे लिखते हैं :—

जिससे मनुष्यों को भौतिक–सांसारिक एवं पारमार्थिक (मोक्ष) सुख की प्राप्ति होती है उसे आगम के विद्वान् धर्माचार्यों ने धर्म कहा है[२] ॥१॥

उसका स्वरूप प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप है —अर्थात् मोक्षके साधन सम्यग्दर्शन आदिमें प्रवृत्ति करना और संसारके कारण मिथ्यादर्शन आदिसे निवृत्त होना—इनका त्याग करना यही धर्मका स्वरूप है। वह गृहस्थधर्म और मुनिधर्मके भेदसे दो प्रकारका है ॥२॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंकी प्राप्ति मोक्षका मार्ग है और मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र और मिथ्यातप ये संसारके कारण हैं ॥३॥

युक्तिसे सिद्ध पदार्थों (जीवादि सात तत्वों) का यथार्थ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है एवं उक्त तत्वों का संदेह, भ्रान्ति और अनध्यवसायरहित यथार्थ ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है ॥४॥

और कर्मबंधके कारण हिंसा, झूँठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पापक्रियाओंका त्याग करना सम्यक्चारित्र है ॥५॥

अब उक्त तीनोंमें से केवल सम्यग्दर्शन आदि मोक्षप्राप्तिका उपाय नहीं है इसे बताते हैं।

---

१ देखो रत्नकरण्ड श्लोक २। २ देखो यशस्तिलक पृष्ठ २६८—२६९।

मुमुक्षु प्राणियोंको केवल तत्वार्थोंकी श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) मोक्षप्राप्तिमें समर्थ नहीं है। क्या भूखे मनुष्यकी इच्छा मात्रसे ऊमरफल पक जाते हैं ? अर्थात् नहीं पकते।

भावार्थः—जिस प्रकार भूखे मनुष्यकी इच्छा मात्रसे ऊमरफल नहीं पकते; किन्तु प्रयत्नसे पकते हैं। इसीप्रकार तत्वार्थोंकी श्रद्धामात्रसे मुक्ति नहीं होती; किन्तु सम्यक्चारित्ररूप प्रयत्नसे साध्य है ॥६॥

इसीप्रकार ज्ञानमात्रसे पदार्थोंका निश्चय हो जाता है; परन्तु अभिलषित वस्तु (मोक्ष) की प्राप्ति नहीं होसकती; अन्यथा "यह जल है" ऐसा ज्ञानमात्र होने पर प्यासकी शान्ति होनी चाहिये[1] ॥७॥

इसीप्रकार केवल चारित्रसे मुक्ति नहीं होती; जैसे कि जन्मसे अन्धा पुरुष अनार आदिके वृक्षोंके नीचे पहुँच भी जावे तो क्या उसे छायाको छोड़कर अनार आदि फल प्राप्त हो सकते हैं ? अर्थात् नहीं हो सकते। उसी प्रकार जीवादि सात तत्वोंके यथार्थज्ञानके विना केवल आचरण मात्रसे मुक्तिश्रीकी प्राप्ति नहीं हो सकती ॥८॥

लँगड़े पुरुषको ज्ञान होने पर भी चारित्र (गमन) के बिना वह अभिलषित स्थानमें नहीं पहुँच सकता एवं अन्धा पुरुष ज्ञानके बिना केवल गमनादिरूप क्रिया करके भी अभिलषित स्थानमें प्राप्त नहीं हो सकता और श्रद्धाहीन पुरुषकी क्रिया और ज्ञान निष्फल होते हैं। इसलिये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंकी प्राप्तिसे मुक्ति होती है ॥९॥

सम्यग्दर्शनसे मनुष्यको स्वर्गलक्ष्मीकी प्राप्ति होती है, सम्यग्ज्ञानसे उसकी कीर्तिकौमुदीका प्रसार होता है और सम्यक्चारित्रसे उसकी इन्द्रादि द्वारा पूजा होती है तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्रसे मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥१०॥

जो आत्मारूपी पारा अनादिकालसे मिथ्यात्वादिरूप कुधातुओंके सम्बन्धसे अशुद्ध हो रहा है उसे विशुद्ध करनेके लिये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र अनूठा साधन है—अर्थात् इसे विशुद्ध करनेके लिये सम्यक्चारित्र अग्नि है और सम्यग्ज्ञान उपाय है तथा सम्यग्दर्शन (चित्तकी विशुद्धि) मूलरसौषधि (नीबूके रसमें घुटा हुआ सिंग्रप) है—अर्थात् उक्त तीनोंकी प्राप्तिसे यह आत्मारूपी पारा विशुद्ध होकर सांसारिक समस्त व्याधियोंको ध्वंस करने और मोक्ष प्राप्त करनेमें समर्थ होता है ॥११॥

मनुष्यको[2] सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके लिये अपने चित्तको विशुद्ध बनाना चाहिये। ज्ञानलक्ष्मीकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोंका अभ्यास करना चाहिये एवं सम्यक्चारित्रकी प्राप्तिके लिये शारीरिक कष्ट सहन करके हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाप क्रियाओंका त्याग करना चाहिये एवं न्यायसे संचित सम्पत्तिको पात्रदान आदि शुभ कार्योंमें लगाना चाहिये ॥१२॥

अब सम्यग्दर्शनका लक्षण कहते हैं :—

आप्त—सत्यार्थ ईश्वर आगम और मोक्षोपयोगी जीवादि सात तत्वोंका लोकमूढ़ता आदि २५

१ देखो यशस्तिलक ६ठा आश्वास पृष्ठ २२६। २ देखो यशस्तिलक षष्ठ आश्वास पृष्ठ २२६।

दोषोंसे रहित और निःशङ्कित आदि आठ अंगोंसहित जैसाका तैसा—यथार्थ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है जो कि प्रशम (क्रोधादि कषायोंकी मंदता) और संवेग (संसारसे भय करना) आदि विशुद्ध परिणामरूप चिह्नोंसे जाना जाता है[1] ॥१॥

अब आप्तका स्वरूप कहते हैं :—

आप्तके स्वरूपको जाननेमें प्रवीण शास्त्रकारोंने कहा है कि जो सर्वज्ञ, सर्वलोकका ईश्वर—संसारका दुःखसमुद्रसे उद्धार करने वाला, क्षुधा और तृषा आदि १८ दोषोंसे रहित (वीतरागी) एवं समस्त प्राणियोंको मोक्षमार्गका प्रत्यक्ष उपदेश देनेवाला है उन ऋषभादि तीर्थङ्करोंको आप्त (सच्चा ईश्वर) कहते हैं[2] ॥२॥

अब आगमका स्वरूप और भेद कहते हैं :—

जो शास्त्र मनुष्यको धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंमें प्रवृत्ति करानेमें समर्थ हो तथा हेय (छोड़ने योग्य) और उपादेय (ग्रहण करने योग्य) का ज्ञान कराकर त्रिकालवर्ती पदार्थोंका यथार्थबोध करानेमें प्रवीण हो उसे आगम कहते हैं[3] ॥१॥

जिस प्रकार लोकमें माता और पिताकी शुद्धि (पिंडशुद्धि) होने पर उनके पुत्रमें शुद्धि देखी जाती है उसी प्रकार आप्तकी विशुद्धि (वीतरागता और सर्वज्ञता आदि) होने पर ही उसके कहे हुए आगममें विशुद्धता—प्रामाणिकता होती है अतः जो तीर्थङ्करों द्वारा निरूपण किया गया हो उसे आगम कहा है[4] ॥२॥
आगमके चार भेद हैं :—

(१) प्रथमानुयोग (२) करणानुयोग (३) चरणानुयोग (४) द्रव्यानुयोग।

धार्मिक पुरुष जिससे अपने सिद्धान्तको भलीभाँति जानता है उस पुराण (२४ तीर्थङ्कर आदि ६३ शलाकाके पूज्य महापुरुषोंका चरित्रग्रन्थ) तथा किसी एक पूज्यपुरुषके चरित्रग्रन्थको प्रथमानुयोग कहते हैं ॥१॥

जिसमें अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोकका तथा नरक और तिर्यञ्च आदि चारों गतियोंका कथन किया गया है उसे करणानुयोग कहते हैं ॥२॥

"मेरा यह सदाचार (अहिंसा और सत्य आदि व्रत) है और उसकी रक्षा का क्रमिकविधान यह है" इस प्रकार चरित्रनिष्ठ आत्मा चरणानुयोगके आश्रित होती है।

१, २, देखो यशस्तिलक षष्ट आ० पृ० २७४। ३, देखो यशस्तिलक आ० ६ पृ० २७६।

४—देखो यशस्तिलक आ० ६ पृ० २७८।

जीव, अजीव, धर्म अधर्म, बन्ध और मोक्षतत्वका यथार्थज्ञान होना द्रव्यानुयोगशास्त्रका फल है[१] ॥५॥
अब पदार्थोंका निरूपण करते हैं:—

जीव, अजीव, लोक (चतुर्गतिरूपसंसार) बन्ध तथा उसके कारण—मिथ्यात्व आदि मोक्ष और उसके कारण (संवर और निर्जरा) ये पदार्थ आगममें निरूपण किये गये हैं§ ॥१॥

उक्त आप्त, आगम और पदार्थोंका यथार्थ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है ।

अब सम्यग्ज्ञानका निरूपण करते हैं:—

जो वस्तुके समस्तस्वरूपको जैसाका तैसा, हीनाधिकता-रहित तथा संशय, विपर्यय और अनध्यवसायरूप मिथ्याज्ञानसे रहित निश्चय करता है एवं जो मनुष्योंका तीसरा दिव्यनेत्र है उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं[२] ॥१॥

वह सम्यग्ज्ञान पवित्र मनवाले मनुष्यको हितकारक और अहितकारक पदार्थोंका दिग्दर्शन कराता है। यह हितकी प्राप्ति और अहितके परिहारमें कारण होता है इसलिये वह जन्मसे अन्धे पुरुष को लाठी के सदृश है[३] ॥२॥

मतिज्ञान (इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान) देखे हुए पदार्थोंमें उत्पन्न होता है । श्रुतज्ञान देखे हुए तथा विना देखे हुए (अतीन्द्रिय सूक्ष्म धर्माधर्मादि) पदार्थोंमें भी उत्पन्न होता है । अतएव यदि मनुष्योंका चित्त ईर्ष्याभावसे दूषित नहीं है तो उन्हें तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति कठिन नहीं है[४] ॥३॥

बाधा रहित वस्तुमें भी जो बुद्धि विपरीत हो जाती है उसमें ज्ञाताका ही दोष है वस्तुका नहीं । जैसे मन्दद्दृष्टि मनुष्यको एक चन्द्रमामें जो दो चन्द्रमाका भ्रम होता है वह उसदृष्टि का ही दोष है चन्द्रमाका नहीं[५] ॥४॥

जिस मनुष्यमें सम्यग्दर्शन नहीं है उसका शास्त्रज्ञान केवल उसके मुखकी खुजलीको दूर करता है—अर्थात् वाद-विवाद करनेमें ही समर्थ होता है; क्योंकि उसमें आत्मदृष्टि नहीं होती । एवं जिसमें ज्ञान नहीं है उसका चरित्र धारण करना विधवा स्त्रीके आभूषण धारण करने के समान निरर्थक है[६] ॥५॥

जो दूध जमा देनेसे दही हो चुका है, वह फिर दूध नहीं हो सकता उसी प्रकार जो आत्मा तत्वज्ञानसे विशुद्ध हो चुकी है वह पुनः पापोंसे लिप्त नहीं होती[७] ॥६॥

शरीर अत्यन्त मलिन है और आत्मा अत्यन्त विशुद्ध है इसलिये विवेकी मनुष्यको इसे शरीरसे पृथक् और नित्य चिंतवन करना चाहिए[८] ॥७॥

जिसकी वाणी व्याकरण, साहित्य, इतिहास और आगमोंको पढ़कर विशुद्ध नहीं हुई एवं जिसने नीतिशास्त्रोंको पढ़कर अपनी बुद्धिको परिष्कृत और विशुद्ध नहीं बनाया वह केवल दूसरोंके सहारे रह-कर क्लेश उठाता है और अन्धेके समान है[९] ॥८॥

१, २, ३, ४, ५, ६, देखो यशस्तिलक आ० ६ पृष्ठ ३२५ ।

७, ८, ९, देखो यशस्तिलक आ० ८ पृष्ठ ३६६ ।

§ देखो यशस्तिलक आ० ६ पृष्ठ २७१ ।

अब सम्यक्चारित्रका कथन किया जाता है :—

हिंसादि पापोंसे निवृत्त होना सम्यक्चारित्र है उसके २ भेद है।

(१) एकदेश (अणुव्रत) (२) सर्वदेश (महाव्रत)

प्रकृतमें श्रावकोंके एकदेशचारित्रका निरूपण करते हैं :—

श्रावकोंका एकदेशचारित्र दो प्रकारका है :—(१) मूलगुण (२) उत्तरगुण। मूलगुण ८ होते हैं।

मद्य (शराब), मांस और मधुका त्याग तथा पांच उदम्बरफलोंके भक्षणका त्याग करना ये शास्त्रोंमें गृहस्थोंके ८ मूलगुण कहे गये हैं ॥१॥

अब मद्यत्यागका विवेचन करते हैं :—

मद्य पीनेसे शराबीके समस्त काम और क्रोधादि दोष उत्पन्न होते हैं और उसकी बुद्धि पर अज्ञानका परदा पड़ जाता है एवं यह मद्यपान समस्त पापोंमें अग्रेसर—प्रधान है ॥२॥

इससे हित और अहितका विवेक नष्ट होजाता है इसलिये शराबी लोग संसार रूपी जंगलमें भटकाने वाले कौन-कौनसे पाप नहीं करते ? अर्थात् सभी प्रकारके पाप करते हैं ॥३॥

शराब पीनेसे यदुवंशी राजा लोग और जुआ खेलनेसे पांडव लोग नष्ट हुए यह कथानक समस्त लोकमें प्रसिद्ध है ॥४॥

महुआ, गुड़ और पानीके मिश्रणसे बनाई हुई शराबमें निश्चयसे अनेक जीव उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते रहते हैं तथा शराबरूप होजाते हैं। पश्चात् वह शराब समय पाकर शराबियोंके मनको मूर्च्छित कर देती है ॥५॥

शराबकी एक बिन्दुमें इतनी जीवराशि वर्तमान है कि यदि उसके जीव स्थूल होकर संचार करने लगें तो निस्सन्देह समस्त लोकको पूर्ण कर सकते हैं ॥६॥

मद्यपान शराबीके मनको मूर्च्छित करता है और दुर्गतिका कारण है; इसलिये सज्जन पुरुषोंको इसका सदैव त्याग कर देना चाहिये ॥७॥

अब दूसरा मूलगुण (मांसत्याग) का कथन करते हैं :—

सज्जन पुरुष स्वभावसे अपवित्र, दुर्गन्धित, प्राणिहिंसायुक्त और दुर्गतिके कारण मांसको किस प्रकार भक्षण कर सकते हैं ? नहीं कर सकते ॥१॥

जिसका मांस मैं यहाँ खाता हूँ वह मुझे भी जन्मान्तरमें अवश्य ही खायगा "ऐसा मांस" शब्दका अर्थ विद्वानोंने कहा है[1] ॥१॥

---

१ संगृहीत शास्त्रान्तर से।

जो लोग अहिंसाधर्मके माहात्म्यसे लोकमें सुखसामग्रीका उपभोग करते हैं तथापि वे उससे द्वेष करते हैं यह उनका बड़ा अज्ञान है। क्योंकि कौन बुद्धिमान पुरुष इच्छित वस्तुको देनेवाले कल्पवृक्षसे द्वेष करता है ? अर्थात् नहीं करता ॥२॥

यदि बुद्धिमान पुरुष थोड़ासा क्लेश उठाकर अपने लिये अच्छी तरह सुखी देखना चाहता है तो उस का कर्तव्य है कि जिस प्रकारके व्यवहार (मारना विश्वासघात करना आदि) वह अपने लिये बुरा समझता है वैसे व्यवहार दूसरोंके साथ न करे ॥३॥

जो विवेकी पुरुष दूसरोंका उपघात (हिंसा) न करके अपनी सुखसामग्रीका उपभोग करना चाहता है वह इस लोकमें सुख भोगता हुआ जन्मान्तरमें भी सुखी होता है ॥४॥

जिस प्रकार समस्त प्राणियोंको अपना जीवन प्यारा है उसी प्रकार दूसरोंको भी अपना जीवन प्यारा है। अतः बुद्धिमान् पुरुषको जीवहिंसा छोड़ देनी चाहिये ॥५॥

बुद्धिमान् पुरुष शरावी और मांसभक्षी मनुष्योंके गृहोंमें भोजन और पान न करे एवं उसके साथ मंत्रणा (सलाह) भी न करे ॥६॥

जो मनुष्य अव्रतियों—(मांस आदिका त्याग न करने वाले) से भोजनादि कार्योंमें संसर्ग रखता है उसकी इसलोकमें निन्दा होती है और परलोकमें भी उसे कटुफल भोगने पड़ते हैं ॥७॥

व्रती पुरुषोंको मशक वगैरह चमड़ेकी चीजोंमें रक्खाहुआ पानी, चमड़ेकी कुप्पियोंमें रक्खा हुआ घी और तेलका भी उपयोग करना सदाके लिये छोड़देना चाहिये। एवं वह अव्रती कन्याओंसे विवाह आदि संसर्ग न करे ॥८॥

आत्मकल्याणके इच्छुक मनुष्योंको बौद्ध,सांख्य और चार्वाक आदिकी युक्तिशून्य मान्यता पर ध्यान न देते हुए सदाके लिये मांसभक्षणका त्याग करना चाहिये ॥९॥

निश्चयसे एक क्षुद्रमच्छ जोकि स्वयंभूरमण नामके समुद्रमें महामच्छके कर्णविलमें उत्पन्न हुआ था वह मांसभक्षण रूप आर्तध्यानसे नरकमें उत्पन्न हुआ[1]।

अब मधु और पाँच उदम्बर फलोंका त्याग बताते हैं:—

सज्जन पुरुष, गर्भाशयमें स्थित शुक्र और शोणितके सम्मिश्रणके तुल्य आकृतिवाले मधुको, जो कि शहदकी मक्खियों तथा उनके छोटे-छोटे बच्चोंके घातसे उत्पन्न होता है; किस प्रकार सेवन करते हैं ? नहीं कर सकते[2] ॥१॥

जिसके मध्यभागमें छोटे-छोटे मक्खियोंके बच्चे भिनभिना रहे हैं ऐसे शहदके छत्तेमें वर्तमान मक्खियोंके अण्डोंके खंडोंसे युक्त मधु बहेलियों और चिड़ीमारोंके लिये प्राणोंके समान प्रिय कैसे हो गया ? यह आश्चर्यकी बात है ॥२॥

पीपल, गूलर, पाकर, बड़ और ऊमर इन पांच उदम्बर फलोंमें स्थूल त्रस जीव उड़ते हुए दिखाई

१ उक्त कथानक यशस्तिलक से जानना चाहिये।

२ देखो यशस्तिलक आ० ७।

देते हैं तथा अनेक सूक्ष्म जीव भी आगमप्रमाणसे मिले पाये जाते हैं; इसलिए नैतिक पुरुष इनका यावज्जीवन त्याग करे ॥३॥

अब श्रावकोंके उत्तरगुणोंका निर्देश करते हैं[1] :—

५ अणुव्रत (अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रहपरिमाणाणुव्रत), ३ गुणव्रत (दिग्व्रत, देशव्रत, और अनर्थदंडव्रत) और ४ शिक्षाव्रत (सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण और पात्रदान) ये श्रावकोंके १२ उत्तरगुण हैं ॥१॥

उनमें हिंसा, झूँठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पांच पापोंके एकदेश त्यागको अणुव्रत कहते हैं ॥२॥

प्रशस्त कार्यों (अहिंसा आदि) में प्रवृत्ति करना और अप्रशस्त कार्यों (हिंसा आदि) का त्याग करना उसे व्रत कहा गया है ॥३॥

हिंसा, झूँठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पापक्रियाओंमें प्रवृत्ति करनेसे इस लोकमें भयानक दुःख और परलोकमें दुर्गतिके दुःख भोगने पड़ते हैं ॥४॥

अब अहिंसाणुव्रतका कथन करते हैं :—

काम और क्रोधादि कषायोंके वश होकर प्राणियोंके प्राणोंका घात करना या उन्हें मानसिक पीड़ा पहुँचाना हिंसा है। इसके विपरीत रागद्वेष और मोह आदि कषायोंको त्यागकर प्राणियोंकी रक्षा करना और यत्नाचाररूप प्रवृत्ति करना अहिंसा है ॥५॥

जो मनुष्य देवताओंकी पूजा, अतिथिसत्कार, पितृकर्म एवं उच्चाटन और मारण आदिके मन्त्रोंके लिये तथा औषधिके सेवनमें और भयोंसे बचनेके लिये किसी भी प्राणीकी हिंसा नहीं करता उसका वह अहिंसानाम अणुव्रत है ॥६॥

दयालु पुरुष आसन, शय्या, मार्ग, अन्न और जो कुछ भी दूसरे पदार्थ हैं उन्हें सेवन करता हुआ भी विना देखे शोधे सेवन न करे ॥७॥

गृहके कार्य (कूटना और पीसना आदि) देखभाल करके कराने चाहिये और समस्त तरल पदार्थ (दूध, घी, तेल और जलादि) कपड़ेसे छानकर उपयोगमें लाने चाहिये ॥८॥

विवेकी मनुष्य अहिंसाव्रतकी रक्षाके लिये और मूलगुणोंकी विशुद्धिके लिये इस लोक और परलोकमें दुःखदेनेवाले रात्रिभोजनका त्याग करे ॥९॥

व्रती पुरुष अनेक जीवोंकी योनि अचार, पत्तों वाली शाक, घुणा हुआ अन्न, पुष्प, मूल और बड़ पीपल आदि उदम्बर फलोंका सेवन न करे एवं त्रसराशिसे व्याप्त (ओला आदि) का भक्षण न करे ॥११॥

कोई भी पदार्थ चाहे वह अमिश्र हो या मिश्र यदि वह अपने योग्य काल और पवित्र क्षेत्रकी मर्यादाको छोड़ चुका है तो वह अभक्ष्य है ॥१२॥

---

१ देखो यशस्तिलक आ० ७ पृ० ३३३।

जो व्यक्ति बहुत आरम्भ और परिग्रह रखता है, दूसरों को धोखा देता है और दुराचारी है वह अहिंसक (दयालु) किस प्रकार हो सकता है ? नहीं हो सकता ॥१३॥

शास्त्रकारोंने पुण्यको प्रकाशरूप और पापको अन्धकाररूप माना है इससे जिसके हृदयमें दयारूपी सूर्यका प्रकाश हो रहाहै उसमें अन्धकाररूपपाप क्या रह सकताहै ? नहीं रह सकता ॥१४॥

अहिंसाधर्मके माहात्म्यसे मनुष्य दीर्घजीवी, भाग्यशाली, धनाढ्य, सुन्दर और यशस्वी होताहै ॥१५॥

अब सत्याणुव्रतका[1] निरूपण करते हैं :—

सत्यवादी मनुष्य प्रयोजनसे अधिक बोलना, दूसरोंके दोषोंको कहना और असभ्य वचनोंका बोलना छोड़कर सदा उच्चकुलको प्रगट करनेवाले प्रिय, हितकारक और परिमाणयुक्त वचन बोले ॥१॥

ऐसा सत्य भी नहीं बोलना चाहिये जिससे दूसरे प्राणियोंको और उसे भयानक आपत्तियोंका सामना करना पड़े ॥२॥

सत्यवादीको सौम्यप्रकृतियुक्त, सदाचारी, हितैषी, प्रियवादी, परोपकारी और दयालु होना चाहिये ॥३॥

मंत्रभेद (दूसरोंके निश्चित अभिप्रायको प्रकाशित करना) परनिन्दा, चुगलीकरना, झूठे दस्तावेज आदि लिखाना और झूठी गवाहीदेना इन दुर्गुणोंको छोड़ना चाहिये क्योंकि इससे सत्यव्रत नष्ट होता है ॥४॥

जिस वाणीसे गुरु आदि प्रमुदित होते हैं वह मिथ्या होनेपर भी मिथ्या (झूठी) नहीं समझी जाती ॥५॥

सत्यवादी आत्मप्रशंसा और परनिन्दाका त्यागकर दूसरोंके विद्यमान गुणोंका घात न करता हुआ अपने अविद्यमान गुणोंको न कहे ॥६॥

क्योंकि परनिन्दा और आत्मश्लाघासे मनुष्यको नीचगोत्र और उसका त्याग करनेसे उच्चगोत्रका बंध होता है ॥७॥

जो व्यक्ति दूसरोंके साथ सद्व्यवहार करता है उसे स्वयं वैसा ही व्यवहार प्राप्त होता है; अतएव नैतिक मनुष्यको प्राणीमात्रके साथ कभीभी दुर्व्यवहार नहीं करना चाहिये ॥८॥

जो मनुष्य दूसरे प्राणियोंमें अज्ञानांधकारका प्रसार करतेहैं वे स्वयं अपनी धमनियोंमें उसके प्रवाहका सिंचन करते हैं ॥९॥

लोकमें प्राणियोंके चित्तरूपी वस्त्र जब दोषरूपी जलसे व्याप्त होते हैं तब गुरु (वजनदार-पापी) हो जाते हैं। परन्तु जब वे गुणरूपी गर्मीसे युक्त होतेहैं तब लघु (सूक्ष्म—पुण्यशाली) हो जातेहैं ॥१०॥

सत्यवादी पुरुषको सत्यके प्रभावसे वचनसिद्धि प्राप्त होती है एवं उसकी वाणी मान्य होती है ॥११॥

जो मनुष्य अपनी इच्छा, ईर्ष्या, क्रोध और हर्षादिकके कारण झूठ बोलता है वह इस लोकमें जिह्वाच्छेदन आदिके दुःख और परलोकमें दुर्गतिके दुःखोंको प्राप्त होता है ॥१२॥

नीति और धर्मसे विरुद्ध मार्गमें प्रवृत्त हुए मनुष्यको इसलोकमें अमिट अपकीर्ति और परलोकमें चिरकालीन दुर्गतिके दुःख होते हैं ॥१३॥

---

१ देखो यशस्तिलक आ० ७।

वसुराजाने पर्वतनामक व्यक्तिके साथ जनताके समक्ष असत्यभाषण किया था इससे वह भयङ्कर अग्नि और भयसे व्याप्त नरक भूमिको प्राप्त हुआ ॥१४॥

इति सत्याणुव्रतनिरूपणम्

अब अचौर्याणुव्रतका[१] निरूपण करते हैं।

सर्वसाधारणके उपयोगमें आनेवाले जल और तृण वगैरह पदार्थोंको छोड़कर काम और क्रोधादि कषायवश दूसरोंके धन को विना दिया हुआ ग्रहण करना चोरी है ॥१॥

कुटुम्बियोंकी मृत्यु हो जानेपर उनका धन विना दिया हुआ भी ग्राह्य है। इसके विपरीत जो लोग जीवित कुटुम्बियोंके धनको लोभवश विना दिया हुआ ग्रहण करते हैं उनका अचौर्याणुव्रत नष्ट हो जाता है ॥२॥

खजाना और खानिका धन राजाको छोड़कर अन्यका नहीं हो सकता; क्योंकि लोकमें जिस धनका कोई स्वामी नहीं होता उसका स्वामी राजा ही समझा जाता है ॥३॥

मनुष्योंका स्वयं कमायाहुआ धनभी जब संदिग्ध (यह मेरा है अथवा दूसरेका है ? इस प्रकार संदेह-युक्त) हो जाताहै तब उसको दूसरोंका समझना चाहिये। अतः अचौर्याणुव्रती पुरुषको अपने कुटुम्बके धन को छोड़कर दूसरेके धनको विना दिया हुआ ग्रहण नहीं करना चाहिये ॥४॥

इसी प्रकार उसे मन्दिर, जल,वन और पहाड़ आदिमें पड़े हुए दूसरोंके धनको ग्रहण नहीं करना चाहिये ॥५॥

नापने और तोलनेके बाँटोंको कमती या बढ़ती रखना, चोरी करनेका उपाय बताना, चोरोंके द्वारा लाई हुई वस्तुका ग्रहण करना और लड़ाई झगड़ाकरके धनका संग्रहकरना इनसे अचौर्याणुव्रत नष्ट होता है ॥६॥

जिनका अचौर्याणुव्रत विशुद्ध है उन्हें रत्न, रत्नाङ्ग, स्त्रीरत्न, और रत्नजड़ित वस्त्रादिविभूतियां विना चितवन किये प्राप्त होती हैं ॥७॥

जो लोग तृष्णासे मलिनबुद्धियुक्त होकर दूसरोंकी चोरी करते हैं उन्हें ऐहिक और पारलौकिक कष्ट होते हैं ॥ ८ ॥

इति अचौर्यव्रतनिरूपणम्

अब ब्रह्मचर्याणुव्रतका[२] कथनकरतेहैं :—

अपनी स्त्रीको छोड़कर दूसरी समस्त स्त्रियोंमें माता, बहिन और पुत्रीकी बुद्धि होना ब्रह्मचर्याणुव्रत है ॥१॥

ब्रह्मचर्याणुव्रतकी रक्षाकी जानेपर अहिंसा और सत्य आदि गुण वृद्धिको प्राप्त होते हैं इसलिये इसे अध्यात्मविद्याविशारदोंने ब्रह्मचर्य कहाहै ॥२॥

ब्रह्मचारीको कामोद्दीपक चरित्र, रस, और कामोद्दीपक शास्त्रों (कामसूत्र प्रभृति) से अपनी आत्मामें कामविकारकी उत्पत्ति नहीं होनी देनी चाहिये ॥३॥

जिस प्रकार हवन करनेयोग्य द्रव्यों (घी और धूप आदि) से अग्नि सन्तुष्ट नहीं होती एवं बहुत जलसे समुद्र सन्तुष्ट नहीं होता उसी प्रकार यह पुरुष भी सांसारिक भोगों (स्त्री आदि) से संतुष्ट नहीं होता ॥ ४ ॥

१, २ यशस्तिलक के आ० ७ से।

स्त्री आदि पंचेन्द्रियोंके विषय विषफलके समान तत्कालमें पुरुषोंको मीठे मालूम पड़ते हैं परन्तु अन्त में विपत्तिरूपी फलोंको देते हैं; इसलिये सज्जनोंकी इनमें क्यों आसक्ति होनी चाहिये ? अर्थात् नहीं होनी चाहिये ॥५॥

अनन्तवीर्यको धारण करनेवाला यह मनुष्य अत्यन्त कामसेवनसे नपुंसक हो जाताहै ॥६॥

जबतक यह कामरूपी अग्नि मनुष्य के चित्तरूपी ईंधनमें प्रदीप्त होती है तबतक उसमें स्वाध्याय, धर्मध्यान और धार्मिक क्रियाएँ किस प्रकार उत्पन्न हो सकती हैं ? नहीं हो सकतीं ॥७॥

इसलिये कामतत्परताको छोड़कर न्यायप्राप्त भोगोंको भोजनके समान शारीरिक दाहकी शान्तिके हेतु और खोटे ध्यानको नष्ट करनेके लिये सेवन करना चाहिये ॥८॥

परस्त्रीके यहाँ आना जाना, कामसेवनके निश्चित अङ्गोंको छोड़कर दूसरे अङ्गोंसे क्रीड़ा करना, दूसरोंका विवाह करना, कामसेवनमें तीव्रलालसा रखना और विटत्व ये पाँच ब्रह्मचर्यको नष्ट करतेहैं ॥९॥

कामरूपी अग्निसे व्याप्त और परस्त्रीमें अनुरक्त व्यक्तियोंको इसलोकमें तत्कालीन और परलोकमेंभी भयानक विपत्तियाँ भोगनी पड़ती हैं ॥१०॥

ब्रह्मचर्यके प्रभावसे आश्चर्यजनक ऐश्वर्य, उदारता, वीरता, धैर्य, सौन्दर्य और विशिष्टशक्ति आदि गुण प्राप्त होते हैं ॥११॥

॥ इति ब्रह्मचर्याणुव्रतनिरूपणम् ॥

अथ परिग्रहपरिमाणाणुव्रतका❀ कथन किया जाता है :—

बाह्य तथा आभ्यन्तर वस्तुओंमें "यह मेरी है" इस प्रकारकी मूर्च्छा करना परिग्रह है उसमें मनुष्यको अपनी चित्तवृत्ति संकुचित—सीमित करनी चाहिये ॥१॥

क्षेत्र, धान्य, धन, गृह, कुप्य (तांबा आदि धातु), शय्या, आसन, द्विपद, चतुष्पद (पशु) और भांड, ये दशप्रकारके बाह्य परिग्रह हैं ॥२॥

मिथ्यात्व, स्त्रीवेद, पुँवेद, नपुंसकवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया और लोभ यह १४ प्रकारका अन्तरङ्ग परिग्रह है ॥३॥

जो लोग धनके लिये अपनी बुद्धिको प्रेरित करते हैं उनके मनोरथ निष्फल होते हैं; क्योंकि निरर्थक कार्योंमें प्रवृत्त हुई बुद्धि फलार्थी पुरुषोंकी कामनाको पूर्ण करनेवाली नहीं होती ॥४॥

जबकि साथ उत्पन्न हुआ यह शरीर भी नित्य रहनेवाला नहीं है तब महापुरुषोंको धन, धान्य और स्त्रियोंमें नित्य रहनेकी श्रद्धा क्यों करनी चाहिये ? अर्थात् नहीं करनी चाहिये ॥५॥

जो मनुष्य दानपुण्यादिधर्मके लिये और न्यायप्राप्त भोगोंके भोगनेके लिये धन नहीं कमाता वह धनाढ्य होकरके भी दरिद्र है, मनुष्य होकरके भी अधमकोटिका मनुष्य है ॥७॥

जो लोग प्राप्त धनमें अभिमान नहीं करते तथा धनकी प्राप्तिमें वाञ्छा नहीं करते वे दोनों लोकोंमें लक्ष्मीके स्वामी होते हैं ॥८॥

❀ यशस्तिलक पृ० ३०१ से ।

जिनका मन बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहोंमें मूर्च्छारहित है वे अगण्य पुण्यराशिसे युक्त होकर सर्वत्र सुख प्राप्त करते हैं ॥६॥

जो उदार मनुष्य सत्पात्रोंको दान देता हुआ धनसंचय करता है वह अपने साथ परलोकमें धनको ले जाता है; इससे लोभियोंमें महालोभी है ॥१०॥

जो लोभवश परिमाण किये हुए धनसे अधिक धन संचय करता है उसका यह व्रत नष्ट हो जाता है ॥११॥

जो मनुष्य उक्त दोनों प्रकारके परिग्रहोंमें लालसा नहीं रखते वे क्षणभरमें स्वर्ग और मोक्षलक्ष्मीके केशपाश पकड़नेमें या उसके पार्श्वभागमें रहनेको समर्थ होते हैं ॥१२॥

धनकी अधिक आकाँक्षा रखनेवालोंका मन अवश्य ही पापोंका संचय करता हुआ उन्हें संसाररूपी भँवरों में फँसा देता है ॥१३॥

॥ इति परिग्रहपरिमाणाणुव्रतनिरूपणम् ॥

अब ३ गुणव्रतोंका[1] निरूपण करते हैं :—

गृहस्थव्रतियोंके दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदंडव्रत ये तीन गुणव्रत सज्जनोंने निर्दिष्ट किये हैं ॥१॥

गुणव्रती श्रावक "दशों दिशाओंमेंसे अमुक दिशामें और समस्त देशोंमेंसे प्रतिनियत देशमें ही मेरा गमन होगा" ऐसा क्रमशः दिग्व्रत और देशव्रतमें नियम करता है ॥२॥

इस प्रकार दिशा और देशका नियम करनेवालेका चित्त अवधिसे बाहिरके पदार्थोंमें हिंसा, लोभ और उपभोग आदिका त्याग होनेके कारण काबूमें हो जाता है ॥३॥

उक्त व्रतकी प्रयत्नपूर्वक रक्षा करनेवाले व्रती श्रावकको परलोकमें आज्ञा और ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं ॥४॥

अब अनर्थदंडव्रतका[2] निरूपण करते हैं :—

मयूर, मुर्गा, बाज, बिलाव, सर्प, नौला, विष, काँटे, शस्त्र, अग्नि, चाबुक, जाल और रस्सी इन हिंसक प्राणियोंके पालनेका और कष्टदायक चीजोंके रखनेका पापयुक्त उपदेश देना, खोटा ध्यान करना, हिंसाप्रधान क्रीड़ा करना, निरर्थक कार्य करना, दूसरोंको कष्ट देना, चुगली करना, शोक करना और दूसरोंको रुलाना एवं इसी प्रकारके दूसरे कार्य जो कि प्राणियोंका वध, बंधन और संरोध करनेवाले हैं उनका करना, कषायोंकी वृद्धि करनेसे अनर्थदंड कहा गया है ॥१-२-३॥

अपने आचारको उत्तम बनानेकी बुद्धियुक्त देशव्रती श्रावक निर्दयी जीवोंका पालन न करे एवं परशु और कृपाण आदि हिंसाके उपकरणोंको न देवे ॥४॥

व्रती श्रावक इसके माहात्म्यसे अवश्य ही समस्त प्राणियोंकी मित्रता और उनके स्वामित्वको प्राप्त होता है ॥५॥

खोटा उपदेश देकर दूसरोंको धोखा देना, निरर्थक आरंभ और प्राणिहिंसामें प्रवृत्ति करना, घोड़ों आदि पर अधिक बोझा लादना और अधिक कष्ट देना ये पाँच कार्य अनर्थदंडव्रतको नष्ट करते हैं ॥६॥

॥ इति गुणव्रतनिरूपणम् ॥

१, २ यशस्तिलकके आधार से ।

अब चार शिक्षाव्रतोंका[1] निरूपण करते हैं :—

सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगनियम और पात्रदान यह चार प्रकारका शिक्षाव्रत है ॥१॥

आत्माकी उन्नति चाहने वाले श्रावकोंको ईश्वर भक्तिका उपदेश "समय" कहलाता है एवं उसमें निर्धारित क्रियाकाण्ड (प्रस्तावना और पुराकर्म आदि) को शास्त्रकारोंने "सामायिक" कहा है ॥२॥

लोकमें साक्षात् ईश्वर—तीर्थङ्करके न होने पर भी उसकी मूर्तिकी पूजा पुण्यबंधके लिये होती है। क्या गरुड़की मूर्ति सर्पके विषकी मारण शक्तिको नष्ट नहीं करती ? अवश्य करती है ॥३॥

जो व्यक्ति देवपूजा और साधुओंकी सेवा न करके गृहस्थ होता हुआ भोजन करता है वह उत्कृष्ट अज्ञानांधकारका भक्षण करता है ॥४॥

अब प्रोषधोपवासका[2] निरूपण करते हैं :—

प्रत्येक मासमें वर्तमान दो अष्टमी और दो चतुर्दशी पर्वोंको "प्रोषध" कहते हैं। व्रती श्रावकको उनमें देवपूजा और उपवास आदि व्रतोंका पालन करके अपनी धार्मिक उन्नति करनी चाहिये ॥१॥

उपवासके दिन उसे स्नान, गंध, अंगसंस्कार, वस्त्राभूषण और स्त्रीमें आसक्ति न करके समस्त पापक्रियाओंका त्यागकर चारित्र पालन करनेमें तत्पर रहना चाहिये ॥२॥

क्योंकि जो पुरुष बहुत आरम्भमें प्रवृत्ति करता है उसका कायक्लेश हाथीके स्नानकी तरह निष्फल है ॥३॥

कायक्लेश (उपवासादि) के बिना आत्माकी विशुद्धि नहीं होती। क्या लोकमें सुवर्णपाषाणकी विशुद्धिके लिये अग्निको छोड़कर अन्य कोई साधन है ? अर्थात् नहीं है ॥४॥

जो पुण्यशाली पुरुष अपने चित्तको चरित्रपालन द्वारा पवित्र बनाता है उसने अपने कर कमलोंमें चिन्तामणिरत्न प्राप्त कर लिया और दुःखरूपी वृक्षको जलानेके लिये दावानल अग्नि प्राप्त करली ॥५॥

अब भोगोपभोगपरिमाणव्रतका❀ निर्देश करते हैं :—

जो अन्न आदि पदार्थ एकवार भोगा जाता है उसे भोग और जो वस्त्र और स्त्री आदि पदार्थ बार २ सेवन किये जाते हैं उन्हें उपभोग कहते हैं ॥१॥

धार्मिक मनुष्यको अपने चित्तकी तृष्णाकी निवृत्तिके लिये उनका परिमाण करना चाहिये और प्राप्त और योग्य भोगोपभोगसामग्रीके सेवनका नियम समयकी मर्यादासे कर लेना चाहिये ॥२॥

यावज्जीवन और परिमितकालपर्यन्त त्यागको क्रमसे यम और नियम कहते हैं ॥३॥

इसव्रतको पालनकरनेवाले पुरुषको इसलोकमें लक्ष्मी और परलोकमें स्वर्गश्री प्राप्त होती है और पश्चात् मुक्तिश्री भी दूर नहीं रहती ॥४॥

पात्रदानका निरूपण, इसी धर्मसमुद्देशके १० वें सूत्रमें किया जावेगा।

॥ इति शिक्षाव्रतनिरूपणम् ॥

अब उक्त सूत्रका युक्तिपूर्वक उपसंहार करते हैं :—

१–२ यशस्तिलक आ० ८ से। ❀ यशस्तिलक से।

तत्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० ५० कारिका २४५-२४६) में आचार्यश्री विद्यानन्दि लिखते हैं कि जिस प्रकार ज्वरके निदान—प्रतिनियतकारणों (वात, पित्त और कफकी विषमता आदि) का ध्वंस उसको नष्ट करने वाली औषधिके सेवनसे होजाता है उसीप्रकार मुमुक्षु प्राणीमें भी सांसारिक व्याधियोंके कारणों (मिथ्यात्व, अज्ञान और असंयम) का ध्वंस भी उनकी औषधिके सेवनसे—अर्थात् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रकी सामर्थ्यसे होजाता है। ऐसा होनेसे कोई आत्मा समस्त दुःखोंकी निवृत्तिरूप मोक्षप्राप्त कर लेता है। इसलिये जिन सत्कर्तव्यों (उक्त सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र) के अनुष्ठानसे मनुष्यको स्वर्गश्री और मुक्तिश्रीकी प्राप्ति होती है उसे धर्म कहा गया है ॥ १ ॥

अब अधर्मका निर्देश करते हैं :—

अधर्मः पुनरेतद्विपरीतफलः ॥२॥

अर्थ :—जो दुष्कर्म (मिथ्यात्व, अज्ञान और असंयम—मद्यपानादि) प्राणियोंको स्वर्ग और मोक्षसे विपरीत फल—नरक और तिर्यञ्चगतिके भयानक दुःख उत्पन्न करते हैं उन्हें अधर्म कहा है।

नारदने[1] भी उक्त बातका समर्थन किया है :—

कौलों (नास्तिकों) ने मद्यपान, मांसभक्षण और परस्त्रीसेवन आदि दुष्कर्मोंको धर्म माना है; परन्तु उनसे प्राणियोंको नरकोंके भयानक दुःख होते हैं अतएव विवेकियोंको उनसे दूर रहना चाहिये ॥१॥

विशद विवेचन :—

शास्त्रकारोंने[1] मिथ्यात्व, अज्ञान और असंयमरूप असत्प्रवृत्तिको समस्त दुःखोंका मूलकारण बताया है और वही अधर्म है; अतः उससे निवृत्त होनेके लिये उक्त मिथ्यात्वादिका क्रमशः विवेचन किया जाता है।

(१) मिथ्यात्वका निरूपण :—

आप्त, आगम और मोक्षोपयोगी तत्वोंमें श्रद्धान न करना सो मिथ्यात्व है। अथवा आचार्य श्री यशस्तिलक[2] में लिखते हैं—जिन रागी, द्वेषी, मोही और अज्ञानी व्यक्तियोंमें सत्यार्थ ईश्वर होने योग्य सद्गुण (सर्वज्ञता और वीतरागता आदि) नहीं हैं उनको देव—ईश्वर मानना तथा मद्यपान

---

१ तथा च नारद :—

मद्यमांसाशनासंगैर्यो धर्मः कौलसम्मतः ।
केवलं नरकायैव न स कार्यो विवेकिभिः ॥१॥

१ देखो रत्नकरण्ड श्लोक ३ ।

२. अदेवे देवताबुद्धिमव्रते व्रतभावनाम् ।
अतत्वे तत्वविज्ञानमतो मिथ्यात्वमुत्सृजेत् ॥१॥
तथापि यदि मूढत्वं न त्यजेत् कोऽपि सर्वथा ।
मिथ्यात्वेनानुमान्योऽसौ सर्वनाशो न सुन्दरः ॥२॥

—यशस्तिलके सोमदेवसूरिः ।

और मांसभक्षण आदि दुराचारोंको सदाचार समझना एवं प्रतीतिबाधित तत्वोंको मोक्षोपयोगी तत्व समझना यही मिथ्यात्व है विवेकीको इसका त्याग करना चाहिये ॥१॥

तथापि जो इस मूढ़ताको नहीं छोड़ता वह मिथ्यादृष्टि है उसे अपना सर्वनाश करना अच्छा नहीं ॥२॥

उदाहरणार्थ :—नदी और तालाब आदिमें धर्म समझकर स्नान करना, पत्थरोंके ढेर लगानेमें धर्म मानना, पहाड़से गिरने तथा अग्निमें जलमरनेमें धर्म मानना, राग, द्वेष और मोहयुक्त देवताओंकी ऐहिक धनपुत्रादिकी चाहसे उपासना करना, संसारमें घुमानेवाले दम्भी और पाखण्डियोंका सत्कार करना, ग्रहणके समय सूर्य और चन्द्रमा आदिकी पूजाके निमित्तसे स्नान करना, गौको अनेक देवताओंका निवास समझकर पूजना तथा उसके मूत्रको पीना, हाथी घोड़ा और रथादिककी पूजा करना, और पृथ्वी, यक्ष, शस्त्र और पहाड़ोंकी पूजा करना इसे मिथ्यात्व समझना चाहिये। जो व्यक्ति उक्त मिथ्यात्वमें प्रवृत्त होता है वह दोनों लोकोंके सुखोंसे वञ्चित रहकर अपना सर्वनाश करता है।

(२) अज्ञानका कथन :—

अहिंसाधर्मका निरूपणकरनेवाले आगमग्रन्थों (प्रथमानुयोग और करणानुयोगादि) तथा सम्यक्त्व और चारित्रको दूषित न करनेवाले लोकोपयोगी कलाओंके समर्थक शास्त्रोंको छोड़कर मद्यपान और मांसभक्षणादि असत्प्रवृत्तिके समर्थक शास्त्रोंका पढ़ना और सुनना आदि अज्ञान है उसे महाभयानक दुःखोंका कारण समझकर त्याग करना चाहिये।

(३) असंयमका निरूपण :—

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह, यह असंयम है और यह प्राणीको इस लोक तथा परलोकमें दुःख देनेवाला है। इसके ३ भेद हैं—(१) मानसिक, (२) वाचनिक और कायिक।

(१) मानसिक असंयम :—

अपनी विद्वत्ता, पूजा, कुल, जाति और दल आदिका अभिमान करना, दूसरोंके गुणों या सम्पत्ति आदिकी बढ़ती देखकर उनसे ईर्ष्या करना और दूसरोंका बुरा चिंतवन करना आदि मानसिक (मनसे पैदा होनेवाला) असंयम है।

(२) वाचनिक असंयम :—

दूसरोंके मर्मको भेदन करनेवाले, असत्य, असभ्य और अप्रिय (कठोर) वचन बोलना या आगमसे विरुद्ध प्रलाप करना, परनिन्दा, आत्मप्रशंसा और चुगली करना आदि वाचनिक (वचनसे पैदा होनेवाला) असंयम है।

(३) कायिक असंयम :—

प्राणियोंकी हिंसा करना, कुशील, चोरी और जुआ खेलना आदिको कायिक असंयम कहते हैं। एवं शास्त्रकारोंने हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ये पांच पाप, प्रमाद (कुशल क्रियाओंमें

अनादर) निर्दयता, तृष्णावृद्धि और इन्द्रियोंकी इच्छानुकूल प्रवृत्तिको असंयम कहा है[1]।

निष्कर्ष :—विवेकी पुरुषको उक्तप्रकार मिथ्यात्व, अज्ञान और असंयमको त्यागकर, नैतिक कर्तव्य पालन करना चाहिये ।।२।।

अब धर्मप्राप्तिके उपायोंको बताते हैं :—

आत्मवत् परत्र कुशलवृत्तिचिन्तनं शक्तितस्त्यागतपसी च धर्माधिगमोपायाः ।।३।।

अर्थ :—अपने समान दूसरे प्राणियोंका हितचिंतवन करना, शक्तिपूर्वक पात्रोंको दान देना और शक्तिपूर्वक तपश्चर्या (समस्त इन्द्रियों तथा मनकी लालसाको रोकना) करना ये धर्मप्राप्तिके उपाय हैं—इनके अनुष्ठान करनेसे विवेकी मनुष्यका जीवन आदर्श और धार्मिक होजाता है ।।३।।

नीतिकार शुक्रने[2] लिखा है कि विवेकी मनुष्यको अपने धनके अनुसार दान करना चाहिये जिससे उसके कुटुम्बको पीड़ा न होने पावे ।।१।।

जो मूर्ख मनुष्य कुटुम्बको पीड़ा पहुँचाकर शक्तिसे बाहर दान करता है उसे धर्म नहीं कहा जासकता किन्तु वह पाप है; क्योंकि उससे दान करने वालेको अपना देश छोड़ना पड़ता है ।।२।।

यथाशक्ति तप करनेके विषयमें गुरु नामका विद्वान् लिखता है कि 'जो मनुष्य अपने शरीरको कष्ट पहुंचाकर व्रतोंका पालन करता है उसकी आत्मा सन्तुष्ट नहीं होती इसलिये उसे आत्मसन्तोषके अनुकूल तपश्चर्या करनी चाहिये[3] ।।३।।

---

१ अव्रतित्वं प्रमादित्वं निर्दयत्वमतृप्तता ।
इन्द्रियेच्छानुवर्तित्वं सन्तः प्राहुरसंयमम् ।।१।।

—यशस्तिलक आ० ६ ।

उक्तं च यतः शुक्रेण :—

२—आत्मवित्तानुसारेण त्यागः कार्यो विवेकिना।
कृतेन येन नो पीडा कुटुम्बस्य प्रजायते ।।१।।

कुटुम्बं पीडयित्वा तु यो धर्मं कुरुते
न स धर्मो हि पापं तद्देशत्यागाय के

३—तथा च गुरु :—

३—शरीरं पीडयित्वा तु यो व्रतानि

अब सर्वोत्तम सत्कर्त्तव्यका विवरण करते हैं :—

सर्वसत्त्वेषु हि समता सर्वाचरणानां परमं चरणम् ॥४॥

अर्थः—समस्त प्राणियों में समताभाव रखना—उनकी रक्षा करना यह सभी सत्कर्त्तव्यों में सर्वश्रेष्ठ सत्कर्त्तव्य है। शास्त्रकारोंने लिखा है कि संसार में जितने भी दान, शील, जप और तप आदि पुण्य कार्य हैं उन सबमें समता (अहिंसा—प्राणिरक्षा) का स्थान सर्वश्रेष्ठ है; क्योंकि दयारूपी नदीके किनारे अन्य सर्वधर्म (दान और शीलादि) तृण और घासकी तरह उत्पन्न होते हैं, इसलिये उसके सूख जाने पर अन्य धर्म किसप्रकार सुरक्षित रह सकते हैं ? नहीं रह सकते[1]।

यशस्तिलक में[2] लिखा है कि जीवदयाको एक ओर रक्खा जावे और धर्मके सभी अवान्तर भेदोंको दूसरी ओर स्थापित किया जावे, उनमें खेतीके फलकी अपेक्षा चिन्तामणिरत्नके फलकी तरह जीवदया का ही विशेष फल होगा। जिसप्रकार चिन्तामणिरत्न मनमें चिन्तवन किये हुए अभिलषित पदार्थ को देनेमें समर्थ होनेके कारण खेतीके फल (धान्यादि) की अपेक्षा पुष्कल फल देता है उसीप्रकार अहिंसा धर्म भी अन्य धर्मके अवान्तर भेदोंकी अपेक्षा विशेष फल (स्वर्गश्री और मुक्तिश्री के सुख) देता है ॥१॥

पूर्व में भी कहा जा चुका है कि अहिंसा धर्मके प्रभावसे मनुष्य दीर्घजीवी, भाग्यशाली, लक्ष्मीवान् सुन्दर और कीर्तिमान् होता है[3] ॥२॥

अतः विवेकी पुरुषको सबसे पहले पूर्वोक्त मानसिक, वाचनिक और कायिक असंयम—अशुभ प्रवृत्तिको त्यागकर अहिंसा व्रत धारण करना चाहिये पश्चात् उसे दान और पूजा आदि पुण्यकार्य करना चाहिये[4] ॥३॥

नीतिकार नारदने[5] भी कहा है कि 'शिष्टपुरुषों को जूँ, खटमल, डाँस, मच्छर आदि जीवोंकी भी बच्चोंकी तरह रक्षा करनी चाहिये; क्योंकि प्राणिरक्षा-सर्वश्रेष्ठ है, इसके त्याग करनेसे वैरभाव का संचार होता है' ॥१॥

निष्कर्षः—उक्त प्रमाणोंसे प्राणि-रक्षा सर्वश्रेष्ठ है; अतः नैतिक पुरुषको उसमें प्रवृत्ति करनी चाहिये ॥४॥

अब निर्दयी पुरुषोंकी क्रियाएं निष्फल होती हैं इसे बताते हैं:—

न खलु भूतद्रुहां कापि क्रिया प्रसूते श्रेयांसि ॥५॥

अर्थः—प्राणियोंकी हिंसा करने वाले—निर्दयी पुरुषों की कोई भी पुण्यक्रिया कल्याणों को उत्पन्न

---

१ दयानदीमहातीरे सर्वे धर्मास्तृणाङ्कुराः।
तस्यां शोषमुपेतायां कियन्नन्दन्ति ते चिरम् ॥१॥—संगृहीत

२, ३, ४, देखो यशस्तिलक उ० पृ० ३३९।

५ तथा च नारदः—
यूकामत्कुणदंशानि मशकानि पुत्रवत्।
एतदाचरणं श्रेष्ठं यत्नतो वैरसम्भवः ॥१॥

नहीं करती—निर्दयी पुरुष कितनीभी शुभ-क्रियाएं करते हों तथापि उनसे उनका कल्याण नहीं हो सकता ॥५॥

नीतिकार व्यासने[1] भी उक्त बातका समर्थन किया है कि 'जो व्यक्ति निरपराध प्राणियों का वध करता है वह निर्दयी है उसकी पुण्य क्रिया निष्फल होती है और उसकी आपत्तियाँ बढ़ती रहती हैं' ॥१॥

निष्कर्ष:—अतः सुखाभिलाषी पुरुष कदापि जीवहिंसामें प्रवृत्ति न करे ॥५॥

अब दयालु पुरुषोंका कथन करते हैं:—

परत्राजिघांसुमनसां व्रतरिक्तमपि चित्तं स्वर्गाय जायते ॥ ६ ॥

अर्थ.—दूसरे प्राणियोंकी रक्षा करने वाले (दयालु) पुरुषोंका चित्त व्रतरहित होकरके भी स्वर्गके सुखोंको उत्पन्न करनेमें समर्थ होता है—जो धार्मिक पुरुष प्राणियों की रक्षा करने में तत्पर रहते हैं वे दूसरे व्रत और नियम वगैरह न भी पालते हों तो भी उन्हें स्वर्गके मनोज्ञ सुख प्राप्त होते हैं ॥६॥

यशस्तिलक के चतुर्थ आश्वासमें भी आचार्य श्री लिखते हैं कि जो राजा दीर्घायु, शक्ति और आरोग्यता चाहता है उसे स्वयं जीवहिंसा न करनी चाहिये और राज्य में प्रचलित जीवहिंसा को रोकना चाहिये ॥१॥

क्योंकि एक पुरुष सुमेरुपर्वततुल्य-विपुल सुवर्णराशिका या समस्त पृथ्वीका दान कर देता है परन्तु यदि कोई दूसरा व्यक्ति एक प्राणीके जीवनकी रक्षा करता है तो इस जीव रक्षाके सामने उस महादान की तुलना नहीं हो सकती—अर्थात् अभयदान (जीवरक्षा) करनेवालेको विशेष फल मिलेगा ॥२॥

जिस प्रकार लोग अपने शरीरको दुःख नहीं देना चाहते उसी प्रकार यदि दूसरोंको भी दुःख देनेकी इच्छा न करें तो उन्हें कभी किसी प्रकारका कष्ट नहीं होसकता ॥३॥

व्यासने[2] भी उक्त बातका समर्थन किया है कि 'जिनका चित्त दूसरों के घात करनेमें प्रवृत्त नहीं होता वे (दयालु पुरुष) दूसरे व्रतोंसे शून्य होनेपर भी स्वर्गके सुखोंको प्राप्त करते हैं' ॥१॥

निष्कर्ष :—अतः सुखाभिलाषी शिष्टपुरुष सदा प्राणिरक्षा में प्रवृत्ति करे ॥६॥

अब शक्तिसे बाहर दान करनेका फल बताते हैं :—

स खलु त्यागो देशत्यागाय यस्मिन् कृते भवत्यात्मनो दौःस्थित्यम् ॥७॥

अर्थ :—जिस दानके करनेसे दाताके समस्त कुटुम्बीजन दरिद्र होकर दुःखी होजाते हैं वह दान उसको देश त्याग करानेके लिये है।

---

१ तथा च व्यासः—
अहिंसकानि भूतानि यो हिनस्ति स निर्दयः।
तस्य कर्मक्रिया व्यर्था वर्द्धन्ते चापदः सदा ॥१॥

२ तथा च व्यास :—
येषां परविनाशाय नात्र चित्तं प्रवर्तते।
अव्रता अपि ते मर्त्याः स्वर्गं यान्ति दयान्विताः ॥१॥

भावार्थ:—जो मनुष्य अपनी आमदनी आदि पर ध्यान न देकर शक्तिको उल्लङ्घन करके दान करनेमें प्रवृत्त होता है उसका दान जघन्य कोटिका समझना चाहिये; क्योंकि ऐसा करनेसे वह ऋणमें फँस जाता है और उसका कुटुम्ब भी दुःखी होजाता है पुनः कुछ कालके पश्चात् उसे अपना देश छोड़ना पड़ता है। अतएव विवेकी पुरुषको अपनी आमदनीके अनुसार यथाशक्ति दानधर्ममें प्रवृत्ति करनी चाहिये ॥७॥

नीतिकार शुक्रने[1] भी लिखा है कि 'जो व्यक्ति अपनी आमदनीसे अधिक दान करता है उसके पुत्रादि कुटुम्बी कर्जामें फँसकर दुःखी होजाते हैं और अन्तमें वह दाता भी कर्ज आदिके भयसे उस देशको छोड़कर दूसरे देशमें चला जाता है ॥१॥

अमितगति आचार्यने सुभाषितरत्नसंदोहमें लिखा है कि जिनमतमें श्रद्धा रखनेवाला भव्य पुरुष कर्मोंका नाश करनेके उद्देश्यसे पात्र-दान करता है उसके प्रभावसे वह स्वर्गोंमें देवाङ्गनाओंका स्वामी होकर उनके साथ भोग भोगता है, पुनः वहांसे चय करके उत्तम कुलमें मनोज्ञशरीर प्राप्तकरके जैनधर्म धारण करके ज्ञानावरणादि कर्म शत्रुओंका नाशकर मोक्षसुखको प्राप्त होता है ॥१॥

निष्कर्ष :—उक्त प्रमाणसे पात्रदानका अनुपम और अचिन्त्य माहात्म्य होनेपर भी नैतिक पुरुषको अपनी आमदनीके अनुसार यथाशक्ति पात्रदानमें प्रवृत्ति करनी चाहिये जिससे उसके कुटुम्बी कष्ट न पावें और उसके चित्तमें भी किसी प्रकारकी आकुलता न हो ॥७॥

अब दरिद्रसे याचना करने वाले (भिक्षुक) के विषयमें लिखते हैं :—

स खल्वर्थी परिपन्थी यः परस्य दौःस्थित्यं जानन्नप्यभिलपत्यर्थम् ॥८॥

अर्थ :—जो याचक दूसरेकी दरिद्रताको जानता हुआ भी उससे याचना करता है—अपने लिये धनादि माँगता है वह उसका निश्चयसे शत्रु है; क्योंकि उस याचकसे उस दरिद्र दाताको पीड़ा होती है, इसलिये वह भिक्षुक उस दरिद्र व्यक्तिका शत्रु हुआ।

निष्कर्ष :—अतः याचकका कर्त्तव्य है कि जब वह दूसरेकी दरिद्रताका निश्चय करले तो उससे कदापि याचना न करे ॥८॥

बृहस्पति[2] नामके विद्वान्ने भी सूत्रकारके अभिप्रायको व्यक्त किया है कि 'जो भिक्षुक दाताकी

---

१ तथा च शुक्र :—
आगतेरधिकं त्यागं यः कुर्यात् तत्सुतादयः।
दुःस्थिताः स्युः ऋणग्रस्ताः सोऽपि देशान्तरं व्रजेत् ॥१॥

२ तथा च बृहस्पति :—
असन्तमपि यो लौल्याज्जानन्नपि च याचते।
साधुः स तस्य शत्रुर्हि, यस्मान्नो दुःखश्चादरन्हृति ? ॥१॥
[नोट :—इस श्लोकका चतुर्थचरण बिलकुल अशुद्ध है, हमने उसको निम्नप्रकार [illegible] और परिवर्तित करते हुए अर्थसंगति टीकती है।] अनुवादक :—
असन्तमपि यो लौल्याज्जानन्नपि च याचते।
साधुः स तस्य शत्रुर्हि यद्दुःखेन प्रयच्छति ॥१॥ [illegible] और परिवर्तित।

दरिद्रताको जान करके भी लोभके कारण उससे अविद्यमान धनादिककी याचना करता है वह उसका शत्रु है; क्योंकि वह बेचारा कष्ट भोगकर उसे कुछ दे देता है' ॥१॥

अब शक्ति के अनुसार व्रत नियम करने का निर्देश करते हैं:—

तद्व्रतमाचरितव्यं यत्र न संशयतुलामारोहतः शरीरमनसी ॥६॥

अर्थः—नैतिक पुरुष को ऐसे व्रत नियम करने चाहिये जिनमे उसके शरीर और मन क्लेशित न हों।

चारायण[1] नामके विद्वान् ने भी कहा है कि 'जो मनुष्य शरीर की सामर्थ्य का विचार न करके व्रत वा नियम करता है उसका मन संक्लेशित होता है पुनः वह पश्चात्ताप करने लगता है और इससे उसे व्रतका शुभ फल नहीं मिलता' ॥१॥

विशदविमर्शः—शास्त्रकारोंने[2] व्रतके निम्नप्रकार दो लक्षण किये हैं। न्यायप्राप्त भोगोपभोग सामग्री का कुछ कालकी मर्यादासे त्याग करना व्रत है तथा असत् (नीतिविरुद्ध) कार्यों (हिंसा, झूँठ, चोरी और कुशीलादि) से निवृत्त होना और अहिंसा तथा सत्य आदि शुभ कर्मोंमें प्रवृत्ति करना व्रत कहा गया है।

प्रकरणमें नैतिक व्यक्तिको असत् कार्यों (मद्यपान, मांसभक्षण, और परकलत्र सेवन आदि) का जीवन पर्यन्तके लिये त्याग करना चाहिये एवं शुक्ल कार्य (अहिंसा, सत्य और परोपकार आदि पुण्यकर्म) में प्रवृत्ति करनी चाहिये। तथा न्यायप्राप्त सेवन करनेके योग्य इष्टसामग्रीका त्यागभी अपनी शारीरिक शक्तिके अनुसार करना चाहिये ताकि उसे मानसिक खेदके कारण पश्चात्ताप न करना पड़े ॥६॥

अब त्याग-दानधर्म का माहात्म्य बताते हैं:—

ऐहिकामुत्रिकफलार्थमर्थव्ययस्त्यागः ॥१०॥

अर्थ.—इसलोक और परलोक संबंधी सुखोंकी प्राप्तिके लिये पात्रोंको धनादिकका देना त्यागधर्म है।

अर्थात् दाताको जिस दानसे ऐहिक (इसलोकसंबंधी-कीर्ति, सन्मान, और कौटुम्बिक श्रीवृद्धि आदि) और पारलौकिक (परलोकसंबंधी स्वर्ग-आदि) सुख प्राप्त हों उसे दान-त्यागधर्म कहा है।

अभिप्राय यह है कि दान पात्रको देना चाहिये परन्तु जो व्यसनी पुरुष व्यसनोंमें फँसकर अपने धन को बर्बाद करते हैं वह दान नहीं है किन्तु धनका नाशही है।

---

१ तथा च चारायणः—
अशक्त्या यः शरीरस्य व्रतं नियममेव वा।
करोत्यार्त्तो भवेत् पश्चात् पश्चात्तापात् फलच्युतिः ॥१॥

२ संकल्पपूर्वकः सेव्ये नियमो व्रतमुच्यते।
प्रवृत्तिविनिवृत्ती वा सदसत्कर्मसंभवे ॥१॥
यशस्तिलक आ० ७।

चारायण[1] नामके विद्वान्ने कहा है कि 'नम्रतायुक्त धूर्तपुरुष, पहलवान, खोटावैद्य, जुआरी, शठ, चाटुकार करने वाले चारण (भाट) और चोरोंको जो धन दिया जाता है वह निष्फल है ।'

विशदविवेचनः—

शास्त्रकारोंने[2] लिखा है कि प्राणियोंका मन उत्तम होने परभी यदि तप, दान और ईश्वरादि की भक्ति (पूजा) से शून्य है तो वह कोठीमें रक्खे हुए धान्यादिकके बीजके समान स्वर्ग एवं मोक्षरूप उत्तम फलोंको उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं हो सकता। भावार्थः—जिस प्रकार धान्यादिकके बीज केवल कोठी में भरे हुए रक्खे रहें तो वे धान्यके अंकुरों को उत्पन्न नहीं कर सकते, परन्तु जब उन्हें खेत में बोया जावेगा और खाद्य और पानी आदि सामग्री मिलेगी तभी वे धान्यादिकके अंकुरोंको उत्पन्न करनेमें समर्थ होते हैं उसी प्रकार मनुष्योंका प्रशस्त मन भी जब तप, दान और ईश्वरभक्तिसे युक्त होगा तभी वह स्वर्गादिके उत्तमसुखोंको उत्पन्न कर सकता है, अन्यथा नहीं ।

आचार्य श्री यशस्तिलकमें लिखते हैं कि विद्वानोंने अभय, आहार, औषधि और ज्ञानदानके भेद से ४ प्रकारका दान पात्रोंमें भक्तिपूर्वक यथाशक्ति देनेका विधान बताया है[3] ॥१॥

अब प्रत्येक दान का फल भी बताते हैं कि अभयदान (प्राणियों की रक्षाकरना) से दाता को मनोज्ञ शरीर, आहारदानसे सांसारिक भोगोपभोग सामग्री, औषधिदानसे निरोगी शरीर और विद्यादान में श्रुतकेवलीपद प्राप्त होता है[4] । ॥२॥

सबसे पहले विवेकी पुरुषको सदा समस्त प्राणियोंको अभयदान देना चाहिये—अर्थात् उसे समस्त प्राणियोंकी रक्षा करनी चाहिये; क्योंकि अभयदानसे शून्य व्यक्ति परलोकमें कल्याणकी कामनासे कितनी भी शुभ क्रियाएं (जप और तप प्रभृति) क्यों न करे परन्तु वे सब निष्फल होती हैं[5] ॥३॥

समस्त दानोंमें अभयदान श्रेष्ठ है इसलिये जो इसे देता है, वह दूसरे दान करता हो या न भी करता हो तथापि उसे उत्तम फल मिलता है[6] ॥४॥

जो व्यक्ति अभयदान देता है उसने समस्त आगम को पढ़ लिया और सर्वोत्कृष्ट तपश्चर्या कर ली तथा समस्त दान कर लिये ॥५॥

निष्कर्षः—नैतिक पुरुषको ऐहिक और पारलौकिक सुख प्राप्ति के लिये पात्रदान में प्रवृत्ति करनी चाहिये ॥१०॥

---

१ तथा च चारायणः—

धूर्ते वंदिनि मल्ले च कुवैद्ये कैतवे शठे ।
चाटुचारणचौरेषु दत्तं भवति निष्फलं ॥१॥

२ यशस्तिलक आ० ८ से ।

३, ४, ५, ६, यशस्तिलक आ० ८ से ।

अब अपात्र को दान देनेकी निष्फलता बताते हैं:—

भस्मनि हुतमिवापात्रेष्वर्थव्ययः ॥११॥

अर्थ:—अपात्र—(नीति और धर्मसे शून्य) व्यक्तिको दान देना भस्म (राख) में हवन करनेके समान निष्फल है ॥११॥

नारद विद्वान्[1] लिखता है कि 'खोटा नौकर, वाहन, शास्त्र, तपस्वी, ब्राह्मण और खोटा स्वामी इनमें धन खर्च करना भस्ममें हवन करनेके समान निष्फल है।'

यशस्तिलक में लिखा है कि विद्वानों ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से शून्य पुरुष को अपात्र कहा है उसमें दिया हुआ अन्न वगैरहका दान ऊपर जमीनमें बीज बोनेके समान निष्फल है ॥१॥

पात्रमें दिया गया अन्नादिका दान श्रावकोंकी पुण्य वृद्धिका कारण होता है, क्योंकि बादलोंका पानी सीपमें ही मोती होता है ॥२॥

जिनके मन मिथ्यात्वसे दूषित हैं और जो हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाप क्रियाओं में प्रवृत्ति करते हैं उनको दान देनेसे पाप बन्धही होता है जिस प्रकार सांपको दूध पिलानेसे विष हो जाता है ॥३॥

अथवा यदि श्रावक दयालुतासे उन्हें कुछ देता है तो अन्न दे देना चाहिये परन्तु अपने गृहमें भोजन नहीं कराना चाहिये ॥४॥

क्योंकि उनका सन्मानादि करनेसे श्रावक का सम्यग्दर्शन दूषित होता है; जिस प्रकार स्वच्छ पानी भी विषैले बर्तनमें प्राप्त होनेसे विषैला होजाता है ॥५॥

निष्कर्ष :—इसलिये अपात्रोंको दान देना निरर्थक है ॥११॥

अब पात्रोंके भेद बताते हैं:—

पात्रं च त्रिविधं धर्मपात्रं कार्यपात्रं कामपात्रं चेति ॥१२॥

अर्थ:—पात्रों (दान देने योग्य) के ३ भेद हैं।

धर्मपात्र, कार्यपात्र और कामपात्र।

(१) धर्मपात्र[2]:—जो बहुश्रुत विद्वान् प्रबल और निर्दोष युक्तियोंके द्वारा समीचीन धर्मका व्याख्यान करते हैं और माताके समान कल्याण करनेवाली शिक्षाका उपदेश देते हैं उन्हें साधुपुरुषोंने धर्मपात्र कहा है ॥१॥

---

१ तथा च नारद :—

कुभृत्ये च कुयाने च कुशास्त्रे कुतपस्विनि।

कुविप्रे कुत्सिते नाथे व्ययो भस्मकृतं यथा ॥१॥

२ देखो नीतिवाक्यामृत संस्कृत टीका पृ० ११।

(२) कार्यपात्र[1] :—स्वामीके अनुकूल चलनेवाले, प्रतिभाशाली, चतुर और कर्त्तव्यमें निपुण सेवकोंको कार्यपात्र कहा गया है ॥२॥

(३) कामपात्र[2] :—इन्द्रियजन्य सुखका अनुभव करनेवाले मनुष्योंका मन जिसके शरीरके स्पर्शसे सुख प्राप्त करता है ऐसी उपभोगके योग्य कमनीय कामिनीको विद्वानोंने कामपात्र कहा है ॥३॥

(४) वशिष्ठने[3] कहा है कि दाताको धर्मपात्र स्वर्गके सुख, कार्यपात्र लौकिक प्रयोजनोंकी सिद्धि और कामपात्र (अपनी स्त्री) दोनों लोकोंके सुख देता है ॥४॥

विशदविवेचन :—इन्हीं आचार्यश्रीने यशस्तिलकमें[4] पात्रोंके पांच भेद बताये हैं जो विशेप-ज्ञातव्य हैं।

समयी (जैन सिद्धान्तका विद्वान् चाहे वह गृहस्थ हो या मुनि), श्रावक (प्रतिमारूप चरित्रधर्मको पालने वाला व्रती श्रावक), साधु (मुनिराज), आचार्य और जैनशासनकी प्रभावना करनेवाला विद्वान् इस प्रकार पाँच प्रकारके पात्र विद्वानों ने माने हैं ॥१॥

उक्त पाँचों पात्रोंको दान देनेका विधान किया गया है, परन्तु विस्तारके भयसे हम लिखना नहीं चाहते।

अब पात्रोंके विषयमें दूसरोंका मत संग्रह करते हैं :—

एवं कीर्तिपात्रमपीति केचित् ॥१३॥

अर्थ :—कुछ नीतिकारोंने उक्त पात्रोंके सिवाय कीर्तिपात्र (जिसको दान देनेपर दाताकी संसारमें कीर्ति हो) को भी दान देने योग्य पात्र बताया है ॥१३॥

[नोट :— यह सूत्र नीति० की संस्कृत टीका पुस्तकमें नहीं है किन्तु मु० मू० पुस्तकसे संग्रह किया गया है]

अब जिन कारणोंसे मनुष्यकी कीर्ति दूषित होती है उसे बताकर कीर्तिके कारणका निर्देश करते हैं :—

किं तया कीर्त्या या आश्रितान्न बिभर्ति, प्रतिरुणद्धि वा धर्मं भागीरथी-श्री-पर्वतवद्भावानामन्यदेव प्रसिद्धेः कारणं न पुनस्त्यागः यतो न खलु गृहीतारो व्यापिनः सनातनाश्च ॥१४॥

अर्थ :—मनुष्यकी उस कीर्तिसे क्या लाभ है ? अर्थात् कोई लाभ नहीं है—वह निन्द्य है, जो अपने आश्रितों—अधीनमें रहनेवाले कुटुम्बियों तथा सेवकजनोंका पालन नहीं करती और धर्मको रोकती है—नष्ट करती है। आशय यह है कि जो मनुष्य अपने अधीनरहने वालोंका पालन पोषण

१, २ देखो नीतिवाक्यामृत संस्कृत टीका पृष्ठ ११, १२ ।

३ तथा च वशिष्ठ :—
स्वर्गाय धर्मपात्रं च कार्यपात्रमिह स्मृतं ।
कामपात्रं निजा कान्ता लोकद्वयप्रदायकं ॥१॥

४ देखो यशस्तिलक आ० ८ पृ० ४०९ ।

तथा धर्मकी रक्षा नहीं करता और ऊपरी नीति-विरुद्ध बातोंमें धनकी बर्बादी करके कीर्तिभाजन बनता है उसकी वह कीर्ति निन्द्य समझनी चाहिये—अर्थात् वह अपकीर्ति है। संसारमें गंगा, लक्ष्मी और पार्वती (पर्वतसम्बन्धी स्थानविशेष) की तरह पदार्थोंकी प्रसिद्धिका कारण दूसरा ही है सामान्य त्याग नहीं; क्योंकि दान लेनेवाले पात्र लोग अत्यन्त प्रसिद्ध और सदा रहने वाले नहीं होते।

भावार्थ :—मूर्ख और कुकर्मी नास्तिक लोग अपने अधीन रहनेवालोंको कष्ट देकर और स्वयं मद्यपान और परस्त्रीसेवन-आदि कुकृत्योंमें फँसकर धर्मको जलाञ्जलि देकर जो कीर्ति प्राप्त करते हैं उनकी वह कीर्ति अपकीर्ति समझनी चाहिये।

विदुर[1] नामके विद्वान्ने भी लिखा है कि 'मूर्खलोग अपने अधीनोंको सताकर धर्मको दूर छोड़कर जो कीर्ति प्राप्त करते हैं उनकी उस अधिक कीर्तिसे भी क्या लाभ है ? अर्थात् कोई लाभ नहीं' ॥१॥

'जुआरी और शराबी लोग जिसकी प्रशंसा करते हों एवं व्यभिचारिणी स्त्रियाँ जिसकी प्रशंसा करती हों उसकी कीर्ति अपकीर्ति ही समझनी चाहिये ॥२॥

सूत्रकी उक्त दृष्टान्तमालाका समर्थन :—

लोकमें गंगा, लक्ष्मी और पर्वतका प्रदेश साधारणत्याग (क्रमशः निर्मलजल देना, धनादिक देना और पान्थोंको विश्राम आदि देना) से प्रसिद्ध नहीं हैं किन्तु उस त्यागके साथ२ उनमें आश्रितोंकी रक्षा और पवित्रताके कारण धार्मिक उन्नतिमें सहायकपन पाया जाता है; इसलिये वे प्रसिद्ध हैं। उसी प्रकार मनुष्य भी जब अपने अधीनोंका पालन और धार्मिक प्रगति करता हुआ दान धर्ममें प्रवृत्ति करता है तब वह वस्तुतः कीर्तिभाजन होता है। सामान्य त्यागसे मनुष्यकी कीर्ति नहीं होती; क्योंकि दान लेने वाले पात्र विशेषप्रसिद्ध और चिरस्थायी नहीं होते।

अतएव नैतिक और विवेकी मनुष्यको चन्द्रवन्निर्मल कीर्ति प्राप्त करनेके लिये पात्रदानके साथ २ अपने अधीनोंकी रक्षा करते हुए धार्मिक प्रगति करनी चाहिये ॥१४॥

अब कृपणके धनकी आलोचना करते हैं :—

स खलु कस्यापि माभूदर्थो यत्रासंविभागः शरणागतानाम् ॥१५॥

अर्थ :—जिस धनके द्वारा शरणमें आये हुए आश्रितोंका भरण पोषण नहीं किया जाता वह कृपणका धन व्यर्थ है ॥१५॥

---

१ तथा च विदुर :—

आश्रितान् पीड़यित्वा च धर्मं त्यक्त्वा सुदूरतः।
या कीर्तिः क्रियते मूढैः किं तयापि प्रभूतया ॥१॥

कैतवा यं प्रशंसन्ति यं प्रशंसन्ति मद्यपाः।
यं प्रशंसन्ति बन्धक्यो कीर्तिः साकीर्तिरूपिणी ॥२॥

वल्लभदेव नामके विद्वान्ने[1] भी उक्त बातका समर्थन किया है कि 'उस लोभीकी सम्पत्तिसे क्या लाभ है ? जिसे वह अपनी स्त्रीके समान केवल स्वयं भोगता है तथा जिसकी सम्पत्ति वेश्याके समान सर्वसाधारण या पान्थोंके द्वारा नहीं भोगी जाती ॥१॥'

अब धनका उपयोग बताकर नैतिक व्यक्तिको अधिक लोभ करना उचित नहीं है इसका कथन करते हैं :—

अर्थिषु संविभागः स्वयमुपभोगश्चार्थस्य हि द्वे फले, नास्त्यौचित्यमेकान्तलुब्धस्य ॥१६॥

अर्थ :—सम्पत्तिके दो ही फल हैं। (१) पात्रोंको दान देना और (२) स्वयं उपभोग करना। अतएव नैतिकपुरुषको निरन्तर लोभ करना उचित नहीं ॥१६॥

गुरुनामके[2] विद्वान्ने कहा है 'कि ब्राह्मण भी लोभके वश होकर समुद्र पार करता है और हिंसा और मिथ्याभाषण आदि पापोंमें प्रवृत्ति करता है इसलिये अधिक मात्रामें लोभ नहीं करना चाहिये ॥१॥'

[3]सुभाषितरत्नभाण्डागारमें लिखा है कि कृपण (लोभी) और कृपाण (तलवार) इसमें केवल "आ" की दीर्घमात्राका ही भेद है अर्थात् कृपण शब्दके "प" में ह्रस्व "अ" है और "कृपाण" शब्दके "पा" में दीर्घ "आ" विद्यमान है बाकी सर्व धर्म समान हैं; क्योंकि कृपण अपने धनको मुष्टि में रखता है और तलवार भी हाथकी मुट्ठीमें धारणकी जाती है।

कृपण अपने कोष (खजाने) में बैठा रहता है और तलवार भी कोष (म्यान) में रक्खी जाती है। कृपण मलिन रहता है और तलवार भी मलिन (कालेरंगकी) होती है। इसलिये "कृपण" और "कृपाण" में केवल आकारका ही भेद है अन्य सर्व धर्म समान हैं।

भावार्थ :—जिसप्रकार तलवार घातक है उसी प्रकार लोभीका धन भी धार्मिक कार्योंमें न लगनेसे उसका घातक है; क्योंकि उससे उसे सुख नहीं मिलता उल्टे दुर्गतिके दुःख होते हैं ॥१॥

अब नैतिक व्यक्तिके सत्कर्तव्यका निर्देश करते हैं :—

दानप्रियवचनाभ्यामन्यस्य हि सन्तोषोत्पादनमौचित्यम् ॥१७॥[4]

अर्थ :—दान और प्रिय वचनोंके द्वारा दूसरोंको सन्तुष्ट करना यह नैतिक मनुष्यका उचित सत्कर्तव्य है ॥१७॥

---

१ तथा च वल्लभदेव :—
किं तया क्रियते लक्ष्म्या या वधूरिव केवला।
या न वेश्येव सामान्या पथिकैरुपभुज्यते ॥१॥

२ तथा च गुरु :—
लोभात् समुद्रतरणं लोभात् पापनिषेवणं।
ब्राह्मणोऽपि करोत्यत्र तस्मात्तं नातिकारयेत् ॥१॥

३ सुभाषितरत्नभाण्डागारेच :—
पटुतरनिवसमुष्टेः कोषनिषण्णस्य सहजमलिनस्य।
कृपणस्य कृपाणस्य च केवलमाकारतो भेदः ॥१॥

४ यह सूत्र संस्कृत टीका पुस्तकमें नहीं है, मु० मू० पुस्तकसे संकलन किया गया है।

अब सच्चे लोभीकी प्रशंसा करते हैं :—

स खलु लुब्धो यः सत्सु विनियोगादात्मना सह जन्मान्तरेषु नयत्यर्थम् ॥१८॥

अर्थ :—जो मनुष्य सज्जनोंको दान देकर अपने साथ परलोकमें धन लेजाता है, वही निश्चयसे सच्चा लोभी है।

भावार्थ :—धनका लोभी लोभी नहीं है किन्तु जो उदार है उसे सच्चा लोभी कहा गया है; क्योंकि पात्रदानके प्रभावसे उसकी सम्पत्ति अक्षय होकर उसे जन्मान्तर—स्वर्गादिमें अक्षय होकर मिल जाती है ॥१८॥

वर्ग[1] नामके विद्वान्ने भी कहा है कि 'इसलोकमें दाताके द्वारा दिया गया पात्रदान अक्षय होजाता है जिससे उसके सभी दूसरे जन्मोंमें उसके पास रहता है ॥१॥'

अब याचकको दूसरी जगह भिक्षा मिलनेमें जिसप्रकार विघ्न होता है उसे बताते हैं :—

अदातुः प्रियालापोऽन्यस्य लाभस्यान्तरायः ॥१९॥[2]

अर्थ :—जो व्यक्ति याचकको कुछ नहीं देता केवल उससे मीठे वचन बोलता है वह उसे दूसरे स्थानमें भिक्षा मिलनेमें विघ्न उपस्थित करता है; क्योंकि वह बेचारा उसके आश्वासनमें फँसकर दूसरी जगह भिक्षा लेने नहीं जासकता ॥१९॥

वर्ग नामके विद्वान्ने[3] भी लिखा है कि 'जो मनुष्य याचकको कुछ नहीं देता और स्पष्ट मनाई करके उसे छोड़ देता है, यद्यपि उससमय याचककी आशा भंग होजाती है परन्तु भविष्यमें उसे दुःख नहीं होता ॥१॥'

अब दरिद्र की स्थितिका वर्णन करते हैं :—

सदैव दुःस्थितानां को नाम बन्धुः ॥२०॥

अर्थ :—सदा दरिद्र रहनेवाले पुरुषोंका लोकमें कौन बन्धु है ? अर्थात् कोई नहीं।

भावार्थ :—जो लोग कृषि और व्यापार आदि साधनोंसे धन संचय नहीं करते और सदा आलस्यमें पड़े रहने से दरिद्र रहते हैं उनकी लोकमें कोई सहायता नहीं करता ॥२०॥

जैमिनि[4] नाम के विद्वान्ने लिखा है कि 'दरिद्र व्यक्ति यदि किसी गृहस्थके मकान पर उपकार करनेकी

---

१ तथा च वर्गः :—
दत्तं पात्रेऽत्र यद्दानं जायते चाक्षयं हि तत्।
जन्मान्तरेषु सर्वेषु दातुश्चैवोपतिष्ठते ॥१॥

२ मु० मू० पुस्तकमें "अदातुः प्रियालापोऽन्यत्र लाभान्तरायः" ऐसा पाठ है।

३ तथा च वर्गः :—
प्रत्याख्यानमदाता ना याचकाय करोति यः।
तत्क्षणाच्चैव तस्याशा वृथा स्यान्नैव दुःखदा ॥१॥

४ तथा च जैमिनिः :—
उपकर्तुमपि प्राप्तं निःस्वं दृष्ट्वा स्वमन्दिरे।
गुप्तं करोति चात्मानं गृही याचनशङ्कया ॥१॥

इच्छासे जाता है तो वह उसे आता हुआ देखकर "कहीं यह मुझसे कुछ माँग न लेवे" इस आशङ्कासे छिप जाता है' ॥१॥

अब याचकका दोपनिरूपण करते हैं :—

नित्यमर्थयमानात् को नाम नोद्विजते ॥२१॥

अर्थ :—सदा माँगनेवाले याचकसे कौन नहीं ऊब जाता ? सभी ऊब जाते हैं ॥२१॥

व्यास[1] नामके विद्वान्ने भी लिखा है कि 'कोई भी मनुष्य चाहे वह याचकका मित्र या बंधु ही क्यों न हो सदा माँगनेवालेसे दुःखी होजाता है। उदाहरणमें गाय भी अधिक दूध पीनेवाले बछड़ेसे ऊबकर उसे लात मार देती है ॥१॥'

अब तपका स्वरूप बताते हैं :—

इन्द्रियमनसोर्नियमानुष्ठानं तपः ॥२२॥

अर्थ :—पाँच इन्द्रिय (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र) और मनको वशमें करना या बढ़ती हुई लालसाओंको रोकना तप है ॥२२॥

आचार्य श्री यशस्तिलकमें लिखते हैं कि जो मनुष्य कायक्लेशरूप तप करता है, मंत्रोंका जाप जपता है और देवताओंको नमस्कार करता है परन्तु यदि उसके चित्तमें सांसारिक विपयभोगोंकी लालसा लगी हुई है तो वह तपस्वी नहीं कहा जासकता और न उसे इस लोक और परलोकमें सुख मिल सकता है। शास्त्रकारोंने[2] लिखा है कि जिसप्रकार अग्निके विना रसोईमें चाँवल आदि नहीं पकाये जासकते, मिट्टीके विना घट नहीं बन सकता तथा तंतुओंके विना वस्त्रकी उत्पत्ति नहीं होसकती उसी प्रकार उत्कट तपश्चर्याके विना कर्मोंका क्षय नहीं होसकता।

अब नियमका स्वरूप कहते हैं :—

विहिताचरणं निपिद्धपरिवर्जनं च नियमः ॥२३॥

अर्थ :—सत्यार्थशास्त्रनिरूपित सत्कर्त्तव्यों (अहिंसा और सत्य आदि) का पालन और शास्त्रनिषिद्ध दुष्कर्मों (हिंसा, और मिथ्याभापण आदि) का त्याग करना नियम है ॥२३॥

नारद नामके विद्वान्ने[3] भी कहा है कि—'शास्त्रविहित व्रतों (अहिंसा और सत्य आदि) का निर्विघ्न परिपालन करना और मद्यपानादि शास्त्रनिषिद्धका त्याग करना नियम है ॥१॥'

---

१ तथा च व्यास :—
मित्रैर्वा बन्धुवर्गो वातिप्रार्थनार्दितं कुर्यात् ?
अपि वत्समतिपिबन्तं विषाणैरपि हिनस्ति धेनुः ॥१॥

२ देखो कर्पूरप्रकरणका टीकाकार।

३ तथा च नारद :—
[illegible] क्रियते सम्यक्शास्त्र [illegible] ।
न [illegible] नियमः स [illegible] ॥१॥

अब आगम—शास्त्रका माहात्म्य बताते हैं :—

विधिनिषेधावैतिह्यायत्तौ ॥२४॥

अर्थ :—विधि—कर्तव्यमें प्रवृत्ति और निषेध—अकर्तव्यसे निवृत्ति ये दोनों सत्यार्थ आगम (शास्त्र) के अधीन हैं अर्थात् यथार्थवक्ताके कहे हुए आगममें जिन कर्त्तव्योंके करनेका विधान बताया है विवेकी मनुष्यको उनमें प्रवृत्ति करनी चाहिये और उक्त आगममें जिनके करनेका निषेध किया गया है उन्हें त्यागना चाहिये।

भावार्थ :—श्रेयस्कर कर्त्तव्यमें प्रवृत्ति एवं ऐहिक और पारलौकिक दुःख देनेवाले अकर्त्तव्यों से निवृत्तिका निर्णय आगम ही कर सकता है; जन साधारण नहीं ॥२४॥

भागुरि विद्वान्ने[1] कहा है कि 'शास्त्रविहित कर्तव्यपालन करनेसे प्राणीका अत्यन्त कल्याण होता है परन्तु शास्त्रनिषिद्ध कार्य भस्ममें हवन करनेके समान निष्फल होते हैं ॥१॥

जो मनुष्य पूर्वमें किसी वस्तुको छोड़ देता है और पुनः उसे सेवन करने लगता है वह झूठा और पापी है ॥२॥

अब सत्यार्थ आगम—शास्त्रका निर्णय करते हैं :—

तत्खलु सद्भिः श्रद्धेयमैतिह्यं यत्र न [2]प्रमाणबाधा पूर्वापरविरोधो वा ॥२५॥

अर्थ :– जिसमें किसी भी प्रमाणसे बाधा और पूर्वापरविरोध न पाया जाता हो, वही आगम शिष्टपुरुषोंके द्वारा श्रद्धाकरनेयोग्य—प्रमाण माननेयोग्य है।

भावार्थ :—जो आगम श्रेयस्कारक सत्कर्तव्योंकी प्रतिष्ठा करनेवाला और पूर्वापर के विरोधसे रहित हो वही शिष्टपुरुषों द्वारा प्रमाण मानने योग्य है। आचार्यश्रीने[3] यशस्तिलकमें लिखा है कि 'जो शास्त्र पूर्वापर विरोधके कारण युक्तिसे बाधित है वह मत्त और उन्मत्तके वचनोंके तुल्य है अतः क्या वह प्रमाण होसकता है ? नहीं होसकता ॥१॥

निष्कर्ष :—वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी तीर्थङ्करों द्वारा भाषित द्वादशाङ्ग आगम अहिंसाधर्मका समर्थक होनेसे पूर्वापर विरोधरहित होनेके कारण अपने सिद्धान्तकी प्रतिष्ठा करता है इसलिये शिष्ट पुरुषोंके द्वारा प्रमाण मानने योग्य है ॥२५॥

---

१ तथा च भागुरि :—
विधिना विहितं कृत्यं परं श्रेयः प्रयच्छति।
विधिना रहितं यच्च यथा भस्महुतं तथा ॥१॥
निषेधं यः पुरा कृत्वा कस्यचिद्वस्तुनः पुमान्।
तदेव सेवते पश्चात् सत्यहीनः स पापकृत् ॥२॥

२ मु० मू० पु० "स्वप्रमाणबाधा" ऐसा पाठ है।

३ पूर्वापरविरोधेन यत्तु युक्त्या च बाध्यते।
मत्तोन्मत्तवचःप्रख्यः स प्रमाणं किमागमः ॥१॥ यशस्तिलके।

नीतिकार नारदने[1] भी लिखा है कि 'जो अपने सिद्धान्तके माहात्म्यको नष्ट न करता हो—उनकी प्रतिष्ठा करता हो, पूर्वापरके विरोधसे रहित हो ऐसे आगमकी शिष्ट पुरुष प्रशंसा करते हैं ॥१॥'

अब चंचलचित्तवालोंका विवरण करते हैं :—

हस्तिस्नानमिव सर्वमनुष्ठानमनियमितेन्द्रियमनोवृत्तीनाम् ॥२६॥

अर्थ :—जिनकी इन्द्रियाँ और मन काबूमें नहीं है उनके समस्त सत्कार्य-दान, जप, तप और संयमादि हाथीके स्नानकी तरह निष्फल हैं। जिसप्रकार हाथी स्नान करके पुनः अपने शरीर पर धूलि डाल लेता है अतएव उसका स्नान करना व्यर्थ है उसीप्रकार जो मनुष्य जितेन्द्रिय नहीं हैं उनके समस्त सत्कार्य व्यर्थ हैं; क्योंकि वे चंचलचित्तके कारण पुनः कुकार्योंके गर्तमें गिर जाते हैं ॥२६॥

विशदविवेचन :—शास्त्रकार[2] लिखते हैं कि जो व्यक्ति इन्द्रियोंको वशमें किये विना ही शुभध्यान—(धर्मध्यान) करनेकी लालसा रखता है वह मूर्ख अग्निके विना जलाये ही रसोई बनाना चाहता है। जहाजके विना केवल भुजाओंके द्वारा ही अगाध समुद्रको पार करना चाहता है एवं खेतोंमें बीजोंके विना बोये ही धान्यकी उत्पत्ति करना चाहता है।

अर्थात् जिसप्रकार अग्नि आदिके विना रसोई आदिका पाक नहीं होसकता उसीप्रकार इन्द्रियोंको वश किये विना धर्मध्यान नहीं होसकता ॥१॥

इसीप्रकार कोई भी मनुष्य मानसिक शुद्धिके विना समस्त धार्मिक क्रियाएं करता हुआ भी मुक्ति-लक्ष्मीको प्राप्त नहीं कर सकता।

अन्धा पुरुष अपने हाथमें शीशेको धारण करता हुआ भी क्या उसमें अपनी आकृतिको जान सकता है? नहीं जान सकता ॥२॥

नीतिकार सौनकने[3] कहा है कि 'अशुद्ध इन्द्रिय और दुष्ट-चित्तवाला पुरुष जो कुछ भी सत्कार्य करता है वह सब हाथीके स्नानकी तरह निष्फल है' ॥१॥

अब जो ज्ञानवान् होकरके भी शुभ कार्यमें प्रवृत्त नहीं होता उसका विवरण करते हैं :—

दुर्भगाभरणमिव देहखेदावहमेव ज्ञानं स्वयमनाचरतः ॥२७॥

अर्थः—जो अनेक शास्त्रोंका ज्ञाता विद्वान् होकरके भी शास्त्रविहित सदाचार—अहिंसा और सत्य-भाषण आदिमें प्रवृत्ति नहीं करता, उसका प्रचुरज्ञान विधवा स्त्रीके आभूषण धारण करनेके समान शारीरिक क्लेशको उत्पन्न करनेवाला—व्यर्थ है।

---

१ तथा च नारद :—
स्वदर्शनस्य माहात्म्यं यो न हन्यात् स आगमः।
पूर्वापरविरोधश्च शस्यते स च साधुभिः ॥१॥
२ देखो धर्मप्रकरणका इन्द्रिय और मनोहार।
३ तथा च सौनक :—
अशुद्धेन्द्रियचित्तो यः कुरुते काचित् सत्क्रियां।
हस्तिस्नानमिव सर्वं तस्य सा निरर्थिका ॥१॥

अर्थात् जिसप्रकार विधवा स्त्रीका पतिके बिना आभूषण धारण करना व्यर्थ है, उसी प्रकार नैतिक और धार्मिक सत्कर्त्तव्योंसे पराङ्मुख रहनेवाले विद्वान्का ज्ञान भी निष्फल है ॥२७॥

नीतिकार राजपुत्रने[1] भी कहा है कि 'शास्त्रविहित सत्कर्त्तव्योंमें प्रवृत्ति न करनेवाले विद्वान्का ज्ञान विधवा स्त्रीके आभूषण धारण करनेके समान व्यर्थ है' ॥

अब दूसरोंको धर्मोपदेश देनेवालोंकी सुलभता बताते हैं :—

सुलभः खलु कथक इव परस्य धर्मोपदेशे लोकः ॥२८॥

अर्थः—दूसरोंको धर्मोपदेश देनेमें कुशल पुरुष कथावाचकोंके समान सुलभ हैं। जिसप्रकार स्वयं धार्मिक अनुष्ठान न करनेवाले कथावाचक बहुत सरलतासे मिलते हैं, उसी प्रकार स्वयं धार्मिक कर्त्तव्योंका पालन न करनेवाले और केवल दूसरोंको धर्मोपदेश देनेवाले भी बहुत सरलतासे मिलते हैं ॥२८॥

वाल्मीकि विद्वान्ने[2] भी कहा है कि 'इस भूतल पर कथावाचकोंकी तरह धर्मका व्याख्यान करनेवाले बहुत पाये जाते हे, परन्तु स्वयं धार्मिक अनुष्ठान करनेवाले सत्पुरुष विरले हैं' ॥१॥

अब तप और दानसे होनेवाले लाभका विवरण करते हैं :—

प्रत्यहं किमपि नियमेन प्रयच्छतस्तपस्यतो वा भवन्त्यवश्यं महीयांसः परे लोकाः ॥२९॥

अर्थः—जो धार्मिक पुरुष प्रत्येक दिन नियमसे कुछ भी यथाशक्ति पात्रदान और तपश्चर्या करता है, उसे परलोकमें स्वर्गकी उत्तमोत्तम सम्पत्तियाँ प्राप्त होती हैं' ॥२९॥

नीतिकार चारायण[3] भी उक्त सिद्धान्तका समर्थन करता है कि 'सदा दान और तपमें प्रवृत्त हुए पुरुषको वह पात्र (दान देनेयोग्य त्यागी व्रती और विद्वान् आदि) और तपमें व्यतीत किया हुआ समय उसे सद्गति—स्वर्गमें प्राप्त करा देता है' ॥२॥

अब संचय—वृद्धिसे होनेवाले लाभका कथन करते हैं :—

कालेन संचीयमानः परमाणुरपि जायते मेरुः ॥३०॥

अर्थः—तिलतुषमात्र—थोड़ी भी वस्तु (धर्म, विद्या और धनादि) प्रतिदिन चिरकाल तक संचय—वृद्धि की जानेसे सुमेरु पर्वतके समान महान् हो जाती है ॥३०॥

---

१ तथा च राजपुत्रः—
　यः शास्त्रं जानमानोऽपि तदर्थं न करोति च।
　तद् व्यर्थं तस्य विज्ञेयं दुर्भगाभरणं यथा ॥१॥

२ तथा च वाल्मीकिः—
　सुलभा धर्मवक्तारो यथा पुस्तकवाचकाः।
　ये कुर्वन्ति स्वयं धर्मं विरलास्ते महीतले ॥१॥

३ तथा च चारायणः—
　नित्यं दानप्रवृत्तस्य तपोयुक्तस्य देहिनः।
　सत्पात्रं वाथ कालो वा स स्याद्येन गतिर्वरा ॥१॥

नीतिकार भागुरिने[1] लिखा है कि 'जो उद्योगी पुरुष सदा अपने खजानेकी वृद्धि कराता रहता है उसका खजाना—धनराशि सुवर्णके नित्य संचयसे सुमेरुकी तरह अनन्त—अपरिमित होजाता है' ॥१॥

अब धर्म, विद्या और धनकी दैनिक वृद्धि करनेसे होनेवाला लाभ बताते हैं :—

धर्मश्रुतधनानां प्रतिदिनं लवोऽपि संगृह्यमाणो भवति समुद्रादप्यधिकः ॥३१॥

अर्थः—धर्म, विद्या और धनका प्रतिदिन थोड़ा २ भी संग्रह करनेसे समय पाकर ये समुद्रसे भी अधिक होजाते हैं ॥३१॥

नीतिकार वर्ग[2] भी उक्त बातकी पुष्टि करता है कि "जो व्यक्ति सदा धर्म, विद्या और धनका संग्रह करता रहता है उसकी वे सब वस्तुएँ पूर्वमें अल्प होने पर भी समय पाकर समुद्रके समान अनन्त होजाती हैं" ॥१॥

अब धर्मपालनमें उद्योगशून्य पुरुषोंको संकेत करते हुए कहते हैं :—

धर्माय नित्यमनाश्रयमाणानामात्मवंचनं भवति[3] ॥३२॥

अर्थः—जो व्यक्ति धर्मका आचरण नहीं करते वे अपनी आत्माको ठगते हैं।

वशिष्ठने[4] कहा है कि 'जिसने मनुष्यजीवन प्राप्त करके धर्मका आश्रय नहीं लिया, उसने अपनी आत्माको नरकका पात्र बनाकर बड़ा धोखा दिया' ॥१॥

विशदविवेचन :—

शास्त्रकारोंने[3] कहा है कि जिस प्रकार सुगन्धिसे शून्य पुष्प, दांतोंसे रहित मुख और सत्यसे शून्य

---

१ तथा च भागुरि :—

नित्यं कोषविवृद्धिं यः कारयेद्यत्नमास्थितः ।
अनन्तता भवेत्तस्य मेरोर्हेम्नो यथा तथा ॥१॥

२ तथा च वर्ग :—

उपार्जयति यो नित्यं धर्मश्रुतधनानि च ।
सुस्तोकान्यप्यनन्तानि तानि स्युर्जलधिर्यथा ॥२॥

३ मु० मू० पु० में—"धर्माय नित्यमजाग्रतामात्मवञ्चनम्" ऐसा पाठ है, अर्थभेद कुछ नहीं है।

४ तथा च वशिष्ठ :—

मनुष्यत्वं समासाद्य यो न धर्मं समाश्रयेत् ।
आत्मा प्रवंचितस्तेन नरकाय निरूपितः ॥१॥

३ उक्तं च :—

गन्धेन हीनं कुसुमं न भाति, दंतेन हीनं वदनं न भाति ।
सत्येन हीनं वचनं न भाति, पुण्येन हीनः पुरुषो न भाति ॥१॥

[illegible] ।
[illegible] ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥२॥

[illegible]

वचन शोभायमान नहीं होता, उसी प्रकार धर्मसे शून्य मनुष्य भी शोभायमान नहीं होता ॥१॥

जो पुरुष सांसारिक सुखोंके लिये मोक्षसुख देनेवाले धर्मका त्याग कर देता है वह निम्न उस मूर्खके सदृश है जो लकड़ीके लिये कल्पवृक्षको काटता है, चूर्णके लिये चिंतामणिरत्नको अग्निमें फेंकता है, एक कीलेके लिये नौकाको नष्ट करता है और गधीको खरीदनेके लिये अपनी कामधेनुको दे देता है ॥२॥

अब एककालमें अधिक पुण्यसमूहके संचयकी दुर्लभता बताते हैं :—

कस्य नामैकदैव सम्पद्यते पुण्यराशिः ॥३३॥

अर्थ :—किसको एक ही समयमें प्रचुर पुण्यसमूह प्राप्त होता है ? नहीं होता ।

भावार्थ :—लोकमें कोई भी व्यक्ति एककालमें पुण्यराशिका संचय नहीं कर सकता किन्तु धीरे२ कर सकता है ॥३३॥

नीतिकार भागुरिने[1] कहा है कि 'मनुष्योंको मर्त्यलोकमें सुख नहीं मिलता उन्हें सुखके बाद दुःख और दुःखके बाद सुख प्राप्त होता है क्रीड़ामात्रमें नहीं' ॥१॥

अब आलसी पुरुषके मनोरथोंकी निष्फलता बताते हैं :—

अनाचरतो मनोरथाः स्वप्नराज्यसमाः ॥३४॥[2]

अर्थ :—उद्योगशून्य पुरुषके मनोरथ (मनमें चिंतवनकी हुई सुखकी कामनाएं) स्वप्नमें राज्य मिलनेके समान व्यर्थ होते हैं। जिसप्रकार स्वप्नमें राज्यकी प्राप्ति निरर्थक है उसीप्रकार उद्योगशून्य आलसी मनुष्यकी सुखप्राप्तिकी कामनाएं भी व्यर्थ होती हैं।

निष्कर्ष :—इसलिये प्रत्येक व्यक्तिको धर्म, ज्ञान और धनादिके संचय करनेमें नीतिपूर्ण पुरुषार्थ करना चाहिये ॥३४॥

वल्लभदेव[3] नामके विद्वानने कहा है कि 'उद्योगसे ही कार्य सिद्ध होते हैं मनमें चाहने मात्रसे नहीं. सोते हुए शेरके मुखमें हिरण स्वयं नहीं प्रविष्ट होते' ॥१॥

अब जो व्यक्ति धर्मके फलका उपभोग करता हुआ भी पापमें प्रवृत्ति करता है उसको कहते हैं :—

धर्मफलमनुभवतोऽप्य[4]धर्मानुष्ठानमनात्मज्ञस्य ॥३५॥

---

१ तथा च भागुरि :—
सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखं ।
न हेलया सुखं नास्ति मर्त्यलोके भवेन्नृणां ॥१॥

२ मु० मू० पु० में "स्वयमनाचरतां मनोरथाः स्वप्न राज्यसमाः" ऐसा पाठ है, परन्तु अर्थ भेद कुछ नहीं है।

३ तथा च वल्लभदेव :—
उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः ।
न हि सिंहस्य सुप्तस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ॥१॥

४ "ह्यः" इति मु० मू० पुस्तक में पाठ है।

अर्थ :—जो मनुष्य धर्मके फल (मनुष्यजन्म, उच्चकुल, धनादिवैभव, दीर्घायु, विद्वत्ता और निरोगिता आदि) का उपभोग करता हुआ भी पापोंमें प्रवृत्ति करता है वह मूर्ख है।

विद्वान् सौनकने[1] कहा है कि 'पूर्वजन्म में किये हुए धर्मसे मनुष्योंको सुख मिलता है इसे विद्वान् पुरुप भलीभाँति जानते हैं परन्तु मूर्ख लोग नहीं जानते इससे वे पापोंमें प्रवृत्त होते हैं ॥१॥

शास्त्रकारोंने[2] कहा है कि जो पुरुप धर्मसे उत्पन्न हुए फलों-पूर्वोक्त मनुष्यजन्म आदि को भोगता हुआ भी धर्मानुष्ठानमें मन्दबुद्धियुक्त है—अर्थात् धर्ममें प्रवृत्ति नहीं करता, वह मूर्ख, जड़, अज्ञानी और जघन्यकोटिका पशु है ॥१॥

जो मनुष्य स्वयं या दूसरोंसे प्रेरित हुआ भी अधर्म—पाप करनेकी चेष्टा नहीं करता वह विद्वान्, महाविद्वान्, बुद्धिमान् और वास्तविक पंडित है ॥२॥

गुणभद्राचार्यने[3] कहा है कि 'जो मनुष्य अज्ञानसे धर्मको नष्ट करके उसके फलों (धनादिसम्पत्ति और विद्वत्ता आदि का उपभोग करते हैं वे पापी अनार और आम आदिके वृक्षोंको जड़से उखाड़कर उनके फलोंको खाते हैं—अर्थात् जिसप्रकार अनार आदि सुन्दर वृक्षोंको जड़से उखाड़कर उनके फलों का खाना महामूर्खता है; क्योंकि इससे भविष्यमें उनके फलोंसे वञ्चित रहना पड़ता है उसीप्रकार धर्मको नष्ट करके उसके फल— सुखका भोगना भी महामूर्खता है; क्योंकि इससे भविष्यमें सुख नहीं मिलता ॥१॥

इसलिये हे भव्य प्राणी ! तुझे पूर्वजन्ममें किये हुए अहिंसाप्रधान दान, शील और तपश्चर्या आदि धार्मिक सत्कर्तव्योंके अनुष्ठानसे धनादि सुखसामग्री प्राप्त हुई है; इसलिये तुम धर्मका पालन करते हुए न्याय-प्राप्त भोगोंको भोगो। जिसप्रकार किसान धान्यादिकके बीजसे विपुल धान्य पैदा करता है वह उसमेंसे भविष्यमें धान्यके उत्पादक बीजोंको सुरक्षित रखकर धान्यका उपभोग करता है जिससे उसे

---

१ तथा च सौनकः :—

अन्यजन्मकृताद्धर्मात् सौख्यं संजायते नृणां ।
तद्विज्ञैर्ज्ञायते नाज्ञैस्तेन ते पापसेवकाः ॥१॥

२ स मूर्खः स जडः सोऽज्ञः स पशुश्च पशोरपि ।
योऽश्नन्नपि फलं धर्माद्धर्मे भवति मन्दधीः ॥१॥
स विद्वान् स महाप्राज्ञः स धीमान् स च पण्डितः ।
यः स्वतो वान्यतो वापि नाधर्माय समीहते ॥२॥

यशस्तिलके सोमदेवसूरिः :—

३ कृत्वा धर्मविघातं विषयसुखान्यनुभवन्ति ये मोहात् ।
आच्छिद्य तरून् मूलात् फलानि गृह्णन्ति ते पापाः ॥१॥
धर्मादवाप्तविभवो धर्मं प्रतिपाल्य भोगमनुभवतु ।
बीजादवाप्तधान्यः कृषीवलस्तस्य बीजमिव ॥२॥

आत्मानुशासने गुणभद्राचार्यः ।

भविष्यमें धान्य मिलती रहती है उसीप्रकार तुम भी सुखके साधन धार्मिक अनुष्ठानोंको करते हुए न्यायप्राप्त भोगोंको भोगो; ऐसा न करने पर तुम अज्ञानी समझे जाओगे ॥२॥

अब विवेकी पुरुषोंको धर्मानुष्ठानमें स्वयं प्रवृत्ति करनेका निरूपण करते हैं :—

कः सुधीर्भेषजमिवात्महितं धर्मं परोपरोधादनुतिष्ठति ॥३६॥

अर्थ :—कौन बुद्धिमान् पुरुष औषधिके समान अपनी आत्माका कल्याणकरनेवाले धर्मका पालन दूसरोंके आग्रहसे करेगा ? नहीं करेगा ।

भावार्थ :—जिसप्रकार बीमार पुरुष जब औषधिका सेवन स्वयं करता है तभी निरोगी होता है उसीप्रकार बुद्धिमान् पुरुषको दुःखोंकी निवृत्तिके लिये स्वयं धर्मानुष्ठान करना चाहिये । क्योंकि दूसरोंके आग्रहसे धर्मानुष्ठान करनेवाला श्रद्धाहीन होनेसे सुख प्राप्त नहीं कर सकता ॥३६॥

नीतिकार भागुरिने[1] लिखा है कि 'जो मनुष्य दूसरोंके आग्रहसे औषधि और धर्मका सेवन करता है उसे क्रमशः आरोग्यलाभ और स्वर्गके सुख प्राप्त नहीं होते ॥१॥

अब धर्मानुष्ठान करते समय जो बात होती है उसे बताते हैं ;—

धर्मानुष्ठाने भवत्यप्रार्थितमपि प्रातिलोम्यं लोकस्य ॥३७॥

अर्थ :—धर्मानुष्ठान करते समय मनुष्योंको अनिच्छित (बिना चाहे) विघ्न उपस्थित होजाते हैं ॥३७॥

नीतिकार वर्गने[2] कहा है कि 'कल्याणकारक कार्योंमें महापुरुषोंको भी विघ्न उपस्थित होते हैं, परन्तु पापोंमें प्रवृत्त हुए पुरुषोंके विघ्न नष्ट होजाते हैं ॥१॥'

अब पापमें प्रवृत्त हुए पुरुषका कथन करते हैं :—

अधर्मकर्मणि को नाम नोपाध्यायः पुरश्चारी वा ॥३८॥

अर्थ :—पापकार्यमें प्रवृत्ति करनेवालेको कौन उपदेश देनेवाला अथवा अग्रेसर—अगुआ नहीं होता ? सभी होते हैं ॥३८॥

भावार्थ :—लोकमें सभी लोग पापियोंको पापकरने की प्रेरणा करते हैं और मैंने अमुक पापकार्य किया है तुम भी करो ऐसा कहकर अग्रेसर होजाते हैं ।

निष्कर्ष:—नैतिक मनुष्यको किसीके बहकानेमें आकर पापकार्योंमें प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिये ॥३८॥

---

१ तथा च भागुरि :—
परोपरोधतो धर्मं भेषजं च करोति यः ।
आरोग्यं स्वर्गगामित्वं न ताभ्यां संप्रजायते ॥१॥

२ तथा च वर्ग :—
श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति महतामपि ।
अश्रेयसि प्रवृत्तानां यान्ति क्वापि विलीनतां ॥१॥

रैभ्य[1] नामके विद्वान्ने कहा है कि 'पापीको पापका उपदेश देनेवाले लोग बहुत हैं जो स्वयं पाप करके उसे उसमें प्रेरित करते हैं ॥१॥'

अब पापका निषेध करते हैं :—

कण्ठगतैरपि प्राणैः नाशुभं कर्म समाचरणीयं कुशलमतिभिः ॥३९॥

अर्थ :—बुद्धिमान् पुरुषोंको प्राणोंके कण्ठगत-मरणोन्मुख होने पर भी पापकार्यमें प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिये, पुनः स्वस्थ अवस्थाका तो कहना ही क्या है ?

अर्थात् विवेकी पुरुष स्वस्थ अवस्थामें पापोंमें किस प्रकार प्रवृत्ति कर सकते हैं ? नहीं कर सकते ॥३९॥

देवल[2] विद्वान् भी उक्त बातका समर्थन करता है कि 'बुद्धिमानोंको अपने प्राणोंके त्यागका अवसर आने पर भी पापकर्म नहीं करना चाहिये; क्योंकि उससे इस लोकमें निन्दा और परलोकमें अधम—नीचगति प्राप्त होती है ॥१॥'

अब धूर्त—ठग लोग स्वार्थवश धनाढ्योंको पापमार्गमें प्रवृत्त कराते हैं इसका कथन करते हैं :—

स्वव्यसनतर्पणाय धूर्तैर्दुरीहितवृत्तयः क्रियन्ते श्रीमन्तः ॥४०॥

अर्थ :—धूर्तलोग (ठग) अपने व्यसनों—खोटी आदतोंकी पूर्ति करनेके लिये अथवा अपनी आपत्ति दूर करनेके लिये धनाढ्योंको पापमार्गमें प्रवृत्ति कराते हैं।

भावार्थ :—जब ठग लोग धनाढ्योंको परस्त्रीसेवन और मद्यपान आदि पापकर्मोंमें प्रेरित कर देते हैं तब उन्हें धनाढ्योंसे धनादिककी प्राप्ति होती है; जिससे उनकी स्वार्थसिद्धिके साथ २ आपत्तियाँ दूर होजाती हैं।

निष्कर्ष :—धनाढ्य पुरुषोंको धूर्तोंके बहकावेमें आकर पापमार्गमें प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिये ॥४०॥

अब दुष्टोंकी सङ्गतिका फल बताते हैं :—

खलसंगेन किं नाम न भवत्यनिष्टम्[3] ॥४१॥

अर्थः—दुष्टोंकी संगतिसे मनुष्यको कौन २ से कष्ट या पाप नहीं होते ? सभी होते हैं ॥४१॥

---

1 तथा च रैभ्यः—

सुलभाः पापरतस्य लोकाः पापोपदेशकाः ।
स्वयं कृत्वा च ये पापं तदर्थं प्रेरयन्ति च ॥१॥

2 तथा च देवलः—

प्राणैः कण्ठगतैः कर्म [illegible] ।
इह लोके यतो निन्दा परलोकेऽधमा गतिः ॥१॥

3 'खलसंसर्गात् किं नाम न भवेत्' ऐसा मु० मू० पु० में पाठ है [illegible]

वल्लभदेव[1] विद्वान्ने कहा है कि 'दुष्टोंकी सङ्गतिके दोषसे सज्जनलोग विकार—पाप करने लगते हैं। दुर्योधनकी सङ्गतिसे महात्मा भीष्मपितामह गायोंके हरण करनेमें प्रवृत्त हुए ॥१॥'

निष्कर्ष:—अतः विवेकी मनुष्यको दुष्टोंकी सङ्गति छोड़नी चाहिये ॥४१॥

अब दुष्टोंका स्वरूप बताते हैं :—

अग्निरिव स्वाश्रयमेव दहन्ति दुर्जनाः ॥४२॥

अर्थ:—दुष्टलोग अग्निके समान अपने आश्रय—कुटुम्ब को भी नष्ट कर देते हैं। पुनः अन्य शिष्ट पुरुषोंका तो कहना ही क्या है ? अर्थात् उन्हें अवश्य ही नष्ट करते हैं।

भावार्थ:—जिसप्रकार अग्नि जिस लकड़ीसे उत्पन्न होती है उसे सबसे पहिले जलाकर पुनः दूसरी वस्तुओंको जला देती है, उसीप्रकार दुष्ट भी पूर्वमें अपने कुटुम्बका पश्चात् दूसरोंका क्षय करता है ॥४२॥

वल्लभदेव[2] विद्वान्ने भी उक्त बातका समर्थन किया है कि 'जिसप्रकार धूम अग्निसे उत्पन्न होता है और वह किसीप्रकार बादल होकर जलवृष्टिके द्वारा अग्निको ही बुझाता है उसीप्रकार दुष्ट भी भाग्यसे प्रतिष्ठाको प्राप्त करके प्रायः अपने बन्धुजनोंको ही तिरस्कृत करता है ॥१॥

अब परस्त्री-सेवनका फल बताते हैं :—

वनगज इव [3]तदात्वसुखलुब्धः को नाम न भवत्यास्पदमापदाम् ? ॥४३॥

अर्थ :—परस्त्रीसेवनके सुखका लोभी कौन पुरुष जंगली हाथीके समान आपत्तियोंका स्थान नहीं होता ? अर्थात् सभी होते हैं।

भावार्थ :—जिसप्रकार जंगली हाथी हथिनीको देखकर उसके उपभोग करनेकी इच्छासे व्याकुलित होकर बंधनका दुःख भोगता है उसी प्रकार परस्त्रीके सुखका इच्छुक विविधभाँति के वध बंधनादि ऐहिक और नरकादिके पारत्रिक दुःख उठाता है ॥ ४३ ॥

नीतिकार नारदने[4] भी कहा है कि 'कामसे मत्त जंगली हाथी हथिनीके स्पर्शसुखसे बन्धनका कष्ट

---

१ तथा च वल्लभदेव:—
असतां संगदोषेण साधवो यान्ति विक्रियां।
दुर्योधनप्रसङ्गेन भीष्मो गोहरणे गतः ॥१॥

२ तथा च वल्लभदेवः—
धूमः पयोधरपदं कथमप्यवाप्यै— ।
षोऽम्बुभिः शमयति ज्वलनस्य तेजः ॥
दैवादवाप्य खलु नीचजनः प्रतिष्ठां ।
प्रायः स्वयं बन्धुजनमेव तिरस्करोति ॥१॥

३ 'तादात्विकेति' ऐसा मु० मू० पु० में पाठ है, परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है।

४ तथा च नारदः—
करिणीस्पर्शसौख्येन प्रमत्ता वनहस्तिनः ।
बन्धमायान्ति तस्माच्च तदात्वं वर्जयेत् सुखम् ॥१॥

भोगते हैं, इसलिये नैतिक मनुष्यको परस्त्री का उपभोग संबंधी सुख छोड़ देना चाहिये ॥ १ ॥

अब धर्मके उल्लंघन करनेका फल निर्देश करते हैं:—

धर्मातिक्रमाद्धनं परेऽनुभवन्ति, स्वयं तु परं पापस्य भाजनं सिंह इव सिन्धुरवधात् ॥ ४४ ॥

अर्थ:—धर्म–न्यायका उल्लङ्घन करके संचित किये हुए धनको कुटुम्बीजन ही खाते हैं और कमानेवाला केवल पापका ही भागी होता है। जैसे शेर हाथी की शिकार करता है उससे शृगाल वगैरहको ही भोजन मिलता है उसे कोई लाभ नहीं होता, वह केवल पापका ही संचय करता है ॥ ४४ ॥

नीतिकार विदुरने[1] कहा है कि 'यह जीव अकेला ही पाप करता है और कुटुम्बीलोग उसका उपभोग करते हैं वे लोग तो छूट जाते हैं, परन्तु कर्ता दोपसे लिप्त होता है–दुर्गतिके दुःख भोगता है ॥ १ ॥'

अब पापीकी हानि बताते हैं—

बीजभोजिनः कुटुम्बिन इव नास्त्यधार्मिकस्यायत्यां किमपि शुभम् ॥ ४५ ॥

अर्थ—बीजखानेवाले कुटुम्बयुक्त किसानकी तरह पापी मनुष्यका उत्तरकाल-भविष्यमें कुछ भी कल्याण नहीं होता। जिसप्रकार किसान यदि अपने खेतमें बोनेलायक संचितबीजराशिको खाजावे तो उसका भविष्यमें कल्याण नहीं होता, क्योंकि बीजोंके बिना उसके अन्न उत्पन्न नहीं होगा उसीप्रकार पापी भी सुखके कारण धर्मसे विमुख रहता है अतएव उसका भी भविष्यमें कल्याण नहीं होसकता ॥ ४५ ॥

भागुरि[2] विद्वान्‌ने भी उक्तबातका समर्थन किया है कि 'बीजखानेवाले किसानको जिस प्रकार भविष्य वसन्त और शरदऋतु आने पर सुख प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार पापीको भी परलोकमें सुख प्राप्त नहीं होसकता ॥ १ ॥'

अब काम और अर्थ को छोड़कर केवल धर्ममें प्रवृत्त हुए व्यक्तिका कथन करते हैं—

यः कामार्थावुपहत्य धर्ममेवोपास्ते स पक्वक्षेत्रं परित्यज्यारण्यं कृषति ॥ ४६ ॥

अर्थ:—जो व्यक्ति काम–न्यायप्राप्त कामिनी आदि भोगोपभोग सामग्री और अर्थ–धनादिसम्पत्ति या उसके साधन कृषि और व्यापार आदिको छोड़कर केवल धर्मका ही सतत सेवन करता है वह पकेहुए काटनेयोग्य धान्यादिके खेतको छोड़कर जंगलको जोतता है।

भावार्थ—जिसप्रकार पकीहुई धान्यसे परिपूर्ण खेतको छोड़कर पहाड़की जमीन जोतना विशेष लाभदायक नहीं है उसीप्रकार काम और अर्थ (जीविका) छोड़कर केवल धर्मका सेवन गृहस्थके लिये

---

१ तथा च विदुरः—
एकाकी कुरुते पापं फलं भुङ्क्ते महाजनः।
भोक्तारो विप्रमुच्यन्ते कर्ता दोषेण लिप्यते ॥१॥

२ तथा च भागुरिः—
[illegible] नो सौख्यं परलोके [illegible]।
[illegible] ॥१॥

विशेष लाभदायक नहीं है। आशय यह है कि यद्यपि पहाड़की जमीनको जोतनेसे अतिवृष्टि आदि उपद्रवों के अभावमें धान्यकी उत्पत्ति होसकती है तथापि पके हुए खेतको काटकर उसके फल खाना उत्तम है उसी-प्रकार गृहस्थ श्रावकको धर्मरूपीवृक्षके फलस्वरूप काम और अर्थके साथ धर्मका सेवन करना उचित है।

रैभ्य[1] विद्वान् भी लिखता है कि 'काम और अर्थके साथ धर्मका सेवन करनेसे मनुष्यको क्लेश नहीं होता। अतएव सुखाभिलाषी पुरुषको काम और अर्थसे सहित ही धर्मका सेवन करना चाहिये ॥ १ ॥'

आचार्य वादीभसिंहने[2] भी लिखा है कि परस्परकी बाधारहित धर्म अर्थ और काम पुरुषार्थोंको सेवन किया जावे तो बाधारहित स्वर्गकी प्राप्ति होती है तथा अनुक्रमसे मोक्ष भी प्राप्त होता है ॥ १ ॥

निष्कर्ष:—नैतिक पुरुष काम और अर्थके साथ धर्मका सेवन करे ॥ ४६ ॥

अब बुद्धिमान् मनुष्य का कर्तव्यनिर्देश करते हैं:—

स खलु सुधी[3]र्योऽमुत्र सुखाविरोधेन सुखमनुभवति ॥ ४७ ॥

अर्थ:—निश्चयसे वही मनुष्य बुद्धिमान है जो पारलौकिक सुखका घात न करता हुआ सुखोंका अनुभव करता है—न्यायप्राप्त भोगोंको भोगता है।

भावार्थ:—परस्त्रीसेवन और मद्यपान आदि दुष्कृत्य पारलौकिक-स्वर्गसंबंधी सुखके घातक हैं, इस लिये उनको छोड़कर जो व्यक्ति न्यायप्राप्त सुख—स्वस्त्रीसंतोष और पात्रदान आदि करता है वही बुद्धिमान् है।

वर्ग[4] नामके विद्वान्‌ने कहा है कि 'बुद्धिमान पुरुषको कौल और नास्तिकोंके द्वारा कहेहुये धर्म—(मद्यपान, मांसभक्षण और परस्त्रीसेवन-आदि) में प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिये, क्योंकि इस धर्माभास (नाममात्रका धर्म) से निश्चयसे नरकगतिके भयङ्कर दुःख होते हैं ॥ १ ॥'

अब अन्यायके सुखलेशसे होनेवाली हानि बताते हैं:—

इदमिह परमाश्चर्यं यदन्यायसुखलवादिहामुत्रचानवधिदुःखानुबन्धः ॥ ४८ ॥

---

१ तथा च रैभ्यः—
कामार्थसहितो धर्मो न क्लेशाय प्रजायते।
तस्मात्ताभ्यां समेतस्तु कार्यएव सुखार्थिभिः ॥१॥

२ तथा च वादीभसिंहः—
परस्पराविरोधेन त्रिवर्गोयदि सेव्यते।
अनर्गलमतः सौख्यमपवर्गोऽप्यनुक्रमात् ॥१॥

३ 'सुखी' ऐसा मु० मू० पु० में पाठ है, जिसका अर्थ:—वही मनुष्य सुखी है।

४ तथा च वर्गः—
सेवनाद्यस्य धर्मस्य नरकं प्राप्यते ध्रुवं।
धीमता तन्न कर्तव्यं कौलनास्तिककीर्तितम् ॥१॥

अर्थः—अन्यायके सुखलेशसे मनुष्योंको ऐहिक और पारलौकिक निस्सीम—सीमारहित अनन्त दुःख भोगने पड़ते हैं परन्तु मूर्खोंको इसका ज्ञान नहीं होता यह संसारमें बड़े आश्चर्यकी बात है।

भावार्थः—जो लोग चोरी और छल-कपट आदि अन्याय करके धनसंचय करते हुए संसारमें किञ्चिन्मात्र सुख भोगते हैं उन्हें इसका परिणाम महाभयङ्कर होता है। अर्थात् इस लोकमें उन्हें राजदण्ड आदि और परलोकमें नरकसम्बन्धी अनंत दुःख भोगने पड़ते हैं, इस बातको बुद्धिमान् पुरुष भलीभाँति जानते हैं परन्तु मूर्खोंको इसका ज्ञान नहीं होता इसलिये आचार्यश्रीने आश्चर्य प्रगट किया है ॥४८॥

वशिष्ट[1] विद्वान्ने भी उक्त बातका समर्थन किया है कि 'मूर्खोंको अन्यायकी कमाईसे किञ्चिन्मात्र, नश्वर और शान्तिरहित सुख होता है, परन्तु ऐसी दुष्प्रवृत्तिसे उन्हें ऐहिक और पारलौकिक महाभयङ्कर दुःख भोगने पड़ते हैं यह बड़ा आश्चर्य है ॥१॥

निष्कर्ष :—नैतिक व्यक्तिको कदापि अन्यायमें प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिये ॥४८॥

अब पूर्वजन्ममें किये हुए धर्म और अधर्मका अकाट्य और प्रबल युक्तियों द्वारा समर्थन करते हैं :—

सुखदुःखादिभिः प्राणिनामुत्कर्षापकर्षौ धर्माधर्मयोर्लिङ्गम् ॥४९॥

अर्थः—संसारमें प्राणियोंकी सुखसामग्री—धनादिवैभव और विद्वत्ता आदि से उन्नति और दुःखसामग्री—दरिद्रता और मूर्खता आदि से अवनति देखी जाती है, वही उन्नति और अवनति उनके पूर्वजन्ममें किये हुए धर्म और अधर्मका बोध कराती है—अर्थात् लोकमें प्राणियोंकी सुखसामग्री उनके पूर्वजन्मकृत-धर्मका और दुःखसामग्री अधर्मका निश्चय कराती है।

भावार्थः—संसारमें कोई राजा, कोई रङ्क, कोई धनाढ्य, कोई दरिद्र, कोई विद्वान और कोई मूर्ख इत्यादि भिन्न २ प्रकारकी विषमताएँ (भेद) दृष्टिगोचर होरही हैं, इससे निश्चय होता है कि जिस प्राणीने पूर्वजन्ममें धर्म किया था उसे सुखसामग्री प्राप्त हुई और जिसने पाप किया था उसे दुःखसामग्री प्राप्त हुई।

दक्ष[2] नामके विद्वान्ने लिखा है कि 'प्राणियोंकी सुखकी वृद्धि उनके पूर्वजन्ममें किये हुए धर्मका, और दुःखकी वृद्धि पापका प्रगट निश्चय कराती है ॥१॥

समन्तभद्राचार्यने[3] भी कहा है कि 'संसारमें प्राणियोंकी अनेकप्रकारकी सुखदुःखरूप विचित्र-

---

१ तथा च वशिष्ठः—
निष्प्रयेतादिमूर्खाणां यदन्यायार्जनात् सुखं।
स्वल्पं प्रान्तं विहीनं च दुःखं लोकद्वये भवेत् ॥१॥

२ तथा च दक्षः—
धर्माधर्मौ कृतं पूर्वं प्राणिनां ज्ञायते स्फुटं।
विवृद्धया सुखदुःखस्य [illegible] ॥१॥

३ कामादिप्रभवश्चित्रः कर्मबन्धानुरूपतः।
—देवागमस्तोत्रे स्वामी समन्तभद्राचार्यः।

विशेष लाभदायक नहीं है। आशय यह है कि यद्यपि पहाड़की जमीनको जोतनेसे अतिवृष्टि आदि उपद्रवों के अभावमें धान्यकी उत्पत्ति होसकती है तथापि पके हुए खेतको काटकर उसके फल खाना उत्तम है उसी-प्रकार गृहस्थ श्रावकको धर्मरूपीवृक्षके फलस्वरूप काम और अर्थके साथ धर्मका सेवन करना उचित है।

रैभ्य[1] विद्वान् भी लिखता है कि 'काम और अर्थके साथ धर्मका सेवन करनेसे मनुष्यको क्लेश नहीं होता। अतएव सुखाभिलाषी पुरुषको काम और अर्थसे सहित ही धर्मका सेवन करना चाहिये ॥ १ ॥'

आचार्य वादीभसिंहने[2] भी लिखा है कि परस्परकी बाधारहित धर्म अर्थ और काम पुरुषार्थोंको सेवन किया जावे तो बाधारहित स्वर्गकी प्राप्ति होती है तथा अनुक्रमसे मोक्ष भी प्राप्त होता है ॥ १ ॥

निष्कर्ष:—नैतिक पुरुष काम और अर्थके साथ धर्मका सेवन करे ॥ ४६ ॥

अब बुद्धिमान् मनुष्य का कर्तव्यनिर्देश करते हैं:—

स खलु सुधी[3]र्योऽमुत्र सुखाविरोधेन सुखमनुभवति ॥ ४७ ॥

अर्थ:—निश्चयसे वही मनुष्य बुद्धिमान है जो पारलौकिक सुखका घात न करता हुआ सुखोंका अनुभव करता है—न्यायप्राप्त भोगोंको भोगता है।

भावार्थ:—परस्त्रीसेवन और मद्यपान आदि दुष्कृत्य पारलौकिक-स्वर्गसंबंधी सुखके घातक हैं, इस लिये उनको छोड़कर जो व्यक्ति न्यायप्राप्त सुख—स्वस्त्रीसंतोष और पात्रदान आदि करता है वही बुद्धिमान् है।

वर्ग[4] नामके विद्वान्ने कहा है कि 'बुद्धिमान पुरुषको कौल और नास्तिकोंके द्वारा कहेहुये धर्म—(मद्यपान, मांसभक्षण और परस्त्रीसेवन-आदि) में प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिये, क्योंकि इस धर्माभास (नाममात्रका धर्म) से निश्चयसे नरकगतिके भयङ्कर दुःख होते हैं ॥ १ ॥'

अब अन्यायके सुखलेशसे होनेवाली हानि बताते हैं:—

इदमिह परमाश्चर्यं यदन्यायसुखलवादिहामुत्रचानवधिदुःखानुबन्धः ॥ ४८ ॥

---

१ तथा च रैभ्यः—
कामार्थसहितो धर्मो न क्लेशाय प्रजायते।
तस्मात्ताभ्यां समेतस्तु कार्यएव सुखार्थिभिः ॥१॥

२ तथा च वादीभसिंहः—
परस्पराविरोधेन त्रिवर्गोयदि सेव्यते।
अनर्गलमतः सौख्यमपवर्गोऽप्यनुक्रमात् ॥१॥

३ 'सुखी' ऐसा मु० मू० पु० में पाठ है, जिसका अर्थ:—वही मनुष्य सुखी है।

४ तथा च वर्गः—
सेवनाद्यस्य धर्मस्य नरकं प्राप्यते ध्रुवं।
धीमता तन्न कर्तव्यं कौलनास्तिककीर्तितम् ॥१॥

अर्थः—अन्यायके सुखलेशसे मनुष्योंको ऐहिक और पारलौकिक निस्सीम—सीमारहित अनन्त दुःख भोगने पड़ते हैं परन्तु मूर्खोंको इसका ज्ञान नहीं होता यह संसारमें बड़े आश्चर्यकी बात है।

भावार्थः—जो लोग चोरी और छल-कपट आदि अन्याय करके धनसंचय करते हुए संसारमें किञ्चिन्मात्र सुख भोगते हैं उन्हें इसका परिणाम महाभयङ्कर होता है। अर्थात् इस लोकमें उन्हें राजदण्ड आदि और परलोकमें नरकसम्बन्धी अनंत दुःख भोगने पड़ते हैं, इस बातको बुद्धिमान् पुरुष भलीभाँति जानते हैं परन्तु मूर्खोंको इसका ज्ञान नहीं होता इसलिये आचार्यश्रीने आश्चर्य प्रगट किया है ॥४८॥

वशिष्ठ[1] विद्वान्ने भी उक्त बातका समर्थन किया है कि 'मूर्खोंको अन्यायकी कमाईसे किञ्चिन्मात्र, नश्वर और शान्तिरहित सुख होता है, परन्तु ऐसी दुष्प्रवृत्तिसे उन्हें ऐहिक और पारलौकिक महाभयङ्कर दुःख भोगने पड़ते हैं यह बड़ा आश्चर्य है ॥'॥

निष्कर्ष :—नैतिक व्यक्तिको कदापि अन्यायमें प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिये ॥४८॥

अब पूर्वजन्ममें किये हुए धर्म और अधर्मका अकाट्य और प्रबल युक्तियों द्वारा समर्थन करते हैं :—

सुखदुःखादिभिः प्राणिनामुत्कर्षापकर्षौ धर्माधर्मयोर्लिङ्गम् ॥४९॥

अर्थः—संसारमें प्राणियोंकी सुखसामग्री—धनादिवैभव और विद्वत्ता आदि से उन्नति और दुःख-सामग्री—दरिद्रता और मूर्खता आदि से अवनति देखी जाती है, वही उन्नति और अवनति उनके पूर्वजन्ममें किये हुए धर्म और अधर्मका बोध कराती हैं—अर्थात् लोकमें प्राणियोंकी सुखसामग्री उनके पूर्वजन्मकृत-धर्मका और दुःखसामग्री अधर्मका निश्चय कराती हैं।

भावार्थः—संसारमें कोई राजा, कोई रङ्क, कोई धनाढ्य, कोई दरिद्र, कोई विद्वान् और कोई मूर्ख इत्यादि भिन्न २ प्रकारकी विषमताएँ (भेद) दृष्टिगोचर होरही हैं, इससे निश्चय होता है कि जिस व्यक्तिने पूर्वजन्ममें धर्म किया था उसे सुखसामग्री प्राप्त हुई और जिसने पाप किया था उसे दुःखसामग्री प्राप्त हुई।

दक्ष[2] नामके विद्वान्ने लिखा है कि 'प्राणियोंकी सुखकी वृद्धि उनके पूर्वजन्ममें किये हुए धर्मका, और दुःखकी वृद्धि पापका प्रगट निश्चय कराती है ॥१॥

समन्तभद्राचार्यने[3] भी कहा है कि 'संसारमें प्राणियोंकी अनेकप्रकारकी सुखदुखरूप विचित्र-

---

१ तथा च वशिष्ठः—
चित्रमेतद्धि मूर्खाणां यदन्यायार्जनात् सुखं।
अल्पं प्रान्तं विहीनं च दुःखं लोकद्वये भवेत् ॥१॥

२ तथा च दक्षः—
धर्माधर्मौ कृतं पूर्वं प्राणिनां ज्ञायते स्फुटं।
विवृद्धया सुखदुःखस्य चिह्नमेतत् परं तयोः ॥१॥

३ कामादिप्रभवश्चित्रः कर्मबन्धानुरूपतः।
—देवागमस्तोत्रे स्वामी समन्तभद्राचार्यः।

सृष्टि—कोई राजा, कोई रङ्क, कोई विद्वान् और कोई मूर्ख आदि उनके पूर्वजन्ममें किये हुए पुण्य और पापकर्मके अधीन है। क्योंकि जिन २ कार्योंमें विचित्रता—भिन्नता होती है, वे भिन्न २ कारणोंसे उत्पन्न हुए देखे जाते हैं। जैसे शाल्यङ्करादिरूप विचित्र कार्योंके उत्पादक अनेक प्रकारके शालिवीजादिक उपलब्ध हैं। अर्थात् शाल्यङ्कर—धान्याङ्कुर के उत्पादक शालिवीज—धान्यवीज और गेहूँके अंकुरोंके उत्पादक गेहूँ वीज लोकमें उपलब्ध हैं उसीप्रकार सुखरूपसृष्टिका कारण प्राणियोंके पुण्यकर्म और दुःखरूप सृष्टिका कारण पापकर्म युक्तिसिद्ध हैं; क्योंकि इसमें किसी भी प्रमाणसे वाधा नहीं आती; क्योंकि कारणको एक मानने पर कार्यमें नानात्व नहीं आसकता ॥१॥

निष्कर्ष :—सुखसामग्री द्वारा उत्कर्ष चाहनेवाले प्राणीको सदा नैतिक और धार्मिक सत्कर्त्तव्योंका अनुष्ठान करना चाहिये ॥४६॥

अब धर्माधिष्ठाता-भाग्यशाली का माहात्म्य वर्णन करते हैं :—

किमपि हि तद्वस्तु नास्ति यत्र नैश्वर्यमदृष्टाधिष्ठातुः ॥ ५० ॥

अर्थः—निश्चयसे संसारमें ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसे भाग्यशाली प्राप्त न कर सकता है।

भावार्थः—भाग्यवान् धार्मिक व्यक्ति को संसारमें सभी अभिलषित वस्तुएं-(धनादि वैभव विद्वत्ता आदि) प्राप्त होती हैं ॥ ५० ॥

भृगु[1] नामका विद्वान् लिखता है कि 'जिस प्राणीका कोई रक्षक नहीं है उसकी दैव-पूर्वजन्मकृत पुण्य रक्षा करता है। परन्तु जिसका भाग्य फूट गया है-जिसका आयुकर्म बाकी नहीं है वह सुरक्षित (अच्छी तरह रक्षा किया गया) होने पर भी नष्ट होजाता है। उदाहरण—अनाथ प्राणी भी भाग्यके अनुकूल होनेपर वनमें छोड़ दिया जानेपर भी जीवित रहता है परन्तु जिसका भाग्य प्रतिकूल है उसकी गृहमें अनेक उपायों द्वारा रक्षा की जाने पर भी जीवित नहीं रहता ॥ १ ॥'

शास्त्रकारोंने[2] लिखा है कि 'जिस मनुष्यके पूर्वजन्ममें किये हुए प्रचुर पुण्यका उदय है—भाग्यशाली

---

१ तथा च भृगुः—
अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं।
सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति॥
जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जितः।
कृतप्रयत्नोऽपि गृहे न जीवति ॥१॥

२ तथा च भर्तृहरिः—
भीमं वनं भवति तस्य पुरं प्रधानं।
सर्वोजनः सुजनतामुपयाति तस्य ॥
कृत्स्ना च भूर्भवति सन्निधिरत्नपूर्णा।
यस्यास्ति पूर्वसुकृतं विपुलं नरस्य ॥१॥

है उसको भयङ्कर वन भी प्रधान नगर होजाता है। सभी लोग उससे सज्जनताका व्यवहार करते हैं। समस्त पृथिवी उसे निधियों और रत्नोंसे परिपूर्ण मिलती है ॥ १ ॥'

संसारी प्राणियोंको मनुष्यपर्याय, उच्चवंश, ऐश्वर्य, दीर्घायु, निरोगीशरीर, सज्जनमित्र, सुयोग्य-पुत्र, धर्मात्मा-पतिव्रता स्त्री, तीर्थङ्करोंमें भक्ति, विद्वत्ता, सज्जनता, जितेन्द्रियता और पात्रोंको दानदेना ये १३ प्रकारके सद्‌गुण (सुखसामग्री) पुण्यके विना दुर्लभ हैं—जिसने पूर्वजन्ममें पुण्यसंचय किया है उस भाग्यशाली पुरुषको प्राप्त होते हैं ॥ २ ॥

यह धर्म धनाभिलाषियोंको धन, इच्छित वस्तु चाहनेवालों को इच्छितवस्तु, सौभाग्यके इच्छुकोंको सौभाग्य, पुत्राभिलाषियोंको पुत्र और राज्यकी कामनाकरनेवालोंको राज्यश्री प्रदान करता है। अधिक क्या कहा जावे संसारमें ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसे यह देनेमें समर्थ न हो, यह प्राणियोंको स्वर्गश्री और मुक्तिश्री को भी देनेमें समर्थ है ॥१॥

जैनधर्म, धनादिऐश्वर्य, सज्जनमहापुरुषोंकी सङ्गति, विद्वानोंकी गोष्ठी, वक्तृत्वकला, प्रशस्तकार्यपटुता, लक्ष्मीकेसदृश सुन्दर पतिव्रता स्त्री, गुरुजनोंके चरणकमलोंकी उपासना, शुद्धशील और निर्मलबुद्धि ये सब इष्टसामग्री भाग्यशाली पुरुषोंको प्राप्त होती है ॥१॥

भगवान् जिनसेनाचार्यने[1] कहा है कि यह धर्म आत्माको समस्त दुःखोंसे छुड़ाकर ज्ञानावरणादि कर्मों

मानुष्यं वरवंशजन्म विभवो दीर्घायुरारोग्यता।
सन्मित्रं सुसुतं सती प्रियतमा भक्तिश्च तीर्थङ्करे॥
विद्वत्वं सुजनत्वमिन्द्रियजयः सत्पात्रदाने रतिः।
एते पुण्यविना त्रयोदशगुणाः संसारिणां दुर्लभाः ॥२॥

धर्मोऽयं धनवल्लभेषु धनदः कामार्थिनां कामदः।
सौभाग्यार्थिषु तत्प्रदः किमपरः पुत्रार्थिनां पुत्रदः॥
राज्यार्थिष्वपि राज्यदः किमथवा नानाविकल्पैर्नृणां।
तत्किं यन्न करोति किं च कुरुते स्वर्गापवर्गावपि ॥१॥

—संगृहीत

जैनो धर्मः प्रगटविभवः संगतिः साधुलोके।
विद्वद्‌गोष्ठी वचनपटुता कौशलं सत्क्रियासु॥
साध्वी लक्ष्मी चरणकमलोपासना सद्‌गुरूणां।
शुद्धं शीलं मतिविमलता प्राप्यते भाग्यवद्भिः ॥१॥

—संगृहीत

१ धर्मः प्रपाति दुःखेभ्यो धर्मः शर्म तनोत्ययं।
धर्मो नैश्रेयसं सौख्यं दत्ते कर्मक्षयोद्भवम् ॥१॥

धर्मादेव सुरेन्द्रत्वं नरेन्द्रत्वं गणेन्द्रता।
धर्मात्तीर्थकरत्वं च परमानन्त्यमेव च ॥२॥

के क्षयसे उत्पन्न होनेवाले मोक्षसुखको उत्पन्न करता है। इसके माहात्म्यसे यह प्राणी देवेन्द्र, चक्रवर्ती, गणधर और तीर्थङ्करके ऐश्वर्यको प्राप्त करके पुनः अमृतपद-मोक्षपदको प्राप्त होता है ॥१-२॥

धर्म ही इस जीवका सच्चा बन्धु, मित्र और गुरु है। अतएव प्रत्येक प्राणीको स्वर्ग और मोक्ष देने वाले धार्मिक सत्कर्मोंके अनुष्ठानमें अपनी बुद्धिको प्रेरित करनी चाहिये ॥३॥

धर्मसे सुख मिलता है और अधर्मसे दुःख इसलिये विद्वान् पुरुष दुःखोंसे छूटनेकी इच्छासे धर्म में प्रवृत्ति करता है[1] ॥४॥

जीवदया, सत्य, क्षमा, शौच, संतोष-(मूर्च्छाका त्याग) सम्यग्ज्ञान और वैराग्य ये धर्म हैं और इनके विपरीत हिंसा, झूठ, क्रोध, लोभ, मूर्च्छा, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ये अधर्म हैं ॥१॥

जिसप्रकार[2] पागल कुत्तेका विष वर्षाकाल आनेपर प्राणीको दुःख देता है उसीप्रकार पाप भी समय आनेपर जीवको नरकगतिके भयानक दुःख देता है ॥२॥

जिसप्रकार अपथ्य सेवनसे ज्वर वृद्धिंगत होता हुआ जीवको क्लेशित करता है उसीप्रकार मिथ्यादृष्टिका पाप अशुभाशयसे वृद्धिको प्राप्त होकर भविष्यमें नानाप्रकारके शारीरिक मानसिक और आध्यात्मिक दुःखोंको देता है ॥३॥

धर्मके प्रभाव से समुद्र का अथाहपानी स्थल और स्थल जलरूप होकर सन्ताप दूर करता है। धर्म आपत्तिकालमें जीवकी रक्षा करता है और दरिद्रको धन देता है इसलिये प्रत्येक प्राणीको तीर्थङ्करोंके द्वारा निरूपण किये हुए धर्मका अनुष्टान करना चाहिए ॥४॥

जिनेन्द्रभक्ति, स्तुति और सपर्या—पूजा यह प्रथमधर्म या पुण्य है। लोभकषायको त्यागकर पात्रदान करना यह दूसरा धर्म है। एवं यह अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और निष्परिग्रह इन पाँच व्रतोंके अनुष्ठानसे तथा इच्छानिरोधरूप तपसे होता है। अतः विवेकी और सुखाभिलाषी पुरुषोंको सदा धर्ममें प्रवृत्ति करनी चाहिये ॥५॥

निष्कर्ष:—नैतिक पुरुषको पापोंसे पराङ्मुख होकर नीतिपूर्णपुरुषार्थ—उद्योगसे समस्त सुखोंको देनेवाले धर्ममें प्रवृत्ति करते हुए भाग्यशाली बनना चाहिये; क्योंकि सांसारिक सभी मनोज्ञतम वस्तुएं उसे प्राप्त होती हैं ॥५०॥

॥ इति धर्मसमुद्देश समाप्त ॥

धर्मो बंधुश्च मित्रं च धर्मोऽयं गुरुरंगिनां।
तस्माद्धर्मे मतिं धत्स्व स्वर्मोक्षसुखदायिनि ॥३॥
धर्मात्सुखमधर्माच्च दुःखमित्यविगानतः।
धर्मैकपरतां धत्ते बुद्धोऽनर्थजिहासया ॥४॥
—आदिपुराण पर्व १०

१ धर्मः प्राणिदया सत्यं क्षान्तिः शौचं वितृप्तता।
ज्ञानवैराग्यसंपत्तिरधर्मस्तद्विपर्ययः ॥५॥
—आदिपुराण पर्व १०

२ आदिपुराणके आधार से।

(२) अर्थसमुद्देशः ।

अब अर्थसमुद्देश के आरम्भ में अर्थ—धन का लक्षण करते हैं:—

यतः सर्वप्रयोजनसिद्धिः सोऽर्थः ॥ १ ॥

अर्थ:—जिससे मनुष्यों के सभी प्रयोजन—लौकिक और पारलौकिक सुख आदि कार्य सिद्ध हों उसे अर्थ-धन कहते हैं।

भावार्थ:—उदार नररत्न का धन ही वास्तविक धन है, क्योंकि उससे उसके समस्त प्रयोजन-कार्य सिद्ध होते हैं परन्तु कृपणोंके द्वारा जमीनमें गाड़ा हुआ धन वास्तविक धन नहीं कहा जासकता; क्योंकि वह उनके लौकिक और पारलौकिक सुखरूप प्रयोजन को सिद्ध नहीं कर सकता ॥१॥

वल्लभदेव[1] नामके विद्वानने कहा है कि 'यदि गृहके मध्यमें गाड़े हुए धनसे कृपणों को धनिक कहा जाता है तो उनके उसी धनसे हमलोग (निर्धन) धनिक क्यों नहीं होसकते ? अवश्य होसकते हैं ॥ १ ॥

जमीन के मध्यमें वर्तमान कृपणों द्वारा सुरक्षित धन न तो धार्मिक सत्कार्य (पात्रदान) में उपयोग किया जाता है और न सांसारिक भोगोपभोगमें। अन्तमें उसे चोर और राजा लोग खा जाते हैं ॥ २ ॥'

विशदविवेचन:—

मनुष्यको ऐहिक एवं पारलौकिक सुखकी प्राप्तिके लिये—अर्थ—धन अनूठा साधन है। विवेकी और उदार मनुष्य इससे दानपुण्यादिधर्म, सांसारिकसुख और स्वर्गश्रीको प्राप्त कर सकता है। परन्तु दरिद्र व्यक्ति धनके विना अपनी प्राणयात्रा—प्राणरक्षा ही नहीं कर सकता, पुनः दानपुण्यादि करना तो असंभव ही है। क्योंकि जिसप्रकार पहाड़से नदियाँ निकलती हैं उसीप्रकार धनसे धर्म उत्पन्नहोता है। लोकमें निर्धन मनुष्य स्थूलकाय (मोटा—ताजा) होनेपर भी दुर्वल, और धनाढ्य कृशकाय—कमजोर, होने पर भी वलिष्ट समझा जाता है। संसारमें जिसके पास धन है उसे लोग कुलीन, पण्डित, शास्त्रज्ञ, गुणवान्, गुणज्ञ, वक्ता और मनोज्ञ मानते हैं, इसलिये शास्त्रकारोंने जीविकोपयोगी साधनों द्वारा न्यायसे धनसंचय करनेका उपदेश दिया है।

स्वामी समन्तभद्राचार्यने[2] कहा है कि इतिहास के आदिकालमें जब प्रजाकी जीवनरक्षाके साधन कल्पवृक्ष नष्टप्राय होचुके थे उससमय प्रजा को प्राणरक्षाके इच्छुक प्रजापति भगवान् ऋषभदेव तीर्थङ्कर ने सबसे पहले उसे खेती और व्यापार आदि जीविकोपयोगी साधनोंमें प्रेरित किया था।

---

१ उक्तं च वल्लभदेवेन:—
गृहमध्यनिखातेन धनेन धनिनो यदि ।
भवामः किं न तेनैव धनेन धनिनो वयम् ॥१॥
यन्न धर्मस्य कृते प्रयुज्यते यन्न कामस्य च भूमिमध्यगम् ।
तत् कदर्यपरिरक्षितं धनं चौरपार्थिवगृहेषु भुज्यते ॥ २ ॥

२ प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषुः शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः ।
बृहत्स्वयंभूस्तोत्रे स्वामी समन्तभद्राचार्यः ।

भगवज्जिनसेनाचार्यने[1] भी कहा है कि उस समय भगवान् ऋषभदेव ने प्रजाकी जीवनरक्षा के लिये उसे असि–शस्त्रधारण, मषि–लेखनकला, कृषि–खेती, विद्या, वाणिज्य–व्यापार और शिल्पकला इन जीविकोपयोगी ६ साधनोंका उपदेश दिया था।

नीतिकार कामन्दकने[2] कहा है कि 'कोष—(खजाना) वाले राजाको धर्म और धनके लिये एवं भृत्योंके भरणपोषणार्थ और संकटोंसे बचनेके लिये अपने कोषकी रक्षा करनी चाहिये ॥ १ ॥

उसे प्रमाणिक अर्थशास्त्री कुशलपुरुषोंके द्वारा अपने खजानेकी वृद्धि करनी चाहिये तथा धर्म, अर्थ, और काम पुरुषार्थोंकी वृद्धिके लिये समय २ पर कोष में से सम्पत्ति खर्च करनी चाहिये[3] ॥ २ ॥

जिस प्रकार देवताओंके द्वारा जिसका अमृत पी लिया गया है ऐसा शरद् ऋतुका चन्द्रमा शोभायमान होता है उसी प्रकार वह राजा भी जिसने अपना खजाना धर्मकी रक्षाके लिये खाली कर दिया है, शोभायमान होता[4] ॥ ३ ॥

निष्कर्षः—उक्त न्यायोचितसाधनों द्वारा संचित किये हुए उदार—स्वार्थत्यागी व्यक्तिके धनको वास्तविक धन कहा गया है; क्योंकि उसमे उसके सभी प्रयोजन सिद्ध होते हैं ॥ १ ॥

अब धनाढ्य होनेका उपाय बताते हैं:—

सोऽर्थस्य भाजनं योऽर्थानुबन्धेनार्थमनुभवति ॥ २ ॥

अर्थः—जो मनुष्य सदा सम्पत्तिशास्त्र के सिद्धान्त के अनुसार—अर्थानुबन्ध—(व्यापारादि साधनों से अविद्यमान धनका संचय, संचितकी रक्षा और रक्षितकी वृद्धि करना) से धनका अनुभव करता है—उसके संचय आदिमें प्रवृत्ति करता है वह उसका पात्र–स्थान होता है—धनाढ्य होजाता है।

वर्ग[5] विद्वानने भी आचार्यश्रीके अभिप्रायको व्यक्त किया है कि 'निश्चयसे वह व्यक्ति कभी भी निर्धन—दरिद्र नहीं होता जो सदा अविद्यमान धनकी प्राप्ति, प्राप्त किये हुए धनकी रक्षा और रक्षा किये गये की वृद्धिमें प्रयत्नशील रहता है ॥ १ ॥'

अब अर्थानुबन्धका लक्षण करते हैं—

अलब्धलाभो लब्धपरिरक्षणं रक्षितपरिवर्द्धनं चार्थानुबन्धः ॥ ३ ॥

अर्थः—व्यापार और राज्यशासन आदिमें कियेजानेवाले साम, दान, दंड और भेद आदि उपायों से अविद्यमान धनका कमाना और प्राप्त किये हुए धनकी रक्षा करना—(पात्रदानपूर्वक कौटुम्बिक निर्वाह करना, परोपकार करते हुए निरर्थक धन को बर्बाद न करना, आमदनीके अनुकूल खर्च करना और चोरोंसे बचाना आदि) और रक्षा किये हुए धनकी व्याज आदिसे वृद्धि करना यह अर्थानुबन्ध है।

---

१ असिर्मषिः कृषिर्विद्या वाणिज्यं शिल्पमेव वा।
कर्माणीमानि षोढा स्युः प्रजाजीवनहेतवे ॥ १ ॥
आदिपुराणे भगवज्जिनसेनाचार्यः।

२ देखो नीतिसार सर्ग ४ श्लोक ६४।

३, ४, देखो नीतिसार पृ० ६३ श्लोक ८६–८७।

५ तथा च वर्गः—
अर्थानुबन्धमार्गेण योऽर्थं संसेवते सदा।
स तेन मुच्यते नैव कदाचिदिति निश्चयः ॥ १ ॥

निष्कर्ष:—नैतिक व्यक्ति को उक्त अप्राप्तधनकी प्राप्ति, प्राप्तकीरक्षा और रक्षितकीवृद्धि करनेमें प्रयत्नशील रहना चाहिये, क्योंकि ऐसा करनेसे वह उत्तरकालमें सुखी रहता है ॥ ३ ॥

अविद्यमान धनको प्राप्त करनेके विषयमें नीतिकार हारीतने[1] कहा है कि 'जिसके पास कार्यकी उत्तमसिद्धि करनेवाला धन विद्यमान है उसे इस लोकमें कोई वस्तु अप्राप्य नहीं है—उसे सभी इच्छित वस्तुएं प्राप्त होसकती हैं, इसलिये मनुष्यको साम, दान, दंड और भेदरूप उपायोंसे धन कमाना चाहिये ॥ १ ॥'

प्राप्तधनकी रक्षाके विषयमें व्यास[2] नामके विद्वान् ने कहा है कि 'जिसप्रकार पानीमें रहनेवाला मांसखंड मगरमच्छ आदि जलजन्तुओंसे, जमीन पर पड़ा हुआ शेर वगैरह हिंसक जन्तुओंसे और आकाशमें रहनेवाला पक्षियों द्वारा खालिया जाता है उसीप्रकार धन भी मनुष्यों (चोरों आदि द्वारा) अपहरण कर लिया जाता है ॥ २ ॥'

एवं रक्षितधनकी वृद्धि के विषयमें गर्ग[3] विद्वान् ने कहा है कि 'धनाढ्य पुरुषको धनकी वृद्धि करनेके लिये उसे सदा व्याज पर देदेना चाहिये, इससे वह बढ़ता रहता है अन्यथा नष्ट होजाता है ॥ ३ ॥'

अब संचितधन के नाशका कारण बताते हैं:—

तीर्थमर्थेनासंभावयन् मधुच्छत्रमिव सर्वात्मना विनश्यति ॥ ४ ॥

अर्थ:—जो लोभी पुरुष अपने धनसे तीर्थों-पात्रोंका सत्कार नहीं करता—उन्हें दान नहीं देता उसका धन शहदके छत्तेके समान विल्कुल नष्ट होजाता है। जिसप्रकार शहदकी मक्खियाँ चिरकाल तक पुष्पोंसे शहद इकट्ठा करती हैं और भौरोंको नहीं खाने देतीं, इसलिए उनका शहद भीललोग छत्तेको तोड़कर ले जाते हैं उसीप्रकार लोभीके धनको भी चोर और राजा वगैरह छीन लेते हैं।

वर्ग[4] नामके विद्वान्ने लिखा है कि 'जो कृपण—लोभी अपना धन पात्रोंके लिये नहीं देता वह उसी धनके साथ राजाओं और चौरोंके द्वारा मार दिया जाता है ॥ १ ॥'

---

१ उक्तं च यतो हारीतेनः—
असाध्यं नास्ति लोकेऽत्र यस्यार्थं साधनं परम्।
सामादिभिरुपायैश्च तस्मादर्थमुपार्जयेत् ॥ १ ॥

२ तथा च व्यासः—
यथामिषं जले मत्स्यैर्भक्ष्यते श्वापदैर्भुवि ।
आकाशे पक्षिभिश्चैव तथाऽर्थोऽपि च मानवैः ॥ २ ॥

३ उक्तं च यतो गर्गेण:—
वृद्धे तु परिदातव्य: सदार्थो धनिकेन च ।
ततः स वृद्धिमायाति तं विना क्षयमेव च ॥ ३ ॥

४ तथा च वर्गः—
यो न यच्छति पात्रेभ्य: स्वधनं कृपणो जन: ।
तेनैव सह भूपालैश्चौराद्यै र्वा स हन्यते ॥ १ ॥

अब तीर्थ-पात्र का लक्षण करते हैं—

धर्मसमवायिनः कार्यसमवायिनश्च पुरुषास्तीर्थम् ॥ ५ ॥

अर्थः—धार्मिक कार्योंमें सहायक–त्यागी व्रती और विद्वान् पुरुषों और व्यवहारिक कार्योंमें सहायक–सेवकजनोंको तीर्थ कहते हैं।

भावार्थः—उक्त दोनों प्रकारके तीर्थों—पात्रोंको दान देनेसे नैतिक मनुष्यका धन बढ़ता है। परन्तु जो अपने धन द्वारा उक्त तीर्थोंका सत्कार नहीं करता उसका धन बिल्कुल नष्ट हो जाता है ॥ ५ ॥

बृहस्पति[1] नामके विद्वानने कहा है कि 'धनाढ्य पुरुषोंकी सम्पत्तियाँ तीर्थों—पात्रों को दीजानेसे वृद्धि को प्राप्त होती हैं ॥ १ ॥

अब धनको नष्टकरनेवाले साधनों का निर्देश करते हैं—

तादात्विक-मूलहर-कदर्येषु नासुलभः प्रत्यवायः ॥ ६ ॥

अर्थः—तादात्विक (जो व्यक्ति बिना सोचे समझे आमदनीसे भी अधिक धन खर्च करता है) मूलहर (पैतृक सम्पत्तिको उड़ानेवाला और बिल्कुल न कमानेवाला) और कदर्य (लोभी) इन तीनों प्रकारके मनुष्यों का धन नष्ट होजाता है ॥ ६ ॥

नीतिकार शुक्रने[2] लिखा है कि 'बिना सोचविचारके धनको खर्च करनेवाला, दूसरोंकी कमाई हुई सम्पत्तिको खानेवाला और लोभी ये तीनों व्यक्ति धनके नाशके स्थान हैं ॥१॥

अब तादात्विकका लक्षण करते हैं:—

यः किमप्यसंचिन्त्योत्पन्नमर्थं व्ययति स तादात्विकः ॥ ७ ॥

अर्थः—जो मनुष्य कुछ भी विचार न करके कमाए हुए धनका अपव्यय—निष्प्रयोजनखर्च करता है उसे 'तादात्विक' कहते हैं। अर्थात् जो यह नहीं सोचता कि मेरी इतनी आय है अतएव मुझे आवश्यक प्रयोजनीभूत और आमदनीके अनुकूल खर्च करना चाहिए परन्तु बिना सोचे समझे आमदनीसे अधिक धनका अपव्यय करता है उसे तादात्विक कहते हैं ॥ ७ ॥

शुक्र[3] नामका विद्वान् लिखता है कि 'जिस व्यक्तिकी दैनिक आमदनी चार रुपये और खर्च साढ़े पाँच रुपया है उसकी सम्पत्ति अवश्य नष्ट होजाती है चाहे वह कितना ही धनाढ्य क्यों न हो ॥ १ ॥'

---

१ तथा च बृहस्पतिः—
तीर्थेषु योजिता अर्था धनिनां वृद्धिमाप्नुयुः । ?

२ तथा च शुक्रः—
अचिन्तितार्थमश्नाति योऽन्योपार्जितभक्षकः ।
कृपणश्च त्रयोऽप्येते प्रत्यवायस्य मन्दिरम् ॥१॥

३ तथा च शुक्रः—
आगमे यस्य चत्वारो निर्गमे सार्धपंचमः ।
तस्यार्थाः प्रक्षयं यान्ति सुप्रभूतोऽपि चेत्स्थितः ॥१॥

अब मूलहरका लक्षण करते हैं:—

य: पितृपैतामहमर्थमन्यायेन भक्षयति स मूलहर:[1] ॥८॥

अर्थ:—जो व्यक्ति अपने पिता और पितामह (पिताके पिता) की सम्पत्ति को अन्याय (जुआ और वेश्यासेवन आदि) से भक्षण करता है—खर्च करता है और नवीन धन बिल्कुल नहीं कमाता उसे 'मूलहर' कहते हैं ॥८॥

नीतकार गुरु[2] ने कहा है कि 'जो व्यक्ति पैतृक सम्पत्तिको द्यूत कीड़न (जुआ खेलना) और वेश्यासेवन आदि अन्यायोंमें अपव्यय करता है और नवीन धन बिल्कुल नहीं कमाता वह निश्चयसे दरिद्र होजाता है ॥१॥

अब कदर्य—लोभी का लक्षणनिर्देश करते हैं :—

यो भृत्यात्मपीडाभ्यामर्थं संचिनोति स कदर्य: ॥९॥

अर्थ:—जो व्यक्ति सेवकों तथा अपने को कष्ट पहुँचाकर धनका संचय करता है उसे कदर्य—लोभी कहते हैं।

भावार्थ:—जिसके पास बहुतसी सम्पत्ति है परन्तु वह न तो स्वयं उसका उपभोग करता है और न नौकरों को उसमेंसे कुछ देता है किन्तु जमीन में गाड़ देता है उसे 'कदर्य' कहते हैं, उसके पास भी धन नहीं रह सकता; क्योंकि अवसर पड़ने पर राजा या चोर उसके धनको अपहरण—(छीन लेना) कर लेते हैं और वह पश्चाताप करके रह जाता है ॥९॥

अब तादात्विक और मूलहरको होनेवाली हानि बताते हैं :—

तादात्विकमूलहरयोरायत्यां नास्ति कल्याणम् ॥१०॥

अर्थ:—तादात्विक और मूलहर मनुष्योंका भविष्यमें कल्याण नहीं होता।

भावार्थ:—तादात्विक (अपनी आमदनीसे अधिक धनका अपव्यय करनेवाला) एवं मूलहर (पैतृक सम्पत्तिको अन्याय मार्गमें वर्बाद करनेवाला) ये दोनों सदा दरिद्र रहते हैं इसलिये आपत्तिसे अपनी रक्षा नहीं कर सकते अत: सदा दु:खी रहते हैं ॥१०॥

कपिपुत्र[3] नामके विद्वान्ने लिखा है कि 'जो आमदनीसे अधिक खर्च करता है एवं पूर्वजों के कमाये हुए धनको भक्षण करता है और नयाधन बिल्कुल नहीं कमाता वह दु:खी रहता है ॥१॥'

---

१ 'य: पितृपैतामहमन्यायेनानुभवति स मूलहर:' ऐसा पाठ मु० मू० पु० में है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है।

२ तथा च गुरु :—

पितृपैतामहं वित्तं व्यसनैर्यस्तु भक्षयेत्।
अन्यन्नोपार्जयेत् किंचित् स दरिद्रो भवेद् ध्रुवम् ॥१॥

३ तथा च कपिपुत्र:—

आगमाभ्यधिकं कुर्याद्यो व्ययं यश्च भक्षति।
पूर्वजोपार्जितं नान्यदर्जयेच्च स सीदति ॥१॥

अब लोभी के धन की अवस्था बताते हैं :—

कदर्यस्यार्थसंग्रहो राजदायादतस्कराणामन्यतमस्य निधिः ॥११॥

अर्थ :—लोभीका संचित धन राजा, कुटुम्बी और चोर इनमें से किसी एक का है।

भावार्थ :—लोभी के धन को अवसर पाकर राजा, कुटुम्बी या चोर अपहरण कर लेते हैं।

निष्कर्ष :—अतएव लोभ करना उचित नहीं ॥११॥

वल्लभदेव[1] नामके विद्वान्ने लिखा है कि 'पात्रों को दान देना, उपभोग करना और नाश होना इस प्रकार धनकी तीन गति होती हैं। जो व्यक्ति न तो पात्रदान में धनका उपयोग करता है और न स्वयं तथा कुटुम्बके भरण पोषणमें खर्च करता है उसके धन की तीसरी गति (नाश) निश्चित है अर्थात् उसका धन नष्ट होजाता है ॥१॥'

निष्कर्ष :—इसलिये नैतिक व्यक्तिको धनका लोभ कदापि नहीं करना चाहिये ॥११॥

इति अर्थसमुद्देशः समाप्तः।

(३) कामसमुद्देशः।

अब कामसमुद्देश के आरम्भमें काम का लक्षण करते हैं :—

आभिमानिकरसानुविद्धा यतः सर्वेन्द्रियप्रीतिः स कामः ॥१॥

अर्थः—जिससे समस्त इन्द्रियों—(स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन) में बाधारहित प्रीति उत्पन्न होती है उसे काम कहते हैं।

उदाहरणः—कामी पुरुष को अपनी स्त्री के मधुर शब्द सुननेसे श्रोत्रेन्द्रिय में, मनोज्ञरूपका अवलोकन करनेसे चक्षुरिन्द्रिय में, और सुकोमल अङ्गके स्पर्शसे स्पर्शनेन्द्रियमें बाधारहित प्रीति—(आह्लाद) उत्पन्न होती है इत्यादि। अतः समस्त इन्द्रियों में बाधारहित प्रीतिका उत्पादक होनेसे स्वस्त्री सम्बन्ध को कामपुरुषार्थ कहा है।

निष्कर्षः—परस्त्रीसेवन से धर्मका तथा वेश्यासेवन से धर्म और धनका नाश होता है। अतः वह कामपुरुषार्थ नहीं कहा जासकता। अतः नैतिक पुरुष को उक्त दोनों अनर्थों को छोड़कर कुलीन संतानकी उत्पत्तिके आदर्श से स्वस्त्रीमें सन्तुष्ट रहना चाहिये ॥१॥

---

१ तथा च वल्लभदेव :—

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुंक्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥१॥

राजपुत्र[1] विद्वान्ने कहा है कि 'जिसके (अपनी सती स्त्रीके) उपभोगसे समस्त इन्द्रियोंमें अनुराग उत्पन्न होता है उसे काम समझना चाहिये, इससे विपरीत प्रवृत्ति—परस्त्री और वेश्यासेवन आदि कुचेष्टा-मात्र है ॥१॥

जो कोई मनुष्य इन्द्रियोंको संतुष्ट किये विना ही स्त्रीका सेवन करता है उसकी वह कामक्रीड़ा मनुष्यके वेषमें पाशविक समझनी चाहिये ॥२॥

जो लोग अपनी इन्द्रियोंको सन्ताप उत्पन्न करनेवाला कामसेवन करते हैं उनका वह कार्य अन्धे-के सामने नाचना और बहरेके सामने गीतगानेके समान व्यर्थ है ॥३॥'

धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत ततः[2] सुखी स्यात् ॥२॥

अर्थः—नैतिक व्यक्ति धर्म और अर्थकी अनुकूलतापूर्वक—सुरक्षा करता हुआ कामसेवन करे उससे सुखी होता है, अन्यथा नहीं ॥१॥

भावार्थः—परस्त्रीसेवनसे धार्मिक और वेश्यासेवनसे साम्पत्तिक—धनकी क्षति होती है अतः उनका त्याग करते हुए अपनी स्त्रीमें ही संतोष करना चाहिये तभी सुख मिल सकता है ॥२॥

हारीत[3] विद्वान् भी उक्त बातकी पुष्टि करता है कि 'जो मनुष्य परस्त्री और वेश्यासेवनका त्याग करता है उसे कामजन्यदोष—धार्मिक क्षति और धनका नाश नहीं होता तथा सुख मिलता है ॥१॥'

अब तीनों पुरुषार्थोंके सेवन करनेकी विधि बताते हैं:—

समं वा त्रिवर्गं सेवेत ॥३॥

अर्थः—अथवा नैतिक व्यक्ति धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थोंको समयका समान विभाग करके सेवन करे।

---

१ तथा च राजपुत्रः—
सर्वेन्द्रियानुरागः स्यात् यस्याः संसेवनेन च ।
स च कामः परिज्ञेयो यत्तदन्यद्विचेष्टितम् ॥१॥
इन्द्रियाणामसन्तोषं यः कश्चित् सेवते स्त्रियं ।
स करोति पशोः कर्म नररूपस्य मोहनं ॥२॥
यदिन्द्रियविरोधेन मोहनं क्रियते जनैः ।
तदन्धस्य पुरे नृत्यं सुगीतं बधिरस्य च ॥३॥

२ 'न निःसुखः स्यात्' इस प्रकार मु० मू० पुस्तक में पाठ है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है ।

३ तथा च हारीतः—
परदारांस्त्यजेद्यस्तु वेश्यां चैव सदा नरः ।
न तस्य कामजो दोषः सुखिनो न धनक्षयः ॥१॥

भावार्थः—विवेकी मनुष्यको दिनके १२ घंटोंमें से एकत्रिभाग—४ घंटे धर्मसेवनमें, एकत्रिभाग अर्थपुरुषार्थ—न्यायसे धनसंचय करनेमें और एकत्रिभाग कामपुरुषार्थ—(न्यायप्राप्त भोगोंको उदासीनता से भोगना) के अनुष्ठानमें व्यतीत करना चाहिये। इसके विपरीत जो व्यक्ति काम सेवनमें ही अपने समय-के बहुभागको व्यतीत कर देता है, वह अपने धर्म और अर्थपुरुषार्थको नष्ट करता है। जो केवल सदा धर्म-पुरुषार्थका ही सेवन करता है, वह काम और अर्थकी क्षति करता है और जो दिनरात सम्पत्तिके संचय करनेमें व्यग्र रहता है, वह धर्म और कामसे विमुख होजाता है। इस प्रकारके व्यक्ति अपने जीवनको सुखी बनानेमें समर्थ नहीं होसकते। अतएव सुखाभिलाषी विवेकी पुरुष तीनों पुरुषार्थोंको परस्परकी बाधा-रहित समयका समान विभाग करके सेवन करे।

विद्वान् नारद[१] भी आचार्यश्रीकी उक्त मान्यताका समर्थन करता है कि 'मनुष्यको दिनके तीन विभाग करके पहले विभागको धर्मानुष्ठानमें और दूसरेको धन कमानेमें एवं तीसरेको कामसेवनमें उपयोग करना चाहिये ॥१॥'

वादीभसिंहसूरिने[२] कहा है कि 'यदि मनुष्योंके द्वारा धर्म, अर्थ और काम ये तीनों पुरुषार्थ परस्परकी बाधारहित सेवन किये जाँय तो इससे उन्हें बिना रुकावटके स्वर्गलक्ष्मी प्राप्त होती है और क्रमसे मोक्षसुख भी प्राप्त होता है ॥२॥'

निष्कर्षः—नैतिक व्यक्तिको धर्म, अर्थ, और काम पुरुषार्थोंको परस्परकी बाधारहित समयका समान विभाग करते हुए सेवन करना चाहिये ॥३॥

अब तीनों पुरुषार्थोंमें से केवल एकके सेवनसे होनेवाली हानि बताते हैं :—

एकोह्य[३]त्यासेवितो धर्मार्थकामानामात्मानमितरौ च पीडयति ॥४॥

अर्थः—जो मनुष्य धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थोंमें से केवल एकको ही निरन्तर सेवन करता है और दूसरेको छोड़ देता है वह केवल उसी पुरुषार्थकी वृद्धि करता है और दूसरे पुरुषार्थोंको नष्ट कर डालता है।

भावार्थः—जो व्यक्ति निरन्तर धर्म पुरुषार्थका ही सेवन करता है वह दूसरे अर्थ और कामपुरुषार्थों को नष्ट कर देता है; क्योंकि उसका समस्त समय धर्मके पालनमें ही लग जाता है। इसी प्रकार केवल

---

१ तथा च नारदः—
प्रहरं सत्रिभागं च प्रथमं धर्ममाचरेत्।
द्वितीयं तु ततो वित्तं तृतीयं कामसेवने ॥१॥

२ परस्पराविरोधेन त्रिवर्गो यदि सेव्यते।
अनर्गलमतः सौख्यमपवर्गोऽप्यनुक्रमात् ॥१॥
क्षत्रचूडामणौ वादीभसिंहसूरिः १ म लम्ब।

३ 'ह्यत्यासक्त्या' इस प्रकार मु० मू० पुस्तक में पाठ है अर्थ अत्यन्त आसक्ति से।

धनसंचय करनेवाला, धर्म और काम से और कामासक्त धर्म और धन से पराङ्मुख रहता है। अतएव नैतिक मनुष्यको केवल एक पुरुषार्थ ही अत्यन्त आसक्तिसे सेवन नहीं करना चाहिये।

बृहस्पति[1] विद्वान्ने लिखा है कि 'जिनकी चित्तवृत्तियाँ धार्मिक अनुष्ठानोंमें सदा लगी हुई हैं वे कामसे तथा अर्थसे विशेष विरक्त रहते हैं; क्योंकि धनसंचय करनेमें पाप लगता है ॥१॥'

निष्कर्षः—नैतिक व्यक्तिको वास्तविक सुखकी प्राप्तिके लिये धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थोंमें से केवल एकका ही सेवन नहीं करना चाहिये; क्योंकि ऐसा करनेसे वह अन्य पुरुषार्थोंके मधुर फलोंसे वंचित रह जाता है ॥४॥

अब कष्ट सहकर धन कमानेवालेका कथन करते हैं :—

परार्थं भारवाहिन इवात्मसुखं निरुन्धानस्य धनोपार्जनम् ॥५॥

अर्थः—जो मनुष्य अपने सुखको छोड़कर—अत्यन्त कष्टोंको सहकर धनसंचय करता है वह दूसरोंके भारको ढोनेवाले मनुष्य या पशुकी तरह केवल दुःखी ही रहता है। अर्थात् जिसप्रकार कोई मनुष्य या पशु दूसरोंके भार—धान्यादि बोझको धारण कर लेजाता है किन्तु उसे कोई लाभ नहीं होता; क्योंकि वह उसे अपने उपयोग (भक्षण आदि) में नहीं लाता, उसीप्रकार अनेक कष्टोंको सहन करके धन कमाने वाला मनुष्य भी दूसरोंके लिये कष्ट सहता है परन्तु उस सम्पत्तिका स्वयं उपभोग नहीं करता, अतएव उसे कोई सुख नहीं होता।

व्यास[2] नामके विद्वान्ने लिखा है कि 'अत्यन्त कष्टोंको सहकर धर्मको उल्लंघन करके एवं शत्रुओंको नष्ट करके जो सम्पत्ति संचय की जाती है। हे आत्मन्! इसप्रकार की अन्याय और छलकपटसे कमाई जानेवाली सम्पत्तिको संचय करनेमें अपने मनकी प्रवृत्ति मत करो ॥१॥'

अब सम्पत्तियों की सार्थकता बताते हैं:—

इन्द्रियमनःप्रसादनफला हि विभूतयः ॥ ६ ॥

अर्थः—समस्त इन्द्रियों (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र) तथा मनको प्रसन्न करना—सुखी करना यही सम्पत्तियोंका फल है। अर्थात् जिस सम्पत्तिसे धनिक व्यक्तियोंकी सभी इन्द्रियों और मनमें आल्हाद—सुख उत्पन्न हो वही सम्पत्ति है।

---

१ यथा च बृहस्पतिः—

धर्मसंसक्तमनसां कामे स्यात्सुविरागता।
अर्थे चापि विशेषेण यतः स स्यादधर्मतः ॥१॥

२ तथा च व्यासः—

अतिक्लेशेन ये चार्था धर्मस्यातिक्रमेण च।
शत्रूणां प्रतिपातेन मात्मन् तेषु मनः कृथाः ॥१॥

निष्कर्ष:—कृपण लोग सम्पत्ति प्राप्त करके भी अपनी प्रियतमा (स्त्री) के स्पर्श, उसके सुन्दर रूपका अवलोकन और मिष्टान्नका आस्वाद आदिसे वंचित रहते हैं, क्योंकि ये बहुधा धनको पृथ्वीमें गाड़ देते हैं, अतः वे लोग अपनी इन्द्रियाँ और मनको प्रसन्न करनेमें असमर्थ हैं, इसलिये उनकी सम्पत्ति निष्फल है।

व्यास[1] नामके विद्वान्ने लिखा है कि 'जो धन पंचेन्द्रियोंके विषयोंका सुख उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं है वह (कृपणोंका धन) नपुंसकोंके यौवनकी तरह निष्फल है। अर्थात् जिसप्रकार नपुंसक व्यक्ति जवानीको पाकर, प्रियतमाके उपभोगसे वंचित रहता है अतएव उसकी जवानी—युवावस्था पाना निरर्थक है, उसी प्रकार कृपणों का धन भी सांसारिक सुखोंका उत्पादक न होनेसे निरर्थक है ॥ १ ॥

चारायण[2] नामके विद्वान्ने लिखा है कि 'जो व्यक्ति धनाढ्य होकर दूसरोंकी नौकरी आदि करके-मानसिक कष्ट उठाता है उसका धन ऊपर जमीन को घर्षण करनेकी तरह निष्फल है ॥ १ ॥'

अब इन्द्रियोंको काबूमें न करनेवालोंकी हानि बताते हैं:—

नाजितेन्द्रियाणां काऽपि कार्यसिद्धिरस्ति ॥ ७ ॥

अर्थ—जिनकी इन्द्रियाँ वश (काबू) में नहीं हैं उन्हें किसी भी कार्यमें थोड़ी भी सफलता नहीं मिलती—उनके कोई भी सत्कार्य सिद्ध नहीं होसकते।

भावार्थ:—जो व्यक्ति श्रोत्रेन्द्रियको प्रिय संगीतके सुननेका इच्छुक है वह उसके सुननेमें अपना सारा समय लगा देता है इसलिए अपने धार्मिक और आर्थिक (जीविका संबंधी) आदि आवश्यक कार्योंमें विलम्ब कर देता है, इसी कारण वह अपने कार्यों में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। इसीप्रकार अपनी प्रियाओंके आलिंगनके इच्छुक या लावण्यवती ललनाओंके देखनेके इच्छुक तथा मिष्टान्न स्वादके लोलुपी व्यक्ति भी उन्हींमें आसक्त होनेके कारण दूसरे आवश्यकीय कार्योंमें विलम्ब करते हैं, अतएव उनके सत्कार्य सफल नहीं हो पाते।

शुक्र[3] नामके विद्वानने लिखा है कि यदि मनुष्य उत्तम फलवाले कार्यको शीघ्रतासे न कर उसमें विलम्ब कर देवे तो समय उस कार्यके फलको पी लेता है अर्थात् फिर वह कार्य सफल नहीं हो पाता ॥१॥

---

१ तथा च व्यास:—
यद्धनं विषयाणां च नैवाल्हादकरं परम्।
तत्तेषां निष्फलं ज्ञेयं षंढानामिव यौवनम् ॥ १ ॥

२ तथा च चारायण:—
सेवादिभिः परिक्लेशैर्विद्यमानधनोऽपि यः।
सन्तापं मनसः कुर्यात्ततस्योपरघर्षणम् ॥ १ ॥

३ तथा च शुक्र:—
यस्य तस्य च कार्यस्य सफलस्य विशेषतः।
क्षिप्रमक्रियमाणस्य कालः पिवति तत्फलम् ॥ १ ॥

ऋषिपुत्रक[1] नामके विद्वान्ने लिखा है कि 'विषयोंमें आसक्त पुरुष अपने आवश्यक कार्योंमें विलम्ब कर देते हैं इससे शीघ्रता न करनेसे उन्हें उनका फल नहीं मिलता ॥ १ ॥'

विशद विवेचन:—नैतिक सज्जनको विषयरूपी भयानक वनमें दौड़नेवाले इन्द्रियरूपी हाथियोंको जो कि मनको विक्षुब्ध—व्याकुल करनेवाले हैं, सम्यग्ज्ञानरूपी अंकुशसे वशमें करना चाहिये। मुख्यतासे मनसे अधिष्ठित इन्द्रियाँ विषयोंमें प्रवृत्त हुआ करती हैं, इसलिये मनको वशमें करना ही जितेन्द्रियपन कहा गया है, क्योंकि विषयोंमें अंधा व्यक्ति महाभयानक विपत्तिके गर्तमें पड़ता है ॥ ७ ॥

अब इन्द्रियोंके वश करनेका उपाय बताते हैं :—

इष्टेऽर्थेऽनासक्तिर्विरुद्धे चाप्रवृत्तिरिन्द्रियजयः ॥८॥

अर्थः—इष्टपदार्थ—प्रियवस्तु (कमनीय कान्ता आदि) में आसक्ति न करनेवाले और विरुद्ध—शिष्टाचार और प्रकृतिसे प्रतिकूल वस्तुमें प्रवृत्त न होनेवाले व्यक्तिको जितेन्द्रिय कहते हैं।

भावार्थ:—यद्यपि इष्टपदार्थोंका सेवन बुरा नहीं है परन्तु आसक्तिपूर्वक उनका अधिक सेवन करना बुरा है। जैसे मिष्टान्नका भक्षण करना बुरा नहीं है किन्तु आसक्त होकर उसका अधिकमात्रामें सेवन करना बुरा—व्याधिकारक है। अथवा अजीर्णावस्थामें पथ्य अन्न भी रोगवर्द्धक है। अतः इष्टपदार्थोंमें आसक्त न होना और प्रकृति तथा ऋतुके विरुद्ध या शिष्टाचारसे प्रतिकूल पदार्थके सेवनमें अज्ञान और लोभ आदिसे प्रवृत्ति न करना इन्द्रियजय है।

निष्कर्ष:—नैतिक और जितेन्द्रिय पुरुषको अपना कल्याण करनेके लिये इष्टपदार्थमें आसक्त न होकर शिष्टाचारसे प्रतिकूल पदार्थमें प्रवृत्ति न करनी चाहिये ॥८॥

भृगु[2] विद्वान्ने कहा है कि 'यदि मनुष्य शिष्टपुरुषोंके मार्गका पूर्ण अनुसरण—पालन न कर सके तो उसे थोड़ा भी अनुसरण करना चाहिये, इससे वह जितेन्द्रिय होता है ॥१॥'

अब इन्द्रियोंके जयका दूसरा उपाय या उसका लक्षण करते हैं :—

अर्थशास्त्राध्ययनं वा ॥९॥

अर्थ:—मनुष्यको इन्द्रियोंके जय करनेके लिये नीतिशास्त्रका अध्ययन करना चाहिये। अथवा नीतिशास्त्रका अध्ययन ही इन्द्रियोंका जय—वशमें करना है।

---

१ तथा च ऋषिपुत्रकः—

स्वकृतेषु विलम्बन्ते विषयासक्तचेतसः।
क्षिप्रमक्रियमाणेषु तेषु तेषां न तत्फलम् ॥ १ ॥

२ तथा च भृगुः—

अनुगन्तुं सतां वर्त्म कृत्स्नं यदि न शक्यते।
स्वल्पमप्यनुगन्तव्यं येन स्यात् स्वविनिर्जयः ॥१॥

नीतिकार वर्गने[1] कहा है कि 'जिसप्रकार लगामके आकर्षण—खींचना आदि क्रियासे घोड़े वशमें कर लिये जाते हैं उसीप्रकार नीतिशास्त्रोंके अध्ययनसे मनुष्यकी चंचल इन्द्रियाँ वशमें होजाती हैं ॥१॥'

अब उक्त वात (नीतिशास्त्रके अध्ययनको ही इन्द्रियोंका जय कहना) का समर्थन करते हैं :—

कारणे कार्योपचारात्[2] ॥१०॥

अर्थः—कारणमें कार्यका उपचार (मुख्यता न होने पर भी किसी प्रयोजन या निमित्तके वश वस्तुमें मुख्यकी कल्पना करना) करनेसे नीतिशास्त्रके अध्ययनको ही 'इन्द्रियजय' कहा गया है।

भावार्थः—जिसप्रकार चश्मेको दृष्टिमें सहायक—निमित्त होनेसे नेत्र माना जाता है उसीप्रकार नीतिशास्त्रके अध्ययनको भी इन्द्रियोंके जय—वश करनेमें निमित्त होनेसे 'इन्द्रियजय' माना गया है ॥१०॥

अब कामके दोषोंका निरूपण करते हैं :—

योऽनङ्गेनापि जीयते स कथं [3]पुष्टाङ्गानरातीन् जयेत ॥११॥

अर्थः—जो व्यक्ति कामसे जीता जाता है—कामके वशीभूत है वह राज्यके अङ्गों—स्वामी, अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोष और सेना आदिसे शक्तिशाली शत्रुओं पर किसप्रकार विजय प्राप्त कर सकता है ? नहीं कर सकता।

भावार्थः—क्योंकि जब वह अनङ्ग (अङ्गहीनताके कारण निर्बल कामदेव) से ही हार गया तब अङ्गों—अमात्य आदि से बलिष्ठ शत्रुओंको कैसे जीत सकता है ? नहीं जीत सकता ॥११॥

नीतिकार भागुरिने[4] भी उक्त वातकी पुष्टि की है कि 'कामके वशीभूत राजाओंके राज्यके अङ्ग (स्वामी और अमात्य आदि) निर्बल—कमजोर या दुष्ट—विरोध करनेवाले होते हैं; इसलिये उन्हें और उनकी कमजोर सेनाओंको बलिष्ठ अङ्गों (अमात्य और सेना आदि) वाले राजा लोग मार डालते हैं ॥१॥'

निष्कर्षः—विजयलक्ष्मीके इच्छुक पुरुषको कदापि कामके वश नहीं होना चाहिये ॥११॥

---

१ तथा च वर्गः—

नीतिशास्त्राण्यधीते यस्तस्य दुष्टानि स्वान्यपि।

वशगानि शनैर्यान्ति कशाघातैर्हया यथा ॥१॥

२ उक्त सूत्र सं० टीका पुस्तक में नहीं है किन्तु मु० मू० पुस्तक से संकलन किया गया है।

३ मु० मू० पुस्तक में 'पुष्टान्नरादीन्' ऐसा पाठ है जिसका अर्थ बलिष्ठ मनुष्य आदिको होता है।

४ तथा च भागुरिः—

ये भूपाः कामसंसक्ता निजराज्याङ्गदुर्बलाः।

दुष्टाङ्गास्तान् पराहन्युः पुष्टाङ्गा दुर्बलानि च ॥१॥

अब कामी पुरुपकी हानिका निर्देश करते हैं :—

कामासक्तस्य नास्ति चिकित्सितम् ॥१२॥

अर्थः कामी पुरुपको सन्मार्ग पर लानेके लिये लोकमें कोई औषधि (कामको छुड़ानेवाला हितोपदेश आदि उपाय) नहीं है; क्योंकि वह हितैपियोंके हितकारक उपदेशकी अवहेलना—तिरस्कार या उपेक्षा करता है ॥१२॥

नीतिकार जैमिनिने[1] भी कहा है कि 'कामी पुरुष पिता माता और हितैषीके वचनको नहीं सुनता इससे नष्ट होजाता है ॥१॥'

अब स्त्रीमें अत्यन्त आसक्ति करनेवाले पुरुपकी हानि बताते हैं :—

न तस्य धनं धर्मः शरीरं वा यस्यास्ति स्त्रीष्वत्यासक्तिः ॥१३॥

अर्थः—स्त्रियोंमें अत्यन्त आसक्ति करनेवाले पुरुषका धन, धर्म और शरीर नष्ट होजाता है।

भावार्थः - क्योंकि स्त्रियोंमें लीनरहनेवाला पुरुष कृषि और व्यापार आदि जीविकोपयोगी कार्योंसे विमुख रहता है; अतः निर्धन—दरिद्र होजाता है। इसी प्रकार कामवासनाकी धुनमें लीन होकर दान पुण्य आदि धार्मिक अनुष्ठान नहीं करता इससे धर्मशून्य रहता है। एवं अत्यन्त वीर्यके क्षयसे राजयक्ष्मा—तपेदिक आदि असाध्य रोगोंसे व्याप्त होकर अपने शरीरको कालकवलित करानेवाला—मृत्युके मुखमें पहुँचानेवाला होता है ॥१३॥

निष्कर्षः—अतएव साम्पत्तिक—आर्थिक, धार्मिक और शारीरिक उन्नति चाहनेवाले नैतिक पुरुषको स्त्रियोंमें अत्यन्त आसक्ति नहीं करनी चाहिये ॥१३॥

नीतिकार कामन्दकने[2] कहा है कि 'सदा स्त्रियोंके मुखको देखनेमें आसक्ति करनेवाले मनुष्योंकी सम्पत्तियाँ जवानीके साथ निश्चयसे नष्ट हो जाती हैं ॥ १ ॥'

वल्लभदेव[3] विद्वान्ने लिखा है कि 'जो कामी पुरुष निरन्तर अपनी प्यारी स्त्रीका सेवन करता है उसे धृतराष्ट्रके पिताके समान राजयक्ष्मा—तपेदिक रोग होजाता है ॥ १ ॥'

---

१ तथा च जैमिनिः—

न शृणोति पितुर्वाक्यं न मातुर्न हितस्य च ।
कामेन विजितो मर्त्यस्ततो नाशं प्रगच्छति ॥१॥

२ तथा च कामन्दकः—

नितान्तं संप्रसक्तानां कान्तामुखविलोकने ।
नाशमायान्ति सुव्यक्तं यौवनेन समं श्रियः ॥ १ ॥

३ तथा च वल्लभदेवः—

यः संसेवयते कामी कामिनीं सततं प्रियाम् ।
तस्य संजायते यक्ष्मा धृतराष्ट्रपितुर्यथा ॥ २ ॥

अब नीतिशास्त्रसे विरुद्ध कामसेवनसे होनेवाली हानि बताते हैं:—

विरुद्धकामवृत्तिः समृद्धोऽपि न चिरं नन्दति ॥ १४ ॥

अर्थः—जो मनुष्य नीतिशास्त्रसे विरुद्ध कामसेवनमें प्रवृत्त होता है—परस्त्री और वेश्यासेवन आदि अन्यायके भोगोंमें प्रवृत्ति करता है वह पूर्वमें धनाढ्य होनेपर भी पश्चात् चिरकालतक धनाढ्य नहीं हो सकता—सदा दरिद्रताके कारण दुःखी रहता है।

भावार्थः—क्योंकि ऐसी असत्—नीतिविरुद्ध कामप्रवृत्तिसे पूर्वसंचित प्रचुरसम्पत्ति बर्बाद—नष्ट हो-जाती है तथा व्यापार आदिसे विमुख रहनेके कारण उत्तरकालमें भी सम्पत्ति नहीं प्राप्त होती अतः दरिद्रताका कष्ट उठाना पड़ता है।

निष्कर्षः—अतः नैतिक पुरुषको नीतिविरुद्ध कामसेवन—परस्त्री और वेश्यासेवनका सदा त्यागकर देना चाहिये ॥ १४ ॥

ऋषिपुत्रकने[1] भी उक्त बातका समर्थन किया है कि 'लोकमें परस्त्रीसेवन करनेवाला मनुष्य धनाढ्य होनेपर भी दरिद्र होजाता है और सदा अपकीर्तिको प्राप्त करता है ॥ १ ॥

अब एककालमें प्राप्त हुए धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थोंमें से किसका अनुष्ठान पूर्वमें करना चाहिये? इसका समाधान किया जाता है:—

धर्मार्थकामानां युगपत्समवाये पूर्वः पूर्वो गरीयान् ॥ १५॥

अर्थः—एककालमें कर्तव्यरूपसे प्राप्त हुए धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थोंमें से पूर्वका पुरुषार्थ ही श्रेष्ठ है।

भावार्थः—नैतिक गृहस्थ पुरुषको सबसे प्रथम धर्म तत्पश्चात अर्थ और अन्तमें कामपुरुषार्थका सेवन करना चाहिये ॥ १५ ॥

भागुरि[2] विद्वान्ने लिखा है कि 'मनुष्यको दिनके तीन भागोंमेंसे एकभाग धर्मसाधनमें, एक भाग धनार्जनमें और एकभाग कामपुरुषार्थमें व्यतीत करना चाहिये ॥ १ ॥

अब समयकी अपेक्षासे पुरुषार्थका अनुष्ठान बताते हैं—:

कालासहत्वे[3] पुनरर्थ एव ॥ १६ ॥

अर्थः—समय (जीविकोपयोगी व्यापार आदिका काल) का सहन न होनेसे दूसरे धर्म और

---

१ तथा च ऋषिपुत्रकः—
परदाररतो योऽत्र पुरुषः संप्रजायते।
[धनाढ्योऽपि दरिद्रः स्याद्दुष्कीर्तिं लभते सदा ॥ १ ॥]
इस श्लोकका उत्तरार्द्ध संस्कृतटीका पुस्तकमें नहीं है अतः हमने नवीन रचना करके उसकी पूर्ति की है।
सम्पादकः—

२ तथा च भागुरिः—
धर्मचिन्तां तृतीयांशं दिवसस्य समाचरेत्।
ततो वित्तार्जने तावन्मात्रं कामार्जने तथा ॥ १ ॥

३ मु० मू० पुस्तक में 'कालसहत्वेपुनरर्थ एव' ऐसा पाठ है—
जिसका अर्थः—धर्म और काम दूसरे समयमें भी किये जासकते हैं, अतएव तीनोंमें अर्थ ही श्रेष्ठ है ॥ १६ ॥

कामपुरुपार्थकी अपेक्षा अर्थपुरुपार्थ (न्यायसे जीविकोपयोगी व्यापार और कृषि आदि साधनों द्वारा धनका संचय करना) का अनुष्ठान करना ही श्रेष्ठ है।

भावार्थः—यदि किसी मनुष्यको न्यायसे धनसंचय करनेका अवसर प्राप्त हुआ हो और उसके निकल जानेपर उसे ऐसी आर्थिक क्षति होती हो, जिससे वह दरिद्रताके कारण अपना कौटुम्बिक निर्वाह करनेमें असमर्थ होकर दुःखी होता हो, तो उसे धर्म और कामपुरुपार्थोंकी अपेक्षा पूर्वमें अर्थपुरुषार्थका ही अनुष्ठान करना ही श्रेयस्कर है। क्योंकि 'अर्थवाह्यो धर्मो न भवति' अर्थात् धर्मके विना धर्म नहीं होसकता। अभिप्राय यह है कि गृहस्थ पुरुप दरिद्रताके कारण न धर्म प्राप्त कर सकता है और न सांसारिक सुख। अतः अर्थपुरुपार्थ मुख्य होनेके कारण पूर्वमें उसका अनुष्ठान करना ही श्रेष्ठ है ॥ १६ ॥

नारद[1] विद्वान्ने भी उक्त वातकी पुष्टि की है कि 'दरिद्र पुरुषोंके धर्म और कामपुरुषार्थ सिद्ध नहीं होते; अतः विद्वानोंने धर्म और कामपुरुपार्थोंकी अपेक्षा अर्थपुरुपार्थको श्रेष्ठ कर्तव्य वताया है ॥ १ ॥'

विमर्शः—धर्माचार्योंने[2] कहा है कि 'विवेकी मनुष्यको पूर्वमें धर्मपुरुषार्थका ही अनुष्ठान करना चाहिये। उसे विपयोंकी लालसा, भय, लोभ और जीवरक्षाके लोभसे कभी भी धर्म नहीं छोड़ना चाहिये। परन्तु आचार्यश्रीका अभिप्राय यह है कि आर्थिक संकटमें फँसा हुआ दरिद्र व्यक्ति पूर्वमें अर्थ—जीविकोपयोगी व्यापार आदि करे, पश्चात् उसे धर्म और-कामपुरुषार्थका अनुष्ठान करना चाहिये; क्योंकि लोककी धर्म-रक्षा, प्राणयात्रा और लौकिकसुख आदि सब धन द्वारा ही सम्पन्न होते हैं ॥१६॥

अव तीनोंपुरुपार्थोमें अर्थ पुरुषार्थकी मुख्यता वताते हैं :—

धर्मकामयोरर्थमूलत्वात्[3] ॥१७॥

अर्थः—धर्म, और काम पुरुपार्थका मूल कारण अर्थ है। अर्थात् बिना अर्थ (धन) के धर्म और कामपुरुषार्थ प्राप्त नहीं हो सकते ॥१७॥

इति कामसमुद्देशः समाप्तः।

---

१ तथा च नारदः—
अर्थकामौ न सिध्येते दरिद्राणां कथंचन।
तस्मादर्थोगुरुस्ताभ्यां संचिन्त्यो ज्ञायते वुधैः ॥ १ ॥

२ न जातु कामान्न भयान्न लोभा— ।
द्धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः ॥१॥
संगृहीतः—

३ यह सूत्र संस्कृत टी० पुस्तक में नहीं है किन्तु मु० मू० पुस्तक से संकलन किया गया है।

अथ अरिषड्वर्ग-समुद्देशः ।

अब राजाओंके अन्तरङ्ग शत्रुसमूह—काम और क्रोधादिका निरूपण करते हैं :—

अयुक्तितः प्रणीताः काम-क्रोध-लोभ-मद-मान-हर्षाः क्षितीशानामन्तरङ्गोऽरिषड्वर्गः ॥१॥

अर्थः—अन्यायसे किये गये काम, क्रोध, लोभ, मद, मान और हर्ष ये राजाओंके ६ अन्तरङ्ग शत्रुसमूह हैं ॥१॥

विशदविवेचन :—

नीतिकार कामन्दक[1] लिखता है कि 'सुखाभिलाषी राजाओंको काम, क्रोध, लोभ, हर्ष, मान और मद इन ६ शत्रुवर्गोंका सदा त्याग कर देना चाहिये ॥१॥

राजा दण्डक[2] कामके वशीभूत होकर—शुक्राचार्यकी कन्याके उपभोगकी इच्छासे नष्ट हुआ। राजा जनमेजय[3] ब्राह्मणोंपर क्रोध करनेसे उनके शापसे रोगी होकर नष्ट हुआ। राजा ऐल लोभसे और वातापि[4] नामका असुर अपने अभिमानसे अगस्त्य द्वारा नष्ट हुआ ॥२॥

पुलस्त्यका बेटा रावण मानसे और दम्भोद्भव राजा मदसे नष्ट हुआ। अर्थात् ये राजा लोग शत्रुषड्वर्ग—उक्त काम और क्रोधादि के अधीन होनेसे नष्ट होगये ॥३॥

इसके विपरीत—काम और क्रोधादि शत्रुषड्वर्ग पर विजय प्राप्त करनेवाले जितेन्द्रिय परशुराम और महान् भाग्यशाली राजा अम्बरीषने चिरकाल तक पृथ्वीको भोगा है ॥४॥

जो राजा जितेन्द्रिय और नीतिमार्गका अनुसरण करनेवाला—सदाचारी है उसकी लक्ष्मी प्रकाशमान और कीर्ति आकाशको स्पर्शकरनेवाली होती है ॥५॥'

---

१ कामन्दकः प्राह:—

कामः क्रोधस्तथा लोभो हर्षो मानो मदस्तथा ।
षड्वर्गमुत्सृजेदेनमस्मिन् त्यक्ते सुखी नृपः ॥१॥

दण्डको नृपतिः कामात् क्रोधाच्च जनमेजयः ।
लोभादैलस्तु राजर्षिर्वातापिर्दर्पतोऽसुरः ॥२॥

पौलस्त्यो राक्षसो मानान्मदाद्दम्भोद्भवो नृपः ।
प्रयाता निधनं ह्येते शत्रुषड्वर्गमाश्रिताः ॥३॥

शत्रुषड्वर्गमुत्सृज्य जामदग्न्यो जितेन्द्रियः ।
अम्बरीषो महाभागो बुभुजे ते चिरं महीम् ॥४॥

जितेन्द्रियस्य नृपते नीतिमार्गानुसारिणः ।
भवन्ति ज्वलिता लक्ष्म्यः कीर्त्तयश्च नभःस्पृशः ॥५॥

कामन्दकीय नीतिसार पृष्ठ १२-१३ ।

२, ३, ४, उक्त कथानक कामन्दकीय नीतिसार पृष्ठ १२ से जान लेनी चाहिये ।

निष्कर्ष:—विजिगीषु राजाओं तथा सुखाभिलाषी मनुष्योंको अनुचित स्थानमें किये जानेवाले उक्त काम और क्रोधादि शत्रुषड्वर्गों पर विजय प्राप्त करनी चाहिये; क्योंकि इनके अधीन हुए व्यक्तिको कदापि ऐहिक और पारलौकिक सुख प्राप्त नहीं होसकता ॥१॥

अब काम-शत्रुका विवेचन करते हैं :—

परपरिगृहीतास्वनूढ़ासु च स्त्रीषु दुरभिसन्धिः कामः ॥२॥

अर्थ:—परस्त्रियों, वेश्याओं और कन्याओंसे विषयभोग करना यह कामशत्रु प्राणियोंको महादुःखदायक है।

गौतम[1] विद्वान्ने लिखा है कि 'जो मनुष्य परस्त्री और कन्याका सेवन करता है उसकी यह भोगलालसा अत्यन्त दुःख, बंधन तथा मरणको उत्पन्न करती है ॥१॥'

निष्कर्ष:—उक्त नीतिविरुद्ध असत् काम—परस्त्री, वेश्या और कन्याका सेवनकरना दुःखदायक कामशत्रु है; परन्तु धर्मपरम्पराको अक्षुण्ण चलानेके लिये कुलीन सन्तानोत्पत्तिके उद्देश्यसे अपनी स्त्रीका सेवन काम नहीं है। अतएव नैतिक व्यक्तिको असत्—नीतिविरुद्ध कामसेवनका त्याग करना चाहिये ॥२॥

अब क्रोध-शत्रुका निरूपण करते हैं :—

अविचार्य परस्यात्मनो वापायहेतुः क्रोधः ॥३॥

अर्थ:—जो व्यक्ति अपनी और शत्रुकी शक्तिको न जानकर क्रोध करता है, वह क्रोध उसके विनाशका कारण है।

भागुरि[2] विद्वान्ने भी उक्त बातकी पुष्टि की है कि 'जो राजा अपनी और शत्रुकी शक्तिको विना सोचेसमझे क्रोध करता है वह नष्ट होजाता है ॥१॥

विशदविमर्श:—राजनीतिके विद्वानोंने विजिगीषु राजाको अप्राप्तराज्यकी प्राप्ति, प्राप्तकी रक्षा और रक्षित की वृद्धि करनेके लिये तथा प्रजापीड़क कण्टकों—शत्रुओंपर विजय पानेके लिये न्याययुक्त—अपनी और शत्रुकी शक्तिको सोचविचार कर तदनुकूल—उपयुक्त क्रोध करनेका विधान किया है तथा अन्याययुक्तका निषेध किया है। इसीप्रकार गृहस्थपुरुष भी चोरों आदिसे अपनी सम्पत्तिकी रक्षार्थ उचित—न्याययुक्त क्रोध कर सकता है, अन्याययुक्त नहीं। परन्तु धार्मिक आदर्शतम दृष्टिसे शास्त्रकारोंने कहा है कि क्रोध-

---

१ तथा च गौतमः—

अन्याश्रितां च यो नारीं कुमारीं वा निषेवते।
तस्य कामः प्रदुःखाय वन्धाय मरणाय च ॥१॥

२ तथा च भागुरिः—

अविचार्यात्मनः शक्तिं परस्य च समुत्सुकः।
यः कोपं याति भूपालः स विनाशं प्रगच्छति ॥१॥

शत्रु आत्माको पतनकी ओर लेजाता है। जिसप्रकार अग्नि ईंधनको भस्म कर देती है उसीप्रकार क्रोध भी व्रत, तप, नियम और उपवास आदिसे उत्पन्न हुई प्रचुर पुण्यराशिको नष्ट करदेता है इसलिये जो महापुरुष इसके वशमें नहीं होते उनका पुण्य बढ़ता रहता है[१] ॥१॥

क्रोधी पुरुषके महीनों तकके उपवास, सत्यभाषण, ध्यान, बाहरी जंगलका निवास, ब्रह्मचर्यधारण और गोचरीवृत्ति आदि सब निष्फल हैं[२] ॥२॥

जिसप्रकार खलिहानमें एकत्रित धान्यराशि अग्निकणके द्वारा जलादीजाती है उसीप्रकार नानाप्रकारके व्रत, दया, नियम और उपवाससे संचित पुण्यराशिको क्रोध नष्ट कर देता है[३] ॥३॥

अतएव जिसप्रकार कोई मनुष्य जिस समय दूसरोंके जलानेके लिये अग्निको अपने हाथमें धारण करता है उस समय सबसे पहले उसका हाथ जलता है उसीप्रकार यह क्रोधरूपी अग्नि जिसके उत्पन्न होती है उसकी आत्माके सम्यग्ज्ञान, सुख और शान्ति आदि सद्गुणोंको नष्ट करदेती है[४] ॥१॥

निष्कर्षः—अतः विवेकियों को क्रोध नहीं करना चाहिये ॥ ३ ॥

अब लोभका लक्षणनिर्देश करते हैं:—

दानार्हेषु स्वधनाप्रदानं परधनग्रहणं वा लोभः[५] ॥ ४ ॥

अर्थः—दानकरनेयोग्य धर्मपात्र और कार्यपात्र आदिको धन न देना तथा चोरी, छलकपट और विश्वासघात आदि अन्यायोंसे दूसरोंकी संपत्तिको ग्रहण (हड़प) करना लोभ है ॥ ४ ॥

---

१ पुण्यं चितं व्रततपोनियमोपवासैः ।
क्रोधः क्षणेन दहतीन्धनवद्धुताशः ॥
मत्वेति तस्य वशमेति न यो महात्मा ।
तस्याभिवृद्धिमुपयाति नरस्य पुण्यं ॥१॥

२ मासोपवासनिरतोऽस्तु तनोतु सत्यं ।
ध्यानं करोतु विदधातु बहिर्निवासं ॥
ब्रह्मव्रतं धरतु भैक्ष्यरतोऽस्तु नित्यं ।
रोषं करोति यदि सर्वमनर्थकं तत् ॥२॥

३ दुःखार्जितं खलगतं वलभीकृतं च ।
धान्यं यथा दहति वह्निकणः प्रविष्टः ॥
नानाविधव्रतदयानियमोपवासैः ।
रोषोऽर्जितं भवभृतां पुरुपुण्यराशिम् ॥३॥
सुभाषितरत्नसंदोहे अमितगत्याचार्यः ।

४ दहेत् स्वमेव रोषाग्निर्नापरं विषयं ततः ।
क्रुध्यन्निक्षिपति स्वाङ्गे वह्निमन्यदिधक्षया ॥१॥
क्षत्रचूड़ामणौ वादीभसिंहसूरिः ।

५ 'दानार्थेषु स्वधनाप्रदानमकारणं परवित्तग्रहणं वा लोभः ।' ऐसा मु० मू० पु० में पाठ है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं ।

अत्रि[1] नामके विद्वान्ने लिखा है कि 'जब धनाढ्य पुरुष तृष्णाके वशीभूत होकर दूसरोंके धनको चोरी वगैरह अन्यायोंसे ग्रहण करता है एवं दान करनेयोग्य पात्रोंको दान नहीं देता उसे लोभ कहा गया है ॥ १ ॥'

अब मानका लक्षण करते हैं:—

दुरभिनिवेशामोक्षो यथोक्ताग्रहणं वा मानः ॥ ५ ॥

अर्थः—शिष्टाचारसे विरुद्ध प्रवृत्तिको न छोड़ना—पापकार्योंमें प्रवृत्ति करना तथा आप्त—हितैषी पुरुषों की शास्त्रविहित बातको न मानना इसे मान कहते हैं ॥ ५ ॥

व्यास[2] विद्वान्ने कहा है कि 'पाप कार्योंका न छोड़ना और कहीहुई योग्य बातको न मानना उसे मान कहते हैं जिस प्रकार दुर्योधनका मान प्रसिद्ध है अर्थात् उसने पाण्डवोंका न्याय प्राप्त राज्य न देकर महात्मा कृष्ण और विदुरजी आदि आप्त पुरुषोंसे कही हुई बातकी उपेक्षा की थी ॥ १ ॥

अब मदका लक्षण करते हैं:—

कुलबलैश्वर्यरूपविद्यादिभिरात्माहंकारकरणं परप्रकर्षनिबन्धनं वा मदः ॥ ६ ॥

अर्थः—जो अपने कुल, बल, ऐश्वर्य, रूप और विद्या आदिके द्वारा अहंकार (मद) करना, अथवा दूसरोंकी वृद्धि—बढ़तीको रोकना, उसे मद कहते हैं ॥ ६ ॥

जैमिनि[3] नामके विद्वान्ने लिखा है कि 'अपने कुल, वीर्य, रूप, धन और विद्यासे जो गर्व किया जाता है अथवा दूसरोंको नीचा दिखाया जाता है उसे मद कहते हैं ॥ १ ॥'

अब हर्षका लक्षण किया जाता है:—

निर्निमित्तमन्यस्य दुःखोत्पादनेन स्वस्यार्थसंचयेन वा मनःप्रतिरञ्जनो हर्षः ॥ ७ ॥

अर्थः—बिना प्रयोजन दूसरोंको कष्ट पहुँचाकर मनमें प्रसन्न होना या इष्ट वस्तु—धनादि की प्राप्ति होने पर मानसिक प्रसन्नताका होना हर्ष है।

---

१ तथा चात्रिः—
परस्वहरणं यत्तु तद्धनाढ्यः समाचरेत् ।
तृष्णयाऽर्हेषु चादानं स लोभ परकीर्तितः ॥१॥
संशोधित

२ तथा च व्यासः—
पापकृत्यापरित्यागो युक्तोक्तपरिवर्जनम् ।
यत्तन्मानाभिधानं स्याद्यथा दुर्योधनस्य च ॥१॥

३ तथा च जैमिनिः—
कुलवीर्यस्वरूपार्थैर्यो गर्वो ज्ञानसम्भवः ।
स मदः प्रोच्यतेऽन्यस्य येन वा कर्षणं भवेत् ॥१॥

भारद्वाज[1] नामक विद्वान्ने लिखा है कि 'जो व्यक्ति विना प्रयोजन दूसरोंको कष्ट पहुँचाकर हर्षित होता है- एवं अपनी इष्टवस्तुकी प्राप्तिमें किसी प्रकारका संदेह न होनेपर हर्षित होता है उसे विद्वानोंने हर्ष कहा है।

भावार्थः—यद्यपि नैतिक मनुष्यको अपने शारीरिक और मानसिक विकासके लिये सदा प्रसन्न-चित्त—हर्षित रहना उत्तम है परन्तु विना प्रयोजन दूसरे प्राणियोंको सताकर—कष्ट पहुँचाकर हर्षित होना इसे अन्याययुक्त होनेके कारण त्याज्य बताया गया है, क्योंकि इससे केवल पापबंध ही नहीं होता, किन्तु साथमें वह व्यक्ति भी (जिसको निरर्थक कष्ट दिया है) इसका अनर्थ करने तत्पर रहता है। एवं धनादि अभिलषित वस्तुके मिलने पर, अधिक हर्षित होना भी क्षुद्रताका सूचक है; क्योंकि इससे नैतिक व्यक्तिकी गम्भीरता नष्ट होती है एवं लोकमें दूसरे लोक ईर्ष्या करने लगते हैं, साथमें आध्यात्मिक दृष्टिसे भी संपत्तिकी प्राप्तिमें हर्ष करना बहिरात्मबुद्धिका प्रदर्शन है ॥७॥

इत्यरिषड्वर्गसमुद्देशः समाप्तः।

अथ विद्यावृद्धसमुद्देशः।

अब राजाका लक्षण करते हैं:—

योऽनुकूलप्रतिकूलयोरिन्द्रयमस्थानं स राजा ॥ १ ॥

अर्थः—जो अनुकूल चलनेवालों (राजकीय आज्ञा माननेवालों) की इन्द्रके समान रक्षा करता है तथा प्रतिकूल चलनेवालों—अपराधियोंको यमराजके समान सज़ा देता है उसे राजा कहते हैं ॥ १ ॥

भार्गव[2] नामके विद्वान्ने भी कहा है कि 'राजा शत्रुओंके साथ कालके सदृश और मित्रोंके साथ इन्द्र के समान प्रवृत्ति (क्रमसे निग्रह और अनुग्रह का वर्ताव करना) करने वाला होता है, कोई व्यक्ति केवल अभिषेक और पट्ट बंधनसे राजा नहीं होसकता—उसे प्रतापी और शूरवीर होना चाहिये। अन्यथा अभि-षेक (जल से धोना) और पट्ट बंधन—पट्टी बाँधना आदि चिन्ह तो व्रण—घावके भी किये जाते हैं उसे भी राजा कहना चाहिये ॥ १ ॥

अब राजाका कर्तव्य निर्देश करते हैं:—

राज्ञो हि दुष्टनिग्रहः शिष्टपरिपालनं च धर्मः ॥ २ ॥

अर्थः—पापियों—अपराधियोंको सजा देना और सज्जन पुरुषोंकी रक्षाकरना, राजाका धर्म है ॥२॥

---

१ तथा च भारद्वाजः—
प्रयोजनं विना दुःखं यो दत्वान्यस्य हृष्यति।
आत्मनोऽनर्थसंदेहैः स हर्षः प्रोच्यते बुधैः ॥२॥

२ तथा च भार्गवः—
वर्तते योऽरिमित्राभ्यां यमेन्द्राभः भूपतिः।
अभिषेको व्रणस्यापि व्यञ्जनं पट्टमेव वा ॥१॥

वर्ग[1] विद्वान्‌ने लिखा है कि 'शिष्टोंकी रक्षा करना और पापियों प्रजाकण्टकों—अपराधियोंको सजा देना, राजाका प्रधान धर्म समझना चाहिये। इससे दूसरे कर्तव्य उसके लिये गौण कहे गये हैं ॥ १ ॥'

अब जो कर्तव्य राजाके नहीं होते उनका निरूपण करते हैं:—

न पुनः शिरोमुण्डनं जटाधारणादिकम् ॥ ३ ॥

अर्थ:—शिरमुड़ाना और जटाओंका धारण करना आदि राजाका धर्म नहीं।

भावार्थ:—क्योंकि राजाको प्रजापालनरूप सत्कर्तव्यके अनुष्ठानसे ही धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थोंकी सिद्धि होजाती है, अतएव उसे उस अवस्थामें शिरका मुण्डन आदि कर्तव्य नहीं करना चाहिये ॥ ३ ॥

भागुरि[2] विद्वान्‌ने लिखा है कि 'व्रत नियम आदिका पालन करना राजाओंको सुखदायक नहीं है, क्योंकि उनका धर्म तो प्रजाकी रक्षा और उसको पीड़ा पहुँचानेवालोंको नष्ट करना है ॥ १ ॥

अब राज्यका लक्षण किया जाता है:—

राज्ञः पृथ्वीपालनोचितं कर्म राज्यं ॥४॥

अर्थ:—राजाका पृथ्वीकी रक्षाके योग्य कर्म—षाड्गुण्य (संधि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव) को राज्य कहते हैं।

भावार्थ:—राजालोग राज्यकी श्रीवृद्धिके लिये दूसरे शत्रुभूत राजाओंसे संधि—बलवान् शत्रुको धनादि देकर उससे मित्रता करना, विग्रह—कमजोरसे लड़ाई करना, यान—शत्रु पर चढ़ाई करना, आसन—शत्रुकी उपेक्षा करना, संश्रय—आत्मसमर्पण करना और द्वैधीभाव—बलवान्‌से संधि और कमजोरसे युद्ध करना इस षाड्गुण्यका यथोचित प्रयोग करते हैं, क्योंकि इन राजनैतिक उपायोंसे उनके राज्यकी श्रीवृद्धि होती है, अतएव पृथिवीकी रक्षामें कारण उक्त षाड्गुण्यके प्रयोगको राज्य कहा गया है ॥ ४ ॥

वर्ग[3] विद्वान्‌ने भी लिखा है कि 'काम विलास आदिको छोड़कर षाड्गुण्य—संधि और विग्रहादि के उचित प्रयोगको राज्य कहा गया है ॥ १ ॥'

---

१ तथा च वर्ग:—
विज्ञेयः पार्थिवो धर्मः शिष्टानां परिपालनं।
दण्डश्च पापवृत्तीनां गौणोऽन्यः परिकीर्तितः ॥१॥

२ तथा च भागुरि:—
व्रतचर्यादिको धर्मो न भूपानां सुखावहः।
तेषां धर्मः प्रदानेन प्रजासंरक्षणेन च ॥१॥

३ तथा च वर्ग:—
षाड्गुण्यचिन्तनं कर्म राज्यं यत्संप्रकथ्यते।
न केवलं विलासाद्यं तेन वाह्यं कथंचन ॥१॥
यो राजा चिन्तयेन्नैव विलासैकमनाः सदा।
षाड्गुण्यं तस्य तद्राज्यं सोऽचिरेण प्रणश्यति ॥२॥ 'संशोधित'

'जो राजा कामासक्त होकर विषयोंका लोलुपी हुआ उक्त षाड्गुण्यका चिंतवन—समुचित प्रयोग नहीं करता उसका राज्य तथा वह शीघ्र नष्ट होजाता है ॥ २ ॥'

अब पुनः राज्य का लक्षण करते हैं:—

वर्णाश्रमवती धान्यहिरण्यपशुकुप्यवृष्टिप्रदानफला च पृथ्वी[१] ॥ ५ ॥

अर्थ:—वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र और आश्रमों—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और यतिसे युक्त तथा धान्य, सुवर्ण, पशु और ताँबा लोहा आदि धातुओंको प्रचुरमात्रामें देनेवाली पृथिवीको राज्य कहते हैं परन्तु जिसमें ये बातें न पाईं जावें वह राज्य नहीं।

भावार्थ:—केवल उक्तषाड्गुण्य—संधि और विग्रह आदिके यथास्थान प्रयोगको ही राज्य नहीं कहा जासकता, किन्तु जिसके राज्यकी पृथ्वी वर्ण और आश्रमधर्मसे युक्त तथा धान्य और सुवर्ण आदि इष्ट-सामग्रीसे सम्पन्न हो उसे राज्य कहते हैं ॥५॥

भृगु[२] नामके विद्वानने लिखा है कि 'जिस राजाकी पृथ्वी वर्ण और आश्रमोंसे युक्त एवं धान्य और सुवर्ण आदि द्वारा प्रजाजनोंके मनोरथोंको पूर्ण करने वाली हो उसे राज्य कहते हैं। अन्यथा जहाँ पर ये चीजें नहीं पाई जावें वह राज्य नहीं किन्तु दुःखमात्र ही है ॥ १ ॥'

अब वर्णोंका भेदपूर्वक लक्षण करते हैं:—

ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राश्च वर्णाः[३] ॥ ६ ॥

अर्थ:—वर्ण चार हैं:—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र।

विशदविवेचन:—भगवान् जिनसेनाचार्यने[४] आदिपुराणमें लिखा है कि इतिहासके आदिकालमें आदि ब्रह्मा भगवान् ऋषभदेवने मनुष्यजातिमें तीन वर्ण—क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र प्रकट किये थे और वे आगे कहे हुए क्षतत्राण—शस्त्रशक्तिसे प्रजाकी शत्रुओंसे रक्षाकरना आदि अपने २ गुणोंसे क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कहलाते थे ॥ १ ॥

---

१ 'वर्णाश्रमवती धान्य-हिरण्य-पशु-कुप्य-विशिष्टफलदा च पृथिवी' ऐसा मु० मू० पु० में पाठ है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है।

२ तथा च भृगुः—
वर्णाश्रमसमोपेता सर्वकामान् प्रयच्छति।
या भूमिर्भूपते राज्यं प्रोक्ता सान्या विडम्बना ॥१॥

३ 'ब्राह्मणाः क्षत्रिया विशः शूद्राश्च वर्णाः' ऐसा पाठ मु० मू० पुस्तक में है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है।

४ उत्पादितास्त्रयो वर्णास्तदा तेनादिवेधसा।
क्षत्रिया वणिजः शूद्राः क्षतत्राणादिभिर्गुणैः ॥१॥

उस समय जो शस्त्रधारण कर जीविका करते थे वे क्षत्रिय और जो खेती, व्यापार और पशुपालन कर जीविका करते थे वे वैश्य कहलाते थे ॥२॥

जो क्षत्रिय तथा वैश्योंकी सेवा शुश्रूषा कर जीविका करते थे वे शूद्र कहलाते थे, उनके भी २ भेद प्रगट किये गये थे—(१) कारू (२) अकारु। धोबी और नाई वगैरह 'कारू' और उनसे भिन्न 'अकारु' कहलाते थे ॥३॥

कारू शूद्र भी दो प्रकारके थे एक स्पृश्य—स्पर्शकरनेयोग्य और दूसरे अस्पृश्य—स्पर्शकरनेके अयोग्य। जो प्रजासे अलग निवास करते थे वे अस्पृश्य और नाई वगैरह स्पृश्य कहलाते थे ॥४॥

उक्त तीनों वर्णों के लोग अपना २ कार्य—जीविका करते थे। वैश्यका कार्य क्षत्रिय वा शूद्र नहीं करता था और न क्षत्रिय और शूद्रका कार्य कोई दूसरा करता था। विवाह, जातिसंबंध और व्यवहार ये सब कार्य भगवान् ऋषभदेवकी आज्ञानुसार ही सब लोग करते थे ॥५॥

उस समय भगवान् ऋषभदेवने अपनी भुजाओंसे शस्त्रधारण कर क्षत्रियोंकी रचना की—उन्हें शस्त्रविद्या सिखाई, सो ठीक ही है; क्योंकि जो हाथोंमें शस्त्रधारण कर दूसरे सबल या शत्रुके प्रहारसे जीवोंकी रक्षा करें उन्हें ही क्षत्रिय कहते हैं ॥६॥

तदनन्तर भगवान्ने अपने ऊरुओं—पैरों—से यात्रा करना—परदेश जाना दिखलाकर वैश्योंकी सृष्टि की, सो भी ठीक ही है; क्योंकि समुद्र आदि जलप्रदेशोंमें तथा स्थलप्रदेशोंमें यात्रा करके व्यापार करना वैश्योंकी मुख्य जीविका है ॥७॥

क्षत्रियाः शस्त्रजीवित्वमनुभूय तदाऽभवन्।
वैश्याश्च कृषिवाणिज्यपशुपाल्योपजीविनः ॥२॥
तेषां शुश्रूषणाच्छूद्रास्ते द्विधा कार्वकारवः।
कारवो रजकाद्याः स्युस्ततोऽन्ये स्युरकारवः ॥३॥
कारवोऽपि मता द्वेधा स्पृश्यास्पृश्यविकल्पतः।
तत्रास्पृश्याः प्रजाबाह्याः स्पृश्याः स्युः कर्त्तकादयः ॥४॥
यथास्वं स्वोचितं कर्म प्रजा दध्युरसंकरं।
विवाहजातिसंबंधव्यवहारश्च तन्मतं ॥५॥
स्वदोर्भ्यां धारयन् शस्त्रं क्षत्रियानसृजद्विभुः।
क्षतत्राणे नियुक्ता हि क्षत्रियाः शस्त्रपाणयः ॥६॥
ऊरुभ्यां दर्शयन् यात्रामस्राक्षीद्वणिजः प्रभुः।
जलस्थलादियात्राभिस्तद्वृत्तिर्वार्त्तया यतः ॥७॥

सदा नीच कामोंमें तत्पर रहनेवाले शूद्रोंकी रचना भगवान्‌ने अपने पैरोंसे ही की, सो ठीक ही है; क्योंकि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन उत्तमवर्णोंके पैर दाबना, सबप्रकारसे उनकी सेवाशुश्रूषा करना और उनकी आज्ञाका पालन करना आदि शूद्रोंकी आजीविका अनेक प्रकारकी कही गई है ॥८॥

इसप्रकार तीनों वर्णोंकी सृष्टि तो प्रथम ही होचुकी थी, उसके बाद भगवान् ऋषभदेवके पुत्र महाराज भरत अपने मुखसे शास्त्रोंका अध्ययन कराते हुए ब्राह्मणोंकी रचना करेंगे और पढ़ना, पढ़ाना, दानदेना, दानलेना और पूजा करना कराना आदि उनकी आजीविकाके उपाय होंगे ॥९॥

उक्त वर्णोंके विषयमें आचार्यश्रीने लिखा है कि व्रतोंके संस्कारसे ब्राह्मण, शस्त्रधारण करनेसे क्षत्रिय, न्यायपूर्वक द्रव्य कमानेसे वैश्य और नीचवृत्तिका आश्रय करनेसे शूद्र कहलाते हैं ॥ १० ॥

इसप्रकार इतिहासके आदिकालमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णोंकी सृष्टि हुई थी अतः आचार्यश्री सोमदेवसूरिने भी उक्त चारों वर्णोंका निरूपण किया है ॥६॥

अब आश्रमोंके भेदोंका वर्णन करते हैं:—

ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो यतिरित्याश्रमाः ॥७॥

अर्थः—ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और यति ये चार आश्रम हैं ॥ ७ ॥

विशदव्याख्याः—अन्य जैनाचार्योंने[1] भी लिखा है कि उपासकाध्ययन नामके सप्तम अङ्गमें ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और यति इन चार आश्रमोंका निर्देश किया गया है ॥१॥

यशस्तिलकमें[2] उक्त आश्रमोंके निम्नप्रकार लक्षण निर्दिष्ट किये गये हैं:—

जिस पुरुषने सम्यग्ज्ञान, जीवदया—प्राणिरक्षा और कामका त्यागरूपब्रह्म—स्त्रीसेवनादि विषयभोगका त्यागरूपब्रह्म—को भले प्रकार धारण किया है वह ब्रह्मचारी है ॥१॥

न्यग्वृत्तिनियतान् शूद्रान् पद्भ्यामेवासृजत् सुधीः ।
वर्णोत्तमेषु शुश्रूषा तद्वृत्तिर्नैकधा स्मृता ॥८॥
मुखतोऽध्यापयन् शास्त्रं भरतः स्रक्ष्यति द्विजान् ।
अधीत्यध्यापने दानं प्रतीच्छेज्येति तत्क्रियाः ॥९॥
ब्राह्मणाः व्रतसंस्कारात् क्षत्रियाः शस्त्रधारणात् ।
वणिजोऽर्थार्जनान्न्याय्यात् शूद्रा न्यग्वृत्तिसंश्रयात् ॥१०॥
आदिपुराणे भगवज्जिनसेनाचार्यः—१६ वां पर्व ।

१ ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थश्च भिक्षुकः ।
इत्याश्रमास्तु जैनानां सप्तमाङ्गाद्विनिःसृताः ॥१॥
—सागारधर्मामृते ।

२ ज्ञानं ब्रह्म दयाब्रह्म ब्रह्म कामविनिग्रहः ।
सम्यगत्र वसन्नात्मा ब्रह्मचारी भवेन्नरः ॥१॥

जो मनुष्य क्षमारूप स्त्रीमें आसक्त, सम्यग्ज्ञान और अतिथियों—दानदेने योग्य त्यागी और व्रती आदि पात्रों—में अनुरागयुक्त और मनरूपीदेवताका साधक—वशमें करनेवाला—जितेन्द्रिय है वह निश्चयसे गृहस्थ है ॥२॥

जिसने ग्राम्य—ग्रामीण पुरुषोंकी अश्लीलता—नीतिविरुद्ध असत् प्रवृत्ति, वाह्य—धन धान्यादि और अन्तरङ्गपरिग्रह—कामक्रोधादि कषायका त्यागकर संयम—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह त्याग आदि चरित्रधर्म—को धारण किया है उसे 'वानप्रस्थ' समझना चाहिये परन्तु इसके विपरीत जो स्त्री आदि कुटुम्बयुक्त होकर वनमें निवास करता है उसे वानप्रस्थ नहीं कहा जासकता ॥ ३ ॥

जिस महात्माने सम्यग्ज्ञानकी प्राप्तिसे अपनी मानसिकविशुद्धि, चरित्रपालनद्वारा शारीरिक दीप्ति, और नियमोंके पालनद्वारा जितेन्द्रियता प्राप्त की है उसे 'तपस्वी' कहते हैं, किन्तु केवल वाह्यभेष धारण करनेवालेको तपस्वी नहीं कहा जासकता ॥ ४ ॥

श्रावकोंकी ११ प्रतिमाओं—चारित्रपालनकी श्रेणियों—में से प्रारम्भसे ६ प्रतिमाओंके चारित्रको धारण करनेवाले गृहस्थाश्रमी, सातमी से नवमी तकके चरित्रपालक 'ब्रह्मचारी' और दशमी और ग्यारहवीं प्रतिमापालक 'वानप्रस्थ' कहे गये हैं और उनसे आगे सर्वोत्तमचरित्रके धारक महात्मा 'मुनि'—कहलाते हैं ॥ ५ ॥

अब उपकुर्वाणक ब्रह्मचारीका लक्षण कहते हैं :—

स उपकुर्वाणको ब्रह्मचारी यो वेदमधीत्य स्नायात् ॥ ८ ॥

अर्थः—जो वेद—अहिंसाधर्मका निरूपण करनेवाले—निर्दोष शास्त्र—पढ़कर विवाहसंस्कार करता है उसे उपकुर्वाणक ब्रह्मचारी कहते हैं ॥ ८ ॥

अब उक्तसूत्रमें वर्तमान स्नान शब्दका अर्थ किया जाता है :—

स्नानं विवाहदीक्षाभिषेकः[1] ॥९॥

अर्थः—विवाहसंस्काररूप दीक्षासे अभिषिक्त होना स्नान है ॥ ९ ॥

क्षान्तियोषिति यो सक्तः सम्यग्ज्ञानातिथिप्रियः ।
स गृहस्थो भवेन्नूनं मनोदैवतसाधकः ॥२॥
ग्राम्यमर्थं वहिश्चान्तर्यः परित्यज्य संयमी ।
वानप्रस्थः स विज्ञेयो न वनस्थः कुटुम्बवान् ॥ ३ ॥
ज्ञानैर्मनो वपुर्वृत्तैर्नियमैरिन्द्रियाणि च ।
नित्यं यस्य प्रदीप्तानि स तपस्वी न वेषवान् ॥ ४ ॥
षडत्र गृहिणो ज्ञेयास्त्रयः स्युर्ब्रह्मचारिणः ।
भिक्षुकौ द्वौ तु निर्दिष्टौ ततः स्यात् सर्वतो यतिः ॥ ५ ॥

—यशस्तिलक आ० ८ सोमदेवसूरि ।

१ 'स्नानं विवाहदीक्षाविशेषः' इस प्रकार मु० मू० पुस्तक में पाठ है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है ।

अब नैष्ठिक ब्रह्मचारीका लक्षणनिर्देश करते हैं :—

स नैष्ठिको ब्रह्मचारी यस्य प्राणान्तिकमदारकर्म ॥ १० ॥

अर्थः—जो जीवनपर्यन्त विवाह न करके कामवासनासे विरक्त रहता है उसे नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहते हैं।

भारद्वाज[1] नामके विद्वान्ने लिखा है कि 'जिस ब्रह्मचारीका समय जीवनपर्यन्त स्त्रीरहित कष्टसे व्यतीत होता है वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी है ॥ १ ॥'

भावार्थः—जैनाचार्योंने[2] उपनय ब्रह्मचारी और नैष्ठिक ब्रह्मचारी आदि ५ प्रकारके ब्रह्मचारी निर्दिष्ट किये हैं, उनमेंसे नैष्ठिक ब्रह्मचारीको छोड़कर बाकी चार प्रकारके ब्रह्मचारी शास्त्रोंके अध्ययनके पश्चात् विवाह करते हैं ॥ १० ॥

अब पुत्रका लक्षणनिर्देश करते हैं :—

य उत्पन्नः पुनीते वंशं स पुत्रः ॥ ११ ॥

अर्थः—जो उत्पन्न होकर नैतिक सदाचाररूप प्रवृत्तिसे अपने कुलको पवित्र करता है वही सच्चा पुत्र है।

भागुरि[3] विद्वान्ने लिखा है कि 'जो माता पिताकी सेवामें तत्पर होकर अपने सदाचाररूप धर्मके पालनसे कुलको पवित्र करता है वही पुत्र है ॥१॥'

शास्त्रकारोंने[4] कहा है 'जो अपना पालन पोषण करनेवाले माता पिताका सुविधि[5] राजाके केशव[6] नाम पुत्रकी तरह उपकार (सेवा भक्ति आदि) करता है वही सच्चा पुत्र है—और जो इससे विपरीत चलता है उसे पुत्रके छल—बहाने—से शत्रु समझना चाहिये ॥ १ ॥

---

१ तथा च भारद्वाजः—
कलत्ररहितस्यात्र यस्य कालोऽतिवर्तते ।
कष्टेन मृत्युपर्यन्तो ब्रह्मचारी स नैष्ठिकः ॥ १ ॥

२ तथा चोक्तमार्षे:—
प्रथमाश्रमिणः प्रोक्ता ये पंचोपनयादयः ।
तेऽधीत्य शास्त्रं स्वीकुर्युर्दारानन्यत्र नैष्ठिकात् ॥ १ ॥

३ तथा च भागुरिः—
कुलं पाति समुत्थो यः स्वधर्मं प्रतिपालयेत् ।
पुनीते स्वकुलं पुत्रः पितृमातृपरायणः ॥ १ ॥

४ पुत्रः पुपूषोः स्वात्मानं सुविधेरेव केशवः ।
य उपस्कुरुते वप्तुरन्यः शत्रुः सुतच्छलात् ॥ १ ॥
—सागारधर्मामृत ।

५–६ देखो आदिपुराण १० वां पर्व ।

निष्कर्ष:—अत: पुत्रको माता पिता और गुरुजनोंकी आज्ञाको पालनेवाला, सदाचारी और वंशकी रक्षा करनेवाला होना चाहिये ॥ ११ ॥

अब कृतुपद ब्रह्मचारीका लक्षणनिर्देश करते हैं :—

कृतोद्वाहः ऋतुप्रदाता कृतुपदः[1] ॥ १२ ॥

अर्थ:—जो विवाहित होकर केवल सन्तान की प्राप्तिके लिये ऋतुकाल—चतुर्थदिनमें स्नान करनेके पश्चात् रात्रि—में स्त्रीका उपभोग करता है उसे 'कृतुपद' ब्रह्मचारी कहते हैं ॥१२॥

वर्ग[2] विद्वान्ने भी कहा है कि 'जो कामवासनाकी पूर्तिको छोड़कर केवल सन्तान प्राप्तिके लिये ऋतुकालमें ही स्त्रीसेवन करता है वह उत्तमोत्तम और सब बातोंको जाननेवाला 'कृतुपद' ब्रह्मचारी है ॥१॥'

अब पुत्रशून्य ब्रह्मचारी या पुरुष जिस प्रकारका होता है उसे बताते हैं :—

अपुत्रः ब्रह्मचारी पितॄणामृणभाजनम्[3] ॥ १३ ॥

अर्थ:—नैष्ठिक ब्रह्मचारी—बालब्रह्मचारी—को छोड़कर दूसरे ब्रह्मचारी पुत्रके बिना अपने पिताओंके ऋणी रहते हैं।

स्पष्टीकरण.—प्रत्येक मनुष्य अपने माता पिताके अनन्त उपकारसे उपकृत होता है। अतएव वह कर्त्तव्यदृष्टिसे जीवनपर्यन्त उनकी सेवा शुश्रूषा करता रहता है, तथापि उनके उपकारका बदला नहीं दे सकता; अत: वह उनके ऋणसे मुक्त नहीं होपाता। इसलिये उसके उस अत्यन्त आवश्यकीय सत्कर्त्तव्यको उसका उत्तराधिकारी पुत्र पूरा करता है—उनकी पवित्र स्मृतिके लिये दानपुण्य आदि यशस्य सत्कार्य करता हुआ अपने कुलको उज्वल बनाता है। अत: वह पुत्रयुक्त पुरुष अपने पैतृक ऋणसे छुटकारा पा लेता है। उसके फलस्वरूप लोकमें उसकी चन्द्रवन्निर्मल कीर्तिकौमुदीका प्रसार होता है। परन्तु पुत्रशून्य पुरुष पूर्ण प्रत्युपकार न करनेके कारण अपने पिताओंका ऋणी बना रहता है।

निष्कर्ष:—कृतज्ञ सद्गृहस्थ पुरुषको पैतृक ऋणसे मुक्त होने एवं वंश और धर्मकी मर्यादाको अक्षुण्ण चलानेके लिये पुत्रयुक्त होना चाहिये ॥ १३ ॥

अब शास्त्रोंका अध्ययन न करनेवाले पुरुषकी हानि बताते हैं :—

अनध्ययनो ब्रह्मणः[4] ॥ १४ ॥

---

१ उक्त सूत्र मु० मू० पु० में नहीं है, केवल सं० टी० पु० में है।

२ तथा च वर्गः—

सन्तानाय न कामाय यः स्त्रियं कामयेदृतौ।
कृतुपदः स सर्वेषामुत्तमोत्तमसर्ववित् ॥ १ ॥

३ 'अपुत्रः पुमान्पितॄणामृणभाजनम्' ऐसा पाठ मु० मू० पुस्तक में है जिसका अर्थ यह है कि पुत्रशून्य पुरुष पिताओं का ऋणी होता है। [नोटः—यह पाठ संस्कृत टीका पुस्तक के पाठ से अच्छा प्रतीत होता है। —सम्पादक]

४ 'अनध्ययनो ब्रह्मर्षीणाम्' इसप्रकार मु० मू० पु० में पाठ है जिसका अर्थ यह है कि जो मनुष्य शास्त्रोंका अध्ययन नहीं करता वह गणधरादि ऋषियोंका ऋणी है।

अर्थः—जो मनुष्य शास्त्रका अध्ययन नहीं करता वह आदिब्रह्मा—ऋषभदेव तीर्थङ्कर—का ऋणी है।

ऋषिपुत्रक[1] विद्वान्ने कहा है कि 'जो ब्रह्मचारी अज्ञानसे वेदोंका अध्ययन नहीं करता उसका ईश्वरऋण ब्याजयुक्त होनेसे बढ़ता रहता है ॥ १ ॥'

भावार्थः—ऋषभादिमहावीरपर्यन्त चतुर्विंशति—२४ तीर्थङ्करोंकी दिव्यध्वनिके आधारसे ही द्वादशाङ्ग—अहिंसाधर्मका निरूपण करनेवाले शास्त्रों—की रचना हुई है, अतएव उन्हें मनुष्यजातिको सम्यग्ज्ञाननिधि समर्पण करनेका श्रेय प्राप्त है। इसलिये जो उनके शास्त्रोंको पढ़ता है वह उनके ऋणसे मुक्त होजाता है और जो नहीं पढ़ता वह उनका ऋणी रहता है।

निष्कर्षः—यद्यपि उक्त निरूपण लौकिक व्यवहाररूप है। तथापि श्रेयकी प्राप्ति, ऋषभादितीर्थङ्करोंके प्रति कृतज्ञताप्रदर्शन करने और अज्ञाननिवृत्तिके लिये प्रत्येक व्यक्तिको निर्दोष—अहिंसाधर्मनिरूपक—शास्त्रोंका अध्ययन करना चाहिये ॥ १४ ॥

अब ईश्वरभक्ति न करने वालेकी हानि बताते हैं:—

अयजनो देवानाम्[2] ॥ १५ ॥

अर्थः—जो मनुष्य देवों—ऋषभादिमहावीरपर्यन्त चौबीस तीर्थङ्करों—की भक्ति—पूजा - नहीं करता वह उनका ऋणी है।

भावार्थः—आचार्यश्री विद्यानन्दिने[3] श्लोकवार्तिकमें कहा है कि आत्यन्तिक दुःखोंकी निवृत्ति—मोक्षकी प्राप्ति—सम्यग्ज्ञानसे होती है और वह—सम्यग्ज्ञान—निर्दोष द्वादशाङ्कके अध्ययनसे प्राप्त होता है एवं उन द्वादशाङ्ग शास्त्रोंके मूल जन्मदाता (आदिवक्ता) ऋषभादिमहावीरपर्यन्त चतुर्विंशति तीर्थङ्कर पूज्य हैं; क्योंकि सज्जन लोग किये हुए उपकारको नहीं भूलते। अतः उन्होंने मनुष्योंके हृदय मन्दिरोंमें सद्बुद्धि और सदाचारके दीपक जलाकर उनका अनन्त और अपरिमित उपकार किया है ॥१॥

इसलिये जो व्यक्ति मूर्खता या मदके वशमें होकर उनकी भक्ति—पूजा—नहीं करता वह उन तीर्थकरोंका ऋणी है।

---

१ तथा च ऋषिपुत्रकः—
ब्रह्मचारी न वेदं यः पठते मौढ्यमास्थितः ।
स्वायंभुवमृणं तस्य वृद्धिं याति कुसीदकम् ॥१॥

२ 'अयजमानो देवानाम्' इसप्रकार मु० मू० पुस्तक में पाठ है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है।

३ अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः ।
प्रभवति स च शास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात् ॥
इति प्रभवति स पूज्यस्त्वत्प्रसादप्रबुद्धैः ।
न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति ॥१॥
श्लोकवार्तिक पृष्ठ ३ विद्यानन्दि-आचार्य ।

निष्कर्ष:—प्रत्येक मनुष्यको देवऋणसे मुक्ति—छुटकारा एवं श्रेयकी प्राप्तिके लिये ईश्वरभक्ति करनी चाहिये ॥ १५ ॥

अब लोकसेवा न करनेवाले मनुष्यकी हानि बताते हैं:—

अहन्तकरो मनुष्याणाम्[1] ॥ १६ ॥

अर्थ:—दूसरोंको शोक उत्पन्न न करनेवाला मनुष्योंका ऋणी है—अर्थात् जिसकी मृत्यु होजाने पर भी जनताको किञ्चिन्मात्र—थोड़ासा भी—शोक उत्पन्न न हो वह मनुष्यजातिका ऋणी है। अथवा इस सूत्रका यह अर्थ भी होसकता है कि जो मनुष्य दूसरोंको दु:खी देखकर 'हन्त' इस प्रकार खेदसूचक शब्द प्रकट नहीं करता—दूसरोंके दु:खमें समवेदना प्रकट नहीं करता—वह मनुष्योंका ऋणी है।

भावार्थ:—लोकमें दो प्रकारके मनुष्य होते हैं। उत्तम—स्वार्थत्यागी और अधम—स्वार्थान्ध। स्वार्थत्यागी मनुष्य अपने जीवनको काँचकी शीशीके समान क्षणभंगुर समझकर स्वार्थको ठुकराकर जनता की भलाई करते हैं और अपने जीवनको विशुद्ध बनाते हैं, अत: उनकी लोकमें चन्द्रवन्निर्मल कीर्ति होती है। वे अपने कर्तव्य पालन—लोकसेवा—से जनताके ऋणसे मुक्त होजाते हैं, क्योंकि उसके फलस्वरूप जनता उनके वियोग होजाने पर शोकाकुल होती है। परन्तु दूसरे स्वार्थान्ध पुरुष परोपकार नहीं करते और जनताको कष्ट देते हैं, अत: उनके मरजाने पर भी किसीको जरा भी शोक नहीं होता, इसलिये वे लोग मनुष्यजातिके ऋणी समझे जाते हैं ॥ १६ ॥

अब नैष्ठिक ब्रह्मचारी पुत्रशून्य होने पर भी ऋणी नहीं होता इसे बताते हैं:—

आत्मा वै पुत्रो नैष्ठिकस्य ॥ १७ ॥

अर्थ:—नैष्ठिक ब्रह्मचारीका आत्मा ही पुत्र समझा जाता है।

ऋषिपुत्रक[2] विद्वान्ने लिखा है कि 'जो नैष्ठिक ब्रह्मचारी अपनी आत्मामें परमात्माका प्रत्यक्ष कर लेता है उसने शास्त्र पढ़ लिये, ईश्वरभक्ति करली और पुत्रके मुखको भी देख लिया अर्थात् वह पितृऋणसे मुक्त समझा जाता है ॥ १ ॥'

निष्कर्ष:—नैष्ठिक ब्रह्मचारी—जन्मपर्यन्त ब्रह्मचर्यसे रहनेवाला होता है अत: उसे पुत्रकी कामना द्वारा पितृऋणसे मुक्त होनेकी आवश्यकता नहीं रहती ॥ १७ ॥

अब नैष्ठिक ब्रह्मचारीका महत्व बताते हैं:—

अयमात्मात्मानमात्मनि संदधानः परां पूततां सम्पद्यते ॥ १८ ॥

---

१ उक्त सूत्र सं० टी० पु० में नहीं है किन्तु मु० मू० पुस्तक से संकलन किया गया है।

२ तथा च ऋषिपुत्रकः—

तेनाधीतं च यष्टं च पुत्रस्यालोकितं मुखं।
नैष्ठिको वीक्ष्यते यस्तु परमात्मानमात्मनि ॥ १ ॥

अर्थ:—यह नैष्ठिक ब्रह्मचारी—आत्माके द्वारा आत्माको आत्मस्वरूपमें प्रत्यक्ष करता हुआ अत्यन्त विशुद्धिको प्राप्त करता है ॥ १८ ॥

नारद[1] विद्वानने भी लिखा है कि 'जिस नैष्ठिक ब्रह्मचारीको आत्माका प्रत्यक्ष होजाता है उसे समस्त प्रकारके ब्रह्मचर्यके फल—स्वर्गादि—प्राप्त होजाते हैं ॥ १ ॥'

निष्कर्ष:—नैष्ठिक ब्रह्मचारीका पद उच्च और श्रेयस्कारक है; क्योंकि वह कामवासनासे विरक्त—जितेन्द्रिय, आत्मदर्शी और विशुद्ध होता है ॥ १८ ॥

अब गृहस्थका लक्षण निर्देश करते हैं :—

नित्यनैमित्तिकानुष्ठानस्थो गृहस्थः ॥ १९ ॥

अर्थ:—जो व्यक्ति शास्त्रविहित नित्य अनुष्ठान—सत्कर्तव्य (१ इज्या[2]—तीर्थङ्कर और महर्षियोंकी पूजाभक्ति, २ वार्ता[3]—न्यायवृत्तिसे असि, मषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प इन जीविकोपयोगी कार्योंको करना, ३ दत्ति[4]—दयादत्ति, पात्रदत्ति, समदत्ति और अन्वयदत्ति, ४ स्वाध्याय[5]—निर्दोष शास्त्रोंका अध्ययन मनन आदि, ५ संयम[6]—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और तृष्णाका त्याग, इन व्रतोंका पालन करना तथा ६ तप[7]—अनशन आदि तपकरना) और नैमित्तिक अनुष्ठान (वीर जयन्ती आदि निमित्तको लेकर किये जानेवाले धार्मिक प्रभावना आदि सत्कार्य) का पालन करता है उसे गृहस्थ कहा है ॥ १९ ॥

भागुरि[8] विद्वान्ने कहा हैकि 'जो मनुष्य उत्कृष्ट श्रद्धासे युक्त होकर नित्य और नैमित्तिक सत्कर्तव्योंका

---

१ तथा च नारदः—
आत्मावलोकनं यस्य जायते नैष्ठिकस्य च ।
ब्रह्मचर्याणि सर्वाणि यानि तेषांफलं भवेत् ॥१॥

२ तथा चोक्तमार्षे—कुलधर्मोऽयमित्येषामर्हत्पूजादिवर्णनं"
इज्यां वार्तां च दत्तिं च स्वाध्यायं संयमं तपः ।
श्रुतोपासकसूत्रत्वात् स तेभ्यः समुपादिशत् ॥१॥

३ वार्ता विशुद्धवृत्या स्यात् कृष्यादीनामनुष्ठितिः ।
असिर्मषिः कृषिर्विद्या वाणिज्यं शिल्पमेव च ।
कर्माणीमानि षोढ़ा स्युः प्रजाजीवनहेतवे ॥१७९॥ पर्व १६

४ चतुर्द्धा वर्णिता दत्तिर्दयापात्रसमन्वये ॥ ३

५ 'स्वाध्यायः श्रुतभावना'

६-७ 'तपोऽनशनवृत्त्यादि संयमो व्रतधारणं'
इति आदिपुराणे भगवान् जिनसेनाचार्यः पर्व ३८ ।

८ तथा च भागुरिः—
नित्यनैमित्तिकपरः श्रद्धया परया युतः ।
गृहस्थः प्रोच्यते सद्भिरशृङ्गः पशुरन्यथा ॥१॥

पालन करता है उसे विद्वानोंने गृहस्थ कहा है किन्तु इससे विरुद्ध प्रवृत्ति करनेवाला बिना सींगोंका पशु है ॥ १ ॥'

सोमदेवाचार्यने[1] लिखा है कि जिनेन्द्रभक्ति, गुरुओंकी उपासना, शास्त्रस्वाध्याय, संयम—अहिंसा, और सत्य आदि व्रतोंका धारण—अनशनादि तप और पात्रदान ये ६ सत्कर्तव्य गृहस्थोंके प्रत्येक दिन करने योग्य हैं ॥ १ ॥

जो मानव क्षमारूपस्त्रीमें आसक्त, सम्यग्ज्ञान और अतिथियों—पात्रों—में अनुरागयुक्त और जितेन्द्रिय है उसे गृहस्थ कहते हैं ॥ २ ॥

निष्कर्षः—ऐहिक और पारलौकिक सुख चाहनेवाले गृहस्थ व्यक्तिको उक्त नित्य और नैमित्तिक सत्कर्त्तव्योंके पालन करनेमें सदा प्रयत्नशील रहना चाहिये ॥ १९ ॥

अब गृहस्थोंके नित्य अनुष्ठान—सदा करनेयोग्य सत्कार्य—का निर्देश करते हैं:—

ब्रह्मदेवपित्रतिथिभूतयज्ञा हि नित्यमनुष्ठानम् ॥ २० ॥

अर्थः—ब्रह्मयज्ञ—ब्रह्मर्षिगणधरोंकी पूजा, देवयज्ञ—ऋषभादिमहावीरपर्यन्त तीर्थङ्कर देवोंका स्नपन, पूजन, स्तुति, जप और ध्यान आदि, पितृयज्ञ—माता पिताकी आज्ञाका पालन और उनकी सेवा शुश्रूषा आदि, अतिथियज्ञ—अतिथि सत्कार और भूतयज्ञ—प्राणीमात्रकी सेवा करना ये गृहस्थके नित्य करनेयोग्य सत्कार्य हैं ॥ २० ॥

अब नैमित्तिक—तीर्थङ्करोंकी जयन्ती आदिके निमित्तको लेकर किये जानेवाले—सत्कार्योंका निर्देशकरते हैं:—

दर्शपौर्णमास्याद्याश्रयं नैमित्तिकम् ॥२१॥

अर्थः—अमावस्या और पूर्णमासी आदि शुभतिथियोंमें कियेजानेवाले धार्मिक उत्सव आदि प्रशस्त कार्योंको नैमित्तिक अनुष्ठान कहते हैं ।

भावार्थ—जिन शुभतिथियोंमें धर्मतीर्थके प्रवर्तक ऋषभादि तीर्थङ्करोंके गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और मोक्ष कल्याणक हुए हों या पूज्य महापुरुषोंका जन्म हुआ हो उनमें धार्मिक पुरुष जो महावीरजयन्ती आदि उत्सव करते हैं उसे नैमित्तिक अनुष्ठान कहते हैं ॥२१॥

---

१ देवसेवा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः ।
दानं चैव गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने दिने ॥१॥
क्षान्तियोषिति यो सक्तः सम्यग्ज्ञानातिथिप्रियः ।
स गृहस्थो भवेन्नूनं मनोदैवतसाधकः ॥२॥
यशस्तिलके सोमदेवसूरिः ।

अब अन्यमतोंकी अपेक्षासे गृहस्थोंके भेद कहते हैं:—

वैवाहिकः शालीनो जायावरोऽघोरो गृहस्थाः[1] ॥२२॥

अर्थः—गृहस्थ चार प्रकारके हैं:—वैवाहिक, शालीन, जायावर और अघोर[2] ॥२२॥

जो गृहमें रहकर श्रद्धापूर्वक केवल गार्हपत्य अग्निमें ही हवन करता है उसे 'वैवाहिक' समझना चाहिये ॥१॥

जो पूजाके विना केवल अग्निहोत्र करता हुआ पांचों अग्नियोंकी पूजा करता है उसे 'शालीन' जानना चाहिये ॥२॥

जो एक अग्निकी अथवा पांचों अग्नियोंकी पूजा करनेमें तत्पर है और जो शूद्रकी धनादि वस्तुको ग्रहण नहीं करता वह सात्विक प्रकृतियुक्त 'जायावर' है ॥३॥

जो दक्षिणा—दान—पूर्वक अग्निष्टोम आदि यज्ञ करता है वह सौम्यप्रकृतियुक्त और रूपवान् 'अघोर' कहा गया है ॥४॥[3]

अब परमतकी अपेक्षा वानप्रस्थका लक्षण निर्देश करते हैं:—

यः खलु यथाविधि जानपदमाहारं संसारव्यवहारं च परित्यज्य सकलत्रोऽकलत्रो वा वने प्रतिष्ठते स वानप्रस्थः ॥२३॥

अर्थः—जो शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार लौकिक आहार—नागरिक या ग्रामीण पुरुषोंका अन्न आदि—का तथा सांसारिक व्यवहार—गाय, भैंस पुत्र और पौत्रादि—का त्याग करके स्त्रीसहित या स्त्रीरहित होकर वनको प्रस्थान करता है उसे वानप्रस्थ कहते हैं।

---

१ उक्त सूत्र न तो मु० मू० पुस्तकमें और न गवर्न० लायब्रेरी पूनाकी हस्तलिखित मूलप्रतियोंमें है किन्तु केवल सं० टी० पुस्तकमें पाया जाता है। सम्पादकः—

२ [नोटः—जैनसिद्धान्तमें उक्त गृहस्थोंके भेद नहीं पाये जाते परन्तु इस ग्रन्थमें आचार्यश्रीने जिसप्रकार कुछ स्थलोंमें अन्य नीतिकारोंकी मान्यताओंका संकलन किया है उसीप्रकार यहां भी अन्यमतोंकी अपेक्षा गृहस्थोंके भेद संकलन किये हैं। अथवा उक्त सूत्र किसी भी मूलप्रतिमें न होने से ऐसा प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थका संस्कृत टीकाकार अजैन विद्वान् था; इसलिये उसने अपने मतकी अपेक्षासे कुछ सूत्र अपनी रुचिसे रचकर मूलग्रन्थमें शामिल करदिये हैं, अन्यथा यही आचार्यश्री यशस्तिलकमें गृहस्थका लक्षण (क्षान्तियोषिति यो सक्तः सम्यग्ज्ञानातिथिप्रियः। स गृहस्थो भवेन्नूनं मनोदैवतसाधकः ॥ १ ॥) 'क्षमारूपस्त्रीमें आसक्त, सम्यग्ज्ञान और अतिथियोंमें अनुरागयुक्त और जितेन्द्रिय' न करते।] सम्पादकः—

३ देखो नीतिवाक्यामृत संस्कृत टीका पृ० ४६।

विशेष विमर्श:—इन्हीं आचार्यश्रीने[1] यशस्तिलकचम्पूमें कहा है कि 'जो ग्रामीण पुरुषोंकी नीतिविरुद्ध प्रवृत्ति और धनधान्यादि बाह्य तथा कामक्रोधादि अन्तरङ्ग परिग्रहका त्याग कर अहिंसा और सत्य आदि संयमधर्मको धारण करता है उसे वानप्रस्थ समझना चाहिये ।। परन्तु इसके विपरीत जो स्त्री आदि कुटुम्बयुक्त होकर वनमें रहता है उसे वानप्रस्थ नहीं कहा जासकता ।। १ ।।

चारित्रसारमें ग्यारहवीं प्रतिमाके चरित्रको पालनेवाले क्षुल्लक और ऐलकको 'वानप्रस्थ' कहा है[2] ।

विश्लेषण और परीक्षण:—

उक्त प्रमाणोंसे यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि उक्त लक्षण जैनसिद्धान्तकी अपेक्षासे नहीं है; अतः आचार्यश्रीने परमतकी अपेक्षासे वानप्रस्थका लक्षण संकलन किया है अथवा अन्यमतानुयायी संस्कृत टीकाकारने ऐसा किया है; क्योंकि यशस्तिलकमें वानप्रस्थको स्त्रीसहित वनमें रहनेका स्पष्ट निषेध किया गया है ।।२३।।

अब परमतकी अपेक्षासे वानप्रस्थके भेद कहते हैं:—

वालिखिल्य औदम्बरी वैश्वानराः सद्यःप्रक्षल्यकश्चेति वानप्रस्थाः[3] ।।२४।।

वानप्रस्थ चार प्रकारके हैं:—वालिखिल्य, औदम्बरी, वैश्वानर और सद्यःप्रक्षल्यक[4] ।

जो प्राचीन गार्हपत्य अग्निको त्यागकर केवल अरणी—समिधविशेष—को साथ लेजाकर विना स्त्रीके वनको प्रस्थान करता है वह वनमें रहनेवाला 'वालिखिल्य' है ।।१।।

जो स्त्रीसहित वनमें रहकर पांचों अग्नियोंसे विधिपूर्वक पांच यज्ञ—पितृयज्ञ, देवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, अतिथियज्ञ और ऋषियज्ञ— करता है उसे विद्वानोंने 'औदुम्बर' कहा है ।।२।।

जो यज्ञपूर्वक त्रिकाल स्नान करता है और अतिथियोंकी पूजा करके—उन्हें खिलाकर—कंदमूल और फलों का भक्षण करता है वह 'वैश्वानर' कहा गया है ।।३।।

---

१ ग्राम्यमर्थं बहिश्चान्तर्यः परित्यज्य संयमी ।
वानप्रस्थः स विज्ञेयो न वनस्थः कुटुम्बवान् ।।१।।

यशस्तिलके सोमदेवसूरिः आ० ८

२ 'वानप्रस्था अपरिगृहीतजिनरूपा वस्त्रखण्डधारिणो निरतिशयतपःसमुद्यता भवन्ति'—चारित्रसारे । अर्थ:—मुनि मुद्रा—दिगम्बर अवस्था—को धारण न करके वस्त्र या खंडवस्त्रको धारण करनेवाले (खंडचादर और लंगोटीके धारक क्षुल्लक और केवल लंगोटीके धारक ऐलक) महात्माओंको जोकि साधारण तपश्चर्यामें प्रयत्नशील हैं उन्हें 'वानप्रस्थ' कहते हैं ।।

३. उक्त सूत्र न तो मु० मू० पुस्तकमें और न हस्तलिखित गवर्न० लायब्रेरी पूना की दोनों पुस्तकोंमें पाया जाता है किन्तु संस्कृत टीका पुस्तकमें है ।

४ नोट—उक्तकथनका भी जैनसिद्धान्तसे समन्वय नहीं होता; अतएव संस्कृत टीकाकारकी रचना या आचार्यश्रीका परमतकी अपेक्षासे संकलन जानना चाहिये । —सम्पादक ।

जो केवल खानेमात्रको धान्यविशेष और घृतका संग्रह करता है और अग्निकी पूजा करता है उसे 'सद्य:प्रक्षालक'[1] कहते हैं ॥२४॥

अब यति—साधुका लक्षणनिर्देश किया जाता है:—

यो देहमात्रारामः सम्यग्विद्यानौलाभेन तृष्णासरित्तरणाय योगाय यतते यतिः ॥ २५ ॥

अर्थ:—जो शरीरमात्रसे अपनी आत्माको सन्तुष्ट रखता है—शरीरके सिवाय दूसरे वहिरङ्ग—धन-धान्यादि और अन्तरङ्ग—काम-क्रोधादि—परिग्रहका त्याग किए हुए है एवं सम्यग्ज्ञानरूपी नौकाकी प्राप्तिसे तृष्णारूपी नदीको पार करनेके लिए ध्यान करनेका प्रयत्न करता है उसे 'यति' कहते हैं।

हारीत[2] विद्वान्ने भी उक्त वातकी पुष्टि की है कि 'जो आत्मामें लीन हुआ विद्याके अभ्यासमें तत्पर है और संसाररूपी समुद्रसे पार होनेके लिये ध्यानका अभ्यास करता है उसे यति कहते हैं ॥ १ ॥'

स्वामी समन्तभद्राचार्यने[3] भी कहा है कि जो पंचेन्द्रियोंके विषयोंकी लालसासे रहित, कृष्यादि आरंभ और वहिरङ्ग (धन धान्यादि) एवं अन्तरंग—क्रोधादि—परिग्रहका त्यागी होकर ज्ञान, ध्यान और तपश्चर्यामें लीन रहता है उसे यति—तपस्वी—कहते हैं ॥ १ ॥

इसीके जितेन्द्रिय, क्षपणक, आशाम्बर, नग्न, ऋषि, यति, तपस्वी और अनगार आदि अनेक गुण-निष्पन्न—सार्थक—नाम यशस्तिलकमें आचार्यश्रीने व्यक्त किये हैं परन्तु विस्तारके भयसे हम उनका संकलन करना नहीं चाहते ॥ २५ ॥

अब अन्यमतकी अपेक्षासे यतियोंके भेद बताते हैं:—

कुटीचरबव्होदकहंसपरमहंसा यतयः[4] ॥ २६ ॥

अर्थ:—यति—साधु—चार प्रकारके होते हैं:—कुटीचर, वव्होदक, हंस और परमहंस। जो त्रिदण्डी (ऐसे दंडविशेषको धारण करनेवाला जिसमें चोटी और जनेऊ बँधे हुए हों अथवा न भी बँधे हुए हों), शिरपर केवल चोटी रखनेवाला, यज्ञोपवीत—जनेऊ—का धारक, झोपड़ीमें रहनेवाला और जो एकवार पुत्रके मकान पर स्नान करता हो तथा झोपड़ी में निवास करता हो उसे 'कुटीचर' कहते हैं ॥१॥

जो झोपड़ीमें रहकर गोचरीवृत्तिसे आहार करता हो और विष्णु की जाप जपनेमें तत्पर हो उसे 'वव्होदक' कहते हैं ॥२॥

---

१ देखो नीति० संस्कृत टीका पृष्ठ ५०।

२ तथा च हारीतः—
आत्मारामो भवेद्यस्तु विद्यासेवनतत्परः।
संसारतरणार्थाय योगभाग् यतिरुच्यते ॥ १ ॥

३ विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स: प्रशस्यते ॥ २ ॥
रत्नकरण्डे स्वामी समन्तभद्राचार्यः।

४—उक्त सूत्र भी मु० मू० पुस्तक में और गवर्न० लायब्रेरी पूनाकी हस्तलिखित मू० दोनों प्रतियोंमें नहीं है किन्तु केवल संस्कृत टीका पुस्तकमें है।

जो गाँवोंमें एकरात और शहरोंमें तीनरात तक निवास करता हो और धूप और अग्निसे शून्य ब्राह्मणोंके मकानोंमें जाकर थाली आदिमें या हस्तपुटमें स्थापित किये हुए आहारको ग्रहण करता हो एवं जिसे शरीर और इन्द्रियादि प्रकृतिसे भिन्न पुरुषतत्व— आत्मतत्व—का बोध उत्पन्न हुआ हो उसे 'हंस' समझना चाहिये ॥ ३ ॥

जो अपनी इच्छासे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णोंका गोचरीवृत्तिसे आहार ग्रहण करता हो, दंड विशेषका धारक, समस्त कृषि और व्यापार आदि आरंभका त्यागी और वृक्षोंके मूलमें बैठकर भिक्षा द्वारा लाये हुए आहारको ग्रहण करता हो उसे 'परमहंस' कहते हैं ॥ २६ ॥[1]

अब राज्यका मूल बताते हैं:—

राज्यस्य मूलं क्रमो विक्रमश्च[2] ॥ २७ ॥

अर्थ:—पैतृक—वंश परम्परासे चला आया राज्य या सदाचार और विक्रम—सैन्य और खजानेकी शक्ति—ये दोनों गुण राज्यरूपी वृक्षके मूल हैं—इन दोनों गुणोंसे राज्यकी श्रीवृद्धि होती है।

भावार्थ:—जिसप्रकार जड़सहित वृक्ष शाखा, पुष्प और फलादिसे वृद्धिको प्राप्त होता है उसी-प्रकार राज्य भी क्रम—सदाचार तथा पराक्रमसे वृद्धिको प्राप्त होता है—हस्ति, अश्वादि तथा धन-धान्यादिसे समृद्धिशाली होजाता है ॥ २७ ॥

शुक्र विद्वान्ने[3] भी लिखा है कि 'जिसप्रकार जड़सहित होनेसे वृक्षकी वृद्धि होती है उसीप्रकार क्रम—सदाचार और विक्रम गुणोंसे राज्यकी वृद्धि—उन्नति—होती है और उनके विना नष्ट होजाता है' ।१।

निष्कर्ष:—राजाका कर्तव्य है कि वह अपने राज्य (चाहे वह वंशपरम्परासे प्राप्त हुआ हो या अपने पुरुषार्थसे प्राप्त किया गया हो) को सुरक्षित, वृद्धिंगत और स्थायी बनानेके लये क्रम—सदाचारलक्ष्मी—से अलंकृत होकर अपनी सैनिक और खजानेकी शक्तिका संचय करता रहे, अन्यथा दुराचारी और सैन्य-हीन होनेसे राज्य नष्ट हो जाता है ॥ २७ ॥

---

१ नोट:—उक्त सूत्रमें जो चार प्रकारके यतियोंका निर्देश किया गया है उसका जैनसिद्धान्तसे समन्वय नहीं होता, क्योंकि जैनाचार्योंने 'पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातकाः निर्ग्रन्थाः' आचार्य उमास्वामीकृत मोक्षशास्त्र अ० ६—अर्थात् पुलाक, वकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक इसप्रकार यतियोंके ५ भेद निर्दिष्ट किये हैं और उनके कर्तव्योंका भी पृथक् २ निर्देश किया है। एवं स्वयं इन्हीं आचार्यश्रीने यशस्तिलकमें यतियोंके जितेन्द्रिय, क्षपणक, ऋषि, यति आदि गुणनिष्पन्न—सार्थक नामोंकी विशदव्याख्या की है, अतएव इनको अन्य सांख्य योग आदि दार्शनिकों की मान्यताओंका संग्रह समझना चाहिये। इसमें आचार्यश्री की राजनैतिक उदारदृष्टि या संस्कृत टीकाकारके अजैन होनेसे उसके द्वारा की हुई अपने मतकी अपेक्षा नवीन रचना ही कारण है। सम्पादक:—

२ 'राज्यमूलं क्रमो विक्रमश्च' इस प्रकार मु० मू० पुस्तकमें पाठ है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है।

३ तथा च शुक्र:—

क्रमविक्रममूलस्य राज्यस्य तु यथा तरोः।

समूलस्य भवेद्वृद्धिस्ताभ्यां हीनस्य संक्षयः ॥ १ ॥

अब राज्यकी वृद्धिका उपाय बताते हैं:—

आचारसम्पत्तिः क्रमसम्पत्तिं करोति ॥ २८ ॥

अर्थ:—सदाचारलक्ष्मी वंशपरम्परासे या पुरुषार्थसे प्राप्त हुई राज्यलक्ष्मीको चिरस्थायी बनानेमें कारण है।

शुक्र[1] विद्वान्ने लिखा है कि 'जो राजा अपने नैतिकज्ञानकी वृद्धि करके लोकव्यवहारमें निपुण होता है इससे उसके वंशपरम्परासे चले आये राज्यकी श्रीवृद्धि होती है ॥ १ ॥'

निष्कर्ष:—नीतिविरुद्ध असत् प्रवृत्ति—दुराचार—से राज्य नष्ट होजाता है; अतएव जो राजा अपने राज्यको चिरस्थायी बनानेका इच्छुक है उसे सदाचारी होना चाहिये ॥ २८ ॥

अब जिस गुणसे पराक्रम सुशोभित होता है उसका वर्णन करते हैं:—

अनुत्सेकः खलु विक्रमस्यालङ्कारः ॥ २९ ॥

अर्थ:—विनय—अभिमान न करने से पराक्रम सुशोभित होता है।

गुरु[2] विद्वान्ने लिखा है कि 'मनुष्य सुवर्णादिके आभूषणोंसे रहित होने पर भी यदि विनयशील है तो वह विशेष सुशोभित होता है, परन्तु घमण्डी पुरुष अनेक आभूषणोंसे अलंकृत होनेपर भी लोकमें हँसीका पात्र होता है ॥ १ ॥

जो राजा 'मैं ही बड़ा शूरवीर हूँ' ऐसा समझ कर अभिमानके वश होकर अपने अमात्य, गुरुजन और बन्धुजनोंका सत्कार नहीं करता वह रावणकी तरह नष्ट होजाता है ॥ २ ॥'

निष्कर्ष:—अतः नैतिक पुरुषको कदापि अभिमान नहीं करना चाहिये ॥ २९ ॥

अब राज्यकी क्षतिका कारण बताते हैं:—

क्रमविक्रमयोरन्यतरपरिग्रहेण राज्यस्य दुष्करः परिणामः[3] ॥३०॥

अर्थ:—जो राजा क्रम (सदाचार और राजनैतिक ज्ञान) और पराक्रम सैनिकशक्ति—इनमेंसे केवल एक ही गुण प्राप्त करता है उसका राज्य चिरस्थायी नहीं रहता—नष्ट हो जाता है।

---

१ तथा च शुक्रः—
लौकिकं व्यवहारं यः कुरुते नयवृद्धितः।
तद्वृद्ध्या वृद्धिमायाति राज्यं तत्र क्रमागतम् ॥ १ ॥

२ तथा च गुरुः—
भूषणैरपि संत्यक्तः स विरेजे विगर्वकः ।
सगर्वो भूषणाढ्योऽपि लोकेऽस्मिन् हास्यतां व्रजेत् ॥ १ ॥
योऽमात्यान् मन्यते गर्वान्न गुरून् न च बांधवान् ।
शूरोऽहमिति विज्ञेयो म्रियते रावणो यथा ॥ २ ॥

३ 'क्रमविक्रमयोरन्यतमपरिग्रहेण राज्यस्य दुःकरः परिणामः' ऐसा मु० मू० पुस्तकमें पाठ है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है।

भावार्थ:—पैतृक राज्यके मिल जानेपर भी जो राजा भीरु होता है—पराक्रम नहीं करता—सैनिकशक्ति को संगठित—शक्तिशाली नहीं बनाता उसका राज्य नष्ट होजाता है। इसीप्रकार जो पराक्रमशक्ति—सैनिक-शक्ति - से राज्य संपादन कर लेता है परन्तु राजनैतिक ज्ञान—संधि, विग्रह, यान और आसन आदिका उचित स्थान, देश और कालके अनुसार प्रयोग करना—नहीं जानता उसका राज्य भी नष्ट होजाता है।

शुक्र[1] विद्वान्‌ने लिखा है कि 'जो राज्य जलके समान (जिसप्रकार पातालका जल यंत्र द्वारा खींच लिया जाता है) पराक्रम—सैनिक शक्ति - से प्राप्त कर लिया गया हो परन्तु बुद्धिमान् राजा जब उसे नष्ट होता हुआ देखे तब उसे राजनीति (संधि, विग्रह, यान और आसन आदि उपाय) से उस राज्यको पूर्वकी तरह सुरक्षित रखनेका प्रयत्न करना चाहिये ॥ १ ॥

नारद[2] नामके विद्वान्‌ने लिखा है कि 'जो राजा पराक्रमसे शून्य होनेके कारण संग्राम—युद्ध—से विमुख होजाता है—सैनिक शक्तिका समुचित प्रयोग नहीं करता—उसका भी कुलपरम्परागत राज्य नष्ट हो जाता है ॥ १ ॥

निष्कर्ष:—कोई भी राजा केवल आचार सम्पत्तिसे अपने राज्यको नष्ट होनेसे बचा नहीं सकता, क्योंकि आचारवान्—शान्त—राजाको शत्रुलोग आक्रमण करके पराजित कर देते हैं। अतएव प्राप्तराज्य को सुरक्षित रखनेके लिये उसे आचार सम्पत्तिके साथ २ अपनी सैनिक शक्तिको मजबूत बनाकर पराक्रम-शाली होना चाहिये। इसीप्रकार केवल पराक्रम—सैनिकशक्ति—से ही कोई साम्राज्य चिरस्थायी नहीं रह सकता, क्योंकि सदा पराक्रम दिखाने वाले—हमेशा तीक्ष्ण दंड देने वाले—राजासे सभी लोग द्रोह करने लगते हैं, अत: उससे समस्त प्रजा क्षुब्ध होजाती है और ऐसा होनेसे उसका राज्य नष्ट होजाता है ॥३०॥

अब कौनसा राजा राजनैतिक ज्ञान और पराक्रम का स्थान होता है ? इसका समाधान किया जाता है:—

क्रमविक्रमयोरधिष्ठानं बुद्धिमानाहार्यबुद्धिर्वा ॥ ३१ ॥

अर्थ:—वही राजा राजनीति और पराक्रमका स्थान हो सकता है जो स्वयं राजनैतिक ज्ञानवान् हो अथवा जो अमात्यके द्वारा बताये हुए राजनीतिके सिद्धान्तोंका पालन करने वाला हो।

शुक्र[3] विद्वान्‌ने लिखा है कि जो राजा स्वयं बुद्धिमान है अथवा जो अमात्यकी बुद्धिके अनुकूल

---

१ तथा च शुक्र:—

राज्यं हि सलिलं यद्वद्यन्त्रलेन समाहृतम्।
भूयोऽपि तत्ततोऽभ्येति लब्ध्वाकालस्य संक्षयम् ? ॥ १ ॥

२ तथा च नारद:—

पराक्रमच्युतो यस्तु राजा संग्रामकातर:।
अपि क्रमागतं तस्य नाशं राज्यं प्रगच्छति ॥ १ ॥

३ तथा च शुक्र:—

स बुद्धिसहितो राजा नीतिशौर्यगृहं भवेत्।
अथवाऽमात्यबुद्धिस्तु बुद्धिहीनो विनश्यति ॥ १ ॥

प्रवृत्ति करता है वही राजनीति और पराक्रमका स्थान है। परन्तु जिस राजामें राजनैतिक ज्ञान नहीं है वह नष्ट हो जाता है—अपने राज्यको खो बैठता है ॥ १ ॥'

निष्कर्ष:—राजाको राजनीति और पराक्रमकी प्राप्तिके लिये या तो स्वयं बुद्धिमान् होना चाहिये अथवा उसे मन्त्रीके द्वारा कही हुई बातको माननी चाहिये। उसे कदापि दुराग्रही नहीं होना चाहिये ॥३१॥

अब बुद्धिमान् राजा का लक्षण निर्देश किया जाता है:—

यो विद्याविनीतमतिः स बुद्धिमान् ॥ ३२ ॥

अर्थ:—जिसने नीतिशास्त्रोंके अध्ययनसे राजनीतिज्ञान और नम्रता प्राप्त की है उसे बुद्धिमान् कहते हैं।

गुरु[1] विद्वान्ने लिखा है कि 'जिसकी बुद्धि नीतिशास्त्रोंके अध्ययनसे विशुद्ध है वह बुद्धिमान् है परन्तु जो नीतिशास्त्रके ज्ञानसे शून्य और केवल शूरवीर है वह नष्ट होजाता है—अपने राज्यको खो बैठता है ॥ १ ॥'

अब शास्त्रज्ञानसे शून्य केवल शूरवीरता बतानेवाले राजाकी अवस्था बताते हैं:—

सिंहस्येव केवलं पौरुषावलम्बिनो न चिरं कुशलम् ॥ ३३ ॥

अर्थ:—जो राजा नीतिशास्त्रके ज्ञानसे शून्य है और केवल शूरवीरता ही दिखाता है उसका सिंहकी तरह चिरकाल तक कल्याण नहीं होता—अर्थात् जिसप्रकार आक्रमण करनेवाला सिंह मार डाला जाता है उसी प्रकार नीतिज्ञानसे शून्य और केवल तीक्ष्ण दंड देने वाला राजा भी दुष्ट समझ कर मार दिया जाता है।

शुक्र[2] विद्वान्ने लिखा है कि 'केवल आक्रमण करनेके कारण मृगोंके स्वामी—शेर—को मनुष्य 'हरि' (हन्यते इति हरिः—मार डालने योग्य) कहते हैं उसीप्रकार नीतिशास्त्रके ज्ञानसे शून्य केवल क्रूरता दिखानेवाला भी नाशको प्राप्त होता है ॥ १ ॥

अब नीतिशास्त्रके ज्ञानसे शून्य पुरुषकी हानि बताते हैं:—

अशस्त्रः शूर इवाशास्त्रः प्रज्ञावानपि भवति विद्विषां वशः[3] ॥ ३४ ॥

अर्थ:—जिसप्रकार बहादुर मनुष्य भी हथियारोंके बिना शत्रुओंसे पराजित कर दिया जाता है

---

१ तथा च गुरुः—
शास्त्रानुगा भवेद्बुद्धिर्यस्य राज्ञः स बुद्धिमान्।
शास्त्रबुद्ध्या विहीनस्तु शौर्ययुक्तो विनश्यति ॥ १ ॥

२ तथा च शुक्रः—
पौरुषान्मृगनाथस्तु हरिः स प्रोच्यते जनैः।
शास्त्रबुद्धिविहीनस्तु यतो नाशं स गच्छति ॥ १ ॥

३ 'अनस्त्रशूर इवाशास्त्रः प्रज्ञावानपि भवति सर्वेषां गोचरः' इस प्रकार मु० मू० पुस्तकमें पाठ है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है।

उसीप्रकार बुद्धिमान् मनुष्यभी नीतिशास्त्रके ज्ञानके विना शत्रुओंके वश होजाता है—उनके द्वारा पराजित करदिया जाता है।

गुरु[1] विद्वान्ने लिखा है कि 'जिसप्रकार बलवान् मनुष्य भी शस्त्रों—हथियारों-से रहित होनेके कारण चौरादिकोंसे मार दिया जाता है उसीप्रकार बुद्धिमान् मनुष्य भी नीतिशास्त्रका ज्ञान न होनेसे चौरादिकों या शत्रुओंसे मार डाला जाता है ॥१॥'

निष्कर्ष:—अतएव नीतिशास्त्रका ज्ञान होना मनुष्यमात्रको अत्यन्त आवश्यक है ॥३४॥

अब पुरुषोंको शास्त्रज्ञानसे होनेवाले लाभका वर्णन करते हैं:—

अलोचनगोचरे ह्यर्थे शास्त्रं तृतीयं लोचनं पुरुषाणाम् ॥३५॥

अर्थ:—जो पदार्थ या प्रयोजन नेत्रोंसे प्रतीत नहीं होता उसको प्रकाश करनेके लिये शास्त्र मनुष्योंका तीसरा नेत्र है।

भावार्थ:—किसीभी कर्तव्य अथवा उसके फलमें यदि संदेह उपस्थित होजावे कि यह कार्य योग्य है? अथवा अयोग्य? इसका फल अच्छा है? या बुरा? तो उसको दूर करने में शास्त्रज्ञान ही समर्थ हो सकता है, ऐसे विषयमें चक्षु कुछ नहीं कर सकती ॥३५॥

गुरु[2] विद्वान् ने लिखा है कि 'जो कार्य चक्षुओंके द्वारा प्रतीत न हो और उसमें संदेह उपस्थित होजावे तो शास्त्रज्ञानसे उसका निश्चय कर उसमें प्रवृत्ति या निवृत्ति करनी चाहिये ॥१॥'

अब शास्त्रज्ञानसे शून्य पुरुषका विवरण किया जाता है:—

अनधीतशास्त्रश्चक्षुष्मानपि पुमानन्ध एव ॥३६॥

अर्थ:—जिस पुरुषने शास्त्रोंका अध्ययन नहीं किया वह चक्षुसहित होकरके भी अन्धा ही है—अर्थात् जिसप्रकार अन्धे मनुष्यको सामने रक्खे हुए इष्ट और अनिष्ट पदार्थका ज्ञान नहीं होसकता उसीप्रकार शास्त्रोंके ज्ञानसे शून्य—मूर्खमनुष्य—को भी धर्म और अधर्म—कर्तव्य और अकर्तव्य—का ज्ञान नहीं होसकता ॥३६॥

विद्वान् भागुरि[3] भी उक्त बातका समर्थन करता है कि 'जिसप्रकार अंधा मनुष्य सामने रक्खी हुई शुभ-अशुभ वस्तुको नहीं देख सकता उसीप्रकार शास्त्रज्ञानसे हीनपुरुष—मूर्ख—भी धर्म और अधर्म को नहीं जान सकता ॥१॥'

---

१ तथा च गुरु:—
नीतिशास्त्रविहीनो यः प्रज्ञावानपि हन्यते।
परैः शस्त्रविहीनस्तु चौराद्यैरपि वीर्यवान् ॥१॥

२ अदृश्यो निजचक्षुर्भ्यां कार्ये सन्देहमागते।
शास्त्रेण निश्चयः कार्यस्तदर्थे च क्रिया ततः ॥१॥

३ तथा च भागुरि:—
शुभाशुभं न पश्येच्च यथान्धः पुरतः स्थितं।
शास्त्रहीनस्तथा मर्त्यो धर्माधर्मौ न विन्दति ॥ १ ॥

अब मूर्ख मनुष्यकी हीनता बताते हैं:—

न ह्यज्ञानादपरः[1] पशुरस्ति ॥ ३७ ॥

अर्थः—संसारमें मूर्खको छोड़कर दूसरा कोई पशु नहीं है; क्योंकि जिसप्रकार पशु घास आदि भक्षण करके मलमूत्रादि क्षेपण करता है और धर्म-अधर्म—कर्तव्य-अकर्तव्य—को नहीं जानता उसी-प्रकार मूर्खमनुष्यभी खान-पानादि क्रिया करके मलमूत्रादि क्षेपण करता है और धर्म-अधर्म—कर्तव्य-अकर्तव्य—को नहीं जानता।

वशिष्ट[2] विद्वान्ने भी कहा है कि 'अत्यन्त मूर्खलोग शास्त्रज्ञानसे पराङ्मुख—रहित—होनेके कारण धर्म और अधर्मको नहीं जानते इसलिये विना सींगोंके पशु हैं ॥ १ ॥'

नीतिकार महात्मा भर्तृहरिने[3] कहा है कि 'जिसे साहित्य और संगीत आदि कलाओंका ज्ञान नहीं है—जो मूर्ख है—वह विना सींग और पूँछका साक्षात–यथार्थ—पशु है। इसमें कई लोग यह शङ्का करते हैं कि यदि मूर्ख मनुष्य यथार्थमें पशु है तो वह घास क्यों नहीं खाता ? इसका उत्तर यह है कि वह घास न खाकरके भी जीवित है, इसमें पशुओंका उत्तम भाग्य ही कारण है, नहीं तो वह घासभी खाने लगता ॥ १ ॥'

निष्कर्षः—इसलिये प्रत्येक व्यक्तिको कर्तव्यबोध और श्रेयकी प्राप्तिके लिये नीतिशास्त्र आदिका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये ॥३७॥

अब जिसप्रकारके राजासे राज्यकी क्षति होती है उसे बताते हैं:—

वरमराजकं भुवनं न तु मूर्खो राजा ॥ ३८ ॥

अर्थः—पृथ्वीपर राजाका न होना किसी प्रकार अच्छा कहा जासकता है परन्तु उसमें मूर्ख राजाका होना अच्छा नहीं कहा जा सकता।

भावार्थः—जिस देशमें मूर्ख राजा का शासन होता है वह नष्ट हो जाता है ॥३८॥

---

१ 'अन्यः' इसप्रकार मु० मू० पुस्तक में पाठ है किन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है।

२ तथा च वशिष्ठः—
मर्त्या मूर्खतमा लोकाः पशवः शृङ्गवर्जिताः।
धर्माधर्मौ न जानन्ति यतः शास्त्रपराङ्मुखाः ॥१॥

३ तथा च भर्तृहरिः—
साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः।
तृणं न खादन्नपि जीवमानस्तद्भागधेयं परमं पशूनाम् ॥१॥
भर्तृहरिशतकसे।

गुरु[1] विद्वान्ने भी कहा है कि 'संसारमें जिन देशोंमें राजा नहीं होते वे परस्पर एक दूसरे की रक्षा करते रहते हैं परन्तु जिनमें राजा मूर्ख होता है वे नष्ट होजाते हैं ॥१॥'

अब युवराज होने के अयोग्य राजपुत्र का कथन करते हैं:—

असंस्कारं[2] रत्नमिव सुजातमपि राजपुत्रं न नायकपदायामनन्ति साधवः ॥३९॥

अर्थः—जो राजपुत्र कुलीन होनेपर भी संस्कारों—नीतिशास्त्र का अध्ययन और सदाचार आदि सद्गुणों—से रहित है उसे राजनीति के विद्वान् शिष्टपुरुष संस्कारहीन—शाण पर न चढ़ाये हुए—रत्नके समान युवराज-पदपर आरूढ़ होने के योग्य नहीं मानते।

भावार्थः—जिसप्रकार समुद्र आदि उत्तम स्थानसे उत्पन्न हुआभी रत्न शाण पर घर्षणादि क्रिया—संस्कार—के विना भूषण के योग्य नहीं होता, उसीप्रकार राजपुत्रभी जबतक राजनीतिज्ञ बहुश्रुत शिष्ट पुरुषोंके द्वारा किये गये नैतिक ज्ञान और सदाचार आदि संस्कारों से सुसंस्कृत नहीं होता तबतक वह युव-राजपदके अयोग्य समझा जाता है।

निष्कर्षः—राजपुत्र को राजनैतिक ज्ञान और सदाचाररूप संस्कारों से सुसंस्कृत होना चाहिये जिस से वह युवराजपदपर आरूढ़ होसके ॥३९॥

अब दुष्टराजा से होनेवाली प्रजाकी क्षति बताते हैं:—

न दुर्विनीताद्राज्ञः प्रजानां विनाशादपरोऽस्त्युत्पातः[3]. ॥४०॥

अर्थः—दुष्ट राजासे प्रजाका विनाश ही होता है, उसे छोड़कर दूसरा कोई उपद्रव नहीं होसकता।

भावार्थः—लोक में भूकम्प आदि से भी प्रजाकी क्षति होती है परन्तु उससे भी अधिक क्षति दुष्ट राजा से हुआ करती है ॥४०॥

हारीत[4] विद्वान् ने भी कहा है कि 'भूकम्पसे होनेवाला उपद्रव शान्तिकर्मों—पूजन, जप और हवन आदि—से शान्त होजाता है परन्तु दुष्ट राजासे उत्पन्न हुआ उपद्रव किसी प्रकार भी शान्त नहीं हो सकता ॥१॥'

---

१ तथा च गुरुः—

अराजकानि राष्ट्राणि रक्षन्तीह परस्परं।
मूर्खो राजा भवेद्येषां तानि गच्छन्तीह संक्षयं ॥ १ ॥

२ 'अकृतसंस्कारं' ऐसा मु० मू० पुस्तक में पाठ है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है।

३ 'न पुनर्दुर्विनीताद्राज्ञः प्रजाविनाशायापरोऽस्त्युत्पातः'
इसप्रकार मु० और हस्तलि० मूलप्रतियोंमें पाठ है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है।

४ तथा च हारीतः—
उत्पातो भूमिकम्पाद्यः शान्तिकैर्याति सौम्यतां।
नृपदुर्वृत्तः उत्पातो न कथंचित् प्रशाम्यति ॥ १ ॥

अव दुष्ट राजाका लक्षणनिर्देश करते हैं:—

यो युक्तायुक्तयोरविवेकी विपर्यस्तमतिर्वा स दुर्विनीतः[1] ॥४१॥

अर्थः—जो योग्य और अयोग्य पदार्थों के विषय में ज्ञानशून्य है अर्थात् योग्य को योग्य और अयोग्य को अयोग्य न समझकर अयोग्य पुरुषों को दान और सन्मानादि से प्रसन्न करता है और योग्य व्यक्तियों का अपमान करता है तथा विपरीतबुद्धि से युक्त है अर्थात् शिष्ट पुरुषों के सदाचार की अवहेलना करके पाप कर्मों में प्रवृत्ति करता है उसे दुष्ट कहते हैं ॥४१॥

नारद[2] विद्वान् ने भी कहा है कि 'जो राजा योग्य और अयोग्य के भेद को नहीं जानता और विपरीत बुद्धिसे युक्त है—शिष्टाचारसे विरुद्ध मद्यपान आदि में प्रवृत्ति करता है उसे दुर्वृत्त—दुष्ट—कहते हैं ॥१॥'

अब राज्यपदके योग्य पुरुषद्रव्यका लक्षण बताते हैं:—

यत्र सद्भिराधीयमाना गुणा संक्रामन्ति तद्द्रव्यं ॥४२॥

अर्थः—जिस पुरुषद्रव्यमें राजनीतिज्ञ विद्वान् शिष्टपुरुषों के द्वारा नीति, आचारसम्पत्ति और शूरता आदि प्रजापालन में उपयोगी सद्गुण सिखाये जाकर स्थिर होगये हों—जो इन सद्गुणों से अलंकृत होगया हो—वह पुरुष राजा होनेके योग्य है ॥४२॥

भागुरि[3] विद्वान्ने भी लिखा है कि 'वही पुरुषद्रव्य राजा होनेके योग्य है जिसमें राजनीतिज्ञ विद्वानों के द्वारा सद्गुण—नीति, सदाचार और शूरता आदि—स्थिर होगये हों। ॥१॥'

अब द्रव्यप्रकृतियुक्त—राज्यपदके योग्य राजनैतिक ज्ञान, आचारसम्पत्ति और शूरवीरता आदि सद्गुणोंसे युक्त—पुरुष जब अद्रव्य प्रकृति युक्त—अर्थात् उक्तगुणोंसे शून्य और मूर्खता, विषयलम्पटता और कायरता आदि दोषोंसे युक्त—होजाता है उससे होनेवाली हानि बताते हैं:—

यतो द्रव्याद्रव्यप्रकृतिरपि कश्चित् पुरुषः सङ्कीर्णगजवत्[4] ॥४३॥

अर्थः—जब मनुष्य द्रव्यप्रकृति—राज्यपदके योग्य राजनैतिकज्ञान और आचारसम्पत्ति आदि सद्गुणों—से अद्रव्यप्रकृति—उक्त सद्गुणोंको त्याग कर मूर्खता, अनाचार और कायरता

---

१ 'युक्तायुक्तयोगवियोगयोरविवेकमतिर्वा स दुर्विनीतः' इसप्रकार मु० मू० और ह० लि० मू० प्रतियोंमें पाठ है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है।

२ तथा च नारदः—
युक्तायुक्तविवेकं यो न जानाति महीपतिः।
दुर्वृत्तः स परिज्ञेयो यो वा वाममतिर्भवेत् ॥ १ ॥

३ तथा च भागुरिः—
योज्यमाना उपाध्यायैर्यत्र पुंसि स्थिराश्च ते।
भवन्ति नरि द्रव्यं तत् प्रोच्यते पार्थिवोचितम् ॥ १ ॥

४ उक्त सूत्र मु० और हस्त लि० मूलप्रतियोंसे संकलन किया गया है; क्योंकि सं० टी० पुस्तकमें 'यतो द्रव्यप्रकृतेरप्यस्ति पुरुषः संकीर्णगजवत्' ऐसा अपूर्ण सूत्र होने से उसका अर्थभी यथार्थ नहीं होता था। सम्पादकः—

आदि दोषों—को प्राप्त हो जाता है तब वह पागल हाथीकी तरह राज्यपदके योग्य नहीं रहता—अर्थात् जिस प्रकार पागल हाथी जनसाधारणको भयंकर होता है उसी प्रकार जब मनुष्यमें राजनैतिक ज्ञान, आचार सम्पत्ति और शूरवीरता आदि गुण नष्ट होकर उनके स्थानमें मूर्खता अनाचार और कायरता आदि दोष घर कर जाते हैं, तव वह पागल हाथीकी तरह भयंकर होजानेसे राज्यपदके योग्य नहीं रहता ॥ ४३ ॥

वल्लभदेव[1] विद्वान्ने लिखा है कि 'राजपुत्र शिष्ट और विद्वान् होने पर भी यदि उसमें द्रव्य (राज्य-पदके योग्य गुण)से अद्रव्यपन—मूर्खता अनाचार और कायरता आदि दोष—होगया हो तो वह मिश्रगुण-(पागल)हाथीके सदृश भयंकर होनेके कारण राज्यके योग्य नहीं है ॥१॥'

गुरु[2] विद्वान्ने कहा है कि 'जो मनुष्य समस्त गुणों(राजनैतिकज्ञान, सदाचार और शूरता आदि)से अलंकृत है उसे राजद्रव्य कहते हैं—उसमें राजा होनेकी योग्यता है—वे गुण राजाओंको समस्त सत्कर्तव्योंमें सफलता उत्पन्न करते हैं ॥१॥'

अव गुणवान् पुरुष का वर्णन करते हैं:—

द्रव्यं हि क्रियां विनयति नाद्रव्यं ॥४४॥

अर्थः—द्रव्य—गुणोंसे अलंकृत योग्य पुरुष—राज्यपदको प्राप्त कर सकता है निर्गुण—मूर्ख—नहीं।

भावार्थः—जिसप्रकार अच्छी किस्मके पत्थर शाण पर रक्खे जानेसे संस्कृत होते हैं साधारण नहीं, उसीप्रकार गुणवान् और कुलीन पुरुष ही राज्य आदि उत्तम पदके योग्य है मूर्ख नहीं ॥४४॥

भागुरि[3] विद्वान्ने लिखा है कि 'प्रायः करके गुणवान् पुरुषोंके द्वारा राजाओंके महान् कार्य सफल होते हैं, परन्तु मूर्खोंसे छोटासा कार्यभी नहीं हो पाता ॥१॥'

अव बुद्धिके गुण और उनके लक्षणोंका कथन करते हैं:—

शुश्रूषा-श्रवण-ग्रहण-धारणाविज्ञानोहापोह[4]तत्वाभिनिवेशा बुद्धिगुणाः ॥४५॥

---

१ तथा च वल्लभदेवः—

शिष्टात्मजो विदग्धोऽपि द्रव्याद्रव्यस्वभावकः ।
न स्याद्राज्यपदार्होऽसौ गजो मिश्रगुणो यथा ॥ १ ॥

२ तथा च गुरुः—

यः स्यात् सर्वगुणोपेतो राजद्रव्यं तदुच्यते ।
सर्वकृत्येषु भूपानां तदर्हं कृत्यसाधनम् ॥ १ ॥

३ तथा च भागुरिः—

गुणाढ्यैः पुरुषैः कृत्यं भूपतीनां प्रसिद्ध्यति ।
महत्तरमपि प्रायो निर्गुणैरपि नो लघु ॥ १ ॥

४ 'तत्वाभिनिवेशविद्या' इति बुद्धिगुणाः' इसप्रकार मु० पु० में पाठ है किन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है ।

श्रोतुमिच्छा शुश्रूषा ॥४६॥

श्रवणमाकर्णनम् ॥४७॥

ग्रहणं शास्त्रार्थोपादानं ॥४८॥

धारणमविस्मरणम्[४] ॥४९॥

मोहसन्देहविपर्यासव्युदासेन ज्ञानं विज्ञानम् ॥५०॥

विज्ञातमर्थमवलम्ब्यान्येषु व्याप्त्या तथाविधवितर्कणमूहः ॥५१॥

उक्तियुक्तिभ्यां विरुद्धादर्थात् प्रत्यवायसंभावनया व्यावर्तनमपोहः ॥५२॥

अथवा ज्ञानसामान्यमूहो ज्ञानविशेषोऽपोहः ॥५३॥

विज्ञानोहापोहानुगमविशुद्धमिदमित्थमेवेति निश्चयस्तत्वाभिनिवेशः ॥५४॥

अर्थः—शुश्रूषा—शास्त्र और शिष्टपुरुषोंके हितकारक उपदेशको सुननेकी इच्छा, श्रवण—हितकारक उपदेशको सुनना, ग्रहण—शास्त्रके विषयको ग्रहण करना, धारण—अधिक समय तक शास्त्रादिके विषय को याद रखना, विज्ञान—संशय, विपर्यय और अनध्यवसायरूप मिथ्याज्ञानसे रहित पदार्थका यथार्थ निश्चय करना, ऊह—व्याप्तिज्ञान अर्थात् निश्चय किये हुए धूमादि हेतुरूप पदार्थोंके ज्ञानसे अग्नि आदि साध्यरूप पदार्थोंका ज्ञान करना, अपोह—शिष्टपुरुषोंके उपदेश तथा प्रबल युक्तियोंसे प्रकृति, ऋतु और शिष्टाचारसे विरुद्ध पदार्थोंमें अपनी हानि या नाशका निश्चय करके उनका त्याग करना और तत्वाभिनिवेश—उक्तविज्ञान और ऊहापोह आदिसे हितकारक पदार्थका दृढ़ निश्चय करना—ये आठ बुद्धिके गुण हैं ॥४५॥

अब शास्त्रकार स्वयं उक्त गुणोंका लक्षण करते हैं:—

अर्थः—शास्त्र या महापुरुषोंके हितकारक उपदेशको श्रवण करनेकी इच्छा करना यह 'शुश्रूषा' है॥४६॥

हितकारक बातको सुनना यह 'श्रवण' है ॥४७॥

शास्त्र आदि के हितकारक विषयको ग्रहण करना 'ग्रहण' है ॥४८॥

शास्त्र आदि के विषयको ऐसा याद रखना जिससे कि बहुत समय तक भूल न सकें इसे 'धारण' गुण कहते हैं ॥४९॥

मोह—अनिश्चय, सन्देह (संशय अर्थात् एक पदार्थमें दो प्रकारका ज्ञान होना जैसे स्थाणु—ठूँठ—में वह ठूंठ है ? या पुरुष है ? इसप्रकार अनेक कोटिका ज्ञान होना) और विपरीतज्ञान इन मिथ्याज्ञानोंसे रहित यथार्थ ज्ञान होना इसे 'विज्ञान' कहते हैं ॥५०॥

---

४ धारणं कालान्तरेष्वविस्मरणम् इसप्रकार मु० मू० पुस्तकमें और पूना लायब्रेरीकी ह० लिखित प्रतिमें 'धारणं कालान्तरादविस्मरणम्' ऐसा पाठ है, परन्तु अर्थभेद नहीं है।

निश्चय किये हुए पदार्थों—धूम आदि हेतुरूप वस्तुओं—के आधारसे—उनका ज्ञान होने से—दूसरे पदार्थों (जिनका पूर्वनिश्चित धूमादि साधनोंके साथ अविनाभाव संबंध है ऐसे अग्नि आदि साध्यरूप वस्तुओं)का उसीप्रकार निश्चय करना उसे 'ऊह' कहते हैं ॥५१॥

महापुरुषोंके उपदेश और प्रबल युक्तियों द्वारा प्रकृति, ऋतु और शिष्टाचारसे विरुद्ध पदार्थों—अनिष्ट-भोजन और परस्त्रीसेवन आदि विषयों—में अपनी हानि या नाशकी संभावना—निश्चय—करके उनका त्याग करना यह 'अपोह' नामका बुद्धि गुण है।

भावार्थः—परस्त्रीसेवन आदि दुष्कृत्य आगम और अनुमान प्रमाणसे विरुद्ध हैं; क्योंकि इनमें प्रवृत्ति करनेवाला मनुष्य रावण आदि की तरह ऐहिक—राजदंड आदि और पारलौकिक नरकादिके भयङ्कर दुःखोंको भोगता है, अत एव नैतिक पुरुष इनमें अपनी हानि या नाशका निश्चय करके उनका त्याग करता है यह उसका 'अपोह' नामका बुद्धिगुण है ॥५२॥

अथवा किसी पदार्थके सामान्यज्ञानको ऊह और विशेषज्ञानको अपोह कहते हैं, उदाहरणमें जलको देखकर 'यह जल है' इसप्रकारके साधारण ज्ञानको 'ऊह' और इससे प्यास बुझती है इसप्रकारका विशेष ज्ञान होना 'अपोह' है ॥५३॥

उक्तविज्ञान, ऊह और अपोह आदिके संबंधसे विशुद्ध हुए 'यह ऐसा ही है अन्य प्रकार नहीं है' इसप्रकारके दृढ़ निश्चयको 'तत्वाभिनिवेश' कहते हैं ॥५४॥

भगवज्जिनसेनाचार्यने[1] भी उक्त आठ प्रकारके श्रोताओंके सद्गुणोंका उल्लेख किया है कि शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, स्मृति, ऊह, अपोह और निर्णीति ये श्रोताओंके ८ गुण जानने चाहिये ॥१॥

अब विद्याओंका स्वरूप बताते हैं:—

याः[2] समधिगम्यात्मनो हितमवैत्यहितं चापोहति ता विद्याः ॥५५॥

अर्थः—मनुष्य जिन्हें जानकर अपनी आत्माको हित—सुख और उसके मार्गकी प्राप्ति तथा अहित—दुःख और उसके कारणों—का परिहार—त्याग—करता है उन्हें विद्याएँ कहते हैं।

निष्कर्षः—जो सुखकी प्राप्ति और दुःखोंके परिहार करनेमें समर्थ है उसे सत्यार्थ विद्या समझनी चाहिये और जिसमें उक्तगुण नहीं है वह अविद्या है ॥५५॥

---

१ शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा।
स्मृत्यूहापोहनिर्णीतीः श्रोतुरष्टौ गुणान् विदुः ॥ १ ॥

आदिपुराण पर्व १ श्लोक १४६।

२ 'यां समधिगम्य' इसप्रकार मु० मू० व ह० मू० प्रतियों में पाठ है परन्तु अर्थभेद नहीं है, केवल एकवचन बहुवचन का ही भेद है।

भागुरि[1] विद्वान्‌ने भी उक्त बातका समर्थन किया है कि 'जो विद्वान् विद्याको पढ़कर अपनी आत्माको सुखमें प्रवृत्त और दुःखोंसे निवृत्त करता है उसकी वे विद्याएँ हैं और इससे विपरीत जो विद्याएँ हैं वे केवल कष्ट देनेवाली मानी गई हैं ॥१॥'

अब राजविद्याओंके नाम और संख्याका कथन करते हैं:—

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिरिति चतस्रो राजविद्याः । ५६॥

अर्थः—राजविद्याएँ चार हैं, आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति ।

आन्वीक्षिकी—जिसमें अध्यात्मतत्व—आत्मतत्व तथा उसके पूर्वजन्म और अपर जन्म आदिकी अकाट्य युक्तियों द्वारा सिद्धि की गई हो उसे 'आन्वीक्षिकी' विद्या कहते हैं इसे दर्शनशास्त्र—न्यायशास्त्र भी कहते हैं ।

त्रयीः—(चरणानुयोग शास्त्र)जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों तथा ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और यति इन चार आश्रमोंके कर्तव्योंका निर्देश किया गया हो एवं धर्म और अधर्मका स्वरूप वर्णन किया गया हो उसे 'त्रयी' विद्या कहते हैं इसका दूसरा नाम 'आचारशास्त्र' भी है ।

वार्ताः—जिस लौकिक शास्त्रमें प्रजाजनके जीविकोपयोगी (जीवननिर्वाहके साधन—असि—खड्ग-धारण करना, मषि—लेखनकला, कृषि—खेतीकरना, विद्या,वाणिज्य—व्यापार और शिल्प—चित्रकला—) कर्तव्योंका विवेचन किया गया हो उसे 'वार्ता' विद्या कहते हैं ।

दण्डनीतिः—जिसमें प्रजाजनोंकी रक्षाके लिये दुष्टों—प्रजापीड़क आततायियों—के निग्रह (दण्ड-देने)का विधान हो उसे 'दण्डनीति' कहते हैं ।

इसप्रकार आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति ये चार राजविद्याएं हैं ॥५६॥

अब आन्वीक्षिकी विद्या पढ़नेसे होनेवाले लाभका निरूपण करते हैं:—

अधीयानो ह्यान्वीक्षिकीं कार्याकार्याणां बलाबलं हेतुभिर्विचारयति, व्यसनेषु न विषीदति, नाभ्युदयेन विकार्यते समधिगच्छति प्रज्ञावाक्यवैशारद्यम्[2] ॥५७॥

अर्थः—आन्वीक्षिकी विद्या—दर्शनशास्त्र—का वेत्ता विद्वान् प्रबल युक्तियोंके द्वारा कर्तव्य (अहिंसा और ब्रह्मचर्य आदि)को प्रधान या हितकारक और अकर्तव्य (मद्यपान और परकलत्रसेवन आदि) को अप्रधान—सुखको उत्पन्न करनेकी शक्तिसे रहित—अर्थात् अहितकारक निश्चय करता है एवं विपत्तिमें विषाद—खेद—और सम्पत्तिमें विकार—मद और हर्ष—नहीं करता तथा सोचने विचारने और बोलनेमें चतुराई प्राप्त करता है ॥५७॥

---

१ तथा च भागुरिः—
यस्तु विद्यामधीत्याथ हितमात्मनि संचयेत् ।
अहितं नाशयेद्विद्यास्ताश्चान्याः क्लेशदाः मताः ॥ १ ॥

२ 'समधिगच्छति च प्रज्ञावान् वैशारद्यं' इसप्रकार मु० मू० पुस्तक और गवर्न० लायब्रेरी पूनाकी ह० लि० मू० दोनों पुस्तकोंमें पाठ है, जिसका अर्थ यह है कि आन्वीक्षिकी विद्याका विद्वान्-चतुराई प्राप्त करता है ।

अब त्रयी विद्याके पढ़नेसे होनेवाले लाभका निरूपण करते हैं:—

त्रयीं पठन् वर्णाश्रमाचारेष्वतीव प्रगल्भते, जानाति च समस्तामपि धर्माधर्मस्थितिम् ॥५८॥

अर्थ:—त्रयीविद्या—चरणानुयोग शास्त्र—का वेत्ता विद्वान् वर्ण (ब्राह्मण और क्षत्रिय आदि) और आश्रमों (ब्रह्मचारी और गृहस्थ आदि) के ज्ञान प्राप्त करनेमें समर्थ होता है तथा समस्त धर्म-अधर्म अर्थात् कर्तव्य-अकर्तव्यकी मर्यादाको भलीभाँति जानता है ॥५८॥

अब वार्ता विद्यामें निपुणता प्राप्त करनेसे होनेवाले लाभका वर्णन करते हैं:—

युक्तितः प्रवर्तयन् वार्तां सर्वमपि जीवलोकमभिनन्दयति लभते च स्वयं सर्वानपि कामान् ॥५९॥

अर्थ:—लोकमें वार्ताविद्या—कृषि आदिकी शिक्षा—की समुचित प्रवृत्ति—प्रचार—करानेवाला राजा प्रजाको सुखी बनाता है तथा स्वयं भी समस्त अभिलषित भौतिक सुखोंको प्राप्त करता है ॥ ५९ ॥

अब दंडनीतिमें प्रवीण राजाको होनेवाले लाभका निरूपण करते हैं:—

यम इवापराधिषु दण्डप्रणयनेन[1] विद्यमाने राज्ञि न प्रजाः स्वमर्यादामतिक्रामन्ति प्रसीदन्ति च त्रिवर्गफलाः विभूतयः ॥६०॥

अर्थ:—राजाको यमराजके समान कठोर होकर अपराधियोंको दंडविधान करते रहने पर प्रजाके लोग अपनी २ मर्यादा (कर्तव्य-पालनकी सीमा) को उल्लंघन नहीं करते—अर्थात् अपने २ वर्णाश्रम धर्म पर आरूढ़ होकर दुष्कृत्योंमें प्रवृत्ति नहीं करते, अतः उसे धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थोंको उत्पन्न करनेवाली विभूतियाँ प्राप्त होती हैं ॥ ६० ॥

---

१ 'दंडप्रणयिनि राज्ञि' ऐसा मु० मू० और ह० लि० मूल प्रतियोंमें पाठ है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है।

अब अन्य-नीतिकारोंकी मान्यताके अनुसार आन्वीक्षिकी विद्याके प्रतिपादन करनेवाले दर्शनोंका निरूपण करते हैं:—

सांख्यं योगो लोकायतिकं चान्वीक्षिकी बौद्धार्हतोः श्रुतेः प्रतिपक्षत्वात् (नान्वीक्षिकीत्वम्) इति नैत्यानि मतानि[1] ॥ ६१ ॥

अर्थः—सांख्य, योग और चार्वाकदर्शन—नास्तिकदर्शन—ये आन्वीक्षिकी—अध्यात्म विद्याएँ—हैं अर्थात् अध्यात्मविद्या-प्रतिपादक दर्शन हैं। बौद्ध और आर्हद्दर्शन—जैनदर्शन—वेदविरोधी होनेके कारण अध्यात्म विद्याएँ नहीं हैं, इसप्रकार अन्य नीतिकारोंकी मान्यताएँ हैं।

विशदविमर्शः—यहाँपर आचार्यश्री ने अन्य नीतिकारोंकी मान्यता-मात्रका उल्लेख किया है। क्योंकि अध्यात्म-विद्याका समर्थक आर्हद्दर्शन वेदविरोधी होनेमात्रसे आन्वीक्षिकी विद्यासे बहिर्भूत नहीं होसकता, अन्यथा उनके ऊपर प्राप्त हुआ अतिप्रसङ्गदोष निवारण नहीं किया जासकता अर्थात् सांख्य और नैयायिक आदि दर्शन भी आर्हद्दर्शन—जैनदर्शन—के विरोधी होनेके कारण आन्वीक्षिकी विद्यासे बहिर्भूत समझे जासकते हैं। किसीके द्वारा निरर्थक निन्दा कीजानेपर क्या शिष्टपुरुष निन्दाका पात्र होसकता है? नहीं होसकता। इन्हीं आचार्यश्रीने[2] अपने यशस्तिलकचम्पूमें प्राचीन नीतिकारोंके प्रमाणों द्वारा आर्हद्दर्शनको अध्यात्मविद्या—आन्वीक्षिकी—सिद्ध किया है।

---

१ यह सूत्र केवल मु०सं० टी० पुस्तक में नहीं है परन्तु अन्य सभी पुस्तकों—सरस्वती भवन आराकी ह० लि० सं० टी० पुस्तक, गवर्न० लायब्रेरी पूनाकी ह० लि० मू० दो पुस्तकें और मु० मू० पुस्तक—में वर्तमान है; इसलिये हमने उक्त प्रतियोंसे संकलन किया है।

उक्त सूत्रके पाठके विषयमें स्पष्टीकरणः—

(क) 'सांख्यं योगो लोकायतं चान्वीक्षिकी बौद्धार्हतोः श्रुतेः प्रतिपक्षित्वात्' ऐसा पाठ भाण्डारकर रिसर्च गवर्न० लायब्रेरी पूनाकी हस्तलिखित मू० प्रति [नं० ७३७ जो कि सन् १८७५—७६ में लिखी गई है] में है।

(ख) 'सांख्यं योगो लोकायतं चान्वीक्षिकी बौद्धार्हतोः श्रुतेः प्रतिपक्षत्वात्' ऐसा पाठ उक्त पूना लायब्रेरीकी ह० लि० मू० प्रति [नं० १०१२ जो कि सन् १८८७ से १८६१ में लिखी गई है] में है।

(ग) 'सांख्यं योगो लोकायतं चान्वीक्षिकी बौद्धार्हतोः श्रुतेः प्रतिपक्षत्वात् इति नैत्यानि मतानि' ऐसा पाठ सरस्वतीभवन आराकी हस्तलिखित संस्कृत टी० पुस्तकमें है।

(घ) सांख्ययोगौ लोकायतं चान्वीक्षिकी बौद्धार्हतोः श्रुतेः प्रतिपक्षत्वात्' ऐसा पाठ मु० मू० पुस्तकमें है जोकि बम्बईके गोपालनारायण प्रेसमें मुद्रित हुई है एवं श्रद्धेय प्रेमीजीने प्रेषित की है।　　　सम्पादकः—

२ सांख्यं योगो लोकायतं चान्वीक्षिकी, तस्यां स्यादस्ति स्यान्नास्तीति नग्नश्रमणक इति बृहस्पतिराखण्डलस्य पुरस्तं समयं कथं प्रत्यवतस्थे ?　　　(यशस्तिलके सोमदेवसूरिः आ० ४ पृ० १११)

अर्थात् यशोधर महाराज अपनी माता चन्द्रमतीके द्वारा जैनधर्म पर किये हुए आक्षेपों (यह अभी चला हुआ है इत्यादि) का समाधान करते हुए अन्य नीतिकारोंके प्रमाणोंसे उसकी प्राचीनता सिद्ध करते हैं कि 'सांख्य, योग और चार्वाकदर्शन ये आन्वीक्षिकी विद्याएं हैं और उसी आन्वीक्षिकी—अध्यात्मविद्या—में अनेकान्त (वस्तु अपने स्वरूपादि चतुष्टयकी अपेक्षा सद्रूप—विद्यमान—है और परचतुष्टयकी अपेक्षा असद्रूप—अविद्यमान—है इत्यादि) का समर्थक

(शेष अगले पृष्ठ पर)

अब आन्वीक्षिकी—अध्यात्मविद्या (दर्शनशास्त्र)के ज्ञानसे होनेवाले लाभका निरूपण करते हैं:—

प्रकृतिपुरुषज्ञो हि राजा सत्वमवलम्बते रजःफलं चापलं[1] च परिहरति तमोभिर्नाभिभूयते[2] ॥६२॥

अर्थः—प्रकृति—शरीर और इन्द्रियादिक स्थूल तथा ज्ञानावरणादि कर्मरूप सूक्ष्मप्रकृति और पुरुष—आत्मतत्व—के स्वरूपको जाननेवाला—भेदज्ञानी—राजा सात्विक-प्रकृतिको धारणकर रजोगुणसे होने वाली चपलता—काम और क्रोधादि विकारोंसे होनेवाली उच्छ्ंखलता (नीति-विरुद्धप्रवृत्ति) का त्याग कर देता है और तामसिकभावों—अज्ञानादि भावों—से पराजित नहीं होता।

भावार्थः—दर्शनशास्त्रका अध्ययन मनुष्यको अज्ञानांधकारसे पृथक्कर ज्ञानके प्रकाशमें लाता है और कामक्रोधादि राजसिकभावोंसे होनेवाली दानवताको नष्टकर सात्विकप्रकृति द्वारा शुक्लकर्म—संसार की सर्वोत्तम सेवा आदि—करनेके लिये प्रेरित करता है जिससे वह सच्ची मानवताको प्राप्त कर लेता है।

निष्कर्षः—अत एव प्रत्येक मनुष्यको उक्त सद्गुणोंसे अलंकृत होनेके लिये एवं राजाको भी शिष्ट-पालन और दुष्टनिग्रहमें उपयोगी आन्वीक्षिकी विद्या—दर्शनशास्त्र—का वेत्ता होना चाहिये ॥६२॥

अब उक्त चारों विद्याओंका प्रयोजन बताते हैं:—

आन्वीक्षिक्यध्यात्मविषये, त्रयी-वेदयज्ञादिषु, वार्ता कृषिकर्मादिका, दण्डनीतिः शिष्टपालन-दुष्टनिग्रहः[3] ॥६३॥

अर्थः—आन्वीक्षिकी—दर्शनशास्त्र—आत्मतत्वका, त्रयी—वेद (अहिंसा धर्मके प्रतिपादक द्वादशाङ्ग शास्त्र) और यज्ञादि—ईश्वरभक्ति, पूजन, हवन, जप आदि अहिंसामय क्रियाकाण्ड आदि—का, वार्ता—असि, मषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प आदि जीविकोपयोगी कर्तव्योंका, और दण्डनीतिविद्या शिष्टोंकी रक्षा और दुष्टोंका निग्रहरूप राजधर्मका निरूपण करती है।

नग्नश्रमणक—आर्हद्दर्शन (जैनदर्शन) भी अंतर्भूत—शामिल—है' इस प्रकार वृहस्पति—सुराचार्यने इन्द्रके समक्ष उस अनेकान्त समर्थक जैनदर्शनको कैसे समर्थन किया? अर्थात् यदि जैनदर्शन नवीन प्रचलित—अभीका चला हुआ—होता तो क्यों वृहस्पतिने इन्द्रके समक्ष उसे आन्वीक्षिकी विद्यामें स्वीकार किया?

निष्कर्षः—आचार्यश्रीके उक्त प्रमाणसे यह बात निर्विवाद प्रमाणित—सत्य—सिद्ध होती है कि अन्यनीतिकार—वृहस्पति आदि—जैनदर्शनको आन्वीक्षिकी—अध्यात्मविद्या—स्वीकार करते हैं।

विमर्शः—'अमृत'में आचार्यश्री कहते हैं कि केवल वेदविरोधी होनेके कारण कुछ नीतिकार बौद्ध और जैनदर्शन को आन्वीक्षिकी विद्या नहीं मानते। परन्तु आचार्यश्रीके यशस्तिलकके आधारसे सिद्ध है कि अन्य निष्पक्षनीतिकारोंने भी जैनदर्शनको आन्वीक्षिकी विद्या स्वीकार किया है। सम्पादकः—

१ यह सूत्र सं० टी० पुस्तकमें नहीं है किन्तु मु० मू० और गवर्न० लायब्रेरी पूनाकी ह० लि० दोनों मूल प्रतियों (नं० १०१२ और नं० ७३१) में से संकलन किया गया है।

२ मु० मू० और उक्त पूनालायब्रेरीकी नं० ७३७ की ह० लि० मूलप्रति में भी 'चाफलं' ऐसा अशुद्ध पाठ था परन्तु उक्त ला० पूनाकी नं० १०१२ में 'चापलं' ऐसा शुद्ध पाठ मिल गया जिससे सन्देह दूर हुआ। सम्पादकः—

३ यह सूत्र मु० और ह० लि० किसी भी मू० प्रतिमें नहीं है परन्तु संस्कृत टी० पुस्तकसे संकलन किया गया है।

सम्पादकः—

गुरु[1] विद्वान्‌ने भी कहा है कि 'आन्वीक्षिकी विद्यामें आत्मज्ञानका, त्रयीमें धर्म और अधर्मका, वार्तामें कृषि करनेसे होनेवाले उत्तम फल और न करने से कुफलका एवं दण्डनीतिमें नीति और अनीति अर्थात् सन्धि और विग्रह आदि षाड्गुण्यके औचित्य और अनौचित्यका प्रतिपादन किया गया है ॥१॥'

उक्त विद्याओं पर अन्य लोगोंकी मान्यता और ऐतिहासिक विमर्श:—

मनुके अनुयायी त्रयी, वार्ता और दंडनीति, बृहस्पतिके सिद्धान्तको माननेवाले वार्ता और दंडनीति तथा शुक्राचार्यको मानने वाले केवल दंडनीति विद्याको मानते हैं, परन्तु आचार्यश्री आन्वीक्षिकी त्रयी, वार्ता और दंडनीति इन चारों विद्याओंको मानते हैं। क्योंकि वे भिन्न २ विषयोंको दीपककी तरह प्रकाशित करती हुईं लोकका उपकार करती हैं। आर्य चाणक्य[2]को भी उक्त चारों विद्याएँ अभिमत हैं; क्योंकि वह कहता है कि 'विद्याओंकी वास्तविकता यही है कि उनसे धर्म-अधर्म (कर्तव्य-अकर्तव्य) का बोध हो'।

आगमानुकूल ऐतिह्य—इतिहास—प्रमाणसे विदित होता है कि इतिहासके आदिकाल में भगवान् ऋषभदेवने प्रजामें उक्त चार विद्याओंमें से वार्ता—कृषि और व्यापार आदिकी जीविकोपयोगी शिक्षा—का प्रचार किया था। आदिपुराणमें भगवज्जिनसेनाचार्य[3]ने लिखा है कि भगवान् ऋषभदेव तीर्थङ्करने इतिहासके आदि कालमें—जब कि प्रजाके जीवननिर्वाहके साधन कल्पवृक्ष नष्ट हो चुके थे, अतएव जीविकाके बिना प्रजाके लोग मृत्युकी आशङ्कासे त्राहि २ कर रहे थे, उस समय उनकी जीविकाके साधन असि, मषि, कृषि, विद्या वाणिज्य और शिल्प आदिकी शिक्षा दी थी। समन्तभद्राचार्यने[4] भी यही बात लिखी है। क्योंकि जिस प्रकार ऊपर जमीनमें धान्य पैदा नहीं होतीं उसी प्रकार जीविकाके बिना भूखी और व्याकुल जनता भी आन्वीक्षिकी और त्रयी आदि ललित कलाओंको सीखकर अपनी उन्नति नहीं कर सकती।

इसलिये जब प्रजाके लोग आजीविकासे निश्चिन्त हुए तब भगवान् ऋषभदेवने उनकी योग्यता तथा शरीर-जन्मकी दृष्टिसे उनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णोंकी स्थापना की। पश्चात् उनके जीविकोपयोगी भिन्न २ कर्तव्य निर्देश किये। इसके बाद धार्मिक आचार-विचारकी दृष्टिसे उनमें खासकर ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन त्रिवर्णों में ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और यति इन चारों आश्रमोंकी व्यवस्था कर उन्हें उनके धार्मिक सत्कर्त्तव्य पालन करनेका उपदेश दिया।

---

१ तथा च गुरुः—

आन्वीक्षिक्यात्मविज्ञानं धर्माधर्मौ त्रयीस्थितौ।
अर्थानर्थौ तु वार्तायां दण्डनीत्यां नयानयौ ॥ १ ॥

२ देखो कौटिलीय अर्थशास्त्र पृष्ठ ८ से ९ तक।

३ असिर्मषिः कृषिर्विद्यावाणिज्यं शिल्पमेव वा।
कर्माणीमानि षोढा स्युः प्रजाजीवनहेतवे ॥ १ ॥
आदिपुराणे भगवज्जिनसेनाचार्यः पर्व १६

४ प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषुः। शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः ॥ ३ ॥
बृहत्स्वयंभूस्तोत्रे समन्तभद्राचार्यः।

इसप्रकार भगवान्ने वर्ण और आश्रमोंके कर्त्तव्योंको निर्देश करनेवाली 'त्रयी' विद्याका प्रजामें प्रचार किया।

तत्पश्चात् कृषि और व्यापारादिसे संचित सम्पत्ति आदिकी रक्षार्थ एवं वर्ण और आश्रमोंके कर्तव्योंको भलीभाँति सुरक्षित, वृद्धिंगत और पल्लवित करनेके लिये 'दंडनीति' का प्रचार किया गया। अर्थात् कृषि और व्यापार आदिसे उत्पन्न होनेवाली आयका कुछ (१६ वां) हिस्सा राजकोषमें दिये जानेका विधान बना। उसके द्वारा संचित-कोषकी शक्तिसे सैनिक संगठन किया गया, इस प्रकार दंडनीति विद्याका प्रचार हुआ।

इससे प्रजाकी शत्रुवर्गसे रक्षा होनेलगी एवं त्रयीविद्या भी वृद्धिंगत और सुरक्षित होनेलगी। दंडनीतिसे चोर, अन्यायी, प्रजापीड़क और आततायी दुष्टपुरुषोंको दंड (सजा) दिया जानेलगा अर्थात् शिष्टपालन और दुष्टनिग्रहरूप तथा सन्धि, विग्रह, यान और आसनादि षाड्गुण्यका प्रयोगरूप राजनीतिका प्रादुर्भाव हुआ।

तत्पश्चात् भगवान्ने प्रजामें आन्वीक्षिकी विद्याका प्रचार किया—वर्ण और आश्रमोंमें विभाजित प्रजाको अपने २ कर्तव्य पथमें आरूढ़ करने और अन्यायी प्रजापीड़क आततायियोंसे उसकी रक्षा करनेके लिये विधान—फौजदारी और दीवानीके कानून बनाये गये। इसप्रकार व्यवहारोपयोगी आन्वीक्षिकी विद्याका प्रचार किया गया।

एवं इसके साथ कर्त्तव्य कर्म करने और अकर्तव्यको त्यागनेमें प्राणीका शाश्वत कल्याण क्यों होता है? शरीर और इन्द्रियादिक प्रकृतिसे भिन्न स्वतन्त्र आत्मद्रव्य है। वह पूर्वजन्म और अपर जन्म धारण करता है और अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मोंके अच्छे और बुरे फल भोगता है इत्यादि गूढ़ विषयों पर अनेक प्रबल और अबाधित युक्तियोंका प्रचार किया, इसप्रकार प्रभुने प्रजामें सर्वविद्याओं की प्रदीपभूत आन्वीक्षिकी विद्याका प्रचार किया।

पश्चात् इसी आन्वीक्षिकी विद्याकी विस्तृत व्याख्या केवलज्ञान उत्पन्न होने पर की। अहिंसा, स्याद्वाद, कर्मसिद्धान्त और ईश्वर-विषयक उत्कृष्टविचार तथा ६ पदार्थ आदि विषयों पर अपनी दिव्य-ध्वनि द्वारा प्रबल, एवं अकाट्य—अबाधित—युक्तियोंसे परिपूर्ण दिव्य संदेश दिया—युक्तिपूर्ण भाषण दिये यह विद्याओंके प्रचारका संक्षिप्त इतिवृत्त—इतिहास—है। इनका वेत्ता विद्वान् कुटुम्ब, समाज, राष्ट्र और विश्वके उद्धार करनेमें समर्थ होता है॥ ६३॥

अब पुनः आन्वीक्षिकी—दर्शनशास्त्र—से होनेवाले लाभको बताते हैं:—

चेतयते[1] च विद्यावृद्धसेवायाम्॥ ६४॥

अर्थः—आन्वीक्षिकी विद्यामें निपुण मनुष्य विद्याओंके अभ्यास और बहुश्रुत विद्वान् पुरुषोंकी सेवा में प्रवृत्त होता है॥ ६४॥

भावार्थः—उक्तसूत्रमें जो वृद्ध शब्द आया है उससे राजनीति और धर्मनीति आदिके विद्वान्को 'वृद्ध' कहते हैं न कि केवल सफेद बालोंवाले बुड्ढों को।

निष्कर्षः—अतएव विवेकी पुरुष और राजाका कर्तव्य है कि वह विद्याओंके अध्ययन और विद्वानों की सेवामें सदा प्रयत्नशील रहे॥ ६४॥

---

१ 'उत्सहते' ऐसा पाठ मु० और ह० मू० प्रतियोंमें है।

नीतिकार नारद[1] ने कहा है कि 'केवल शिरपर सफेद बालोंके होजानेसे मनुष्यको वृद्ध नहीं कहा जाता किंतु जो जवान होकरके भी विद्याओंका अभ्यास करता है उसे विद्वानोंने स्थविर—वृद्ध—कहा है ॥१॥

अब विद्याओंका अभ्यास और विद्वानोंकी सङ्गति न करने वालेकी हानिका निरूपण करते हैं:—

अजातविद्यावृद्धसंयोगो हि राजा निरङ्कुशो गज[2] इव सद्यो विनश्यति ॥ ६५ ॥

अर्थः—जो राजा न तो विद्याओंका अभ्यास करता है और न विद्वानोंकी सङ्गति करता है वह निश्चयसे उन्मार्गगामी होकर विना अंकुशके हाथीके समान शीघ्र ही नष्ट होजाता है।

ऋषिपुत्र[3] विद्वान्ने भी उक्त बातका समर्थन किया है कि 'विद्याओंको न जानने वाला और वृद्धों—ज्ञानवृद्धों (विद्वानों) की सङ्गति न करने वाला राजा विना अंकुशके हाथीके समान उन्मार्गगामी होकर शीघ्र नाशको प्राप्त होजाता है ॥१॥'

निष्कर्षः—अत एव ऐहिक और पारलौकिक श्रेय—कल्याण—चाहने वाले पुरुषों तथा राजाको विद्याओंका अभ्यास तथा बहुश्रुत विद्वानोंकी सङ्गति करनी चाहिये ॥६५॥

अब शिष्टपुरुषों—सदाचारी विद्वानों—की सङ्गतिसे होने वाले लाभका निर्देश करते हैं:—

अनधीयानोऽपि विशिष्टजनसंसर्गात् परां व्युत्पत्तिमवाप्नोति[4] ॥६६॥

अर्थः—विद्याओंका अभ्यास न करने वाला—मूर्ख मनुष्य—भी विशिष्टपुरुषों—विद्वानों—की सङ्गतिसे उत्तमज्ञानको प्राप्त कर लेता है—विद्वान् होजाता है।

विद्वान् व्यासने[5] भी लिखा है कि 'जिसप्रकार चन्द्रमाकी किरणोंके संसर्गसे जड़रूप—जलरूप—

---

१ तथा च नारदः—

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः।
यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥ १ ॥

२ 'वनगज इव' ऐसा पाठ मु० और ह० लि० मूल प्रतियोंमें पाया जाता है जिसका अर्थः—'जंगली हाथीके समान है, विशेष अर्थभेद नहीं है।

३ तथा च ऋषिपुत्रः—

यो विद्यां वेत्ति नो राजा वृद्धान्नैवोपसेवते।
स शीघ्रं नाशमायाति निरंकुश इव द्विपः ॥ १ ॥

४ 'अनधीयानोऽप्यान्वीक्षिकीं विशिष्टसंसर्गात् परां व्युत्पत्तिमवाप्नोति' ऐसा पाठ मु० और ह० लि० मू० प्रतियोंमें है जिसका अर्थः—आन्वीक्षिकी—'दर्शनशास्त्रको न पढ़नेवाला भी' है।

५ तथा च व्यासः—

विवेकी साधुसङ्गेन जडोऽपि हि प्रजायते।
चन्द्रांशुसेवनान्नूनं यद्वच्च कुमुदाकरः ॥ १ ॥

भी समुद्र वृद्धिको प्राप्त हो जाता है उसीप्रकार जड़—मूर्ख—मनुष्यभी निश्चयसे शिष्टपुरुषोंकी सङ्गतिसे ज्ञानवान् हो जाता है ॥१॥'

निष्कर्ष:—अतएव उक्त आन्वीक्षिकी और त्रयी आदि विद्याओंका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये प्रत्येक व्यक्तिको विद्वानोंकी सङ्गति करनी चाहिये ॥६६॥

अब दृष्टान्त द्वारा उक्त बातका समर्थन किया जाता है:—

अन्यैव काचित्[1] खलु छायोपजलतरूणाम् ॥६७॥

अर्थ:—जिसप्रकार जलके समीप वर्तमान वृक्षोंकी छाया निश्चयसे कुछ अपूर्व—विलक्षण (शीतल और सुखदायक) ही होजाती है उसीप्रकार विद्वानोंके समीप वर्तमान पुरुषोंकी कान्ति भी अपूर्व—विलक्षण—होजाती है—अर्थात् वे भी विद्वान् होकर सुशोभित होने लगते हैं।

निष्कर्ष:—इसलिये प्रत्येक मनुष्यको व्युत्पन्न—विद्वान्—होनेके लिये विद्वज्जनोंका संसर्ग करना चाहिये ॥६७॥

वल्लभदेव[2] विद्वान्ने भी कहा है कि 'जो राजा मूर्ख होनेपर भी शिष्टपुरुषोंकी सङ्गति करता है उसकी कान्ति जलके समीप रहनेवाले वृक्षके समान अपूर्व होजाती है ॥१॥'

अब राजगुरुओंके सद्गुण बताते हैं:—

वंशवृत्तविद्याभिजनविशुद्धा हि राज्ञामुपाध्यायाः ॥६८॥

अर्थ:—जो वंश परम्परासे विशुद्ध हों—जिनके पूर्वज—पिता आदि—राजवंशके गुरु रह चुके हों—तथा सदाचार(अहिंसा, सत्य और अचौर्य आदि चरित्र-धर्म)विद्या--राजनैतिक तथा धार्मिक आदि विविध विषयोंका ज्ञान—और कुलीनता—उच्चकुलमें उत्पन्न होकर सत्कर्तव्योंका पालन—इन सद्गुणोंसे अलंकृत हों वे ही विद्वान् निश्चयसे राजाओंके गुरु हो सकते हैं ॥६८॥

नीतिकार नारदने[3] भी उक्त सिद्धान्तका समर्थन किया है कि 'जिनके पूर्वज राजवंशमें अध्यापक रह चुके हों, जो सदाचारी, विद्वान् और कुलीन हों वे ही राजाओंके गुरु होसकते हैं ॥१॥'

---

१ मु० और ह० लिखित प्रतियोंमें 'काचित्' शब्द नहीं है और उसके न होने पर भी अर्थभेद कुछ नहीं होता।

२ तथा च वल्लभदेव:—
अन्यापि जायते शोभा भूपस्यापि जड़ात्मनः।
साधुसङ्गाद्धि वृक्षस्य सलिलादूरवर्तिनः ॥ १ ॥

३ तथा च नारद:—
पूर्वेषां पाठका येषां पूर्वजा वृत्तसंयुताः।
विद्याकुलीनतायुक्ता नृपाणां गुरवश्च ते ॥ १ ॥

अब शिष्टोंके साथ नम्रताका वर्ताव करने वाले राजाका लाभ बताते हैं:—

शिष्टानां[1] नीचैराचरन्नरपतिरिहलोके स्वर्गे च महीयते ॥६६॥

अर्थः—जो राजा शिष्टपुरुषोंके साथ नम्रताका व्यवहार करता है वह इसलोकमें और स्वर्गमें पूजा जाता है ॥६६॥

हारीत[2] विद्वान्ने भी लिखा है कि 'जो राजा शिष्टपुरुषोंकी भक्ति करनेमें तत्पर है वह परलोकमें माहात्म्य—बड़प्पन—को प्राप्त होकर स्वर्गमें देवों और इन्द्रादिकोंसे पूजा जाता है ॥१॥'

अब राजाका माहात्म्य बताते हैं:—

राजा हि परमं[3] दैवतं नासौ कस्मैचित् प्रणमत्यन्यत्र गुरुजनेभ्यः ॥७०॥

अर्थः—राजा अत्यन्त भाग्यशाली होता है, इसलिये यह पूज्यजनों (देव, गुरु, धर्म और माता पिता-आदि)के सिवाय किसीको नमस्कार नहीं करता।

भावार्थः—शास्त्रकारों[4]ने कहा है कि पूज्योंकी पूजाका उल्लङ्घन करनेसे कल्याणके मार्गमें रुकावट आ जाती है इसलिये देव, गुरु और धर्म तथा माता-पिता आदि गुरुजनोंकी भक्ति करना प्रत्येक प्राणीका कर्तव्य है ॥७०॥

अब दुष्टपुरुषसे विद्या प्राप्त करनेका निषेध करते हैं:—

वरमज्ञानं नाशिष्टजनसेवया विद्या ॥७१॥

अर्थः—मनुष्यको मूर्ख रहना अच्छा है परन्तु दुष्ट पुरुषकी सेवा करके विद्या प्राप्त करना अच्छा नहीं है ॥७१॥

हारीत[5] विद्वानने कहा है कि 'जिसके संसर्गसे राजा पापी हो जाता है ऐसे दुष्टकी संगतिसे विद्वत्ता प्राप्त करना अच्छा नहीं उसकी अपेक्षा मूर्ख रहना अच्छा है ॥१॥

---

१ 'शिष्टेषु नीचैराचरन्नरपतिरिह परत्र च महीयते' ऐसा पाठ मु० और ह० लि० मू० प्रतियोंमें है परन्तु विशेष अर्थ भेद कुछ नहीं है।

२ तथा च हारीतः—
साधुपूजापरो राजा माहात्म्यं प्राप्य भूतले।
स्वर्गगतस्ततो देवैरिन्द्राद्यैरपि पूज्यते ॥ १ ॥

३ 'परमं दैवं' ऐसा पाठ पूना लायब्रेरी की ह० लि० मू० प्रतिमें है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है।

४ भगवज्जिनसेनाचार्यः प्राहः—
प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः
आदिपुराणसे

५ तथा च हारीतः—
वरं जनस्य मूर्खत्वं नाशिष्टजनसेवया।
पांडित्यं यस्य संसर्गात् पापात्मा जायते नृपः ॥ १ ॥

अब दृष्टान्त द्वारा उक्त बातका समर्थन करते हैं—

अलं तेनामृतेन यत्रास्ति विषसंसर्गः ॥ ७२ ॥

अर्थः—जिसमें जहर मिला हुआ हो उस अमृतसे क्या लाभ है ? कोई लाभ नहीं।

भावार्थः—जिसप्रकार विष-मिश्रित अमृतके पीनेसे मृत्यु होती है उसीप्रकार अमृतके समान विद्या भी दुष्ट पुरुषसे प्राप्त की जानेपर हानिकारक होती है—उससे शिष्यको पारलौकिक कष्ट भोगने पड़ते हैं।

नारद[1] विद्वान्‌ने कहा है कि 'शिष्य नास्तिकोंके सिद्धान्तको अमृतके समान मानता है परन्तु यदि वह उसे परलोकमें विषकी तरह घातक और दुःखदायक न होता तब उसका उसे अमृतके तुल्य प्रिय—लाभदायक—मानना उचित था ॥ १ ॥'

निष्कर्षः—नैतिक मनुष्यको विष-मिश्रित अमृतके समान दुष्ट पुरुषसे विद्या प्राप्त नहीं करना चाहिये अथवा नास्तिकों—चार्वाक आदि—के हानिकारक मतको स्वीकार नहीं करना चाहिये ॥ ७२ ॥

अब शिष्य गुरुजनोंके अनुकूल होते हैं इसका विवेचन करते हैं—

गुरुजनशीलमनुसरन्ति प्रायेण शिष्याः ॥ ७३ ॥

अर्थः—शिष्यलोग बहुधा अपने गुरुजनोंके शील—आचार-विचार—का अनुसरण करते हैं—अर्थात् यदि शिक्षक नैतिक, सदाचारी और विचारवान् होता है तो उसका शिष्य भी उसके अनुकूल प्रवृत्ति करनेवाला—नैतिक सदाचारी और विचारवान् होजाता है। परन्तु यदि वह नीतिविरुद्ध प्रवृत्ति करनेवाला, दुराचारी और मूर्ख होगा तो उसका शिष्य भी वैसा—दुराचारी आदि—होगा।

वर्ग[2] विद्वान्‌ने भी कहा है कि 'जिस प्रकार वायु जैसे—सुगन्धि या दुर्गन्धि देशको स्पर्श करती है उसीके अनुकूल सुगन्धि या दुर्गन्धिको प्राप्त कर लेती है उसीप्रकार मनुष्य भी जैसे शिष्ट या दुष्ट पुरुषकी सेवा करता है उसकी वैसी ही—सत् या असत्—अच्छी या बुरी—प्रवृत्ति होजाती है ॥ १ ॥'

निष्कर्षः—अतएव शिक्षक—गुरुजन—विद्वान्, नीतिज्ञ, सदाचारी और भद्रप्रकृति-युक्त होने चाहिये जिससे उनके शिष्य भी तदनुकूल—उनके समान—होकर संसारकी सर्वोत्तम सेवा करते हुए ऐहिक एवं पारत्रिक सुख प्राप्त कर सकें ॥ ७३ ॥

अब कुलीन और सदाचारी शिक्षकोंसे होनेवाला लाभ बताते हैं:—

नवेषु मृद्भाजनेषु लग्नः संस्कारो ब्रह्मणाप्यन्यथा कर्तुं न शक्यते ॥ ७४ ॥

अर्थः—जिसप्रकार नवीन मिट्टीके बर्तनोंमें किया हुआ संस्कार—रचना—ब्रह्माके द्वारा भी बदला नहीं जासकता उसीप्रकार बच्चोंके कोमल हृदयोंमें किया गया संस्कार भी बदला नहीं जासकता।

---

१ तथा च नारदः—
नास्तिकानां मतं शिष्यः पीयूषमिव मन्यते।
दुःखावहं परे लोके नोचेद्विषमिव स्मृतम् ॥ १ ॥

२ तथा च वर्गः—
यादृशान् सेवते मर्त्यस्तादृक् चेष्टा प्रजायते।
यादृशं स्पृशते देशं वायुस्तद्गन्धमावहेत् ॥ १ ॥

उदाहरणार्थः—जिस प्रकार महात्मा विदुरने धृतराष्ट्रको उसके दोषोंके नाश करनेके लिये—अन्याय-पूर्ण राज्य तृष्णाका त्याग करनेके लिये—समझाया था[1] ॥ १ ॥

इति विद्यावृद्धसमुद्देश समाप्त

---

१ महात्मा विदुरने धृतराष्ट्रको अनेक बार उसे हितकारक उपदेश दिया था कि हे राजन् ! अब पांडवोंकी वनवास आदिकी अवधि पूरी होगई है, अतः आप उनका न्याय-प्राप्त राज्य लौटा दें, आपको अन्याय-पूर्ण राज्य-लिप्सा या तृष्णा छोड़ देनी चाहिये, अन्यथा आपके कुरुवंशका भविष्य खतरेसे खाली न रहेगा, तुम्हें आप्त पुरुषोंकी बातकी अवहेलना न करनी चाहिये। मैं आपको तात्कालिक अप्रिय परन्तु भविष्यमें हितकारक बात कह रहा हूँ इत्यादि रूपसे विदुरजीने उसे हितकारक वचन कहे थे, परन्तु उसने उनकी बात न मानी इससे वह महाभारतके भयङ्कर युद्धमें सकुटुम्ब नष्ट होकर अपकीर्तिका पात्र बना।

अथ आन्वीक्षिकी समुद्देशः ।

अब अध्यात्मयोग—आत्मध्यान—का लक्षण निर्देश करते हैं:—

आत्ममनोमरुत्तत्वसमतायोगलक्षणो ह्यध्यात्मयोगः ॥१॥

अर्थः—आत्मा, मन, शरीरमें वर्तमान प्राण वायु—कुम्भक (प्राणायामकी शक्तिसे शरीरके मध्यमें प्रविष्ट कीजाने वाली घटाकार-वायु), पूरक (उक्त विधिसे पूर्ण शरीरमें प्रविष्ट की जाने वाली हवा) और रेचक (उक्त विधिसे शरीरसे बाहर कीजाने वाली वायु) तथा पृथिवी, जल, अग्नि और वायु आदि तत्वोंकी समान और दृढ़ निश्चलता—स्थिरता—को अध्यात्मयोग—आत्मध्यान (धर्मध्यान) कहते हैं।

ऋषिपुत्रक[1] विद्वान्ने कहा है कि 'जिससमय आत्मा, मन और प्राण वायुकी समानता—स्थिरता—होती है उससमय मनुष्यको सम्यग्ज्ञानका जनक अध्यात्मयोग प्रकट होता है ॥ १ ॥'

व्यास[2]ने भी लिखा है कि 'समस्त इन्द्रिय और मनकी चंचलता न होने देना ही योग—ध्यान—है केवल पद्मासन लगा कर बैठना वा नासाग्र-दृष्टि रखना योग नहीं है ॥ १ ॥

उक्त अध्यात्मयोग—धर्मध्यान—के शास्त्रकारोंने[3] चार भेद निर्दिष्ट किये हैं। पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत।

पिंडस्थ ध्यानमें विवेकी और जितेन्द्रिय मनुष्यको पार्थिवी, आग्नेयी, श्वसना, वारुणी और तत्वरूपवती इन पांचधारणाओं—ध्येय तत्वों—का ध्यान दुःखोंकी निवृत्तिके लिये करना चाहिये।

पार्थिवी-धारणामें मध्यलोकगत स्वयंभूरमण नाम समुद्रपर्यन्त तिर्यग्लोकके बराबर, निःशब्द, तरङ्गों से रहित और बर्फके सदृश शुभ्र ऐसे क्षीर समुद्रका ध्यान करे। उसके मध्यमें सुन्दर रचना-युक्त, अमित दीप्तिसे सुशोभित, पिघले हुए सुवर्णके समान प्रभायुक्त, हजार पत्तोंवाला, जम्बूद्वीपके बराबर और मन-रूपी भ्रमरको प्रमुदित करनेवाला ऐसा कमलका चिंतवनकरे। तत्पश्चात् उस कमलके मध्यमें सुमेरुपर्वतके समान पीतरंगकी कान्तिसे व्याप्त ऐसी कर्णिकाका ध्यान करे। पुनः उसमें शरत्कालीन चन्द्रके समान शुभ्र और ऊँचे सिंहासनका चिंतवनकर उसमें आत्मद्रव्यको सुखपूर्वक विराजमान, शान्त और क्षोभरहित,

---

१ तथा च ऋषिपुत्रकः—
आत्मा मनो मरुत्तत्वं सर्वेषां समता यदा।
तदा त्वध्यात्मयोगः स्यान्नराणां ज्ञानदः स्मृतः ॥ १ ॥

२ तथा च व्यासः—
न पद्मासनतो योगो न च नासाग्रवीक्षणात्।
मनसश्चेन्द्रियाणां च संयोगो योग उच्यते ॥ १ ॥

३ तथा च शुभचन्द्राचार्यः (ज्ञानार्णवे)
पिंडस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम्।
चतुर्द्धा ध्यानमाख्यातं भव्यराजीवभास्करैः ॥ १ ॥

राग, द्वेष और मोह आदि समस्त पाप कलङ्कको क्षय करनेमें समर्थ और संसारमें उत्पन्न हुए ज्ञानावरण आदि कर्म समूहको नष्ट करनेमें प्रयत्नशील चिंतवन करे।

इति पार्थिवी धारणा।

आग्नेयी धारणामें निश्चल अभ्याससे नाभिमंडलमें सोलह उन्नत पत्तोंवाले एक मनोहर कमलका और उसकी कर्णिकामें महामंत्र (हँ)का, तथा उक्त सोलह पत्तोंपर अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, लॄ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, और अः इन सोलह अक्षरोंका ध्यान करे।

पश्चात् हृदयमें आठ पांखुड़ीवाले एक ऐसे कमलका ध्यान करे, जो अधोमुख—उल्टा (औंधा) और जिसपर ज्ञानावरण और दर्शनावरण आदि ८ कर्म स्थित हों।

पश्चात् पूर्वचिन्तित नाभिस्थ कमलकी कर्णिकाके महामंत्रकी रेफसे मन्द २ निकलती हुई धुएकी शिखाका, और उससे निकलती हुई प्रवाह रूप स्फुलिङ्गोंकी पंक्तिका पश्चात् उससे निकलती हुई ज्वालाकी लपटोंका चिंतवन करे। इसके अनन्तर उस ज्वाला (अग्नि)के समूहसे अपने हृदयस्थ कमल और उसमें स्थित कर्म-राशिको जलाता हुआ चिंतवन करे। इसप्रकार आठों कर्म जल जाते हैं यह ध्यानकी ही सामर्थ्य है।

पश्चात् शरीरके बाह्य ऐसी त्रिकोण वह्नि(अग्नि)का चिंतवन करे जो कि ज्वालाओंके समूहसे प्रज्वलित वड़वानलके समान, अग्निवीजाक्षर 'र'से व्याप्त वा अन्तमें साथियाके चिन्हसे चिन्हित, ऊर्ध्व मण्डलसे उत्पन्न, धूमरहित और सुवर्णके समान कान्ति युक्त हो। इसप्रकार धगधगायमान फैलती हुई लपटोंके समूहसे देदीप्यमान वाहरका अग्निपुर अन्तरङ्गकी मंत्राग्निको दग्ध करता है।

तत्पश्चात् यह अग्निमंडल उस नाभिस्थ कमल आदि को भस्मीभूत करके दाह्य—जलाने योग्य पदार्थ—का अभाव होनेके कारण स्वयं शान्त हो जाता है।

इति आग्नेयी धारणा।

मारुती-धारणामें ध्यान करनेवाले संयमी पुरुषको आकाशमें पूर्ण होकर संचार करनेवाले, महावेगयुक्त, महावलवान्, देवोंकी सेनाको चलायमान और सुमेरुपर्वतको कम्पित करनेवाला, मेघोंके समूहको वखेरनेवाला, समुद्रको क्षुब्ध करनेवाला दशों दिशाओंमें संचार करनेवाला, लोकके मध्यमें संचार करता हुआ और संसारमें व्याप्त ऐसे वायुमंडलका चिंतवन करे। तत्पश्चात् उस वायुमंडलके द्वारा कर्मोंके दग्ध होनेसे उत्पन्न हुई भस्मको उड़ाता हुआ ध्यान करे। पुनः उस वायुमंडलको स्थिर चिंतवनकर उसे शान्त करे।

इति मारुती धारणा।

वारुणी धारणामें ध्यानी व्यक्ति ऐसे आकाश तत्वका चिंतवन करे जो इन्द्रधनुप और विजलीकी गर्जनादि चमत्कारसे युक्त मेघोंके समूहसे व्याप्त हो। इसके वाद अर्द्ध चन्द्राकार, मनोज्ञ और अमृतमय जलके प्रवाहसे आकाशको वहाते हुए वरुणमंडल—जलतत्व—का ध्यान करके उसके द्वारा उक्त कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होने वाली भस्मको प्रक्षालन करता हुआ चिंतवन करे।

इति वारुणी धारणा।

तत्वरूपवती-धारणामें संयमी और ध्यानी पुरुष सप्तधातुरहित, पूर्णचन्द्रके सदृश कान्तियुक्त और सर्वज्ञके समान अपनी विशुद्ध आत्माका ध्यान करे। इसप्रकार अभी तक पिंडस्थ ध्यानका संक्षिप्त विवेचन

किया गया है, अन्य पदस्थ आदिका स्वरूप ज्ञानार्णव-शास्त्रसे जानना चाहिये, विस्तारके भयसे हम उनका विवेचन नहीं करना चाहते ॥ १ ॥

अब अध्यात्मज्ञ—आत्मज्ञानी—राजाका लाभ बताते हैं:—

अध्यात्मज्ञो हि राजा सहज-शारीर-मानसागन्तुभिर्दोषैर्नबाध्यते ॥ २ ॥

अर्थः—जो राजा अध्यात्म-विद्याका विद्वान् होता है वह सहज (कषाय और अज्ञानसे उत्पन्न होने वाले राजसिक और तामसिक दुःख), शारीर (बुखार-गलगण्डादि बीमारियोंसे होने वाली पीड़ा), मानसिक (परकलत्र आदिकी लालसासे होनेवाले कष्ट), एवं आगन्तुक दुःखों (भविष्य में होनेवाले—अतिवृष्टि, अनावृष्टि और शत्रुकृत अपकार आदि कारणोंसे होनेवाले दुःख) से पीड़ित नहीं होता ॥ २ ॥

नारद[1] विद्वान्ने लिखा है कि 'अध्यात्म-विद्याका जानने वाला राजा सहज—राजसिक और तामसिक दुःख, आगन्तुक—भविष्य कालमें होनेवाले कष्ट, शारीरिक—बुखार-आदि और मानसिक—परकलत्रादिके चिंतवनसे होनेवाला कष्ट इत्यादि समस्त दुःखोंसे पीड़ित नहीं होता ॥ १ ॥'

अब आत्माके क्रीड़ा योग्य स्थानोंका विवेचन किया जाता है:—

इन्द्रियाणि मनो विषया ज्ञानं भोगायतनमित्यात्मारामः ॥ ३ ॥

अर्थ—इन्द्रियाँ—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र—मन, विषय (स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द), ज्ञान और शरीर ये सब आत्माकी क्रीड़ाके स्थान हैं ॥ ३ ॥

विर्भिटीक[2] विद्वान्ने कहा है कि 'इन्द्रियाँ, मन, ज्ञान और इन्द्रियोंके स्पर्श आदि विषय तथा शरीर ये सब आत्माके क्रीड़ा करनेके स्थान हैं ॥ १ ॥'

अब आत्माके स्वरूपका कथन किया जाता है:—

यत्राहमित्यनुपचरितप्रत्ययः[3] स आत्मा ॥४॥

अर्थः—जिस पदार्थमें 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ और मैं इच्छावान् हूँ' आदि वास्तविक प्रत्यय—ज्ञान—हो वही आत्मा है। अर्थात् 'मैं सुखी हूँ या मैं दुःखी हूँ' इसप्रकारके ज्ञानके द्वारा जो प्रत्येक प्राणीको स्वसंवेदन-प्रत्यक्षद्वारा जाना जावे वही शरीर इन्द्रिय और मनसे पृथक्, चैतन्यात्मक और अनादिनिधन आत्मद्रव्य है।

---

१ तथा च नारदः—

अध्यात्मज्ञो हि महीपालो न दोषैः परिभूयते ।
सहजागन्तुकैश्चापि शारीरैर्मानसैस्तथा ॥ १ ॥

२ तथा च विर्भिटीकः—

इन्द्रियाणि मनो ज्ञानं विषया भोग एव च ।
विश्वरूपस्य चैतानि क्रीडास्थानानि कृत्स्नशः ॥ १ ॥

३ 'इत्युपचरितप्रत्ययः' ऐसा पाठ मु० मू० पुस्तकमें है, परन्तु अर्थभेद कुछ न होनेपर भी सं० टी० पुस्तकका उक्त पाठ उत्तम है ।

अब युक्तिपूर्वक आत्मद्रव्यकी शरीरादिकसे पृथक् सिद्धि करते हैं:—

असत्यात्मनः प्रेत्यभावे विदुषां विफलं खलु सर्वमनुष्ठानम् ॥ ५ ॥

अर्थः—यदि आत्मद्रव्यका पुनर्जन्म—परलोक (स्वर्गादि) में गमन न माना जावे तो संसारमें विद्वानोंकी जो पारलौकिक धार्मिक-कर्त्तव्यों (प्राणि रक्षा, दान, तप और जपादि) में प्रवृत्ति होती है वह व्यर्थ—निष्फल—होगी। क्योंकि आत्माका परलोक-गमन न माननेसे उन्हें आगे जन्ममें उक्त पारलौकिक अनुष्ठानोंका स्वर्ग आदि सुखरूप फल प्राप्त न होगा। अतएव विद्वानोंकी पारलौकिक—दान-पुण्य आदि धार्मिक अनुष्ठानोंमें प्रवृत्ति आत्मद्रव्यके परलोक-गमनको सिद्ध करती है ॥ ५ ॥

'प्रेक्षापूर्वकारिणां प्रवृत्तेः प्रयोजनेन व्याप्तत्वात्' अर्थात् प्रेक्षापूर्वकारी—विद्वान मनुष्यों—की सत्कार्य—पारलौकिक दान-पुण्यादि—में प्रवृत्ति निष्फल नहीं हो सकती—किन्तु सफल ही होती है, इस नियमित सिद्धान्तके अनुसार उनकी दीक्षा और व्रतादिमें देखी जानेवाली सत्प्रवृत्ति आत्मद्रव्यका पुनर्जन्म-परलोकमें गमन—सिद्ध करती है।

याज्ञवल्क्य[1] विद्वान्ने लिखा है कि सबकी आत्मा मरनेके बाद अपने कर्मोंके अनुसार नवीन शरीर को धारण कर पूर्वमें किये हुए शुभ और अशुभ कर्मोंके अच्छे और बुरे फलोंको भोगता है ॥ १ ॥'

अब मनका स्वरूप बताते हैं:—

यतः स्मृतिः प्रत्यवमर्षणमूहापोहनं शिक्षालापक्रियाग्रहणं च भवति तन्मनः ॥ ६ ॥

अर्थः—जिससे प्राणीको स्मरण (मैंने अमुक कार्य किया था और अमुक कार्य करूँगा इत्यादि स्मृति-ज्ञान) व्याप्ति-ज्ञान (उदाहरणार्थः—जैसे जिस २ मनुष्यमें व्यवहार कुशलता होती है उस २ में अवश्य बुद्धिमत्ता होती है जैसे अमुक व्यक्ति। एवं जिस २ में बुद्धिमत्ता नहीं होती उसमें व्यवहारकुशलता भी नहीं होती जैसे अमुक मूर्ख व्यक्ति। इसप्रकार साधनके होनेपर साध्यका होना और साध्यकी गैरमौजूदगीमें साधनका न होना इसे व्याप्ति ज्ञान कहते हैं), ऊह—(संदेह युक्त पदार्थका विचार), अपोह (संदिग्ध पदार्थका निश्चय), किसीके द्वारा दीजाने वाली शिक्षाका ग्रहण और किसीसे की हुई बातचीतका ध्यानसे सुनना ये सब ज्ञान होते हों उसे 'मन' कहते हैं ॥ ६ ॥

गुरु[2] विद्वान्ने भी कहा है कि जिससे मनुष्योंको ऊह—संदिग्ध पदार्थका विचार, अपोह—उसका निश्चय, चिन्ता—व्याप्तिज्ञान और दूसरेके वचनोंको धारण करना ये ज्ञान उत्पन्न हों उसे मन कहते हैं ॥ १ ॥'

---

१ तथा च याज्ञवल्क्यः—
आत्मा सर्वस्य लोकस्य सर्वं भुंक्ते शुभाशुभं ।
मृतस्यान्यत्समासाद्य स्वकर्मार्हं कलेवरम् ॥ १ ॥

२ तथा च गुरुः—
ऊहापोहौ तथा चिन्ता परालापावधारणं ।
यतः संजायते पुंसां तन्मनः परिकीर्तितम् ॥ १ ॥

अब इन्द्रियोंका लक्षण निर्देश करते हैं:—

आत्मनो विषयानुभवनद्वाराणीन्द्रियाणि ॥ ७ ॥

अर्थ:—यह आत्मा जिनकी सहायतासे विषयों—स्पर्श, रस और गंधादि—का सेवनकरता है उन्हें इन्द्रियाँ कहते हैं ॥ ७ ॥

रैभ्य[1] विद्वान्ने लिखा है कि 'जिसप्रकार स्वामी शिष्ट सेवकोंकी सहायतासे कार्य कराता है उसीप्रकार आत्मा भी इन्द्रियोंकी सहायतासे पृथक् २ विषयोंके सेवनमें प्रवृत्ति करता है ॥ १ ॥'

अब इन्द्रियोंके विषयोंका निरूपण करते हैं:—

शब्दस्पर्शरसरूपगन्धा हि विषयाः ॥ ८ ॥

अर्थ:—शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध ये इन्द्रियोंके विषय हैं ॥ ८ ॥

अब ज्ञानके स्वरूपका वर्णन करते हैं:—

समाधीन्द्रियद्वारेण विप्रकृष्टसन्निकृष्टावबोधो ज्ञानं ॥ ९ ॥

अर्थ:—ध्यान और इन्द्रियोंके द्वारा क्रमशः परोक्ष (देश, काल और स्वभावसे सूक्ष्म-पदार्थ—जैसे सुमेरु, राम-रावण तथा परमाणु वगैरह पदार्थ जो इन्द्रियों द्वारा नहीं जाने जासकते) और प्रत्यक्ष वस्तुओं—समीपवर्ती पदार्थों—के जाननेको 'ज्ञान' कहते हैं।

अब सुखका लक्षण करते हैं:—

सुखं प्रीतिः[2] ॥ १० ॥

अर्थ:—जिससे आत्मा, मन और इन्द्रियोंको आनन्द हो उसे 'सुख' कहते हैं ॥ १० ॥

हारीत[3] विद्वान्ने लिखा है कि 'जिस पदार्थके देखने या भक्षण करने पर मन और इन्द्रियोंको आनन्द प्राप्त हो उसे 'सुख' कहा गया है ॥ १ ॥'

---

१ तथा च रैभ्यः—

इन्द्रियाणि निजान् ग्राह्यविषयान् स पृथक् पृथक्।
आत्मनः संप्रयच्छन्ति सुभृत्याः सुप्रभोर्यथा ॥ १ ॥

२ यहांसे सं० टी० पुस्तकमें सूत्रोंका प्राकरणिक एवं क्रमबद्ध—आनुपूर्वी—संकलन नहीं था, अतएव हमने मु० और ह० लि० मूल प्रतियोंके आधारसे उनका क्रमबद्ध संकलन किया है। सम्पादक—

३ तथा च हारीतः—

मनसश्चेन्द्रियाणां च यत्रानन्दः प्रजायते।
दृष्टे वा भक्षिते वापि तत्सुखं सम्प्रकीर्तितम् ॥ १ ॥

अब दुःखका लक्षण निर्देश करते हैं:—

तत्सुखमप्यसुखं यत्र नास्ति मनोनिर्वृत्तिः ॥ ११ ॥

अर्थः—जिस पदार्थ—पुत्र-कलत्रादि—में मन संतुष्ट न हो किन्तु उल्टा वैराग्य उत्पन्न हो वह सुख भी दुःख समझना चाहिये ॥ ११ ॥

वर्गविद्वान्[1] ने कहा है कि 'मनके सन्तुष्ट रहनेसे सुख मिलता है, अतः जिस धनाढ्य पुरुषका भी मन इष्ट-पदार्थों—स्त्री-पुत्रादि—को देखकर वैराग्य धारण करता हो—उनकी नीतिविरुद्ध प्रवृत्तिको देखकर उदास—खेद-खिन्न रहता हो उसे दुःखी समझना चाहिये ॥ १ ॥'

अब सुख प्राप्तिके उपायोंका निर्देश करते हैं:—

अभ्यासाभिमानसंप्रत्ययविषयाः सुखस्य कारणानि ॥ १२ ॥

अर्थः—अभ्यास (शास्त्रोंका अध्ययन और शास्त्रविहित कर्तव्योंके पालनमें परिश्रम करना), अभिमान (समाजसे अथवा राजा—आदिके द्वारा आदर-सन्मानका मिलना), संप्रत्यय (व्यवहारज्ञानसे अपनी इन्द्रियादिककी सामर्थ्यसे वाद्य-(वीणा आदि)' आदिके शब्दोंमें प्रिय और अप्रिय—का निर्णय करना) और विषय-(इन्द्रिय और मनको संतुष्ट करनेवाले विषयोंकी प्राप्ति) ये चार सुखके कारण हैं ॥१२॥

विद्वानों[1] ने कहा है कि 'मनुष्यको शास्त्रोंके अभ्याससे विद्या प्राप्त होती है तथा अपने कर्तव्योंका भली भाँति परिश्रमपूर्वक पालन करनेसे वह चतुर समझा जाता है, उससे उसका सत्कार होता है, अतः वह सदा सुखी रहता है ॥ १ ॥

आदरके साथ होनेवाला थोड़ा भी धनादिकका लाभ, सुखका कारण है। परन्तु जहाँपर मनुष्यका आदर न हो वहाँपर अधिक धनादिकका लाभ भी सज्जनोंसे प्रशंसाके योग्य नहीं—वह दुःखका कारण है॥२॥

विद्यासे हीन मनुष्य भी किसी चतुराई आदि गुण विशेषके कारण अपनी शक्तिसे प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेता है ऐसा होनेसे उसको सुख मिलता है ॥ ३ ॥

इन्द्रियोंके विषयों (शब्दादि) का सेवन थोड़ी मात्रामें किये जानेपर सुखका कारण है परन्तु अधिक मात्रामें विषयोंके सेवनसे दरिद्रता उत्पन्न होती है ॥ ४ ॥

---

१ तथा च वर्गः—
समृद्धस्यापि मर्त्यस्य मनो यदि विरागकृत् ।
दुःखी स परिज्ञेयो मनस्तुष्ट्या सुखं यतः ॥ १ ॥

२ च विद्वांसः—
अभ्यासविषये—अभ्यासाच्च भवेद्विद्या तथा च निजकर्मणः ।
तया पूजामवाप्नोति तस्याः स्यात् सर्वदा सुखी ॥ १ ॥
मानविषये—सन्मानपूर्वको लाभः सुस्तोकोऽपि सुखावहः ।
मानहीनः प्रभूतोऽपि साधुभिर्न प्रशस्यते ॥ २ ॥
संप्रत्ययविषये—हारीत आह—अविद्योऽपि गुणान्मर्त्यः स्वशक्त्या यः प्रतिष्ठयेत् ।
तत्सुखं जायते तस्य स्वप्रतिष्ठासमुद्भवम् ॥ ३ ॥
विषये—सेवनं विषयाणां यत्तन्मितं सुखकारणम् ।
अमितं च पुनस्तेषां दारिद्र्यकारणं परं ॥ ४ ॥

अब अभ्यासका लक्षण बताते हैं:—

क्रियातिशयविपाकहेतुरभ्यासः ॥ १३ ॥

अर्थः—विद्याकी प्राप्ति आदि कार्योंमें सहायक परिश्रम करना यह अभ्यास है ॥ १३ ॥

हारीत[1] का कहना है कि शास्त्रोंके अभ्यास—निरन्तर मन लगाकर पढ़ने—से विद्या प्राप्त होती है और उससे धन मिलता है एवं उसकी प्राप्तिसे मनुष्य सुखी होता है इसमें कोई सन्देह नहीं ॥ १ ॥'

अब अभिमानका लक्षण निर्देश किया जाता है:—

प्रश्रयसत्कारादिलाभेनात्मनो यदुत्कृष्टत्वसंभावनमभिमानः ॥ १४ ॥

अर्थः—शिष्ट मनुष्यको सज्जनोंके मध्यमें उनके द्वारा जो विनय या सन्मान—सामाजिक या राजकीय आदर और धन्यवाद आदि प्रशंसावाचक शब्द मिलते हैं जिनसे वह अपनेको सुखी समझता है उसे 'अभिमान' कहते हैं ॥ १४ ॥

नारद[2] ने कहा है कि 'आदरके साथ थोड़ा भी धनादिक मिलना सुख देनेवाला है, क्योंकि ऐसा होनेसे उस मनुष्यकी सज्जनोंके मध्यमें प्रतिष्ठा होती है ॥ १ ॥

अब 'संप्रत्यय' के लक्षणका निर्देश करते हैं:—

अतद्गुणे वस्तुनि तद्गुणत्वेनाभिनिवेशः सम्प्रत्ययः ॥ १५ ॥

अर्थः—निर्गुण पदार्थमें नैतिक चातुर्यसे परीक्षा करके उसमें गुणकी प्रतिष्ठा करना संप्रत्यय है ॥१५॥

उदाहरणार्थः—वीणा आदिके शब्दोंको सुनकर परीक्षा करके यह निर्णय करना कि यह सुन्दर है या नहीं। स्पर्शनेन्द्रियसे छूकर यह कोमल है ? या कठोर है ? नेत्रोंसे रूपको देखकर यह प्रियरूप है या अप्रिय इत्यादि ज्ञानशक्तिके बलसे पदार्थमें गुणका निश्चय करना 'संप्रत्यय' कहा गया है ॥ १५ ॥

नारद[3] विद्वान्ने लिखा है कि 'जो पदार्थ परोक्ष (इन्द्रियोंसे न जानने योग्य—राम, रावण, सुमेरु और परमाणु आदि) है वह ध्यानके द्वारा जाना जाता है एवं जो समीपवर्ती प्रत्यक्ष पदार्थ है वह इन्द्रियों द्वारा जाना जाता है ॥ १ ॥

निष्कर्षः—प्रत्यक्ष और परोक्ष पदार्थोंमें ज्ञानशक्तिसे निर्गुण या सगुणका निश्चय करना यह 'संप्रत्यय' सुखका कारण है ॥ १५ ॥

---

१ तथा च हारीतः—
अभ्यासाद्धार्यते विद्या विद्यया लभ्यते धनम्।
धनलाभात्सुखी मर्त्यो जायते नात्र संशयः ॥ १ ॥

२ तथा च नारदः—
सत्कारपूर्वको यो लाभः स स्तोकोऽपि सुखावहः।
अभिमानं ततो धत्ते साधुलोकस्य मध्यतः ॥ १ ॥

३ तथा च नारदः—
परोक्षे यो भवेदर्थः स ज्ञेयोऽत्र समाधिना।
प्रत्यक्षश्चेन्द्रियैः सर्वैर्निजगोचरमागतः ॥ १ ॥

अब विषयके स्वरूपका निर्देश करते हैं:—

इन्द्रियमनस्तर्पणो भावो विषयः ॥ १६ ॥

अर्थः—जिस वस्तुसे इन्द्रियां और मन संतुष्ट हों उसे विषय कहते हैं ॥ १६ ॥

शुक्र[1] विद्वान्‌ने लिखा है कि 'जिस पदार्थसे मन और इन्द्रियोंको संतोष होता है वह पदार्थ विषय कहा जाता है जो कि प्राणियोंको सुख देने वाला है ॥ १ ॥'

निष्कर्षः—जिस पदार्थ—स्त्री पुत्रादि—से इन्द्रियाँ और मन संतुष्ट न हो वह सुखदायक नहीं होता किन्तु जिससे इन्द्रियाँ और मन प्रसन्न हों—संतुष्ट हों वह सुखदायक होता है ॥ १६ ॥

अब दुःखके लक्षणका निर्देश करते हैं:—

दुःखमप्रीतिः ॥ १७ ॥

अर्थः—जिस वस्तुके देखने पर अप्रीति (संतोष न हो—वैराग्य हो) हो वही दुःख है ॥ १७ ॥

शुक्र[2] विद्वान्‌ने लिखा है कि 'जिस वस्तुके देखने पर या धारण करने पर प्रीति उत्पन्न नहीं होती वह वस्तु अच्छी होने पर भी प्राणियोंको दुःख देने वाली है ॥ १ ॥'

अब सुखका लक्षण निर्देश करते हैं:—

तद्दुःखमपि न दुःखं यत्र न संक्लिश्यते मनः ॥ १८ ॥

अर्थः—जिस वस्तुके देखने पर मनको संक्लेश—कष्ट—न हो वह वस्तु दुःखद हो करके भी सुखकर है ॥ १८ ॥

अब चार प्रकारके दुःखोंका निरूपण किया जाता है:—

दुःखं चतुर्विधं सहजं दोषजमागन्तुकमन्तरंगं चेति ॥ १९ ॥

सहजं क्षुत्तृषामनोभूभवं चेति[3] ॥ २० ॥

---

१ तथा च शुक्रः—
मनसश्चेन्द्रियाणां च सन्तोषो येन जायते ।
स भावो विषयः प्रोक्तः प्राणिनां सौख्यदायकः ॥ १ ॥

२ तथा च शुक्रः—
यत्र नो जायते प्रीतिर्दृष्टे वाञ्छादितेऽपि वा ।
तच्छ्रेष्ठमपि दुःखाय प्राणिनां सम्प्रजायते ॥ १ ॥

३ 'सहजं क्षुत्तर्ष-पीड़ा-मनोभूभवमिति' ऐसा पाठ मु० और ह० लि० मू० प्रतियोंमें है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं।

दोषजं वातपित्तकफवैषम्यसम्भूतं[1] ॥ २१ ॥

आगन्तुकं वर्षातपादिजनितं[2] ॥ २२ ॥

यच्चिन्त्यते दरिद्रैर्न्यक्कारजं[3] ॥ २३ ॥

न्यक्कारावज्ञेच्छाविघातादिसमुत्थमन्तरङ्गजम् ॥ २४ ॥

अर्थः—दुःख चार प्रकारके होते हैंः—सहज, दोषज आगन्तुक और अन्तरङ्गज ॥ १६ ॥
भूख-प्यास संबंधी तथा मानसिक भूमिमें पैदा होनेवाले (काम-क्रोधादि विकारोंसे उत्पन्न परस्त्री-सेवन-आदिकी अभिलाषा और उसका चिंतवन आदिसे उत्पन्न हुए) दुःखोंको 'सहज' दुःख कहते हैं ॥ २० ॥
प्रकृति—ऋतुके विरुद्ध आहार विहार करनेसे जो वात, पित्त और कफ कुपित—विकृत—होते हैं उससे होनेवाले बुखार-गलगंडादिरूप शारीरिक रोगोंको 'दोषज' दुःख कहा गया है ॥ २१ ॥
अतिवृष्टि, अनावृष्टि, और आतप (गर्मी) आदि आकस्मिक—घटनाओंसे उत्पन्न होनेवाले दुःखों—दुर्भिक्ष (अकाल) आदि संबंधी पीड़ाओं—को 'आगन्तुक' दुःख कहा गया है ॥ २२ ॥
दरिद्र—निर्धन—मनुष्योंसे अनुभव किये जानेवाले और तिरस्कार आदिसे उत्पन्न हुए दुःखों—वध-बंधन और कारावास—जेलखाना—आदिकी सजासे उत्पन्न हुए कष्टों—को 'न्यक्कारज' दुःख कहते हैं। अर्थात् दरिद्र लोग चोरी वगैरह अपराध करनेसे जो राजदंड—जेलखानेकी सजा आदि—भोगते हैं, उनके उन दुःखों—वध-बंधन आदि कष्टों—को न्यक्कारज—तिरस्कारसे उत्पन्न—दुःख कहा गया है ॥ २३ ॥
धिक्कार, अनादर, और इच्छाविघात—अभिलषित वस्तु न मिलना—आदिसे होनेवाले दुःखोंको 'अन्तरंगज' दुःख कहा गया है ॥ २४ ॥
अब जिसप्रकारका व्यक्ति दोनों लोकोंमें दुःखी रहता है उसका वर्णन करते हैंः—

न तस्यैहिकमामुष्मिकं च फलमस्ति यः क्लेशायासाभ्यां भवति विप्लवप्रकृतिः ॥२५॥

अर्थः—जिसकी बुद्धि निरन्तर दुःख और खेदके द्वारा नष्ट होगई है उस मनुष्यको ऐहिक और पारलौकिक सुख प्राप्त नहीं होसकते ॥ २५ ॥

१, २, नोट—२१ और २२ नं० के सूत्र मु० मू० और ह० लि० मू० प्रतियोंमें नहीं हैं परन्तु सं० टी० पुस्तकमें वर्तमान हैं एवं प्राकरणिक और क्रम प्राप्त भी हैं।

३—नोटः—नं० २३ का सूत्र न तो मु० मू० प्रतिमें और न गवर्न० लायब्रेरी पूनाकी ह० लि० मूलप्रतियोंमें है, केवल सं० टी० पुस्तकमें वर्तमान है। विमर्शः—उक्तसूत्रमें न्यक्कारज—तिरस्कारसे होनेवाले—दुःखोंका निरूपण है, जिन्हें आचार्यश्रीने 'अन्तरङ्गज' दुःखोंमें अन्तर्भूत—शामिल—कर दिया है एवं दुःखोंमें भी उक्त दुःखको स्वतन्त्र नहीं माना, तब यह अप्राकरणिक और असम्बद्ध-सूत्र न मालूम कहांसे बीचमें आ घुसा ? इससे या तो सं० टीकाकारकी मनगढन्त रचना अथवा लेखकोंकी असावधानीसे संस्कृतटीकाका कोई अंश जो कि अन्तरंग दुःखोंके निरूपण संबंधी है यहां लिखा हुआ प्रतीत होता है यह आचार्यश्रीका रचा हुआ प्रतीत नहीं होता। सम्पादक—

व्यास[1] विद्वान्ने भी लिखा है कि 'जो कुत्सित पुरुष दुःख और खेदपूर्वक जीवन व्यतीत करता है उसको इस मर्त्यलोकमें कोई सुख नहीं मिलता, पुनः उसे स्वर्गमें किस प्रकार सुख मिल सकता है? नहीं मिल सकता ॥ १ ॥'

अब कुलीन पुरुषका माहात्म्य तथा कुत्सितकी निन्दाका निरूपण करते हैं:—

स किंपुरुषो यस्य महाभियोगे सुवंशधनुष इव नाधिकं जायते बलम्[2] ॥ २६ ॥

अर्थः—जिस मनुष्यमें उत्तमवांस वाले धनुषके समान युद्ध आदि आपत्तिकाल आनेपर अधिक पौरुष—वीरता शक्ति—का संचार नहीं होता वह निन्द्य पुरुष है अर्थात् जिसप्रकार उत्तम-बाँसवाले धनुषमें बाण-स्थापन-कालमें अधिक दृढ़ता—मजबूती—आजाती है उसीप्रकार कुलीन पुरुषमें भी आपत्तिकालमें अधिक वीरता—शक्तिका संचार होजाता है। एवं जिसप्रकार खराब बांस वाला धनुष बाण-स्थापन-कालमें टूट जाता है या शिथिल होजाता है उसीप्रकार कायर व्यक्ति भी युद्धादि आपत्तिकालमें कायरता धारण कर लेता है उसमें वीरता नहीं रहती ॥ २६ ॥

गुरु[3] विद्वानने भी लिखा है कि 'युद्धकालमें कुलीन पुरुषोंके वीरता—शक्तिकी वृद्धि होती है और जो पुरुष उस समय वीरता छोड़ देते हैं—युद्धसे मुख मोड़ लेते हैं—उन्हें नपुंसक समझना चाहिये ॥ १ ॥

अभिलाषा—इच्छाका लक्षण निर्देशः—

आगामिक्रियाहेतुरभिलाषो वेच्छा[4] ॥ २७ ॥

अर्थः—जो भविष्यमें होनेवाले कार्यमें हेतु है उसे अभिलाषा या इच्छा कहते हैं ॥ २७ ॥

गुरु[5] विद्वान्ने लिखा है कि 'जो भविष्यमें होनेवाले कार्यमें हेतु है उसे अभिलाषा कहते हैं, इच्छा और संधा उसीके नामान्तर हैं यह सदा प्राणियोंके होती है ॥ १ ॥'

---

१ तथा च व्यासः—
जीवते क्लेशखेदाभ्यां सदा कापुरुषोऽत्र यः।
न तस्य मर्त्ये यो लाभः कुतः स्वर्गसमुद्भवः ॥ १ ॥

२ 'स किम्पुरुषः, यस्य महायोगेष्वपि धनुष इवाधिकं न जायते बलम्' ऐसा मु० और ह० लि० मू० प्रतियोंमें पाठ है, जिसका अर्थ यह है कि 'जिसप्रकार अचेतन—जड़—धनुषमें अल्प या अधिक युद्ध-आदिके अवसर पर थोड़ी या अधिक शक्तिका संचार नहीं होता उसीप्रकार जिस पुरुषमें महान् कार्य—युद्ध आदि—के अवसर पर अधिक शक्तिका संचार नहीं होता वह निन्द्य है।

३ तथा च गुरुः—
युद्धकाले सुवंश्यानां वीर्योत्कर्षः प्रजायते।
येषां च वीर्यहानिः स्यात्तेऽत्र ज्ञेया नपुंसकाः ॥ १ ॥

४ 'वाञ्छा' इसप्रकार मु० मू० प्रतिमें पाठ है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है।

५ तथा च गुरुः—
भाविकृत्यस्य यो हेतुरभिलाषः स उच्यते।
इच्छा वा तस्य सन्धा या भवेत् प्राणिनां सदा ॥ १ ॥

अब दोषोंकी शुद्धिका उपाय बताते हैं:—

आत्मनः प्रत्यवायेभ्यः प्रत्यावर्तनहेतुर्द्वेषोऽनभिलाषो वा ॥ २८ ॥

अर्थः—आत्मासे होनेवाले दोषोंको नाश करनेके दो उपाय हैं। (१) अपनी निन्दा करना (२) भविष्यमें उनके करनेकी इच्छा न करना।

गुरु[1] विद्वान्ने लिखा है कि 'आत्मासे यदि अपराध होजावें तो विद्वानोंको उनकी निन्दा करनी चाहिये अथवा उनको करनेकी कभी भी इच्छा नहीं करनी चाहिये ॥ १ ॥'

अब उत्साहका लक्षण निर्देश करते हैं:—

हिताहितप्राप्तिपरिहारहेतुरुत्साहः ॥ २९ ॥

अर्थः—जिस कर्तव्यके करनेमें हित—अभीष्ट—की प्राप्ति तथा अहित—अनिष्ट—का त्याग होता है उसे उत्साह कहते हैं ॥ २९ ॥

वर्ग[2] विद्वान्ने लिखा है कि 'जिस कर्तव्यके करनेमें शुभकी प्राप्ति और पापोंका त्याग होकर हृदयको संतोष होता है उसे उत्साह कहते हैं ॥ १ ॥

अब प्रयत्नके स्वरूपका विवरणः—

प्रयत्नः परनिमित्तको भावः ॥ ३० ॥

अर्थः—'मुझे इसका अमुक कार्य अवश्य करना चाहिये' इसप्रकार दूसरोंकी भलाईके लिये कीजाने वाली चित्तकी निश्चित प्रवृत्तिको प्रयत्न कहते हैं ॥ ३० ॥

गर्ग[3] विद्वान्ने लिखा है कि गर्गके वचनोंकी तरह 'दूसरोंकी भलाई करनेमें जो निश्चय करके चित्त की प्रवृत्ति की जाती है उसे प्रयत्न कहते हैं। अर्थात् जिसप्रकार गर्ग नामके नीतिकार विद्वान्के वचन परोपकारके लिये हैं उसीप्रकार शिष्ट पुरुष जो दूसरोंकी भलाईके लिये अपनी मानसिक प्रवृत्ति करते हैं उसे 'प्रयत्न' समझना चाहिये ॥ १ ॥'

---

१ तथा च गुरुः—
आत्मनो यदि दोषाः स्युस्ते निन्द्या विबुधैर्जनैः।
अथवा नैव कर्तव्या वाञ्छा तेषां कदाचन ॥ १ ॥

२ तथा च वर्गः—
शुभाप्तिर्यत्र कर्तव्या जायते पापवर्जनम्।
हृदयस्य परा तुष्टिः स उत्साहः प्रकीर्तितः ॥ १ ॥

३ तथा च गर्गः—
परस्य करणीये यश्चित्तं निश्चित्य धार्यते।
प्रयत्नः स च विज्ञेयो गर्गस्य वचनं यथा ॥ १ ॥

संस्कारका स्वरूप निर्देशः—

सातिशयलाभः संस्कारः ॥ ३१ ॥

अर्थः—सज्जन पुरुषों तथा राजा—आदिके द्वारा किये गये सन्मानसे जो मनुष्यकी प्रतिष्ठा होती है उसे 'संस्कार' कहते हैं ॥ ३१ ॥

गर्ग[1] विद्वान्ने लिखा है कि 'राजकीय सन्मानसे' सज्जनोंके आदरसे तथा प्रशस्त भक्तिसे जो मनुष्य को सन्मान आदि मिलता है उससे उसकी प्रतिष्ठा होती है ॥ १ ॥

संस्कार—ज्ञानविशेष—का लक्षण निर्देशः—

अनेककर्माभ्यासवासनावशात् सद्योजातादीनां स्तन्यपिपासादिकं येन क्रियत इति संस्कारः[2] ॥३२॥

अर्थः—इस प्राणीने आयुष्य कर्मके आधीन होकर पूर्व जन्मोंमें अनेक बार दुग्धपानादिमें प्रवृत्ति की थी, उससे इसकी आत्मामें दुग्धपानादि विषयका धारणारूप संस्कार उत्पन्न होगया था। उस संस्कारकी वासनाके वशसे जो स्मरण—यह दुग्धपान मेरा इष्ट साधन है इस प्रकारका स्मृतिज्ञान—उत्पन्न होता है वही संस्कारसे उत्पन्न हुआ स्मरण उत्पन्न हुए बच्चोंको दुग्धपान आदिमें प्रवृत्त करता है ॥ ३२ ॥

गौतम[3] नामके दार्शनिक विद्वान्ने भी अपने गौतमसूत्रमें कहा है कि 'यह प्राणी पूर्व शरीरको छोड़-कर जब नवीन शरीर धारण करता है उस समय—उत्पन्न हुए बच्चेकी अवस्थामें—क्षुधासे पीड़ित हुआ पूर्वजन्ममें अनेकबार किये हुए अभ्यस्त आहारको ग्रहण करके ही दुग्धपानादिमें प्रवृत्ति करता है, क्योंकि इसके दुग्धपानमें प्रवृत्ति और इच्छा विना पूर्वजन्म संबंधी अभ्यस्त आहार-स्मरणके कदापि नहीं हो सकती क्योंकि वर्तमान समयमें जब यह प्राणी क्षुधासे पीड़ित होकर भोजनमें प्रवृत्ति करता है उसमें पूर्व-दिनमें किये हुए आहार संबंधी-संस्कारसे उत्पन्न हुआ स्मरण ही कारण है ॥ १ ॥'

शरीरका स्वरूपः—

भोगायतनं शरीरम् ॥ ३३ ॥

अर्थः—जो शुभ-अशुभ भोगोंका स्थान है वह शरीर है ॥ ३३ ॥

हारीत[4] विद्वान्ने भी कहा है कि 'यह प्राणी शरीरसे शुभ-अशुभ कर्म या उसके फल—सुख-दुख—को भोगता है इसलिए इस पृथ्वीतलपर जितने सुख-दुःख कहे गये हैं, उनका शरीर गृह-स्थान है ॥१॥'

---

१ तथा च गर्गः—
सन्मानाद्भूमिपालस्य यो लाभः संप्रजायते ।
महाजनाच्च सद्भक्तेः प्रतिष्ठा तस्य सा भवेत् ॥ १ ॥

२ उक्त सूत्र मु० और ह० लि० मू० प्रतियोंसे संकलन किया गया है, क्योंकि सं० टी० पु० में नहीं है।

३ तथा च गौतमः—
प्रेत्याहाराभ्यासकृतात् स्तन्याभिलाषात् ॥ १ ॥
गौतमसूत्र अ० ३ आ० १ सूत्र २२ वां।

४ तथा च हारीतः—
सुखदुःखानि यान्यत्र कीर्त्यन्ते धरणीतले ।
तेषां गृहं शरीरं तु यतः कर्माणि सेवते ॥१॥

नास्तिक-दर्शनका स्वरूप:—

ऐहिकव्यवहारप्रसाधनपरं लोकायतिकम् ॥ ३४ ॥

अर्थ:—जो केवल इस लोकसंवन्धी कार्यों—मद्यपान और मांसभक्षण आदि—का निरूपण करता है उसे नास्तिक-दर्शन कहते हैं।

गुरु[1]—नास्तिकमतके अनुयायी (माननेवाले) बृहस्पति—ने कहा है कि 'मनुष्यको जीवनपर्यन्त सुखसे रहना चाहिये—इच्छानुकूल मद्यपान और मांसभक्षण आदि करते हुए सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करना चाहिये—कोई भी मृत्युसे वच नहीं सकता। भस्म हुए शरीरका पुनरागमन—पुनर्जन्म कैसे होसकता है? अर्थात् नहीं होसकता ॥ १ ॥

अग्निमें हवन करना, तीनों वेदोंका पढ़ना, दीक्षा धारणकरना, नग्न रहना, और शिर मुड़ाना ये सब कार्य मूर्ख और आलसी पुरुषोंके जीवन-निर्वाहके साधन हैं ॥ २ ॥

अर्थ—धन कमाना और काम—विषयभोग—ये दो ही पुरुषार्थ—पुरुषके कर्त्तव्य—हैं। शरीर ही आत्मा है इत्यादि[2]।

भावार्थ:—नास्तिकदर्शन उक्तप्रकार केवल इसलोकसम्वन्धी कार्योंका निर्देश करता है, वह पारलौकिक सत्कर्तव्यों—अहिंसा, परोपकार और सत्य आदिका निरूपण करनेमें असमर्थ होनेके कारण शिष्टपुरुषोंके द्वारा उपेक्षणीय—त्याज्य—(छोड़नेयोग्य) है ॥ ३४ ॥

नास्तिक-दर्शनके ज्ञानसे होनेवाला राजाका लाभ:—

लोकायतज्ञो हि राजा राष्ट्रकण्टकानुच्छेदयति ॥३५॥

अर्थ:—जो राजा नास्तिक-दर्शनको भलीभाँति जानता है वह निश्चयसे राष्ट्रकण्टकों—प्रजाको पीड़ित करनेवाले जार-चौर आदि दुष्टों—को जड़-मूलसे नष्ट कर देता है।

भावार्थ:—यद्यपि नास्तिकोंके सिद्धान्तको पढ़नेसे मनुष्योंके हृदयमें क्रूरता—निर्दयता—उत्पन्न होती है एवं वे पारलौकिक सत्कर्त्तव्यों—दान-पुण्यादि—से पराङ्मुख होजाते हैं; अतएव नास्तिक-दर्शन शिष्ट-पुरुषोंके द्वारा त्याज्य—छोड़नेयोग्य—होनेपर भी राजाको उसका ज्ञान होना अत्यंत आवश्यक है; क्योंकि उससे उसके हृदयमें निर्दयता उत्पन्न होती है जिससे वह राष्ट्रके कल्याणके लिये अपनी विशाल सैनिक-शक्तिसे प्रजा-पीड़क और मर्यादाका उल्लङ्घन करनेवाले जार-चौर आदि दुष्टोंके मूलोच्छेद करनेमें समर्थ होता है और इसके फलस्वरूप वह अपने राष्ट्रको सुरक्षित एवं वृद्धिगत करता है ॥३५॥

---

१ तथा च गुरु:—

यावज्जीवं सुखं जीवेत् नास्ति मृत्योरगोचर:।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुत: ॥ १ ॥

अग्निहोत्रं त्रयो वेदा: प्रव्रज्या नग्नमुण्डता।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविते॒दो मतंगुरु: ॥ २॥

अर्थकामावेव पुरुषार्थौ, देहएव आत्मा इत्यादि।

शुक्र[1] विद्वान्ने भी कहा है कि 'जो राजा देशको पीड़ित करनेवाले दुष्टोंपर दयाका वर्ताव करता है उसका देश निस्सन्देह नष्ट होजाता है इससे वह अपने राज्यको भी खो बैठता है ॥१॥'

मनुष्योंके कर्त्तव्य सर्वथा निर्दोष नहीं होते इसका निरूपणः—

न खल्वेकान्ततो यतीनामप्यनवद्यास्ति क्रिया ॥३६॥

अर्थः—जितेन्द्रिय साधु महापुरुषोंके भी कर्त्तव्य—अहिंसा और सत्य आदि–सर्वथा निर्दोष नहीं होते–उनके कर्त्तव्योंमें भी कुछ न कुछ दोष पाया जाता है, पुनः साधारण पुरुषोंके कर्त्तव्योंका तो कहना ही क्या है ? अर्थात् उनके कर्त्तव्योंमें दोष—त्रुटि–होना साधारण बात है ॥३६॥

वर्ग[2] विद्वान्ने भी कहा है कि 'साधुओंकी क्रिया–अनुष्ठान–भी सर्वथा निर्दोष नहीं होती; क्योंकि वे भी अपने कर्त्तव्यसे विचलित होजाते हैं ॥१॥'

सर्वथा दयाका वर्ताव करनेवालेकी हानिका निर्देशः—

एकान्तेन कारुण्यपरः करतलगतमप्यर्थं रक्षितुं न क्षमः ॥३७॥

अर्थः—जो मनुष्य सदा केवल दयाका वर्ताव करता है वह अपने हाथमें रक्खे हुए धनको भी बचानेमें समर्थ नहीं होसकता ॥३७॥

शुक्र[3] विद्वान्ने भी कहा है कि 'राजाको साधुपुरुषों और दुःखी प्राणियोंपर दयाका वर्ताव करना चाहिये, परन्तु जो दुष्टोंपर दया करता है वह अपने पासके धनको भी खो बैठता है ॥१॥'

सदा शान्त रहनेवालेकी हानिः—

प्रशमैकचित्तं को नाम न परिभवति ? ॥३८॥

---

१ तथा च शुक्रः—

दयां करोति यो राजा राष्ट्रसन्तापकारिणां ।
स राज्यभ्रंशमाप्नोति [राष्ट्रोच्छेदादसंशयं] ॥१॥

नोटः—उक्त श्लोकका चतुर्थ-चरण सं. टी. पुस्तकमें 'राष्ट्रोच्छेदादिसंशयं' ऐसा अशुद्ध था जिससे अर्थ-समन्वय ठीक नहीं होता था; अतः हमने उसे संशोधित एवं परिवर्तित करके अर्थसमन्वय किया है । सम्पादकः—

२ तथा च वर्गः—

अनवद्या सदा तावन्न खल्वेकान्ततः क्रिया ।
यतीनामपि विद्येत तेषामपि यतश्च्युतिः ॥१॥

३ तथा च शुक्रः—

दया साधुषु कर्त्तव्या सीदमानेषु जन्तुषु ।
असाधुषु दया शुक्रः [स्ववित्तादपि भ्रश्यति] ॥१॥

नोटः—उक्त श्लोकके चतुर्थ-चरणमें 'स्वचित्तादपि भ्रश्यति' ऐसा अशुद्ध पाठ था जिससे अर्थ-समन्वय ठीक नहीं होता था, अतएव हमने उक्त संशोधन और परिवर्तन करके अर्थ-समन्वय किया है । सम्पादकः—

अर्थः—सदा शान्तचित्त रहनेवाले मनुष्यका लोकमें कौन पराभव—सताना और अनादर करना—नहीं करता ? अर्थात् सभी लोग उसका अनादर करते हैं ॥३८॥

भृगु[1] विद्वान्‌ने भी उक्त बातकी पुष्टि की है 'कि जो मनुष्य सदा शान्तचित्त रहता है उसकी स्त्री भी कदापि उसके चरणोंका प्रक्षाल नहीं करती ॥१॥'

राजाका कर्त्तव्य निर्देशः—

अपराधकारिषु प्रशमो यतीनां भूषणं न महीपतीनाम् ॥३९॥

अर्थः—अपराधियों—प्रजा-पीड़क दुष्टों—पर क्षमा धारण करना—उन्हें दंड न देना—यह साधु पुरुषोंका भूषण—शोभा देनेवाला— है, न कि राजाओंका। अतः दुष्टोंका निग्रह करना—अपराधके अनुकूल दंड देना—राजाका मुख्य कर्त्तव्य है ॥३९॥

किसी नीतिकार[2] ने कहा है कि 'जो राजा दुष्टोंका निग्रह करता है—उन्हें अपराधके अनुकूल दंड देता है—वह सुशोभित होता है—उसके राज्यकी उन्नति होती है और जो दुष्टोंके साथ क्षमाका वर्ताव करता है उसे महान् दूषण लगता है—उसका राज्य नष्ट होजाता है ॥१॥'

जिससे मनुष्य निंद्य समझा जाता है उसका निरूपणः—

धिक् तं पुरुषं यस्यात्मशक्त्या न स्तः कोपप्रसादौ ॥४०॥

अर्थः—जो मनुष्य अपनी शक्तिसे क्रोध और प्रसन्नता नहीं करता उसको धिक्कार है—वह निंदाके योग्य है ॥४०॥

व्यास[3] विद्वान्‌ने भी कहा है कि 'जिस राजाकी प्रसन्नता निष्फल है—जो शिष्टोंपर प्रसन्न होकरके भी उनका अनुग्रह नहीं करता एवं जिसका क्रोध भी निष्फल है—जो दुष्टोंसे क्रुद्ध हो करके भी उनका

---

१ तथा च भृगुः—

[सदा तु शान्तचित्तो यः पुरुषः सम्प्रजायते ।
तस्य भार्याऽपि नो पादौ प्रक्षालयति कर्हिचित् ॥१॥

नोटः—उक्त श्लोकके प्रथम चरणमें 'सदा तु शान्तचित्तस्य' ऐसा अशुद्ध पाठ था उसे हमने संशोधित एवं परिवर्तित करके अर्थ-समन्वय किया है। सम्पादकः—

२ तथा च कश्चिन्नीतिवित्:—

यो राजा निग्रहं कुर्यात् दुष्टेषु स विराजते ।
प्रसादे च यतस्तेषां तस्य तद्दूषणं परम् ॥१॥

३ तथा च व्यासः—

प्रसादो निष्फलो यस्य कोपश्चापि निरर्थकः ।
न तं भर्तारमिच्छन्ति प्रजाः षण्ढमिव स्त्रियः ॥१॥

निग्रह नहीं करता—उसे प्रजा अपना स्वामी—राजा—नहीं मानती, जिस प्रकार स्त्रियाँ नपुंसकको पति नहीं मानतीं ॥१॥'

शत्रुओंका पराजय न करनेवालेकी कड़ी आलोचना:—

स जीवन्नपि मृत एव यो न विक्रामति प्रतिकूलेषु ॥४१॥

अर्थ:—जो व्यक्ति शत्रुओंमें पराक्रम नहीं करता—उनका निग्रह नहीं करता—वह जीवित होता हुआ भी निश्चयसे मरे हुएके समान है ॥४१॥

शुक्र[1] विद्वान्ने लिखा है कि 'जो राजा शत्रुओंमें पराक्रम नहीं करता, वह लुहारकी धोंकनीके समान साँस लेता हुआ भी जीवित नहीं माना जाता ॥१॥'

माघ[2] कविने भी कहा है कि 'जो मनुष्य लोकमें शत्रुओंसे किये गये तिरस्कारके दुःखसे खिन्न-दुःखी-होता हुआ भी जीवित है, उसका जीवित रहना अच्छा नहीं—उसका मरजाना ही उत्तम है। उत्पत्ति आदिके समय माताको कष्ट देनेवाले उस कायर मनुष्यकी यदि उत्पत्ति ही नहीं होती तो अच्छा था ॥२॥'

पुनः पराक्रम-शून्यकी हानिका निर्देश:—

भस्मनीव निस्तेजसि को नाम निःशङ्कः पदं न कुर्यात्[3] ॥४२॥

अर्थ:—आश्चर्य है कि भस्म—राख—के समान तेज-शून्य—पराक्रम-हीन (सैनिक और खजाने की शक्तिसे रहित) राजाको कौन मनुष्य निडर होकर पराजित करने तत्पर नहीं होता ? अर्थात् सभी लोग उसे पराजित करने तत्पर रहते हैं।

अर्थात् जिस प्रकार अग्नि-शून्य केवल भस्मको साधारण व्यक्ति भी पैरोंसे ठुकरा देता है उसी-प्रकार पराक्रम-शून्य—सैनिक और खजानेकी शक्तिसे रहित—राजाके साथ साधारण मनुष्य भी बगावत करने तत्पर हो जाता है।

शुक्र[4] विद्वान्ने भी कहा है कि 'अग्नि-रहित भस्मके समान पराक्रम-हीन राजा निडर हुए साधारण

---

१ तथा च शुक्रः—
परिपन्थिषु यो राजा न करोति पराक्रमम्।
स लोहकारभस्त्रेव श्वसन्नपि न जीवति ॥१॥

२ तथा च माघकविः—
मा जीवन् यः परावज्ञादुःखदग्धोऽपि जीवति।
तस्याजननिरेवास्तु जननीक्लेशकारिणः ॥१॥

३ भस्मनि वाऽतेजसे वा को नाम निःशङ्कं न दधाति पदम् ? इसप्रकार मु० और ह० लि० मूल-प्रतियोंमें पाठ है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है।

४ तथा च शुक्रः—
शौर्येण रहितो राजा हीनैरप्यभिभूयते।
भस्मराशिर्यथानग्निर्निशङ्कैः स्पृश्यतेऽरिभिः ॥१॥

शत्रुओंके द्वारा पराजित कर दिया जाता है ॥१॥'

निष्कर्ष:—विजिगीषु राजाको अपनी राज्य-वृद्धिके लिये पराक्रमी—सैनिक और खजानेकी शक्तिसे सम्पन्न—होना चाहिये ॥४२॥

धर्म-प्रतिष्ठाका निरूपण:—

तत् पापमपि न पापं यत्र महान् धर्मानुबंधः ॥४३॥

अर्थ:—जिस कार्य—दुष्ट-निग्रह-आदि—के करनेमें महान् धर्म—प्रजाका संरक्षण-आदि—की प्राप्ति होती है वह वाह्यसे पापरूप होकरके भी पाप नहीं समझा जाता किन्तु धर्म ही समझा जाता है ॥४३॥

वादरायण[1] विद्वान्ने भी कहा है कि 'नैतिक पुरुषको अपने वंशकी रक्षाके लिये अपना शरीर, ग्रामकी रक्षाके लिये अपना वंश, देशकी रक्षाके लिये ग्राम और अपनी रक्षाके लिये पृथिवी छोड़ देनी चाहिये ॥१॥

जो राजा पापियोंका निग्रह करता है उससे उसे उत्कृष्ट धर्मकी प्राप्ति होती है; क्योंकि उन्हें वध और वंधन-आदि दंड देनेसे उसे पाप नहीं लगता ॥२॥'

दुष्ट-निग्रह न करनेसे हानि—

अन्यथा पुनर्नरकाय राज्यम्[2] ॥४४॥

अर्थ:—जो राजा दुष्टोंका निग्रह नहीं करता उसका राज्य उसे नरक लेजाता है।

भावार्थ:—प्रजाके कंटक—अन्यायी—आततायियोंका निग्रह न होनेसे उस राज्यकी प्रजा सदा दुःखी रहती है; अतएव कायर राजा नरकका पात्र होता है ॥ ४४ ॥

हारीत[3] विद्वान्ने भी उक्त वातका समर्थन किया है कि 'जिस राजाकी सैनिक-शक्ति शिथिल—कमजोर—होती है उसकी प्रजा दुष्टोंके द्वारा पीड़ित की जाती है और उसके फलस्वरूप वह निस्सन्देह नरक जाता है ॥ १ ॥'

---

१ तथा च वादरायणः—
त्यजेद्देहं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥१॥
पापानां निग्रहे राजा परं धर्ममवाप्नुयात् ।
न तेषां च वधवंधाद्यैस्तस्य पापं प्रजायते ॥२॥

२ 'अन्यथा पुनर्नरकान्तं राज्यं' ऐसा मु० और ह० लि० मू० प्रतियोंमें पाठ है परन्तु अर्थ-भेद कुछ नहीं है ।

३ तथा च हारीतः—
चौरादिभिर्जनो यस्य शैथिल्येन प्रपीड्यते ।
स्वयं तु नरकं याति स राजा नात्र संशयः ॥ १ ॥

राज्यपदका परिणाम:—

वन्धनान्तो नियोगः ॥ ४५ ॥

अर्थ:—राज्याधिकार अन्तमें वन्धनका कष्ट देता है ॥ ४५ ॥

गुरु[1] विद्वान्ने भी लिखा है कि 'जन्मके साथ मृत्यु, उन्नतिके साथ अवनति-पतन, योग (ध्यान) के साथ नियोग-विचलित होना और राज्याधिकारके साथ वन्धनका दुःख लगा रहता है ॥ १ ॥

दुष्टोंकी संगतिसे होनेवाली हानि:—

विपदन्ता खलमैत्री ॥ ४६ ॥

अर्थ:—दुष्टोंकी संगति अन्तमें दुःख देनेवाली है ॥ ४६ ॥

वल्लभदेव[2] विद्वान्ने भी कहा है कि 'पूज्य मनुष्य भी दुष्टोंकी संगतिसे पराभव—तिरस्कार-को प्राप्त होता है जिसप्रकार लोहेकी संगति करनेसे अग्नि जबर्दस्त हथोड़ोंसे पीटी जाती है ॥ १ ॥

स्त्रियोंमें विश्वास करनेसे हानि:—

मरणान्तः स्त्रीषु विश्वासः ॥ ४७ ॥

अर्थ:—स्त्रियोंमें विश्वास करनेसे अन्तमें मृत्यु होती है ॥ ४७ ॥

विष्णुशर्मा[3] विद्वान्ने कहा है कि 'गरुड़के द्वारा लिये जानेवाले पुण्डरीक नामके नागने कहा है कि जो स्त्रियोंके समक्ष अपनी गुप्त बात प्रगट करता है उसकी मृत्यु निश्चित है ॥ १ ॥'

इत्यान्वीक्षिकीसमुद्देशः

---

१ तथा च गुरुः—

न जन्म मृत्युना बाह्यं नोच्चैस्तु पतनं विना ।
न नियोगच्युतो योगो नाधिकारोऽस्त्यबन्धनः ॥ १ ॥

२ तथा च वल्लभदेवः—

असत्संगात् पराभूतिं याति पूज्योऽपि मानवः ।
लोहसंगाद्यतो वह्निस्ताड्यते सुघनैर्घनैः ॥ १ ॥

३ तथा च विष्णुशर्मा:—

नीयमानः खगेन्द्रेण नागः पौण्डरिकोऽब्रवीत् ।
स्त्रीणां गुह्यमाख्याति तदन्तं तस्य जीवितम् ॥ १ ॥

७ त्रयी-समुद्देशः—

त्रयी-विद्याका स्वरूपः—

चत्वारो वेदाः, शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिरिति षडङ्गानीतिहास-पुराण-मीमांसा-न्याय-धर्मशास्त्रमिति चतुर्दशविद्यास्थानानि त्रयी ॥ १ ॥

अर्थः—चार वेद हैं:—प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग[1]।

उक्त वेदोंके निम्नप्रकार ६ अङ्ग हैं—इन छह अङ्गोंके ज्ञानसे उक्त चारों प्रकारके वेदोंका ज्ञान होसकता है।

१ शिक्षा २ कल्प ३ व्याकरण ४ निरुक्त ५ छन्द और ६ ज्योतिष।

शिक्षाः—स्वर और व्यञ्जनादि वर्णोंका शुद्ध उच्चारण और शुद्ध लेखनको वतानेवाली विद्याको 'शिक्षा' कहते हैं।

कल्पः—धार्मिक आचार-विचार या क्रियाकाण्डों—गर्भाधान-आदि संस्कारों—के निरूपण करनेवाले शास्त्रको 'कल्प' कहते हैं[2]।

---

१ तथा चोक्तमार्षे:—

श्रुतं सुविहितं वेदो द्वादशाङ्गमकल्मषं।
हिंसोपदेशि यद्वाक्यं न वेदोऽसौ कृतान्तवाक् ॥ १ ॥
पुराणं धर्मशास्त्रं च तत्स्याद्वधनिषेधि यत्।
वधोपदेशि यत्तु ज्ञेयं धूर्तप्रणेतृकम् ॥ २ ॥

आदिपुराणे भगवज्जिनसेनाचार्यःपर्व ३६, श्लोक २२-२३।

अर्थः—निर्दोष—अहिंसा धर्मका निरूपक आचाराङ्ग-आदि द्वादशाङ्ग श्रुत—शास्त्र—जो कि उक्त प्रथमानुयोग आदि ४ अनुयोगोंमें विभाजित है उसे 'वेद' कहते हैं, परन्तु प्राणि-हिंसाका समर्थक वाक्य 'वेद' नहीं कहा जा सकता उसे कृतान्त-वाणी समझनी चाहिये ॥ १ ॥

इसी प्रकार जो प्राणिहिंसाके निषेध करनेवाले शास्त्र हैं वे ही पुराण और धर्मशास्त्र कहे जा सकते हैं, परन्तु इसके विपरीत—जीव-हिंसाके समर्थक शास्त्रों—को धूर्तोंकी रचनाएं समझनी चाहिये ॥ २ ॥

तथा चोक्तमार्षे:—

ताश्च क्रियास्त्रिधाम्नाता श्रावकाध्यायसंग्रहे।
सद्दृष्टिभिरनुष्ठेया महोदर्काः शुभावहाः ॥ १ ॥
गर्भान्वयक्रियाश्चैव तथा दीक्षान्वयक्रियाः।
कर्त्रन्वयक्रियाश्चेति तास्त्रिधैवं बुधैर्मताः ॥ २ ॥
आधानाद्यास्त्रिपंचाशत् ज्ञेयाः गर्भान्वयक्रियाः।
चत्वारिंशदथाष्टौ च स्मृता दीक्षान्वयक्रियाः ॥ ३ ॥
कर्त्रन्वयक्रियाश्चैव सप्त तज्ज्ञैः समुच्चिताः।
तासां यथाक्रमं नामनिर्देशोऽयमनूद्यते ॥ ४ ॥

आदिपुराणे भगवज्जिनसेनाचार्यः पर्व ३८ श्लोक ५० से ५३। (शेष अगले पृष्ठ पर)

३ व्याकरण—जिससे भाषाका शुद्धलिखना, पढ़ना और बोलनेका बोध हो।

४ निरुक्त:—यौगिक, रूढ़ि और योगरूढ़ि शब्दोंके प्रकृति और प्रत्यय-आदिका विश्लेषण करके प्राकरणिक द्रव्यपर्यायात्मक या अनेक धर्मात्मक पदार्थके निरूपण करनेवाले शास्त्रको 'निरुक्त' कहते हैं।

५ छन्द:—पद्यों-वर्णवृत्त और मात्रवृत्त छन्दों—के लक्ष्य और लक्षणके निर्देश करनेवाले शास्त्रको 'छन्दशास्त्र' कहते हैं।

६ ज्योतिष:—ग्रहोंकी गति और उससे विश्वके ऊपर होनेवाले शुभ और अशुभ फलोंको तथा प्रत्येक कार्यके सम्पादनके योग्य शुभ समयको बतानेवाली विद्याको ज्योतिर्विद्या कहते हैं। इसप्रकार ये ६ वेदाङ्ग हैं।

इतिहास, पुराण, मीमांसा (विभिन्न और मौलिक सिद्धान्त-बोधक वाक्योंपर शास्त्राविरुद्ध युक्तियोंद्वारा विचार करके समीकरण करनेवाली विद्या), न्याय (प्रमाण और नयोंका विवेचन करनेवाला शास्त्र) और धर्मशास्त्र (अहिंसा धर्मके पूर्ण तथा व्यवहारिक रूपको विवेचन करनेवाला उपासकाध्ययन शास्त्र) उक्त १४ चौदह विद्यास्थानोंको 'त्रयीविद्या कहते हैं॥ १॥

त्रयी-विद्यासे होनेवाले लाभका निर्देश:—

त्रयीतः खलु वर्णाश्रमाणां धर्माधर्मव्यवस्था॥ २॥

अर्थ:—त्रयी-विद्यासे समस्त वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तथा आश्रमों-ब्रह्मचारी गृहस्थ, वानप्रस्थ और यति-में वर्तमान मनुष्योंके धर्म-अधर्म—कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य—का ज्ञान होता है॥ २॥

यशस्तिलकचम्पूमें आचार्यश्री[1] ने त्रयी-विद्याके विषयमें लिखा है कि जिस विद्याके द्वारा संसारका कारण जन्म, जरा और मृत्युरूप—त्रयी क्षय—नाश—को प्राप्त हो उसे त्रयी-विद्या' कहते हैं॥ १॥

निष्कर्ष:—वर्ण-आश्रममें विभक्त जनता जब अपने २ कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यका ज्ञान प्राप्त करके कर्त्तव्यमें प्रवृत्त और अकर्त्तव्यसे निवृत्त होजाती है, तब वह जन्म, जरा और मृत्युरूप सांसारिक दुःखोंसे छुटकारा पालेती है; अतः आचार्यश्री की उक्त मान्यता में किसीप्रकार का विरोध नहीं आता॥ २॥

त्रयी-विद्यासे लौकिक लाभ:—

स्वपक्षानुरागप्रवृत्त्या सर्वे समवायिनो लोकव्यवहारेष्वधिक्रियन्ते॥ ३॥

अर्थात्—उपासकाध्ययन अङ्गमें तीन प्रकारकी क्रियाएं—गर्भान्वय, दीक्षान्वय और कर्त्रन्वयक्रियाएं—(संस्कार) सम्यग्दृष्टियों द्वारा अनुष्ठान करनेयोग्य, उत्तमफलदात्री और कल्याण करनेवाली विद्वानों द्वारा कहीं गई हैं॥१-२॥

गर्भान्वयक्रियाओंके गर्भाधानादि ५३, दीक्षान्वयक्रियाओंके ४८ और कत्रन्वयक्रियाओंके ७ भेद गणधरोंने निरूपण किये हैं। उनके नाम अनुक्रमसे कहे जाते हैं॥ ३-४॥

निष्कर्ष:—आदि पुराणके उक्त संस्कार-निरूपक प्रकरणको 'कल्प' कहा जासकता है; क्योंकि इसमें गर्भाधान संस्कारसे लेकर मोक्षपर्यन्त धार्मिक संस्कारोंका विशद विवेचन आचार्य श्रीने किया है।

१ तथा च यशस्तिलके सोमदेवसूरि:—
जातिर्जरा मृतिः पुंसां त्रयी संसृतिकारणं।
एषा त्रयी यतस्त्रय्या क्षीयते स सा त्रयी मता॥ १॥

अर्थः—समस्त वर्ण और आश्रमोंमें विभक्त प्रजाके लोग इस त्रयी-विद्याके द्वारा अपने २ सत्कर्त्तव्योंमें प्रीतिपूर्वक प्रवृत्ति करनेसे नैतिक आचार-विचारोंके परिपालनमें प्रवृत्त किये जाते हैं ॥ ३ ॥

धर्मशास्त्र और स्मृतिग्रन्थोंकी प्रामाणिकता-निर्देशः—

धर्मशास्त्राणि स्मृतयो वेदार्थसंग्रहाद्वेदा एव ॥४॥

अर्थः—धर्मशास्त्र—सिद्धान्तग्रन्थ और स्मृतियाँ—आचारशास्त्र—इन सब में उक्त द्वादशाङ्गरूप वेदोंके पदार्थोंका संकलन किया गया है; अत एव द्वादशाङ्ग श्रुतकी तरह वे भी प्रमाणीभूत—सत्य—हैं ॥४॥

यशस्तिलक[1] में आचार्यश्री अन्य लौकिक शास्त्रोंके विषयमें भी अपनी उदार नीतिका निरूपण करते हुए कहते हैं कि आर्हद्दर्शनके माननेवाले जैनोंने उन लौकिक समस्त आचार-विचारोंको तथा वेद और स्मृति ग्रन्थोंको उतने अंशमें प्रमाण माना है जितने अंशमें उनके सम्यक्त्व और चारित्रमें बाधा नहीं आती—वे दूषित नहीं होते ॥ १ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंके समानधर्म—कर्त्तव्य—का निर्देशः—

अध्ययनं यजनं दानं च विप्रक्षत्रियवैश्यानां समानो धर्मः ॥५॥

अर्थः—शास्त्रोंका पढ़ना, देव, गुरु और धर्मकी भक्ति, स्तुति और पूजा तथा पात्रदान करना ये ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंके समान धर्म—समान-कर्त्तव्य हैं ॥ ५ ॥

नीतिकार कामन्दक[2] भी उक्त बातकी पुष्टि करता है कि 'पूजा करना, शास्त्रोंका पढ़ना और दान-देना यह ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंका समान धर्म है ॥१॥

हारीत[3]विद्वान्ने भी कहा है कि 'वेदोंका अभ्यास, ईश्वर-भक्ति और यथाशक्ति दान करना यह ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंका साधारण धर्म कहा गया है ॥१॥'

---

१ तथा च यशस्तिलके सोमदेवसूरिः—
सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न न यत्र व्रतदूषणम् ॥१॥
श्रुतिः शास्त्रान्तरं वास्तु प्रमाणं कात्र नः क्षतिः ॥ २ ॥

२ तथा चोक्तं कामन्दकेन—
इज्याध्ययनदानानि यथाशास्त्रं सनातनः।
ब्राह्मणक्षत्रियविशां सामान्यो धर्म उच्यते।
कामन्दकीयनीतिसार पृ० १८ श्लोक १८ ।

३ तथा च हारीतः—
वेदाभ्यासस्तथा यज्ञः स्वशक्त्या दानमेव च।
विप्रक्षत्रियवैश्यानां धर्मः साधारणः स्मृतः ॥१॥

द्विजातियोंका निर्देश:—

त्रयो वर्णाः द्विजातयः ॥६॥

अर्थ:—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीनों वर्ण द्विजाति कहे जाते हैं।

भावार्थ:—उक्त तीनों वर्णोंका शरीर-जन्मके सिवाय गर्भाधान-आदि संस्कारोंसे आत्म-जन्मभी होता है; अतएव आगममें इनको द्विजाति या द्विजन्मा कहा है ॥६॥

भगवज्जिनसेनाचार्य[1]ने भी कहा है कि एकवार गर्भसे और दूसरीवार गर्भाधान-आदि संस्कारोंसे इसप्रकार दो जन्मोंसे जो उत्पन्न हुआ हो उसे द्विजन्मा या द्विजाति कहते हैं, परन्तु जो उक्त गर्भाधानादि-संस्कारों और उनमें प्रयोग किये जाने वाले मन्त्रोंसे शून्य—संस्कारहीन—है वह केवल नाममात्रसे द्विज—ब्राह्मणहै, वास्तविक नहीं ॥१॥

ब्राह्मणोंके कर्त्तव्योंका विवरण:—

अध्यापनं याजनं प्रतिग्रहो ब्राह्मणानामेव ॥७॥

अर्थ:—ब्राह्मणोंका ही धर्म—जीविकोपयोगी कर्त्तव्य—शास्त्रोंका पढ़ाना, पूजा कराना और दान ग्रहण करना है ॥७॥

भगवज्जिनसेनाचार्य[2]ने भी कहा है कि शास्त्रोंका पढ़ना, पढ़ाना, दान देना-लेना और ईश्वरकी पूजा करना ये ब्राह्मणोंके कर्त्तव्य हैं ॥१॥

नीतिकार कामन्दक[3]ने भी कहा है कि 'ईश्वर-भक्ति कराना, शास्त्रोंका पढ़ाना, और विशुद्ध—शिष्ट—पुरुषसे दान ग्रहण करना ये तीन प्रकारके ब्राह्मणोंके जीविकोपयोगी कर्त्तव्य मुनियोंने कहे हैं ॥१॥

---

१ तथा च भगवज्जिनसेनाचार्यः—

द्विर्जातो हि द्विजन्मेष्टः क्रियातो गर्भतश्च यः।
क्रियामंत्रविहीनस्तु केवलं नामधारकः ॥१॥
आदिपुराण पर्व ३८ श्लोक ४८।

२ तथा च भगवज्जिनसेनाचार्यः—

अधीत्यध्यापने दानं [जिघृक्षेज्येति तत्क्रियाः]॥१॥
आदिपुराण पर्व १६ श्लो० २४६

नोट:—उक्त श्लोकका दूसरा चरण आदिपुराणमें 'प्रतिच्छेज्येति तत्क्रियाः' ऐसा अशुद्ध छपा हुआ था, जिससे अर्थसंगति ठीक नहीं होती थी, अतएव हमने उसे संशोधित और परिवर्तित करके लिखा है। सम्पादकः—

३ तथा च कामन्दकः—

याजनाध्यापने शुद्धे विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः।
वृत्तित्रयमिदं प्राहुर्मुनयो ज्येष्ठवर्णिनः ॥१॥
कामन्दकीय-नीतिसार।

भगवज्जिनसेनाचार्य[1]ने भी ब्राह्मणोंके धार्मिक और जीविकोपयोगी कर्त्तव्योंका निम्नप्रकार निर्देश किया है कि महाराज भरतने उपासकाध्ययन नामके अङ्गके आधारसे उन ब्राह्मणोंके लिये देवपूजा, वार्ता—विशुद्ध परिणामसे कृषि और व्यापार करना, पात्रोंको दान देना, शास्त्र-स्वाध्याय, संयम—सदाचार और तपश्चर्या करना इन ६ छह सत्कर्त्तव्योंका उपदेश दिया है ॥१॥

हारीत[2]विद्वान्ने भी कहा है कि 'ईश्वरभक्ति करना-कराना, शास्त्रोंका पढ़ना-पढ़ाना, दानदेना-लेना ये ६ कर्त्तव्य ब्राह्मणोंके हैं ॥१॥'

क्षत्रियोंका कर्त्तव्यनिर्देशः—

भूतसंरक्षणं शस्त्राजीवनं सत्पुरुषोपकारो दीनोद्धरणं रणेऽपलायनं चेति क्षत्रियाणाम् ॥८॥

अर्थः—प्राणियोंकी रक्षाकरना, शस्त्रधारण करके जीवन-निर्वाह करना, शिष्ट पुरुषोंकी भलाई करना, अनाथ—अन्धे, लूले-लँगड़े और रोगी आदि दीनपुरुषों—का उद्धार करना और युद्धसे न भागना ये क्षत्रियोंके कर्त्तव्य हैं।

पाराशर[3]विद्वान्ने भी कहा है कि 'क्षत्रिय वीरपुरुषको शस्त्र-धारण कर—उससे जीवन-निर्वाह करते हुए—सदा हिरणोंकी रक्षा, अनाथोंका उद्धार और सज्जन पुरुषोंकी पूजा—भलाई—करनी चाहिये ॥१॥

भगवज्जिनसेनाचार्य[4]ने कहा है कि इतिहासके आदि कालमें आदिब्रह्मा भगवान् ऋषभदेव तीर्थङ्करने अपने हाथोंमें शस्त्र-धारण करनेवाले क्षत्रिय वीर पुरुषोंको अन्यायी (आततायी) दुष्ट पुरुषोंसे प्रजाकीरक्षा करनेके लिये नियुक्त किया था ॥१॥

---

१ तथा च भगवज्जिनसेनाचार्यः—

इज्यां वार्तां❀ च दत्तिं च स्वाध्यायं संयमं§ तपः।
श्रुतोपासकसूत्रत्वात् स तेभ्यः समुपादिशत् ॥१॥
आदिपुराण पर्व ३८ श्लोक २४।

❀ वार्ता विशुद्धवृत्त्या स्यात् कृष्यादीनामनुष्ठितिः

§ संयमो व्रतधारणं—आदिपुराणे

२ तथा च हारीतः—

यजनं याजनं चैव पठनं पाठनं तथा।
दानं प्रतिग्रहोपेतं षट्कर्माणि द्विजन्मनां ॥१॥

३ तथा च पाराशरः—

क्षत्रियेण मृगाः पाल्याः शस्त्रहस्तेन नित्यशः।
अनाथोद्धरणं कार्यं साधूनां च प्रपूजनम् ॥१॥

४ तथा च भगवज्जिनसेनाचार्यः—

क्षतत्राणे नियुक्ता हि क्षत्रियाः शस्त्रपाणयः ॥१॥

भगवान् ऋषभदेवके राज्यशासन कालमें क्षत्रिय लोग शस्त्रोंसे जीविका करने वाले—शस्त्र धारण कर सेनामें प्रविष्ट होनेवाले—हुए ॥[३]॥

विशद-विवेचनः—

आचार्यश्री[1]ने यशस्तिलकचम्पूमें लिखा है कि प्राणियोंकी रक्षा करना क्षत्रियोंका महान् धर्म है परन्तु निरपराध प्राणियोंके वध करनेसे वह नष्ट हो जाता है।

इसलिये जो युद्ध भूमिमें लड़ाई करने तत्पर हो अथवा जो राष्ट्रका कंटक—प्रजाको पीड़ा पहुँचाने वाला अन्यायी—दुष्ट—हो उसीके ऊपर क्षत्रिय वीर पुरुष शस्त्र उठाते हैं—उनका निग्रह करते हैं। गरीब, कमजोर और धार्मिक शिष्ट पुरुषोंपर नहीं ॥१॥

अतएव निरर्थक जीव-हिंसाका त्याग करनेके कारण क्षत्रिय वीर पुरुषोंको जैनाचार्योंने व्रती—धार्मिक—माना है। इन्हीं क्षत्रिय वीर पुरुषोंके वंशमें अहिंसा धर्मके मूल-प्रवर्तक और उनके अनुयायी महापुरुषोंका जन्म हुआ है; क्योंकि २४ तीर्थङ्कर, १२ चक्रवर्ती, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण और ९ बलभद्र ये ६३शलाका-पुरुष क्षत्रिय थे। इन सभीने अपने २ राज्यशासन कालमें उक्त क्षत्रियोंके सत्कर्तव्यों—प्राणियोंकी रक्षा, शस्त्रधारण और शिष्टपालन आदि—का पालन किया था।

श्रीषेण राजाने जिनदीक्षा धारणकी प्रयाण-वेलामें अपने युवराज वीरपुत्र श्रीवर्मा—चन्द्रप्रभ भगवान्‌की पूर्वपर्याय—को निम्न प्रकार क्षात्रधर्मका उपदेश दिया था जिसे वीरनन्दि-आचार्यने[2] चन्द्रप्रभचरित्रमें ललित और मनोहारिणी पद्यरचनामें गुम्फित किया है प्राकरणिक और उपयुक्त होनेके कारण उसका निर्देश करते हैं:—

हे पुत्र! तुम विपत्ति-रहित या जितेन्द्रिय और शान्तशील होकर अपने तेज—सैनिक शक्ति और खजानेकी शक्ति—से शत्रुओंके उदयको मिटाते हुए समुद्रपर्यन्त पृथ्वी-मंडलका पालन करो ॥१॥

क्षत्रियाः शस्त्रजीवित्वमनुभूय तदाऽभवन् ॥[३]॥

आदिपुराण पर्व १६।

१ तथा च यशस्तिलके सोमदेवसूरिः—

गद्य—भूतसंरक्षणं हि क्षत्रियाणां महान् धर्मः, स च निरपराधप्राणिवधे निराकृतः स्यात्।

पद्य—यः शस्त्रवृत्तिः समरे रिपुः स्यात्।
यः कण्टको वा निजमण्डलस्य ॥
अस्त्राणि तत्रैव नृपा क्षिपन्ति।
न दीनकानीनशुभाशयेषु ॥ १ ॥

२ तथा च वीरनन्दि-आचार्यः—

भवानपास्तव्यसनो निजेन धाम्नाऽधिमर्यादमिमामिदानीम्।
महीमशेषामपहस्तितारिवर्गोदयः पालयतु प्रशान्तः ॥१॥

(शेष अगले पृष्ठपर)

जिस तरह सूर्यके उदयसे चक्रवाक पक्षी प्रसन्न होते हैं उसीतरह जिसमें सब प्रजा तुम्हारे अभ्युदय से खेद-रहित—सुखी-हो, वही गुप्तचरों—जासूसों—के द्वारा देख-जानकर करो। ॥२॥

हे पुत्र! वैभवकी इच्छासे तुम अपने हितैषी लोगोंको पीड़ा मत पहुँचाना; क्योंकि नीति-विशारदोंने कहा है कि प्रजाको खुश रखना—अपने पर अनुरक्त बनाना अथवा प्रजासे प्रेमका व्यवहार करना—ही वैभवका मुख्य कारण है। ॥३॥

जो राजा विपत्ति रहित होता है उसे नित्यही सम्पत्ति प्राप्त होती हैं और जिस राजाका अपना परिवार वशवर्ती है, उसे कभी विपत्तियाँ नहीं होतीं। परिवारके वशवर्ती न होनेसे भारी विपत्तिका सामना करना पड़ता है ॥४॥

परिवारको अपने वश करनेके लिये तुम कृतज्ञता-सद्गुणका सहारा लेना। कृतघ्न पुरुषमें और सब गुण होने परभी वह सब लोगोंको विरोधी बना लेता है। ॥५॥

हे पुत्र! तुम कलि-दोष जो पापाचरण है उससे बचे रह कर 'धर्म'की रक्षा करते हुए 'अर्थ' और 'काम'को बढ़ाना। इस युक्तिसे जो राजा त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ और काम—का सेवन करता है, वह इसलोक और परलोक दोनोंमें सुख प्राप्त करता है। ॥६॥

सावधान रहकर सदा मंत्री-पुरोहित आदि बड़े ज्ञान-वृद्धोंकी सलाहसे अपने कार्य करना। गुरु (एकपक्षमें उपाध्याय और दूसरे पक्षमें बृहस्पति) की शिक्षा प्राप्त करके ही नरेन्द्र सुरेन्द्रकी शोभा या वैभव को प्राप्त होता है ॥७॥

प्रजाको पीड़ित करनेवाले कर्मचारियोंको दंड देकर और प्रजाके अनुकूल कर्मचारियोंको दान-मानादिसे तुम बढ़ाना। ऐसा करनेसे बन्दीजन तुम्हारी कीर्तिका कीर्त्तन करेंगे और उससे तुम्हारी कीर्ति दिग्दिगन्तरमें व्याप्त होजायगी ॥८॥

यथा भवत्यभ्युदिते जनोऽयमानन्दमायाति निरस्तखेदः।
सहस्ररश्माविव चक्रवाको वृत्तं तदेवाचर चारचक्षुः ॥२॥
वाञ्छन्विभूतीः परमप्रभावा मोद्वीविजस्त्वं जनमात्मनीनम्।
जनानुरागं प्रथमं हि तासां निबंधनं नीतिविदो वदन्ति ॥३॥
समागमो निर्व्यसनस्य राज्ञः स्यात् संपदां निर्व्यसनत्वमस्य।
वश्ये स्वकीये परिवार एव तस्मिन्नवश्ये व्यसनं गरीयः ॥४॥
विधित्सुरेनं तदिहात्मवश्यं कृतज्ञतायाः समुपेहि पारम्।
गुणैरुपेतोऽप्यपरैः कृतघ्नः समस्तमुद्वेजयते हि लोकम् ॥५॥
धर्माविरोधेन नयस्व वृद्धिं त्वमर्थकामौ कलिदोषमुक्तः।
युक्त्या त्रिवर्गं हि निषेवमाणो लोकद्वयं साधयति क्षितीशः ॥६॥
वृद्धानुमत्या सकलं स्वकार्यं सदा विधेहि प्रहतप्रमादः।
विनीयमानो गुरुणा हि नित्यं सुरेन्द्रलीलां लभते नरेन्द्रः ॥७॥
निगृह्णतो बाधकरान् प्रजानां भृत्यांस्ततोऽन्यान्नयतोऽभिवृद्धिम्।
कीर्तिस्तवाशेषदिगन्तराणि व्याप्नोतु बन्दिस्तुतकीर्तनस्य ॥८॥

तुम सदा अपनी चित्तवृत्ति—मानसिक अभिलषित कार्य—को छिपाये रखना। काम करनेसे पहले यह न प्रकट हो कि तुम क्या करना चाहते हो ? क्योंकि जो पुरुष अपने मन्त्र—सलाह—को छिपाये रखते हैं और शत्रुओंके मन्त्रको फोड़-फाड़कर जान लेते हैं वे शत्रुओंके लिये सदा अगम्य (न जीतने योग्य) रहते हैं। ॥९॥

जैसे सूर्य तेजसे परिपूर्ण है और सब आशाओं—दिशाओं—को व्याप्त किये रहता है तथा भूभृत् जो पर्वत हैं उनके शिरका अलङ्कार रूप है उसके कर—किरणें—बाधाहीन होकर पृथ्वीपर पड़ती हैं, वैसे ही तुमभी तेजस्वी होकर सबकी आशाओंको परिपूर्ण करो और भूभृत् जो राजा लोग हैं उनके सिर-ताज बनो, तुम्हारा कर—टेक्स—पृथ्वीपर बाधाहीन होकर प्राप्त हो —अनिवार्य हो ॥१०॥

इस प्रकार राजाने उक्त नैतिक शिक्षाके साथ साम्राज्य-सम्पत्ति अपने पुत्र—श्रीवर्मा—को दी। उसने भी पिताके अनुरोधसे उसे स्वीकार किया। सुपुत्र वही है जो पिताके अनुकूल कार्य करे ॥११॥

निष्कर्ष:—५ वें सूत्रमें निर्दिष्ट—शास्त्रोंका अध्ययन, ईश्वर-भक्ति और पात्रदान—के साथ २ उक्त प्राणि रक्षा आदि सत्कर्त्तव्य क्षत्रियोंके जानने चाहिये ॥८॥

वैश्योंका धर्मनिर्देश:—

वार्ताजीवनमावेशिकपूजनं सत्रप्रपापुण्यारामदयादानादिनिर्मापणं च विशाम्[1] ॥९॥

अर्थ:—वैश्योंका धर्म—खेती, पशुओंकी रक्षा; व्यापार द्वारा जीवन-निर्वाह करना, निष्कपट भावसे ईश्वरकी पूजा करना, सदा अन्न-वितरण करनेके स्थान—सदावर्त्त—पानी पिलानेके स्थान—प्याऊ—बनवाना, अन्य पुण्य-कार्य—शिक्षामन्दिर, कन्या-विद्यालय और विधवाश्रम आदि—बनाना, जनताके विहारके लिये बगीचे बनवाना और प्राणियोंकी रक्षाके लिये दानशालाएं आदि स्थापित करना है।

कुर्याः सदा संवृतचित्तवृत्तिः फलानुमेयानि निजेहितानि।
गूढात्ममन्त्रः परमन्त्रभेदी भवत्यगम्यः पुरुषः परेषाम् ॥९॥

तेजस्विनः पूरयतोऽखिलाशा भूभृच्छिरःशेखरतां गतस्य।
दिनाधिपस्येव तवाऽपि भूयात् करप्रपातो भुवि निर्विबन्धः ॥१०॥

इति क्षितीशः सह शिक्षयाऽसौ विश्राणयामास सुताय लक्ष्मीम्।
सोऽपि प्रतीयेष गुरूपरोधात् पितुः सुपुत्रो ह्यनुकूलवृत्तिः ॥११॥

चन्द्रप्रभचरिते वीरनन्दि-आचार्यः ४ था सर्ग श्लोक ३४ से ४१

१ पशुपवार्ताजीवनं वैश्यानाम्' ऐसा पाठ मु० और ह० लि० मू० प्रतियोंमें है जिसका अर्थ:—व्यापार, कृषि और गो-पालन द्वारा जीवन-निर्वाह करना ये वैश्योंके कर्त्तव्य हैं।

भगवज्जिनसेनाचार्य[1]ने कहा है कि तीर्थङ्करों-आदिकी पूजा करना, विशुद्ध वृत्तिसे खेती, पशुपालन और व्यापार द्वारा जीविका करना, पात्रदान, शास्त्र-स्वाध्याय, सदाचार—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह-परिमाण तथा तपश्चर्या करना ये वैश्योंके कर्त्तव्य उपासकाध्ययन सूत्रके आधारसे निर्दिष्ट किये गये हैं ॥२॥

वैश्योंका कर्त्तव्य कृषि, व्यापार और पशुपालन द्वारा जीवन-निर्वाह करना है ॥३॥

शुक्र[2] विद्वान्ने भी कहा है कि कृषि—खेती, गो-रक्षा, निष्कपट भावसे ईश्वरकी पूजा करना आदि तथा अन्न बाँटनेके स्थान—सदावर्त आदि बनवाना एवं अन्य पुण्यकार्य—दानशालाएं संस्थापित—करना ये वैश्योंके कर्त्तव्य कहे गये हैं ॥१॥

निष्कर्ष:—वैश्योंके उक्त कर्त्तव्योंमें खेती, पशुपालन और व्यापार ये जीवन-निर्वाहमें उपयोगी हैं एवं अन्य नैतिक और धार्मिक समझने चाहिये ॥६॥

शूद्रोंके कर्त्तव्य:—

त्रिवर्णोपजीवनं कारुकुशीलवकर्म पुण्यपुटवाहनं च शूद्राणां[3] ॥१०॥

अर्थ:—शूद्रोंका अपना धर्म—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंकी सेवा-शुश्रूषा करना, शिल्पकला—चित्रकला आदि, गीत, नृत्य और वादित्र—गाना, नाचना और बजाना और भाट-चारण आदि का कार्य करना एवं भिक्षुकोंकी सेवा करना है ॥१०॥

पाराशर[4] विद्वान्ने भी कहा है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों वर्णोंकी सेवा-शुश्रूषा, शिल्पकला, गाने, नाँचने और बजानेसे जीविका करना और भिक्षुकोंकी सेवा करना एवं अन्य दान-पुण्यादि कार्य करना शूद्रोंको विरुद्ध नहीं है ॥१॥

---

१ तथा च भगवज्जिनसेनाचार्यः—

इज्यां वार्तां च दत्तिं च स्वाध्यायं संयमं तपः।
श्रुतोपासकसूत्रत्वात् स तेभ्यः समुपादिशत् ॥१॥
वैश्याश्च कृषिवाणिज्यपशुपाल्योपजीविनः ॥२॥
आदिपुराणसे।

२ तथा च शुक्रः—
कृषिकर्म गवां रक्षा यशाद्यं दम्भवर्जितम्।
पुण्यानि सत्रपूर्वाणि वैश्यवृत्तिरुदाहृता ॥१॥

३ 'कारुकुशीलवकर्म शकटोपवाहनं च शूद्राणां' ऐसा पाठ मु० और ह० लि० मू० प्रतियोंमें वर्तमान है जिसका अर्थ:—भिक्षुकोंकी सेवाके स्थानमें बैल-गाडीसे बोझा ढोकर जीविका करना यह विशेष है, बाकी पूर्ववत्।

४ तथा च पाराशरः—

वर्णत्रयस्य शुश्रूषा नीचचारणकर्म च।
भिक्षूणां सेवनं पुण्यं शूद्राणां न विरुद्ध्यते ॥१॥

भगवज्जिनसेनाचार्य[1]ने भी कहा है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन उत्तम वर्णोंकी सेवा-शुश्रूषा करना और शिल्पकला—चित्रकला—आदिसे जीविका करना इत्यादि शूद्रोंकी जीविका अनेक प्रकारकी निर्दिष्ट कीगई है ॥१०॥

प्रशस्त—उत्तम—शूद्रोंका निरूपण:—

सकृत् परिणयनव्यवहाराः सच्छूद्राः ॥११॥

अर्थ:—जिनके यहाँ कन्याओंका एकबार ही विवाह होता है—पुनर्विवाह नहीं होता—वे सत्—प्रशस्त (उत्तम) शूद्र कहे गये हैं।

विमर्श:—भगवज्जिनसेनाचार्य[2]ने शूद्रोंके दो भेद किये हैं १ कारु २ अकारु। धोबी, नाई और चमार आदि कारू और उनसे भिन्न अकारु। कारु भी दोप्रकारके हैं १ स्पृश्य—स्पर्श करनेयोग्य और २ अस्पृश्य—स्पर्श करनेके अयोग्य। प्रजासे अलग रहने वाले—चमार और भंगी आदि—अस्पृश्य और नाई वगैरह स्पृश्य कहे जाते हैं।

यद्यपि उक्त भेदोंमें सत्-शूद्रोंका कहीं भी उल्लेख नहीं है, परन्तु आचार्यश्रीका अभिप्राय यह है कि स्पृश्य-शूद्रों—नाई वगैरह—में से जिनमें पुनर्विवाह नहीं होता उन्हे सत्-शूद्र समझना चाहिये।

क्योंकि पिंडशुद्धिके कारण उनमें योग्यताके अनुकूल धर्म धारण करनेकी पात्रता है ॥११॥

प्रशस्त शूद्रोंमें ईश्वरभक्ति-आदिकी पात्रता:—

आचारानवद्यत्वं शुचिरुपस्करः शारीरी च विशुद्धिः
करोति शूद्रमपि देवद्विजतपस्विपरिकर्मसु योग्यम्[3] ॥१२॥

अर्थ:—सदाचारका निर्दोष पालन—मद्यपान और माँस-भक्षणादिको त्यागकर अहिंसा, सत्य, अचौर्य ब्रह्मचर्य और परिग्रहपरिमाण इन पाँचों व्रतोंका एकदेश—अणुव्रत रूपसे—पालन करना, गृहके वर्तन और वस्त्रादिकोंकी शुद्धि—स्वच्छता और शारीरिक-शुद्धि—अहिंसा आदि व्रतोंका पालनरूप प्रायश्चित्त विधिसे शरीरको विशुद्धकरना ये सद्गुण प्रशस्त शूद्रको भी ईश्वर भक्ति तथा द्विज—ब्राह्मण और तपस्वियोंकी सेवाके योग्य बना देते हैं।

निष्कर्ष:—उक्त ११वें सूत्रमें आचार्यश्रीने प्रशस्तशूद्रका लक्षण-निर्देश किया था। १२वें सूत्रद्वारा निर्देश करते हैं कि उनमें उक्त आचार-विशुद्धि और गृहके उकरणोंकी शुद्धि आदिका होना अनिवार्य है तभी वे ईश्वर, द्विजाति और तपस्वियोंकी सेवाके योग्य हो सकते हैं; अन्यथा नहीं। यह आचार्यश्री का अभिप्राय है ॥१२॥

---

१ तथा च भगवज्जिनसेनाचार्यः—

वर्णोत्तमेषु शुश्रूषा तद्वृत्तिर्नैकधा स्मृता ॥१०॥

आदिपुराण पर्व १६

२ देखो आदिपुराण पर्व १६ या नीतिवाक्यामृत पृष्ट ६५ वां।

३ आचाराऽनवद्यत्वं शुचिरुपस्करः शरीरशुद्धिश्च करोति शूद्रानपि देव द्विजाति तपस्वि परिकर्मसु योग्यान्" ऐसा पाठ मु० मू० पुस्तकमें है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है।

चारायण[1] नामके विद्वान्ने लिखा है कि 'मकानके वर्तनोंकी शुद्धि, आचारकी पवित्रता और शारीरिक शुद्धि ये गुण सत् शूद्रको भी देवादिकी सेवाके योग्य बना देते हैं ॥१॥'

समस्त ब्राह्मणादि चारों वर्णोंके समान धर्मका निर्देश:—

आनृशंस्यममृषाभाषित्वं परस्वनिवृत्तिरिच्छानियमः प्रतिलोमाविवाहो[2] निषिद्धासु च स्त्रीषु ब्रह्मचर्यमिति सर्वेषां समानो धर्मः ॥ १३ ॥

अर्थ:—समस्त प्राणियोंपर दया करना, सत्यभाषण, अचौर्य, इच्छाओंको रोकना, स्वजातिमें गोत्रको टालकर विवाहसंबंध और परस्त्रियोंमें ब्रह्मचर्य—मातृ-भगिनी-भाव यह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णोंका समान धर्म है ॥१३॥

भागुरि[3] विद्वान्ने लिखा है कि 'समस्त प्राणियोंमें दयाका वर्ताव, सत्य बोलना, चोरीका त्याग, इच्छाओंका नियम (रोकना), स्वजातिमें विवाह करना और परस्त्री सेवनका त्याग करना यह समस्त वर्णोंका कल्याण करनेवाला समान धर्म है ॥१॥'

साधारण धर्म तथा विशेष धर्मका निर्देश:—

आदित्यावलोकनवत् धर्मः खलु सर्वसाधारणो विशेषानुष्ठाने तु नियमः ॥१४॥

अर्थ:—पूर्वोक्त साधारण धर्म—अहिंसा, सत्य और अचौर्य-आदि—सूर्यके देखनेकी तरह समस्त वर्णोंका समान है—जिसप्रकार सूर्यका दर्शन सभी वर्णोंके लोग करते हैं, उसीप्रकार उक्त धर्म भी सभी वर्णोंके मनुष्योंको समानरूपसे पालन करना चाहिये, परन्तु प्रत्येक वर्ण और आश्रमके विशेष कर्त्तव्य भिन्न २ कहे गये हैं।

नारद[4] विद्वान्ने लिखा है कि 'महर्षियोंने जिस वर्णके जो कर्त्तव्य निर्देश किये हैं उन्हें उस वर्णवालेको पालन करना चाहिये। केवल सर्वसाधारण धर्मका पालन करके ही सन्तुष्ट नहीं होना चाहिये ॥१॥'

---

१ तथा च चारायणः—

गृहपात्राणि शुद्धानि व्यवहारः सुनिर्मलः ।
कायशुद्धिः करोत्येव योग्यं देवादिपूजने ॥१॥

२ 'प्रातिलोम्याविवाहो' ऐसा पाठ मु० मू० पुस्तकमें है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है।

३ तथा च भागुरिः—

दयां सत्यमचौर्यं च नियमः स्वविवाहकम् ।
असतीवर्जनं कार्यं [धर्मः सार्वः प्रकीर्तितः] ॥१॥

नोट:—उक्त श्लोकके चतुर्थचरणमें 'धर्मः सर्वैः रितौन्तः' ऐसा अशुद्ध पाठ मु० मू० पुस्तकमें था उसे हमने उक्त नवीन पद्यरचना करके संशोधित एवं परिवर्तित किया है। सम्पादक—

४ तथा च नारदः—

यस्य वर्णस्य यत् प्रोक्तमनुष्ठानं महर्षिभिः ।
तत्कर्तव्यं विशेषोऽयं तुल्यधर्मो न केवलं ॥१॥

निष्कर्ष:—अहिंसा और सत्य-आदि साधारण धर्म सभी वर्णवाले पुरुषोंको पालन करना चाहिये, परन्तु विशेष धर्ममें यह बात समझनी चाहिये कि शास्त्रकारोंने जिस वर्ण या जिस आश्रमके जो २ विशेष कर्त्तव्य बताये हैं वे कर्त्तव्य उस वर्ण और उस आश्रमको विधेय—पालने योग्य हैं, अन्य को नहीं ॥१४॥

साधुओंका कर्त्तव्य:—

निजागमोक्तमनुष्ठानं यतीनां स्वो धर्मः ॥१५॥

अर्थ:—अपने शास्त्र—आचारशास्त्र—में कहे हुए कर्त्तव्योंका पालन करना मुनियोंका अपना धर्म है ॥ १५ ॥

चारायण[1] विद्वान्ने लिखा है कि अपने आगममें कहे हुए कर्त्तव्योंका पालन करना साधुओंका धर्म कहा गया है, इससे भिन्न अधर्म है ॥१॥

कर्तव्य-च्युत होनेपर साधुका कर्तव्य:—

स्वधर्मव्यतिक्रमेण यतीनां स्वागमोक्तं प्रायश्चित्तम्[2] ॥१६॥

अर्थ:—यदि मुनि लोग अपने कर्तव्यसे च्युत हों तो उन्हें अपने आगम—प्रायश्चित्त-शास्त्रमें कहा हुआ प्रायश्चित्त कर लेना चाहिये ॥१६॥

अभीष्ट-देवकी प्रतिष्ठाका निर्देश:—

यो यस्य देवस्य भवेच्छ्रद्धावान् स तं देवं प्रतिष्ठापयेत्[3] ॥१७॥

अर्थ:—जो मनुष्य जिस देवमें श्रद्धायुक्त है उसे उसकी प्रतिष्ठा—उपासना—करनी चाहिये❀।

विमर्श:—यद्यपि आराध्य देवके विषयमें कही हुई उक्त बात राजनैतिक उदार दृष्टि-कोणसे अनुकूल होनेपर भी धर्म-नीतिसे कुछ असम्बद्ध—आर्हद्दर्शनसे प्रतिकूल (विरुद्ध) प्रतीत होती है; क्योंकि इसमें आराध्य—पूज्य—देवके वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी आदि सद्गुणोंकी उपेक्षा की गई है। परन्तु ऐसा नहीं है; क्योंकि आचार्यश्रीने आगे दिवसानुष्ठान समुद्देशके ६६वें सूत्र 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषो देवः' में स्पष्टीकरण किया है, कि ऐसे पुरुषश्रेष्ठको देव—ईश्वर—कहते हैं; जोकि समस्त प्रकार

---

१ तथा च चारायणः—
स्वागमोक्तमनुष्ठानं यत् स धर्मो निजः स्मृतः।
लिङ्गिनामेव सर्वेषां योऽन्यः सोऽधर्मलक्षणः ॥१॥

२ 'धर्मव्यतिक्रमे यतीनां निजागमोक्तमेव प्रायश्चित्तम्' ऐसा मु० मू० पुस्तकमें पाठ है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है।

३ यो यस्मिन् देवे श्रद्धावान् स खलु तं देवं प्रतिष्ठापयेत्' ऐसा मु० मू० और ह० लि० मू० प्रतियोंमें पाठ है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं।

❀ आचार्यश्रीने यह बात अपने राजनैतिक उदार दृष्टि-कोणसे कही है कि जिस वर्णका व्यक्ति जिस देवमें श्रद्धा रखता है उसे उसकी उपासना करनी चाहिये। ऐसा होनेसे उदार-दृष्टियुक्त राजाके द्वारा प्रजा वर्गके किसी व्यक्तिको ठेस नहीं पहुंच सकती।

के जन्म, जरा और मरणादि दुःखोंसे, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिया कर्मोंसे तथा इन कर्मोंके उदयसे होने वाले राग, द्वेष और मोह-आदि भाव कर्मोंसे एवं पापकर्मोंकी कालिमासे रहित हो और सर्वज्ञ तथा संसारको दुःख समुद्रसे उद्धार करने वाला हो।

एवं यशस्तिलक चम्पू[1]में भी आचार्यश्रीने लिखा है कि आप्त—ईश्वर-के स्वरूपको जाननेमें प्रवीण शास्त्रकारोंने कहा है कि जो सर्वज्ञ, सर्व लोकका ईश्वर—संसारका दुःख समुद्रसे उद्धार करनेवाला—क्षुधा और तृषा आदि १८ दोषोंसे रहित (वीतराग) एवं समस्त प्राणियोंको मोक्षमार्गका प्रत्यक्ष उपदेश करने वाला है ऐसे तीर्थङ्कर प्रभुको सत्यार्थ 'ईश्वर' कहते हैं ॥१॥

आराध्य ईश्वरका सर्वज्ञ होना नितान्त आवश्यक है; क्योंकि यदि अज्ञ—मूर्ख—मोक्षमार्गका उपदेश देगा, तो उसके वचनोंमें अनेक प्रकारके विरोध-आदि दोष होंगे। इसलिये इससे भयभीत सज्जन पुरुष ज्ञानवान् वक्ताकी खोज करते हैं एवं उसके द्वारा कहे हुए वचनोंको प्रमाण मानते हैं ॥२॥

जो तीर्थङ्कर प्रभु मोक्षोपयोगी तत्वदेशनासे संसारके प्राणियोंका दुःख-समुद्रसे उद्धार करता है; इसलिये जिसके चरणकमलोंमें तीनों लोकोंके प्राणी नम्र होगये हैं वह सर्वलोकका ईश्वर क्यों नहीं है? अवश्य है ॥३॥

क्षुधा, पिपासा, भय, द्वेष, चिन्ता, अज्ञान, राग, जरा, रोग, मृत्यु, क्रोध, खेद, मद, रति, आश्चर्य, जन्म, निद्रा और विषाद ये १८ दोष संसारके समस्त प्राणियोंमें समानरीतिसे पाये जाते हैं, अतः इन १८ दोषोंसे रहित निरञ्जन—पापकर्मोंकी कालिमासे रहित (विशुद्ध) और केवलज्ञानरूप नेत्रसे युक्त (सर्वज्ञ) तीर्थङ्कर ही आप्त होसकता है एवं वही द्वादशाङ्ग शास्त्रोंका वक्ता होसकता है ॥४-५-६॥ उक्त असाधारण सद्गुण ऋषभादि-महावीरपर्यन्त तीर्थङ्करोंमें वर्तमान हैं; अतएव आचार्यश्रीके उक्त प्रमाणोंसे हम इन

---

१ सर्वज्ञं सर्वलोकेशं सर्वदोषविवर्जितम्।
सर्वसत्वहितं प्राहुराप्तमाप्तमतोचिताः ॥१॥
ज्ञानवन्मृग्यते कैश्चित्तदुक्तं प्रतिपद्यते।
अज्ञोपदेशकरणे विप्रलम्भनशङ्किभिः ॥२॥
यस्तत्वदेशनाद्दुःखवार्धेरुद्धरते जगत्।
कथं न सर्वलोकेशः प्रह्वीभूतजगत्त्रयः ॥३॥
क्षुत्पिपासा भयं द्वेषश्चिन्तनं मूढतागमः।
रागो जरा रुजा मृत्युः क्रोधः स्वेदो मदो रतिः ॥४॥
विस्मयो जननं निद्रा विषादोऽष्टादश ध्रुवाः।
त्रिजगत्सर्वभूतानां दोषाः साधारणा इमे ॥५॥
एभिर्दोषैर्विनिर्मुक्तः सोऽयमाप्तो निरञ्जनः।
स एव हेतुः सूक्तीनां केवलज्ञानलोचनः ॥६॥
यशस्तिलके सोमदेवसूरिः—आ० ६

तथ्यपर पहुँचे हैं कि उक्त ऋषभदेवसे लेकर महावीरस्वामी पर्यन्त चतुर्विंशति-२४ तीर्थङ्करोंमें से जो मनुष्य जिस तीर्थङ्करमें श्रद्धा रखता है उसे उसकी प्रतिष्ठा--भक्ति, पूजा या उपासना करनी चाहिये ऐसा आचार्यश्रीका अभिप्राय है ॥१७॥

विना भक्तिके उपासना किये हुए देवसे हानिः—

अभक्त्या पूजोपचारः सद्यः शापाय[1] ॥१८॥

अर्थः—श्रद्धाके विना की हुई ईश्वर-भक्ति तत्काल अनिष्ट करनेवाली होती है।

भावार्थ—जिस प्रकार विना श्रद्धाके सेवन की हुई औषधि अरोग्यता न करके उल्टी बीमारीको बढ़ाती है, उसी प्रकार विना श्रद्धाके उपासना किया हुआ देव भी अनिष्ट कारक होता है। क्योंकि उससे भक्तके मानसिक-क्षेत्रमें विशुद्ध भावनाओंका बीजारोपण नहीं होता अतः उसे कोई लाभ नहीं होता ॥१८॥

वर्ण-आश्रमके लोगोंके कर्तव्य-च्युत होनेपर उनकी शुद्धिका निर्देशः—

वर्णाश्रमाणां स्वाचारप्रच्यवने[2] त्रयीतो विशुद्धिः ॥१९॥

अर्थः—जब ब्राह्मण-आदि वर्णोंके तथा ब्रह्मचारी और गृही-आदि आश्रमोंके मनुष्य अपने २ धर्म—कर्त्तव्य—से विचलित होने लगें तो उनको अपने २ धर्मशास्त्र--आचारशास्त्र—संबंधी प्रायश्चित्त-विधान द्वारा अपनी विशुद्धि कर लेनी चाहिये ॥१९॥

राजा और प्रजाको त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ और काम—की प्राप्तिका उपायः—

स्वधर्माऽसंकरः प्रजानां राजानं त्रिवर्गेणोपसन्धत्ते[3] ॥२०॥

अर्थः—जिस राज्यमें अपने धर्मका संकर—एक वर्णवाले मनुष्योंके धर्ममें दूसरे वर्णवाले मनुष्योंके धर्मका मिश्रण (मिलावट) नहीं होता अर्थात् समस्त ब्राह्मणादि वर्णोंके मनुष्य अपने २ धर्मका पालन स्वतन्त्र रीतिसे करते हैं, वहाँ राजा और प्रजाके लोग धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थोंसे अलंकृत होते हैं ॥२०॥

नारद[4] विद्वान्ने लिखा है कि 'जिसके राज्यमें प्रजाके धर्ममें वर्णसंकरता—एक वर्णवालेके कर्त्तव्यमें दूसरे वर्णवालेके कर्तव्योंकी मिलावट—नहीं है, उसको धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ प्राप्त होते हैं ॥१॥'

---

१ 'अभक्तैः कृतः पूजोपचारः सद्यः शापाय भवति' ऐसा मु. मू. प्रतिमें पाठ है परन्तु अर्थ-भेद कुछ नहीं।

२ 'स्वाचारप्रच्युतौ' ऐसा मु० मू० पुस्तकमें पाठ है अर्थभेद कुछ नहीं।

३ 'स्वस्वधर्माऽसङ्करः प्रजां राजानं च त्रिवर्गेणोपसन्धत्ते' ऐसा मु. मू. पुस्तकमें पाठ है परन्तु अर्थ-भेद कुछ नहीं। सम्पादक—

४ तथा च नारदः :—
न भूयाद्यत्र देशे तु प्रजानां वर्णसंकरः।
तत्र धर्मार्थकामं च भूपतेः सम्प्रजायते ॥१॥

कर्त्तव्य-च्युत राजाकी कड़ी आलोचना:—

स किं राजा यो न रक्षति प्रजाः ॥२१॥

अर्थ:—जो अपनी प्रजाकी रक्षा—पालन—नहीं करता, वह राजा निंद्य है।

व्यास[1] विद्वान्‌ने भी लिखा है कि 'जो राजा विषयभोगोंमें आसक्त होकर अपनी प्रजाका पालन भलीभाँति नहीं करता, वह राजा नहीं किन्तु कायर पुरुष है ॥१॥'

निष्कर्ष:—राजाको अपनी प्रजाकी रक्षा भलीभाँति करनी चाहिये ॥२१॥

अपने २ धर्मका उल्लंघन करनेवालोंके साथ राजाका कर्त्तव्य:—

स्वधर्ममतिक्रामतां सर्वेषां पार्थिवो गुरुः ॥२२॥

अर्थ:—यदि ब्राह्मण-आदि वर्ण और ब्रह्मचारी-आदि आश्रमके सब लोग अपने २ धर्मका उल्लंघन करने लगें उस समय उनको रोकनेके लिये राजा ही समर्थ होता है ॥२२॥

भृगु[2] विद्वान्‌ने लिखा है कि 'जिस प्रकार महावत उन्मत्त हाथीको अंकुशकी शक्तिसे उन्मार्गपर जानेसे रोक लेता है उसी प्रकार राजा भी लोगोंको उन्मार्गपर जानेसे रोक लेता है—दंड शक्तिसे उन्हें अपने धर्मपर आरूढ़ कर देता है ॥१॥

प्रजाका पालन करनेवाले राजाका धार्मिक लाभ—

परिपालको हि राजा सर्वेषां धर्मषष्ठांशमवाप्नोति[3] ॥२३॥

अर्थ:—जो राजा समस्त वर्णाश्रम-धर्मकी रक्षा करता है वह उस धर्मके छठे भागके फलको प्राप्त होता है ॥२३॥

मनु[4] विद्वान्‌ने लिखा है कि 'जो राजा समस्त वर्णाश्रम-धर्मकी रक्षा करता है—उसे नष्ट होनेसे बचा लेता है—वह उस धर्मके छठवें अंशके फलको निस्संदेह प्राप्त होता है ॥१॥'

---

१ तथा च व्यासः :—
यो न राजा प्रजाः सम्यग्भोगासक्तः प्ररक्षति।
स राजा नैव राजा स्यात् स च कापुरुषः स्मृतः ॥१॥

२ तथा च भृगुः :—
उन्मत्तं यथा नागं महामात्रो निवारयेत्।
उन्मार्गेण प्रगच्छन्तं तद्वच्चैव जनं नृपः ॥१॥

३ 'परिपालको हि राजा सर्वेषां धर्माणां षष्ठांशमाप्नोति' ऐसा मु. मू. पुस्तकमें पाठ है, परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं।

४ तथा च मनुः :—
वर्णाश्रमाणां यो धर्मं नश्यन्तं च प्ररक्षति।
षष्ठांशं तस्य धर्मस्य स प्राप्नोति न संशयः ॥१॥

अन्यमतोंके तपस्वियों द्वारा राजाका सम्मानः—

यदाह वैवस्वतो मनुः§

'उञ्छषड्भागप्रदानेन वनस्था अपि तपस्विनो राजानं सम्भावयन्ति ।।२४।।
तस्यैव तद्भूयात् यस्तान् गोपायति' इति ।२५।।

अर्थः—वैवस्वतमनु❀ हिन्दू-धर्मका शास्त्रकार-ने कहा है कि वनवासी तपस्वी लोग भी जो कि स्वामी-रहित एवं निर्जन पर्वत-आदि प्रदेशोंमें वर्तमान धान्यादिके कणोंसे अपना जीवन-निर्वाह करते हैं, राजा को अपने द्वारा संचित धान्य-कणोंका छठवाँ भाग देकर अपने द्वारा किये हुए तपके छठवें भागसे उसकी उन्नतिकी कामना करते हैं, एवं अपनी क्रियाके अनुष्ठानके समय यह संकल्प करते हैं कि 'जो राजा तपस्वि-योंकी रक्षा करता है उसको ही हमारे द्वारा आचरण किया हुआ तप या उसका फल प्राप्त होवे'।

भावार्थः—वैष्णव सम्प्रदायके तपस्वी गण भी न्यायवान् राजाकी उन्नतिके इच्छुक होते हैं। जिसके फलस्वरूप वे स्वसंचित धान्य कणोंका छठवां हिस्सा राजाको देकर संकल्प करते हैं कि जिसकी छत्रछाया में हम लोगोंका संरक्षण होता है उसे हमारी तपश्चर्याका फल प्राप्त हो ।।२४-२५।।

कौन वस्तु इष्ट है ? और कौन अनिष्ट है ? इसका निर्णयः—

तदमंगलमपि नामंगलं यत्रास्यात्मनो भक्तिः ।।२६।।

अर्थः—जिस पदार्थमें जिसे प्रेम होता है, वह अनिष्ट—अमङ्गलीक (अशुभ) होनेपर भी उसके लिये इष्ट—मंगलीक है।

भावार्थः—उदाहरणमें लूला-काणा व्यक्ति कार्यके आरम्भमें अमङ्गलीक समझा जाता है, परन्तु जो उससे प्रेम रखता है वह उसके लिये इष्ट ही है।

भागुरि[1] विद्वान्ने भी कहा है कि 'जो पदार्थ जिसके लिये प्रिय है वह अप्रिय होने पर भी यदि उस के कार्यके आरम्भमें प्राप्त होजावे, तो इष्ट समझा जाता है, क्योंकि उससे उसके कार्यकी सिद्धि हो जाती है ।।१।।'

निष्कर्षः—जो पदार्थ जिसके मनको प्रमुदित—हर्षित या संतुष्ट करते हैं वे उसके लिये मङ्गलीक हैं ।।२६।।

मनुष्योंके कर्तव्यका निर्देशः—

संन्यस्ताग्निपरिग्रहानुपासीत ।।२७।।

---

§ 'यदाह वैवस्वतो मनुः' यह पाठ सं० टी० पुस्तकमें नहीं है, किन्तु मु० और मू० प्रतियोंसे संकलन किया गया है।

❀नोटः—हिन्दू-धर्मकी मान्यताके अनुसार १४ मनु होते हैं उनमेंसे ७वां वैवस्वत मनु है' जिसका आचार्यश्रीने उल्लेख किया है। सम्पादकः—

१ तथा च भागुरिः—

यद्यस्य वल्लभं वस्तु तच्चेदग्रे प्रयास्यति।
कृत्यारम्भेषु तत्तस्य सुनिन्द्यमपि सिद्धिदम् ।।१।।

अर्थः—मनुष्यको साधु महात्माओं एवं विद्वान् गृहस्थाचार्योंकी उपासना—सेवा करनी चाहिये।

भावार्थः—साधु महात्मा और विद्वान् गृहस्थाचार्य बड़े सदाचारी, स्वार्थत्यागी और बहुश्रुत विद्वान् होते हैं; अतएव इनकी सेवा-भक्ति-से मनुष्य गुणवान् एवं पारत्रिक कल्याणका पात्र होजाता है ॥२७॥

वल्लभदेव[1] विद्वान्ने लिखा है कि 'मनुष्य जिसप्रकारके पुरुषोंके वचनोंको सुनता है और जैसों की सेवा और संगति करता है, वैसी ही प्रवृत्ति करने लग जाता है, अतएव नैतिक मनुष्यको साधु पुरुषोंकी सेवा करनी चाहिये ॥१॥'

स्नान किये हुए मनुष्यका कर्त्तव्यः—

स्नात्वा प्राग्देवोपासनान्न कंचन स्पृशेत् ॥२८॥

अर्थ.—मनुष्यको स्नान करके ईश्वर भक्ति करनी चाहिये, उसके पहले उसे किसी अस्पृश्य—न छूने लायक—वस्तुका स्पर्श नहीं करना चाहिये ॥२८॥

वर्ग[2] विद्वान्ने लिखा है कि 'मनुष्यको स्नान करनेके पश्चात् ईश्वर भक्ति और अग्निमें हवन करना चाहिये, पश्चात् यथा शक्ति दान देकर भोजन करना चाहिये ॥१॥'

गृहस्थको मन्दिरमें क्या करना चाहिये ? उसका विवरणः—

देवागारे गतः सर्वान् यतीनात्मसम्बन्धिनीर्जरतीःपश्येत् ॥२९॥

अर्थः—मनुष्योंको मन्दिरमें जाकर ईश्वरभक्तिके पश्चात् समस्त साधुजनों और वयोवृद्ध कुलस्त्रियोंको यथायोग्य नमस्कार करना चाहिये ॥२९॥

हारीत[3] विद्वान्ने कहा है कि 'मनुष्य मन्दिरमें प्रविष्ट होकर उसमें वर्तमान साधुओंको तथा वृद्ध कुलस्त्रियोंको भक्ति पूर्वक नमस्कार करे ॥१॥

पूर्वोक्त सिद्धान्तका समर्थन करनेवाली दृष्टान्तमालाः—

---

१ तथा च वल्लभदेवः—

यादृशाणां शृणोत्यत्र यादृशांश्चावसेवते।
तादृक्चेष्टो भवेन्मर्त्यस्तस्मात् साधून् समाश्रयेत् ॥

२ तथा च वर्गः—

स्नात्वा त्वभ्यर्चयेद् देवान् वैश्वानरमतः परं।
ततो दानं यथाशक्त्या दत्वा भोजनमाचरेत् ॥१॥

३ तथा च हारीतः—

[देवायतने च गत्वा] सर्वान् पश्येत् स्वभक्तितः।
तत्राश्रिताम् यतीन् पश्चात्ततो वृद्धाः कुलस्त्रियः ॥१॥

नोट—उक्त पद्य—श्लोक-का प्रथम चरण अशुद्ध था अतः 'देवायतने च गत्वा' [illegible] कर दिया गया है। सम्पादकः—

देवाकारोपेतः पाषाणोऽपि नावमन्येत तत्किं पुनर्मनुष्यः ? राजशासनस्य मृत्तिकायामिव लिंगिषु को नाम विचारो यतः स्वयं मलिनो खलः प्रवर्धयत्येव क्षीरं धेनूनां, न खलु परेषामाचारः स्वस्य पुण्यमारभते किन्तु मनोविशुद्धिः ॥३०॥

अर्थः—ईश्वरके आकारको प्राप्त हुआ पाषाण—प्रतिष्ठित देवमूर्ति— भी जब तिरस्कार करने योग्य नहीं है तो क्या मनुष्य तिरस्कार करने योग्य है ? अर्थात् नहीं है।

भावार्थः—जिस प्रकार प्रतिष्ठित देवमूर्तिकी भक्ति की जाती है उसी प्रकार नैतिक मनुष्यको गणी पुरुषोंकी यथा योग्य विनय—सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिये।

राजाकी मिट्टीकी मूर्तिके समान नैतिक मनुष्यको साधुजनोंके वेशमें विचार नहीं करना चाहिये—उनके वाह्य मलिन वेषपर दृष्टि नहीं डालनी चाहिये—ध्यान नहीं देना चाहिये।

भावार्थः—जिस प्रकार राजाकी मूर्तिमें मिट्टी और मलिनता-आदिका विचार न करके प्रजाजनोंको उसकी आज्ञाका पालन अनिवार्य और आवश्यक है, उसी प्रकार नैतिक और धार्मिक व्यक्तिको साधु महापुरुषोंके वाह्य मलिन वेषपर विचार न करके उनके त्याग, तपश्चर्या, सदाचार और बहुश्रुत विद्वत्ता आदि सद्गुणोंसे लाभ उठाना अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि तिली आदिका खल मलिन—काला होनेपर भी गायोंको खिलाये जानेपर उनके दूधकी वृद्धि करता है, उसी प्रकार राजाका शासन—आज्ञा—मलिन—कठोर होनेके कारण राजसिक भावोंसे युक्त—होनेपर भी वर्णाश्रम धर्मकी मर्यादाका स्थापनरूप विशुद्ध कार्यको उत्पन्न करता है। इसी प्रकार साधुका मलिन वाह्य वेष भी मानसिक विशुद्धिका कारण होनेसे पुण्य कार्यको उत्पन्न करता है—प्रसन्न मनसे उपासना किये गये साधुजन भी हमारे पुण्यकी वृद्धि करनेमें समर्थ होते हैं।

क्योंकि दूसरोंका आचार—वाह्य साफ-सुथरा रहन-सहन आदि—हमारे पुण्यको उत्पन्न नहीं करता किन्तु मानसिक विशुद्धिसे वास्तविक शुक्ल पुण्यका बंध होता है ॥३०॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वणिक् और कृषकोंकी प्रकृति—स्वभाव—का क्रमशः निरूपणः—

दानादिप्रकृतिः प्रायेण ब्राह्मणानाम्[1] ॥३१॥

बलात्कारस्वभावः क्षत्रियाणाम् ॥३२॥

निसर्गतः शाठ्यं किरातानाम्[2] ॥३३॥

ऋजुवक्रशीलता सहजा कृषीवलानाम् ३४॥

---

१ उक्त सूत्र मु०मू० पुस्तकसे संकलन किया गया है, सं० टी० पुस्तकमें तथा गवर्न०लायब्रेरी पूनाकी ह० लि० मू० प्रतिमें 'दीना हि प्रकृतिः प्रायेण ब्राह्मणानाम्' ऐसा पाठ है जिसका अर्थः--निश्चयसे प्रायः करके—अधिकता से—ब्राह्मणोंका स्वभाव दीन—सीधा-साधा (छल-कपट-आदिसे रहित) होता है।

२ 'किरातकानाम्' ऐसा पाठ मु० मू० प्रतिमें वर्तमान है परन्तु अर्थ-भेद कुछ नहीं है। क्योंकि कीर्यन्ते धनानि एभिस्ते किराताः। त एवं 'किरातकाः' 'वणिजः' इत्यर्थः। अर्थात् जो व्यापार-आदि उपायोंसे धन-संचय करते हों उन वणिक्जनोंको 'किरात' कहते हैं। सम्पादकः—

अर्थ:—ब्राह्मणोंका स्वभाव प्रायः करके दानकी अपेक्षा करना, ईश्वर-आदिकी पूजन करना और पढ़ना-पढ़ाना आदिका होता है। अथवा दान—शुद्धि, दया और दाक्षिण्य-आदि करनेका होता है।

विमर्श:—'दान' शब्द 'दैप् शोधने' धातुसे निष्पन्न होनेके कारण शुद्धिको तथा दानार्थक 'दा' के धातुसे निष्पन्न होनेसे दानको भी कहता है; अतः उक्त दोनों अर्थ होते हैं ॥३१॥

क्षत्रियोंका स्वभाव दूसरोंपर बलात्कार करनेका होता है ॥३२॥

किरातों—वणिकोंकी प्रकृति स्वभावसे छल-कपट करनेकी होती है ॥३३॥

किसानों तथा शूद्रोंके सरलता और कुटिलता स्वाभाविक ही होती है ॥३४॥

ब्राह्मणोंकी क्रोध-शान्तिका उपाय:—

दानावसानः कोपो ब्राह्मणानाम् ॥३५॥

अर्थ:—ब्राह्मणोंका क्रोध दानपर्यन्त रहता है—दान मिलनेसे शान्त होजाता है।

निष्कर्ष:—माँगी हुई वस्तुके मिल जानेपर ब्राह्मणोंका क्रोध नष्ट होजाता है ॥३५॥

गर्ग[1] विद्वान्ने लिखा है कि 'जिसप्रकार सूर्यके उदय होनेपर रात्रिका समस्त अंधेरा तत्काल नष्ट होजाता है, उसीप्रकार लोभी ब्राह्मणका क्रोध भी दान मिल जानेसे शांत हो जाता है ॥१॥'

गुरुजनोंकी क्रोध-शान्तिका उपाय:—

प्रणामावसानः कोपो गुरूणाम् ॥३६॥

अर्थ:—गुरुजनोंका क्रोध प्रणाम करने पर्यन्त रहता है, परन्तु प्रणाम करनेके पश्चात् नष्ट होजाता है ॥३६॥

गर्ग[2] विद्वान्ने लिखा है कि 'जिसप्रकार दुष्टके साथ किया हुआ उपकार नष्ट होजाता है, उसीप्रकार गुरुजनोंका क्रोध प्रणाम करनेसे नष्ट होजाता है ॥१॥'

क्षत्रियोंके क्रोध-शान्तिका उपाय:—

प्राणावसानः कोपः क्षत्रियाणाम् ॥३७॥

अर्थ:—क्षत्रियोंका क्रोध मरण पर्यन्त—चिरकाल तक रहता है। अथवा उनका क्रोध प्राणोंको नष्ट करनेवाला होता है।

भावार्थ:—क्योंकि क्षत्रिय जिस मनुष्यपर क्रुद्ध होजाता है तो वह उसके प्राण-हरण किये बिना शान्त नहीं होता ॥३७॥

वणिक्जनोंकी क्रोध-शांतिका उपाय:—

प्रियवचनावसानः कोपो वणिग्जनानाम्[3] ॥३८॥

---

१ देखो नीतिवाक्यामृत सं० टी० पृष्ठ ६१।

२ तथा च गर्गः—दुर्जने सुकृतं यद्वत् कृतं याति च संक्षयं। तद्वत् कोपो गुरूणां [illegible] ॥१॥

३ 'प्रियवचनावधिकः कोपो वाणिजिकानाम्' ऐसा मु० मू० पुस्तकमें पाठ है, परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं।

अर्थ:—वणिकोंका क्रोध प्रियभाषण पर्यन्त होता है—ये लोग मीठे वचनों द्वारा क्रोधको त्यागकर संतुष्ट होजाते हैं॥३८॥

गर्ग[1] विद्वान्‌ने लिखा है कि 'जिसप्रकार इष्ट वस्तुके वियोगसे उत्पन्न हुआ दुःख उसके मिल जानेपर नष्ट होजाता है, उसीप्रकार वणिकोंका क्रोध उनसे मीठे वचन बोलनेसे नष्ट होजाता है ॥१॥'

वैश्योंकी क्रोध-शान्तिका उपाय:—

वैश्यानां समुद्धारकप्रदानेन कोपोपशमः[2] ॥३९॥

अर्थ:—जमींदार वैश्योंका क्रोध उनका कर्जा चुका देनेसे शांत हो जाता है ॥३९॥

भृगु[3] विद्वान्‌ने लिखा है कि 'यदि जमींदारके पिताका भी वैरी हो, जो कि उसे कुपित कर रहा हो परन्तु यदि वह उसके कर्जाको चुका देता है तो वह शांत होजाता है ॥१॥'

वणिकोंकी श्री-वृद्धिका उपाय:—

निश्चलैः परिचितैश्च सह व्यवहारो वणिजां निधिः[4] ॥४०॥

अर्थ:—वैश्य लोग उन्हींके साथ कर्जा देनेका व्यवहार करते हैं, जिनके पास मकान और खेत आदि होते हैं और जो एक जगह स्थायी रीतिसे रहते हैं एवं जिनकी आमदनी और खर्च-आदिसे परिचित होते हैं। ऐसा करनेसे—विश्वस्तोंको कर्जा देनेसे—भविष्यमें कोई खतरा (धन-डूबनेकी शंका) नहीं रहता किन्तु उनसे उन्हें प्रचुर धन मिलता है ॥४०॥

नीच जातिके मनुष्योंको वश करनेका उपाय:—

दण्डभयोपधिभिर्वशीकरणं नीचजात्यानाम्[5] ॥४१॥

अर्थ:—नीच पुरुषोंका वशीकरणमंत्र दंडका भय ही है ॥४१॥

गर्ग[6] विद्वान्‌ने लिखा है कि 'समस्त नीचजाति वालोंको जब तक दंडका भय नहीं दिखाया जाता तब तक वे वशमें नहीं होते; अत एव उन्हें दण्डका भय दिखाना चाहिये ॥१॥'

इति त्रयी-समुद्देशः।

---

१ तथा च गर्गः—यथा प्रियेण दृष्टेन नश्यति व्याधिर्वियोगजः। प्रियालापेन तद्वद्वणिजां नश्यति ध्रुवं ॥१॥

२ 'उद्धारप्रदानं कोपोपशमो वैश्यानाम्' इस प्रकार मु. मू. पुस्तक में पाठ है, परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं।

३ तथा च भृगुः—अपि चेत् पैत्रिको वैरो विशां कोपं प्रजायते। उद्धारकप्रलाभेन निःशेषो विलयं व्रजेत् ॥१॥

४ 'विश्वस्तैः सह व्यवहारो वणिजां निधिः' ऐसा सं० टीका पुस्तकमें पाठ है, परन्तु उक्त पाठ मु० मू० प्रतिसे संकलन किया गया है, अर्थभेद कुछ नहीं।

५ 'दण्डभयोपधि वशीकरणं नीचानां' ऐसा मु० मू० पुस्तकमें पाठ है, परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं।

६ तथा च गर्गः—सर्वेषां नीचजात्यानां यावन्नो दर्शयेद् भयम्। तावन्नो वशमायान्ति दर्शनीयं ततो भयम् ॥१॥

८—वार्ता-समुद्देशः

वार्ता-विद्याका स्वरूप या वैश्योंकी जीविका:—

कृषिः पशुपालनं वणिज्या च वार्ता वैश्यानाम्❀ ॥१॥

अर्थः—खेती, पशुपालन और व्यापार करना यह वैश्योंकी जीविका—जीवन-निर्वाहका साधन है।

भावार्थः—भगवज्जिनसेनाचार्य[1] ने कहा है कि इतिहासके आदिकालमें भगवान् ऋषभदेव तीर्थंकरने प्रजाकी जीवन-रक्षाके लिये उसे असि—शस्त्र-धारण, मषि—लेखनकला, कृषि—खेती, विद्या, वाणिज्य—व्यापार और शिल्पकला इन जीविकोपयोगी ६ साधनोंका उपदेश दिया था ॥१॥

निष्कर्षः—उक्त जीवन-निर्वाहके साधनोंमें से कृषि, पशुपालन और व्यापार यह वैश्य-वर्णकी जीविका है ॥१॥

जीवन-निर्वाहके साधनोंकी उन्नतिसे राजाको होनेवाला लाभ:—

वार्तासमृद्धौ सर्वाः समृद्धयो राज्ञः§ ॥२॥

अर्थः—जिस राजाके राज्यमें वार्ता—कृषि, पशुपालन और व्यापार-आदि प्रजाके जीविकोपयोगी साधनों—की उन्नति होती है, वहाँपर उसे समस्त विभूतियाँ (हाथी-घोड़े और सुवर्ण-आदि) प्राप्त होती हैं ॥२॥

शुक्र[2] विद्वान्ने लिखा है कि 'जिस राजाके राज्यमें शरत् और ग्रीष्म ऋतुमें खेतीकी फसल अच्छी होती है और व्यापारकी उन्नति होती है, उसे असंख्यात धर्म, अर्थ और भोगोपभोग प्राप्त होते हैं ॥१॥'

गृहस्थके सांसारिक-सुखोंके साधनः—

तस्य खलु संसारसुखं यस्य कृषिर्धेनवः शाकवाटः सद्मन्युदपानं च ॥३॥

अर्थः—जिस गृहस्थके यहां खेती, गाय-भैंसें, शाक-तरकारीके लिये सुन्दर बगीचा और मकानमें मीठे पानीसे परिपूर्ण—भरा हुआ कुआ है उसे सांसारिक सुख प्राप्त होता है ॥३॥

शुक्र[3] विद्वान्ने लिखा है कि 'जिस गृहस्थके यहाँ खेती, गाय-भैंसें, शाक-तरकारीका बगीचा और मीठे पानीका कुआ है, उसे स्वर्गके सुखोंसे क्या लाभ ? कोई लाभ नहीं ॥१॥'

❀ 'कृषिः पशुपालनं वणिज्या चेति वार्ता' ऐसा पाठ मु० मू० प्रतिमें है उसका अर्थ यह है कि कृषि, पशुपालन और व्यापार ये प्रजाके जीवन-निर्वाहके साधन हैं।

१ असिर्मषिः कृषिर्विद्या वाणिज्यं शिल्पमेव च। कर्माणीमानि षोढा स्युः प्रजाजीवनहेतवे ॥१॥
आदिपुराणे भगवज्जिनसेनाचार्यः।

§ 'राज्ञाम्' ऐसा मु० मू० प्रतिमें पाठ है परन्तु एकवचन-बहुवचनके सिवाय कोई अर्थ-भेद नहीं है।

२ तथा च शुक्रः—कृषिवृद्धं वणिज्यारख्य यस्य राष्ट्रे भवन्त्यपि। धर्मार्थकामा [illegible]

३ तथा च शुक्रः—कृषिर्गोशाकवाटश्च जलाधारसमन्विताः। गृहे यस्य भवन्त्येते स्वर्गलोकेन तस्य किम् ॥१॥

खेतीकी फसलके समय धान्य-संग्रह न करने वाले राजाकी हानिः—

विसाध्यराज्ञस्तंत्रपोषणे नियोगिनामुत्सवो महान् कोशक्षयः ॥४॥

अर्थः—जो राजा सैनिकोंके भरण-पोषण करनेके लिये खेतीकी फसलके मौकेपर धान्यादिका संग्रह नहीं करता, उसके राजकीय कर्मचारियों—मंत्री आदि—को विशेष आनन्द होता है—ये लोग धान्यादि खरीदकर उसे बहुत तेजभावका बताकर गोलमाली करके बहुत धन हड़प कर जाते हैं तथा राजाका विशाल खजाना नष्ट होजाता है।

नारद[1] विद्वान्ने लिखा है कि 'जो राजा शरद और ग्रीष्म ऋतुमें—अन्नकी दोनों फसलोंके समय—सैना वगैरहके निर्वाह के लिये अन्नका संचय नहीं करता, किन्तु सदा मोल खरीदता रहता है उसका खजाना नष्ट होजाता है ॥१॥'

निष्कर्षः—इसलिये नीतिज्ञ राजाको विशाल सेनाके भरण-पोषणके लिये फसलके मौकेपर धान्यका संग्रह कर लेना चाहिये ॥४॥

आमदनीके विना केवल सदा खर्च करनेवाले मनुष्यकी हानिः—

नित्यं हिरण्यव्ययेन मेरुरपि क्षीयते ॥५॥

अर्थः—जो हमेशा संचित धन खर्च करता रहता है परन्तु नया धन बिल्कुल नहीं कमाता, उसका विशाल भी खजाना धीरे२ नष्ट होजाता है। खजाना तो दूर रहे परन्तु विशाल सुमेरु पर्वतमें से भी हमेशा सुवर्ण निकाले जानेपर वह भी नष्ट होजाता है फिर राज-कोशका तो कहना ही क्या है? अर्थात् वह तो निश्चित ही नष्ट होजाता है ॥५॥

शुक्र[2] विद्वान्ने लिखा है कि 'जिस मनुष्यको चार मुद्राओं—रुपयोंकी दैनिक आमदनी है और साढ़े पाँच मुद्राओंका खर्च है, वह धन-कुवेर होनेपर भी दरिद्रताको प्राप्त होता है ॥१॥'

धान्य-संग्रह न करके अधिक व्यय करनेवाले राजाकी हानिः—

तत्र सदैव दुर्भिक्षं यत्र राजा विसाधयति ॥६॥

अर्थः—जो राजा अपने राज्यमें धान्यसंग्रह नहीं करता और अधिक व्यय करता है, उसके यहाँ सदा अकाल रहा करता है। क्योंकि उसे अपनी विशालसेनाके भरण-पोषण करनेके लिये अधिक अन्नकी आवश्यकता हुआ करती है; इसलिये जब वह राज्यमेंसे धान्य खरीद लेता है, तब उसकी प्रजाको अकाल का दुःख भोगना पड़ता है।

---

१ तथा च नारदः :—ग्रीष्मे शरदि यो नान्नं संगृह्णाति महीपतिः। नित्यं मूल्येन गृह्णाति तस्य कोशक्षयो भवेत् ॥१॥
२ तथा च शुक्रः :—आगमे यस्य चत्वारि निर्गमे सार्धपंचमः। स दरिद्रत्वमाप्नोति वित्तेशोऽपि स्वयं यदि ॥१॥

नारद[1] विद्वान्ने लिखा है कि 'जिस देशमें राजा अकाल पड़नेपर अपने खजानेकी सम्पत्तिसे धान्य खरीदकर प्रजाको देता है, तब उसकी प्रजा अकालके दुःखसे पीड़ित नहीं होती ॥१॥'

निष्कर्ष:—इसलिये नीतिमान् राजाको अधिक धान्य-संग्रह करना चाहिये ॥६॥

राजाको धनकी लालसा होनेसे हानि:—

समुद्रस्य पिपासायां कुतो जगति जलानि ? ॥७॥

अर्थ:—समुद्रको प्यासे रहनेपर संसारमें जल किस प्रकार पाये जासकते हैं ? नहीं पाये जासकते।

भावार्थ:—शास्त्रोंमें उल्लेख है कि लवण समुद्रमें गंगा और सिंधु आदि नदिएँ अपनी १४ हजार सहायक नदियों समेत प्रवेश करती हैं, ऐसी विशाल जल-राशिके होनेपर भी यदि समुद्र प्यासा रहे, तो फिर संसारमें जल ही नहीं रह सकते; क्योंकि समुद्रकी प्यासको दूर करनेके लिये इससे अधिक जल-राशि कहीं पाई नहीं जाती। उसी प्रकार राजा भी यदि प्रचुर धन-राशिकी लालसा रखता हो—प्रजासे उपयुक्त ६ठे भागसे भी अधिक कर (टेक्स) लेनेकी लालसा रखता हो—तो फिर राष्ट्रमें सम्पत्ति किस प्रकार रह सकती है ? नहीं रह सकती।

विमर्श:—अधिक टेक्स बढ़ानेसे समस्त राष्ट्र दरिद्र होकर नष्ट-भ्रष्ट होजाता है; अतएव न्यायवान् राजाको उचित कर ही प्रजासे लेना चाहिये; जिससे राष्ट्रकी श्रीवृद्धि होती रहे ॥ ७॥

शुक्र[2] विद्वान्ने लिखा है कि 'जो राजा प्रजाकी आमदनीके ६ठे हिस्से भी अधिक कर (टेक्स) लगाकर प्रजासे धन ग्रहण की लालसा रखता है उसका देश नष्ट हो जाता है और पश्चात् उसका राज्य भी नष्ट होजाता है ॥१॥'

गाय-भैंस आदि की रक्षा न करनेसे हानि:—

स्वयं जीवधनमपश्यतो महती हानिर्मनस्तापश्च क्षुत्पिपासाऽप्रतिकारात् पापं च[3] ॥८॥

अर्थ:—गाय-भैंस-आदि जीविकोपयोगी धनकी देख-रेख न करने वाले पुरुषको महान् आर्थिक-क्षति—हानि उठानी पड़ती है एवं उनके मर जानेसे उसे अधिक मानसिक पीड़ा होती है तथा उन्हें भूखे-प्यासे रखनेसे महान् पाप-बंध होता है। अथवा राजनीतिके प्रकरणमें गाय-भैंस-आदि जीवन-निर्वाहमें उपयोगी सम्पत्तिकी रक्षा न करने वाले राजाको बड़ी आर्थिक क्षति—धनकी हानि—उठानी पड़ती है एवं उनके असमयमें काल-कवलित होने—मरजानेसे उसको मानसिक-कष्ट होता है। क्योंकि गो-धनके अभाव होजानेसे राष्ट्रकी कृषि और व्यापार आदि जीविका नष्टप्राय होजाती है। जिसके फलस्वरूप प्रजाकी भूख-प्यासको दूर करनेके उपाय—कृषि व्यापार-आदि नष्ट होजानेसे उसे महान् पाप-बंध होता है।

---

१ तथा च नारदः :—दुर्भिक्षेऽपि समुत्पन्ने यत्र राजा प्रयच्छति। निजार्थेन निजं सस्यं तदा लोको न पीड्यते ॥१॥

२ तथा च शुक्रः :—षड्भागाभ्यधिको दण्डो यस्य राज्ञः प्रगृह्यते। तस्य राष्ट्रं क्षयं याति राज्यं च तदनन्तरम् ॥१॥

३ 'क्षुत्पर्षोऽप्रतीकारात् पापं चेति' ऐसा मु० मू० और ह० लि० मू० प्रतियोंमें पाठ है, परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है।

शुक्र[1] विद्वान्ने कहा है कि 'जो मनुष्य गाय-भैंस आदि पशुओंकी सँभाल—देख-रेख नहीं करता उसका वह गोधन नष्ट हो जाता है—अकालमें मृत्युके मुखमें प्रविष्ट होजाता है, जिससे उसे महान पाप-बंध होता है ॥१॥'

निष्कर्ष;—राजाका कर्त्तव्य है कि वह राष्ट्रके जीवन-निर्वाहके साधन—कृषि और व्यापारोपयोगी गो-धनकी सदा रक्षा करे ॥८॥

वृद्ध-वाल-व्याधित-क्षीणान् पशून् वान्धवानिव पोषयेत् ॥९॥

अर्थ:—मनुष्यको अनाथ, माता-पितासे रहित, रोगी और कमजोर पशुओंकी अपने बँधुओंकी तरह रक्षा करनी चाहिये ॥९॥

व्यास[2] विद्वान्ने लिखा है कि 'जो दयालु मनुष्य अनाथ, माता-पितासे रहित, या लूले-लँगड़े दीन व भूखसे पीड़ित पशुओंकी रक्षा करता है, वह चिरकाल तक स्वर्गके सुखोंको भोगता है ॥१॥

पशुओंके अकाल-मरणका कारण:—

अतिभारो महान् मार्गश्च पशूनामकाले मरणकारणम् ॥१०॥

अर्थ:—अधिक बोझ लादनेसे और अधिक मार्ग चलानेसे पशु ओंकी अकाल मृत्यु होजाती है ॥१०॥

हारीत[3] विद्वान्ने लिखा है कि 'पशुओंके ऊपर अधिक बोझा लादना और ज्यादा दूर चलाना उनकी मौतका कारण है; इसलिये उनके ऊपर योग्य बोझा लादना चाहिये और उन्हें थोड़ा मार्ग चलाना चाहिये ॥१॥'

जिन कारणोंसे दूसरे देशोंसे माल आना वन्द हो जाता है:—

शुल्कवृद्धिर्वलात् पण्यग्रहणं च देशान्तरभाण्डानामप्रवेशे हेतुः ॥११॥

अर्थ:—जिस राज्यमें दूसरे देशकी चीजोंपर ज्यादा कर—टेक्स—लगाया जाता हो तथा जहाँ के राज-कर्मचारीगण जवर्दस्ती थोड़ा मूल्य देकर व्यापारियोंसे वस्तुएँ छीन लेते हों, उस राज्यमें अन्य देशोंसे माल-आना वन्द हो जाता है ॥११॥

शुक्र[4] विद्वान्ने लिखा है कि 'जहाँपर राजकर्मचारी वस्तुओंपर टेक्स वढ़ाते हों और व्यापारियों के धनका नाश करते हों, उस देशमें व्यापारी लोग अपना माल वेंचना वँद कर देते हैं ॥१॥'

उक्त वातका दृष्टान्तद्वारा समर्थन:—

काष्ठपात्र्यामेकदेव पदार्थो रध्यते ॥१२॥

---

1 तथा च शुक्रः—चतुष्पादिकं सर्वं स स्वयं यो न पश्यति । तस्य तन्नाशमभ्येति ततः पापमवाप्नुयात् ॥१॥

2 तथा चव्यासः—अनाथान् विकलान् दीनान् क्षुत्परीतान् पशूनपि । दयावान्पोषयेद्यस्तु स स्वर्गे मोदते चिरम् ॥१॥

3 तथा च हारीतः—अतिभारो महान् मार्गः पशूनां मृत्युकारणं । तस्मादर्हभावेन मार्गेणापि प्रयोजयेत् ॥१॥

4 तथा च शुक्रः—यत्र गृह्णन्ति शुल्कानि पुरुषा भूपयोजिताः । अर्थहानिं च कुर्वन्ति तत्र नायाति विक्रयां ॥१॥

अर्थः—लकड़ीकी हाँड़ीमें एक ही बार पदार्थ पकाया जासकता है दूसरी बार नहीं; क्योंकि फिर वह नष्ट होजाती है।

भावार्थः—उसीप्रकार जिस राज्यमें दूसरे देशकी वस्तुओंपर अधिक टैक्स लगाया जाता हो और राज-कर्मचारी थोड़ा मूल्य देकर लूट-मार करते हों, उसमें फिर दूसरे देशोंसे माल नहीं आसकता ॥१२॥

शुक्र[1] विद्वान्ने लिखा है कि 'जिस राज्यमें टेक्स बढ़ाया जाता है और मूल्य घटा दिया जाता है, वहाँपर वस्तु बेचनेवाले वणिक्-जन स्वप्नमें भी प्रवेश नहीं करते ॥१॥'

जिस स्थानमें वाणिज्य—व्यापार नष्ट होजाता है उसका वर्णनः—

तुलामानयोरव्यवस्था व्यवहारं दूषयति ॥१३॥

अर्थः—जिस राज्यमें तराजू, तोलनेके वाँट (गुञ्जादि) और नापनेके पात्र—द्रोणादि—यथोचित (ठीक) नहीं रखे जाते—जहाँपर वणिकजन दूसरोंसे वस्तु खरीदनेके लिये अपनी तराजू और वाँटोंको बड़े और देते समय छोटे करते हैं, वहाँपर शिष्ट पुरुषोंका व्यवहार—खरीदना-बेचना—नष्ट होजाता है।

भावार्थः—जहाँपर व्यापारीगण खरीदते-वेंचते समय अपने तराजू और वाँटों वगैरहको बड़ा-छोटा रखते हैं, वहाँपर प्रजाको कष्ट होता है, इसलिये राजाको उनकी पूर्ण निगरानी रखनी चाहिये ॥१३॥

वर्ग[2] विद्वान्ने लिखा है कि 'जिस राज्यमें तराजू और तोलने-नाँपनेके वाँट बड़े-छोटे रक्खे जाते हैं, वहाँपर व्यापार नहीं होता ॥१॥

व्यापारियों द्वारा मूल्य बढ़ाकर संचित किये हुए धनसे प्रजाकी हानिः—

वणिग्जनकृतोऽर्थः स्थितानागन्तुकांश्च पीड़यति[3] ॥१४॥

अर्थः—जिसके राज्यमें व्यापारी-गण वस्तुओं—अन्न-वस्त्रादि—का मूल्य स्वेच्छापूर्वक बढ़ाकर धन-संचय करते हैं, इससे वहाँकी प्रजाको और बाहरसे आये हुए लोगोंको कष्ट होता है—दरिद्र होजानेसे दुःख होता है।

भावार्थः—जहाँपर व्यापारी लोग मन-माना मूल्य बढ़ाकर वस्तुओंको वेंचते हैं और कमसे कम मूल्यमें खरीदते हैं, वहाँकी जनता दरिद्र होजाती है, अतएव राजाको इसकी ठीक व्यवस्था करनी चाहिये ॥१४॥

हारीत[4] विद्वान्ने कहा है कि 'व्यापारियोंद्वारा मूल्य बढ़ाकर संचित किया हुआ और राज-

---

१ तथा च शुक्रः—शुल्कवृद्धिर्भवेद्यत्र बलान्मूल्यं निपात्यते। स्वप्नेऽपि तत्र न स्थाने प्रविशेद् भाण्डविक्रयी ॥१॥

२ तथा च वर्गः—गुरुत्वं च लघुत्वं च तुलामानसमुद्भवम्। द्विप्रकारं भवेद्यत्र वाणिज्यं तत्र नो भवेत् ॥१॥

३ 'वणिग्जनकृतोऽर्थः' इत्यादि मु० मू० प्रतिमें पाठ है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं है तथापि सं० टी० पु० उक्त पाठसे उत्तम है क्योंकि इससे निस्सन्देह सीधा अर्थ—वस्तुओंका मूल्य निकल आता है।

४ तथा च हारीतः—वणिग्जनकृतो योऽर्थोऽनुरागश्च नियोगिभिः। [illegible] ॥१॥

कर्मचारियों द्वारा रिश्वतमें इकट्ठा किया हुआ धन वहाँकी जनता और बाहरसे आयेहुए लोगोंको निर्धन—दरिद्र बना देता है ॥१॥

वस्तुओंका मूल्य निर्धारित करनेके विषयमें—

देश-काल-भांडापेक्षया वा सर्वार्घो भवेत्[1] ॥१५॥

अर्थः—समस्त वस्तुओं—अन्न, वस्त्र और सुवर्ण-आदि पदार्थों—का मूल्य देश, काल और पदार्थोंके ज्ञानकी अपेक्षासे होना चाहिये।

भावार्थः—जो राजा यह जानता है कि मेरे राज्यमें या अमुक देशमें अमुक वस्तु उत्पन्न हुई है ? या नहीं ? इसे 'देशापेक्षा' कहते हैं। एवं इस समय दूसरे देशोंसे हमारे देशमें अमुक वस्तु प्रविष्ट हो सकती है ? अथवा नहीं ? इसे 'कालापेक्षा' कहते हैं। राजाका कर्त्तव्य है कि वह उक्त देश-कालादिकी अपेक्षाका ज्ञान करके समस्त वस्तुओंका मूल्य निर्धारित करे, जिससे व्यापारी लोग मन-चाहा मूल्य बढ़ाकर प्रजाको निर्धन—दरिद्र न बना सकें ॥१५॥

व्यापारियोंके छल-कपटपूर्ण व्यवहारमें राजाका कर्तव्यः—

पण्यतुलामानवृद्धौ राजा स्वयं जागृयात् ॥१६॥

अर्थः—राजाको उन व्यापारियोंकी जाँच-पड़ताल करनी चाहिये, जो कि बहुमूल्यवाली वस्तुओंमें अल्प मूल्यवाली वस्तुओंकी मिलावट करते हों, दोप्रकारकी तराजुएं रखते हों तथा नापने-तोलनेके बाँटों आदि (प्रस्थ और गुञ्जादि) में कमी-वेशी करते हों।

शुक्र[2] विद्वानने लिखा है कि 'वणिक लोग बहुमूल्यवाली वस्तुमें अल्पमूल्यवाली वस्तुकी मिलावट करके दो प्रकारकी तराजुएं रखकर तथा नापने—तोलनेके बाँटों आदिमें कमी—वेशी करके भोले भाले मनुष्यों को ठगते रहते हैं। अतएव राजाको उनकी देख-रेख—जांच पड़ताल-करनी चाहिये ॥१॥

निष्कर्षः—राजाको व्यापारियोंके द्वारा किये जानेवाले छल-कपट-पूर्ण व्यवहारों—बेचने या खरीदनेकी वस्तुओंको विविध उपायोंसे कमतो-बढ़ती देना-आदि—के संशोधन करनेमें सदा सावधान रहना चाहिये जिससे प्रजाको कष्ट न हो ॥१६॥

राजाको वणिक् लोगोंसे सावधान न रहनेसे हानिः—

न वणिग्भ्यः सन्ति परे पश्यतोहराः ॥१७॥

अर्थः—वणिक् लोगोंको छोड़कर दूसरे कोई प्रत्यक्ष चोर नहीं हैं।

भावार्थः—वास्तविक चोर तो पीठ-पीछे चोरी करते हैं, परन्तु वणिक् लोग लोगोंके सामने नापने-तोलनेके गज और बाटोंमें कमी-वेशी करके और बहुमूल्यवाली वस्तुमें अल्पमूल्यवाली वस्तुकी मिलावट करके ग्राहकोंको ठगते हैं; इसलिये आचार्यश्रीने उन्हें 'प्रत्यक्षचौर' कहा है, अतएव राजाको उनकी कड़ी निगरानी रखनी चाहिये ॥१७॥

---

१ उक्त पाठ मु० मू०पुस्तकसे संकलन किया गया है; क्योंकि सं० टी० पुस्तकमें 'देशकालभांडापेक्षया यो वाऽर्थो भवेत्' ऐसा पाठ है जिसका अर्थ-समन्वय ठीक नहीं होता था। सम्पादकः—

२ तथा च शुक्रः—भाण्डसंगात्तुलामानाद्धीनाधिक्याद्वणिग्जनाः। वंचयन्ति जनं मुग्धं तद्विज्ञेयं महीभुजा ॥१॥

वल्लभदेव[1] विद्वान्‌ने लिखा है कि 'वणिक् लोग नापने-तोलनेके बाटोंमें गोलमाली करके, वस्तुओंका मूल्य बढ़ाकर और चतुराईसे विश्वास दिलाकर लोगोंके धनका अपहरण करते रहते हैं, अतएव ये मनुष्योंके मध्यमें प्रत्यक्ष चोर कहे गये हैं ॥१॥'

व्यापारी लोगोंके द्वारा परस्परकी ईर्षासे वस्तुओंका मूल्य बढ़ा देनेपर राजाका कर्तव्यः—

स्पर्द्धया मूल्यवृद्धिर्भाण्डेषु राज्ञो यथोचितं मूल्यं विक्रेतुः ॥१८॥

अर्थः—यदि व्यापारी लोग परस्परकी ईर्षा-वश वस्तुओंका मूल्य बढ़ा देवें—अपनी वस्तुओंको अधिक तेजभावसे बेचने लगें—उस समय राजाका कर्तव्य है कि वह उस बढ़ाये हुए मूल्यको व्यापारी-वर्गसे छीन लेवे और व्यापारियोंको केवल उचित मूल्य ही देवे ॥१८॥

हारीत[2] विद्वान्‌ने लिखा है कि 'व्यापारी वर्गके द्वारा स्पर्द्धासे बढ़ाया हुआ वस्तुओंका मूल्य राजाका होता है और बेचनेवाले व्यापारीको केवल उचित मूल्य ही मिलना चाहिये ॥१॥'

सुवर्ण-आदि बहुमूल्य वस्तुको अल्पमूल्यमें खरीदनेवाले व्यापारीके प्रति राजाका कर्तव्यः—

अल्पद्रव्येण महाभाण्डं गृह्णतो मूल्याविनाशेन तद्भाण्डं राज्ञः ॥१९॥

अर्थः—यदि किसी व्यापारीने—किसीकी बहुमूल्य वस्तु—सुवर्ण आदि—को धोखादेकर थोड़े मूल्यमें खरीद ली हो, तो राजाको खरीदनेवालेकी वह—बहुमूल्य वस्तु जब्त कर लेनी चाहिये परन्तु बेचनेवाले-को उतना अल्पमूल्य जितना उसे खरीददारने दिया था दे देना चाहिये ॥१९॥

नारद[3] विद्वान् भी उक्त बातका समर्थन करता है कि 'जब चोर या मूर्ख मनुष्योंने किसी व्यापारीको बहुमूल्य वस्तु—सुवर्ण आदि—अल्पमूल्यमें बेंच दी हो, तो राजाको उसका पता लगाकर खरीदनेवाले की वह बहुमूल्य वस्तु जब्त कर लेनी चाहिये और बेंचनेवालेको अल्पमूल्य दे देना चाहिये ॥१॥'

अन्यायकी उपेक्षा करनेसे हानिः—

अन्यायोपेक्षा सर्वं विनाशयति ॥२०॥

अर्थः—जो राजा राष्ट्रमें होनेवाले अन्यायोंकी उपेक्षा करता है—अन्याय करनेवाले चोर-आदिको यथोचित दंड नहीं देता—उसका समस्त राज्य नष्ट होजाता है ॥२०॥

शुक्र[4] विद्वान्‌ने लिखा है कि 'जिस देशमें राजा क्षमा-धारण करके अन्याय करनेवालोंका निग्रह—दंड देना—नहीं करता उसका वंश-परंपरासे प्राप्त हुआ भी राज्य नष्ट होजाता है ॥१॥'

---

१ तथा च वल्लभदेवः—मानेन किंचिन्मूल्येन किंचित्तुलयाऽपि किंचित् बलयाऽपि किंचित् ।
किंचिच्च किंचिच्च समाहरन्तः प्रत्यक्षचौरा वणिजो नराणाम् ॥१॥

२ तथा च हारीतः—स्पर्द्धया विहितं मूल्यं भाण्डस्यान्यधिकं च यत् । मूल्यं भवति तद्राज्ञो [illegible] ॥१॥

३ देखो नीति० सं० टी० पृ० ६६ ।

४ तथा च शुक्रः—अन्यायान् भूमिपो यत्र न निषेधयति [illegible] ॥१॥

राष्ट्रके शत्रुओंका निर्देश करते हैं:—

चौर-चरट-मन्नप-धमन—राजवल्लभाटविकतलाराक्षशालिकनियोगिग्रामकूटवार्द्धुषिका हि राष्ट्रस्य कण्टकाः[1] ॥२१॥

अर्थः—चोर, देशसे बाहर निकाले हुए अपराधी, खेतोंकी या मकान वगैरहकी नाप करनेवाले, व्यापारियोंकी वस्तुका मूल्य निश्चय करनेवाले, राजाके प्रेमपात्र, जंगलमें रहनेवाले भील वगैरह या जंगलकी रक्षामें नियुक्त किये गये अधिकारी, स्थानकी रक्षामें नियुक्त किये गये कोटपाल या पुलिस वगैरह, जुआरी या सेनापति, राज्यके अधिकारी वर्ग, पटवारी, बलवान् पुरुष तथा अन्न-संग्रह करके अकाल-दुर्भिक्षकी कामना करनेवाले व्यापारी लोग ये राष्ट्रके कण्टक—शत्रु हैं।

भावार्थः—चोर प्रजाका धनादि अपहरण करनेके कारण तथा अन्य लोग रिश्वत वगैरह लेकर या मौका पाकर बगावत करनेके कारण एवं अन्न संग्रह करके अकाल चाहनेवाले व्यापारी भी प्रजा को पीड़ित करनेसे राज्यके कण्टक—शत्रु कहे गये हैं; क्योंकि ये लोग साम, दान, दण्ड और भेद-आदि उपायों से राष्ट्रमें उपद्रव करते हैं; अतएव राजाको इनकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये—यथासमय उनकी देख-रेख रखनी चाहिये और इनको अपराधानुकूल दंड देते रहना चाहिये ॥ २१ ॥

गुरु[2] विद्वान्ने लिखा है कि जो राजा चोर वगैरहको प्रत्यक्ष देख लेने पर भी उनसे अपने देशकी रक्षा नहीं करता—उनका निग्रह करके अपनी प्रजा की रक्षा नहीं करता उसका कुल-परम्परासे चला आया राज्य भी नष्ट होजाता है ॥ १ ॥

जिसप्रकारके राजाके होनेपर राष्ट्र-कण्टक नहीं होते:—

प्रतापवति राज्ञि निष्ठुरे सति न भवन्ति राष्ट्रकण्टकाः[3] ॥ २२ ॥

अर्थः—जिस देशमें राजा प्रतापी (पुण्यशाली, राजनीतिविद्यामें कुशल और तेजस्वी) तथा कठोर-शासन करनेवाला होता है, उसके राज्यमें राष्ट्रकण्टक—प्रजाको पीड़ित करनेवाले अन्यायी चौर वगैरह नहीं होते ॥ २२ ॥

---

१ 'चौर-चरटाऽन्वयधमन-राजवल्लभाटविक-तलार-किराताक्षशालिक-नियोगि-ग्रामकूट-वार्द्धुषिका हि राष्ट्रकण्टकाः' इस-प्रकारका पाठ मु० मू० और भाण्डारकर रिसर्च गवर्न० लायब्रेरी पूनाकी ह० लि० दो प्रतियों में वर्तमान है। इसका अर्थः—चोर, गुप्तदूत—जो नानाप्रकारकी वेष-भूषा और भाषा आदि के द्वारा अपनेको गुप्त रखकर देश, नगर, ग्राम और गृहादि में प्रविष्ट होकर वहां के गुप्त-वृतान्त को राजा के लिये निवेदन करते हों,

अन्वय-धमन—वंश की कीर्ति-गान करनेवाले चारण वगैरह, राजा के प्रेम-पात्र, आटविक—जंगलोंकी रक्षाके लिये नियुक्त किये हुए अधिकारी गण, तलार—छोटे२ स्थानों मे नियुक्त किये हुए अधिकारी, भील, जुआरी, मंत्री और अमात्य-आदि अधिकारीगण, ग्रामकूट—पटवारी और अन्नका संग्रह करनेवाले व्यापारी ये ११ व्यक्ति राष्ट्रके कण्टक—शत्रु हैं—कांटों के समान राष्ट्र में उपद्रव करने वाले हैं।

२—तथा च गुरुः—चौरादिकेभ्यो दृष्टेभ्यो यो न राष्ट्रं प्ररक्षति। तस्य तन्नाशमायाति यदि स्यात्पितृपैतृकम् ॥१॥

३—'प्रतापवति कण्टकशोधनाधिकरणज्ञे राज्ञि न प्रभवन्ति' ऐसा मु० और पूनाकी ह० लि० मूल प्रतियोंमें पाठ है जिसका अर्थ यह है कि पूर्वोक्त चोर वगैरह राष्ट्र-कण्टक-प्रतापी और कण्टकों—अन्यायी और आततायियों—के निग्रह करनेके उपायोंको जाननेवाले राजाके होनेपर नहीं होते।

व्यास[1] विद्वान्‌ने लिखा है कि 'जिस देशमें राजा राजनीति-विद्यामें निपुण और विशेष प्रतापी होता है, उसका वह देश चोर आदि अन्यायियों द्वारा पीड़ित नहीं किया जाता ॥१॥'

अन्न-संग्रह द्वारा देशमें अकाल पैदा करनेवाले व्यापारियोंसे हानिः—

अन्यायवृद्धितो वार्द्धुषिकास्तंत्रं[1] देशं च नाशयन्ति[2]॥ २३॥

अर्थः—पूर्वोक्त राष्ट्र-कण्टकोंमें से अन्नका संग्रह करके दुर्भिक्ष—अकाल-पैदा करनेवाले व्यापारी लोग देशमें अन्यायकी वृद्धि करते हैं, इससे वे राष्ट्रके समस्त तंत्र—व्यवहार या चतुष्पद-आदि (गाय-भैंस वगैरह पशुओं-आदि) तथा समस्त देशको नष्ट कर देते हैं।

भृगु[3] विद्वान् भी उक्त बातका समर्थन करता है कि 'जिस देशमें वार्द्धुषिक—अन्न-संग्रह द्वारा देशमें दुर्भिक्ष पैदा करनेवाले व्यापारी लोग—अनीतिसे अधिक संख्यामें बढ़ जाते हैं, वह देश नष्ट हो-जाता है एवं वहांके गाय-भैंस-आदि पशुओंकी भी विशेष क्षति—हानि होती है ॥ १ ॥'

निष्कर्षः—अतः राजाको ऐसे अन्यायियोंकी कदापि उपेक्षा नहीं करनी चाहिये जिससे वे राष्ट्रमें दुर्भिक्ष उत्पन्न न कर सकें ॥ २३ ॥

अन्न-संग्रह द्वारा राष्ट्र में अकाल पैदा करनेवाले व्यापारियोंकी कड़ी आलोचनाः—

कार्याकार्ययोर्नास्ति दाक्षिण्य[1] वार्द्धुषिकानाम् ॥ २४ ॥

अर्थः—वार्द्धुषिकों—लोभवश राष्ट्रका अन्न-संग्रह करके दुर्भिक्ष पैदा करनेवाले व्यापारियों—के कर्तव्य-अकर्त्तव्यमें लज्जा नहीं होती अथवा उनमें सरलता नहीं होती—वे कुटिल प्रकृतिवाले होते हैं।

भावार्थः—अन्न-संग्रहकर्ता व्यापारियोंके साथ यदि उपकार भी किया जावे—उन्हें दंडित न किया जावे—तो भी वे कृतघ्नताके कारण लोभ-वश अपनी अन्न-संग्रहकी प्रकृतिको नहीं छोड़ते। एवं यदि उनके साथ अपकार किया जावे—उन्हें दण्डित किया जावे तो भी वे निर्लज्ज होनेके कारण अपनी अन्न-संग्रह-प्रकृतिको नहीं छोड़ते; अतएव राजाको उनकी कदापि उपेक्षा न करनी चाहिये—उन्हें इसतरहसे वशमें करना चाहिये; ताकि भविष्यमें ऐसा नीतिविरुद्ध कार्य न कर सकें ॥ २४ ॥

हारीत[4] विद्वान्‌ने भी उक्त बातकी पुष्टि की है कि 'अन्न-संग्रह द्वारा दुर्भिक्ष पैदा करनेवाले या अधिक ब्याज लेनेवाले व्यापारियोंके साथ असंख्यातवार उपकार-अनुपकार भी किये जावें, तो भी वे निर्लज्ज या सरल नहीं होते अर्थात् दण्डित न किये जाने पर कृतघ्न और दण्डित किये जाने पर निर्लज्ज होते हैं ॥ १ ॥'

शरीर-रक्षार्थ मनुष्य-कर्त्तव्य:—

अप्रियमप्यौषधं पीयते[1] ॥ २५ ॥

अर्थ:—शारीरिक स्वास्थ्य-रक्षाके लिये विवेकी मनुष्योंके द्वारा कड़वी औषधि भी—कड़वे क्वाथ(काढ़े) आदि भी पीजाती है, पुन: मीठी औषधिके बारेमें तो कहना ही क्या है? अर्थात् वह तो अवश्य सेवन की जाती है।

भावार्थ:—शिष्ट-पुरुष जिस प्रकार लोकमें अपने शारीरिक स्वास्थ्य—तन्दुरुस्तीके लिये कड़वी औषधिका भी सेवन करते हैं, उसीप्रकार उन्हें शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नतिके लिये एवं ऐहिक तथा पारलौकिक सुख-प्राप्तिके लिये धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थोंका अनुष्ठान परस्पर की बाधा-रहित करना चाहिये ॥ २५ ॥

नीतिकार वादीभसिंह सूरि[2] ने भी कहा है कि यदि धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थोंका परस्परकी बाधारहित सेवन किया जाय तो उससे मनुष्योंको बाधारहित सुखकी प्राप्ति होती है और क्रमसे मोक्षसुख भी प्राप्त होता है ॥ १ ॥

वर्ग[3] विद्वान्ने भी उक्त मान्यताका समर्थन किया है कि 'विद्वान् मनुष्यको सुख-सम्पत्तिकी प्राप्तिके लिये नाना प्रकारकी औषधियोंकी तरह धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थका अनुष्ठान करना चाहिये॥१॥'

पूर्वोक्त सिद्धान्तका समर्थन:—

अहिदष्टा स्वाङ्गुलिरपि छिद्यते ॥ २६ ॥

अर्थ:—वह अंगुलि भी जिसमें सर्पके द्वारा डसी—काटी—जानेसे जहर चढ़ गया है, शेष शरीरकी रक्षाके लिये काट दीजाती है।

भावार्थ:—जिसप्रकार विषैली अंगुलि काट देनेसे शरीर स्वस्थ रहता है, उसीप्रकार अनुचित तृष्णा—जिससे राजदंड-आदिका खतरा हो ऐसा लोभ—त्याग देनेसे ही शरीर स्वस्थ और मन निश्चिन्त रहता है ॥२६॥

किसी विद्वान् नीतिकार[4] ने भी कहा है कि 'बुद्धिमान पुरुषोंको शरीरकी रक्षाके लिये तृष्णा—लालच—नहीं करनी चाहिये। क्योंकि शरीरके विद्यमान रहनेपर धन प्राप्त होता है, परन्तु अन्यायका धन कमानेसे शरीर स्थिर नहीं रहता—राजदंड आदिके कारण नष्ट होजाता है ॥१॥'

इति वार्ता-समुद्देश:—

---

१ 'आमयमप्यौषधं पीयते' इसप्रकार मु० मू० प्रतिमें अशुद्ध पाठ है, मालूम पड़ता है कि लेखककी असावधानीसे ऐसा हुआ है, इसीसे अर्थ-समन्वय ठीक नहीं होता। यदि इसके स्थानमें 'आमयेनाप्यौषधं पीयते' ऐसा पाठ होता, तो अर्थसमन्वय व्याकरण और सं० टी० पुस्तकके अनुकूल होसकता था कि रोगीके द्वारा भी हरतरह की—कड़वी और मीठी—औषधि पीजाती है। सम्पादक:—

२ तथा च वादीभसिंह सूरि:—परस्पराविरोधेन त्रिवर्गो यदि सेव्यते। अनर्गलमत: सौख्यमपवर्गोऽप्यनुक्रमात् ॥१॥

३ तथा च वर्ग:—धर्मार्थकामपूर्वैश्च भेषजैर्विविधैरपि। यथा सौख्यार्द्धिकं पश्येत्तथा कार्यं विपश्चिता ॥ १ ॥

४ तथा च कश्चिन्नीतिकार:—शरीरार्थे न तृष्णा च प्रकर्तव्या विचक्षणै:। शरीरेण सता वित्तं लभ्यते न तु तद्धनै: ॥१॥

६ दण्डनीति-समुद्देश ।

दण्डनीतिका माहात्म्यः—

चिकित्सागम इव दोषविशुद्धिहेतुर्दण्डः ॥ १ ॥

अर्थः—जिसप्रकार आयुर्वेद-शास्त्रके अनुकूल औषधि-सेवनसे रोगीके समस्त विकृत दोष—वात, पित्त और कफादिका विकार एवं उससे होनेवाले बुखार-गलगण्डादि समस्त रोग—विशुद्ध—शान्त (नष्ट) होजाते हैं, उसीप्रकार अपराधियोंको दंड देनेसे उनके समस्त अपराध विशुद्ध—नष्ट होजाते हैं।

गर्ग[1] विद्वान्ने भी कहा है कि 'अपराधियोंको दंड देनेसे राष्ट्र विशुद्ध—अन्यायके प्रचारसे रहित होजाता है, परन्तु दंड-विधानके विना देशमें मात्स्यन्याय—बड़ी मछलीके द्वारा छोटी मछलीका खाया जाना(बलवान् व्यक्तियोंके द्वारा निर्बलोंका सताया जाना-आदि अन्यायका प्रचार)की प्रवृत्ति निस्संदेह होने लगती है ॥ १ ॥'

विमर्शः—समस्त राजतंत्र—राज्यशासन—दंडनीतिके आश्रयसे संचालित होता है। इसका उद्देश्य प्रजा-कण्टकों—प्रजापीड़क अन्यायी-आततायियों (दुष्टों) का संशोधन-निग्रह करना है। प्रायः प्रजाके लोग दंडके भयसे ही अपने २ कर्त्तव्योंमें प्रवृत्त और अकर्त्तव्योंसे निवृत्त होते हैं; इससे प्रजामें उक्त मात्स्य-न्यायका प्रचार नहीं होपाता और इसके परिणामस्वरूप अप्राप्तराज्य-आदिकी प्राप्ति, प्राप्तका संरक्षण, संरक्षितकी वृद्धि और वृद्धिगत इष्ट पदार्थोंको समुचित स्थानमें लगाना होता है।

निष्कर्षः—अतः राष्ट्रको प्रजा-कण्टकोंसे सुरक्षित रखना, प्रजाको धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थोंका परस्परकी बाधारहित पालन कराना, उसे कर्त्तव्यमें प्रवृत्त और अकर्त्तव्यसे निवृत्त करना, विशाल सैनिक संगठन द्वारा अप्राप्त राज्यादिकी प्राप्ति, प्राप्तकी रक्षा, रक्षितकी वृद्धि-आदि दंडनीतिका प्रधान प्रयोजन है। नीतिकार चाणक्य[2] ने भी उक्त बातको स्वीकार किया है ॥ १ ॥

दंडनीति का स्वरूपनिर्देशः—

यथादोषं दण्डप्रणयनं दंडनीतिः ॥ २ ॥

अर्थः—अपराधीको उसके अपराधके अनुकूल दण्ड देना दण्डनीति है—जिस व्यक्तिने जैसा अपराध किया है, उसे उसके अनुकूल दण्ड देना यही दंडनीति है। उदाहरणमें—जैसे जुर्माना-योग्य अपराधीको उसके अपराधानुकूल जुर्माना करना न्यायोचित दंडनीति है और इसके विपरीत कारावास—जेलखाने-की पड़ी सजा अन्याययुक्त—तीक्ष्ण दंड है इत्यादि।

गुरु[1] विद्वान् ने कहा है कि 'राजाको स्मृतिशास्त्रमें निर्देश किये हुए के अनुसार अपराधियोंको उनके अपराधानुकूल दंडदेना चाहिये, जो राजा उससे न्यूनाधिक—कमती-बढ़ती—दंडदेता है, वह अपराधियोंके पापोंसे लिप्त होजाता है; अतः वह विशुद्ध नहीं होता ॥ १ ॥'

विशद-विमर्श:—नीतिकार चाणक्य[2] ने भी कहा है कि 'राजाका कर्तव्य है कि वह पुत्र और शत्रु को उनके अपराधके अनुकूल पक्षपात-रहित होकर दंड देवे। क्योंकि अपराधानुकूल—न्यायोचित दंड ही इसलोक और परलोककी रक्षा करता है। दंडनीतिके आश्रयसे उसे प्रजाके धर्म, व्यवहार और चरित्रकी रक्षा करनी चाहिये। यद्यपि न्यायालयमें न्यायाधीश—जज—के सामने मुकदमें में वादी और प्रतिवादी दोनों ही अपने २ पक्षको सच्चा कहते हैं एवं वकीलोंके द्वारा अपने २ पक्षको सत्य सिद्ध करने में प्रयत्न-शील रहते हैं। परन्तु उनमें से सच्चा एक ही होता है। ऐसी अवस्थामें दोनों पक्षोंको ठीक २ निर्णय करने वाले निम्न लिखित हेतु हो सकते हैं।

१ दृष्टदोष—जिसके अपराधको देख लिया गया हो, २ स्वयंवाद—जो स्वयं अपने अपराधको स्वीकार कर लेवे, ३ सरलता पूर्वक न्यायोचित जिरह, ४ कारणोंका उपस्थित कर देना। ५ शपथ—कसम दिलाना। उक्त पाचों हेतु यथावश्यक अर्थके साधक हैं अर्थात् अपराधीके अपराधको समर्थन करने वाले हैं। वादी-प्रतिवादियोंके परस्पर विरुद्ध कथनका यदि उक्त हेतुओं से निर्णय न होसके तो साक्षियों और खुफिया पुलिसके द्वारा इसका अनुसन्धान कर अपराधीका निश्चय करना चाहिये।

निष्कर्ष:—उक्त प्रबल युक्तियों द्वारा अपराधियोंके अपराधका निर्णय करके यथादोष दंडविधान करनेसे राष्ट्रकी सुरक्षा होती है, अतःअपराधानुरूप दंड विधानको 'दंडनीति' कहा गया है ॥ २ ॥

दंड-विधानका उद्देश्य:—

प्रजापालनाय राज्ञा दंडः प्रणीयते न धनार्थम् ॥३॥

अर्थ:—राजाके द्वारा प्रजाकी रक्षा करनेके लिये अपराधियोंको दंडविधान किया जाता है, धन-प्राप्तिके लिये नहीं।

---

१ तथा च गुरुः—

स्मृत्युक्तवचनैर्दण्डं हीनाधिक्यं प्रपातयन्। अपराधकपापेन लिप्यते न विशुद्ध्यति ॥ १ ॥

२ तथा च चाणक्यः—

दण्डो हि केवलो लोकं परं चेमं च रक्षति। राज्ञा पुत्रे च शत्रौ च यथादोषं समं धृतः ॥ १ ॥

अनुशासद्धि धर्मेण व्यवहारेण संस्थया। न्यायेन च चतुर्थेन चतुरन्तां महीं जयेत् ॥ २॥

दृष्टदोषः स्वयंवादः स्वपक्षपरपक्षयोः। अनुयोगार्जवं हेतुः शपथश्चार्थसाधकः ॥ ३ ॥

पूर्वोत्तरार्थव्याघाते साक्षिवक्तव्यकारणे। चारहस्ताच्च निष्पाते प्रदेष्टव्यः पराजयः ॥ ४ ॥

कौटिलीय अर्थशास्त्र धर्मस्थानीय तृ० अधि० अ० १।

गुरु[1] विद्वान्ने भी कहा है कि 'जो राजा धनके लोभसे हीनाधिक—कमती-बढ़ती—जुर्माना करता है उसके राज्यकी वृद्धि नहीं होती और इसके परिणामस्वरूप उसका राज्य नष्ट होजाता है ॥ १ ॥'

निष्कर्षः—राजाको प्रजा-कण्टकों—दुष्टों—से राष्ट्र को सुरक्षित रखनेके लिये अपराधियोंको यथादोष दंड देना चाहिये, धनादिके लोभसे नहीं ॥ ३ ॥

लोभवश छिद्रान्वेषी वैद्य और राजाकी कड़ी आलोचना—

स किं राजा वैद्यो वा यः स्वजीवनाय प्रजासु दोषमन्वेषयति ॥ ४ ॥

अर्थ—जो राजा अपने निर्वाहके लिये प्रजाजनोंमें दोषों–अपराधों–का अन्वेषण करता है—धनके लोभसे साधारण अपराधोंमें भी अधिक जुर्माना-आदि करता है, वह राजा नहीं किन्तु प्रजाका शत्रु है। एवं जो वैद्य अपने निर्वाहके लिये जनताके रोगोंका अन्वेषण करता है—रोगोंको बढ़ाने वाली औषधियाँ देता है—वह वैद्य नहीं किन्तु शत्रु है ॥ ४ ॥

शुक्र[2] नामके विद्वान्ने लिखा है कि 'जो राजा दूसरोंके कहने से प्रजाको दण्ड देता है उसका राज्य नष्ट होजाता है, इसलिये उसको सोच-समझ कर दंड देना चाहिये ॥ १ ॥

राजाको सैनिक शक्तिका संगठन प्रजामें अपराधोंका अन्वेषण करने के अभिप्राय से नहीं करना चाहिये। क्योंकि ऐसा करनेसे प्रजा उससे असन्तुष्ट होकर शत्रुता करने लगती है और उसके फलस्वरूप उसका राज्य नष्ट होजाता है ॥ २ ॥

राजाके द्वारा अग्राह्य—उपयोगमें न आने योग्य—धनः—

दंड-द्यूत-मृत-विस्मृत-चौर-पारदारिक-प्रजाविप्लवजानि द्रव्याणि न राजा स्वयमुपयुञ्जीत ॥५॥

अर्थः—राजाको अपराधियोंके जुर्मानेसे आए हुए, जुआमें जीते हुए, लड़ाईमें मारे हुए, नदी, तालाब और रास्ता आदिमें मनुष्योंके द्वारा भूले हुए धनका और चोरोंके धनका तथा पति-पुत्रादि कुटुम्बीसे रहित अनाथ स्त्रीका धन या रक्षक-हीन कन्याका धन और गदर वगैरहके कारण जनताके द्वारा छूटे हुए धनोंका स्वयं उपभोग नहीं करना चाहिये।

भावार्थः—उक्त प्रकारके धनको राजा स्वयं उपभोग न करे, परन्तु उसे लेकर उसका समाज और

राष्ट्रकी रक्षामें उपयोग करे ॥५॥

शुक्र[1] नामके विद्वान्ने लिखा है कि 'जो राजा चोर वगैरहके खोटे धनको अपने खजानेमें जमा करता है उसका तमाम धन नष्ट होजाता है ॥१॥'

अन्याय-पूर्ण दंडसे होनेवाली हानिका निर्देश:—

दुष्प्रणीतो हि दंडः कामक्रोधाभ्यामज्ञानाद्वा सर्वविद्वेषं करोति ॥६॥

अर्थ:—जो राजा अज्ञानतापूर्वक काम और क्रोधके वशीभूत होकर दंडनीति-शास्त्रकी मर्यादा—अपराधके अनुकूल पात्रादिका विचारकरके दंड देना—को उल्लंघन करके अनुचित ढंगसे दंड देता है उससे समस्त प्रजाके लोग द्वेष करने लगते हैं ॥ ६ ॥

शुक्र[2] नामके विद्वान्ने लिखा है कि 'जिसप्रकार खोटे मित्रकी संगतिसे समस्त सदाचार नष्ट होजाता है, उसीप्रकार अन्याय युक्त दंडसे—अनुचित जुर्माना-आदि करनेसे—मिला हुआ राजाका तमाम धन नष्ट होजाता है ॥१॥ इसलिये विवेकी राजाको काम, क्रोध, और अज्ञानसे दिये गये दंड द्वारा संचित पाप-पूर्ण धनका खोटे मित्रकी तरह त्याग कर देना चाहिये ॥२॥

अपराधियोंको दंड-विधान न करनेसे हानि:—

अप्रणीतो हि दण्डो मात्स्यन्यायमुत्पादयति, बलीयानबलं ग्रसति इति मात्स्यन्यायः ॥७॥

अर्थ:—यदि अपराधियोंको दंड-प्रयोग सर्वथा रोक दिया जाय, तो प्रजामें मात्स्यन्याय—बड़ी मछली के द्वारा छोटी मछलीका खाया जाना--उत्पन्न होजायगा। अर्थात् जिसप्रकार बड़ी मछली छोटी मछलीको खाजाती है उसीप्रकार बलवान् पुरुष निर्बलोंको कष्ट पहुँचानेमें तत्पर होजावेगा।

भावार्थ:—इसलिये न्यायवान् राजाको अपराधके अनुकूल—न्याय युक्त-दंड देकर प्रजाकी श्रीवृद्धि करनी चाहिये ॥७॥

गुरु[3] विद्वान्ने लिखा है कि 'जो राजा पापयुक्त दंड देता है परन्तु दंड देने योग्य दुष्टों---अपराधियों-को दंडित नहीं करता, उसके राज्यकी प्रजामें मात्स्यन्यायका प्रचार होजाता है—सबल निर्बलको सताने लगता है और ऐसा होनेसे सर्वत्र अराजकता फैल जाती है ॥१॥

इति दंडनीति समुद्देशः ।

---

१ तथा च शुक्रः—दुष्प्रणीतानि द्रव्याणि कोशे क्षिपति यो नृपः । स याति धनं गृह्यगृहार्थसनिधिर्यथा ? ॥१॥

२ तथा च शुक्रः—यथा कुमित्रसंगेन सर्वं शीलं विनश्यति । तथा पापोत्थदंडेन मिश्रं नश्यति तद्धनं ।
किंचित्कामेन क्रोधेन किंचित्किंचिच्च जाड्यतः । तस्माद् दूरेण संत्याज्यं पापवित्तं कुमित्रवत् ॥२॥

३ तथा च गुरुः—दण्ड्यं दण्डयति नो यः पापदण्डसमन्वितः । तस्य राष्ट्रे न सन्देहो मात्स्यो न्यायः प्रकीर्तितः ॥१॥

१० मंत्रि-समुद्देशः

आहार्यबुद्धि-युक्त—मंत्री-आदिकी सलाह माननेवाले—राजाका निर्देशः—

मंत्रि-पुरोहित-सेनापतीनां यो युक्तमुक्तं करोति स आहार्यबुद्धिः ॥१॥

अर्थः—जो राजा मंत्री, पुरोहित और सेनापतिके कहे हुए धार्मिक एवं आर्थिक सिद्धान्तोंका पालन करता है उसे आहार्यबुद्धि-युक्त कहते हैं ।

निष्कर्षः—इसलिये राजाको अपने राज्यकी श्रीवृद्धिके लिये उक्त तीनोंकी योग्य बात माननी चाहिये ॥१॥

गुरु[1] विद्वान्ने लिखा है कि 'जो राजा मंत्री, पुरोहित तथा सेनापतिके हितकारक वचनोंको नहीं मानता, वह दुर्योधन (धृतराष्ट्रका बड़ा पुत्र) राजाकी तरह नष्ट होजाता है ॥१॥'

राजाको आहार्यबुद्धियुक्त—प्रधानमंत्री-आदिके हितकारक उपदेश (सलाह) को माननेवाले—होनेके लिये दृष्टान्त द्वारा समर्थनः—

असुगन्धमपि सूत्रं कुसुमसंयोगात् किन्नारोहति देवशिरसि ? ॥२॥

अर्थः—पुष्पमालाके आकारको प्राप्त हुए तंतु सुगन्धि-रहित होने पर भी पुष्पोंकी संगति—संयोग-से क्या देवताओंके शिर पर धारण नहीं किये जाते ? अवश्य किये जाते हैं ।

भावार्थः—जिसप्रकार लोकमें निर्गन्ध तंतु भी पुष्पोंके संयोगसे देवताओंके मस्तकपर धारण किये जाते हैं, उसीप्रकार मूर्ख एवं असहाय राजा भी राजनीति विद्यामें निपुण और सुयोग्य मंत्रियोंकी अनुकूलतासे शत्रुओंके द्वारा अजेय होजाता है ।

निष्कर्षः—प्रायः राजाकी बुद्धि कामविलासके कारण नष्टप्राय और विभ्रम-युक्त होती है; अतएव वह संधि, विग्रह, यान, आसन और द्वैधीभाव आदि षाड्गुण्य-नीतिके प्रयोगमें गल्ती करने लगता है, परन्तु जब वह मंत्री, पुरोहित और सेनापतिकी उचित सम्मतिको मान लेता है, तब वह ठीक रास्तेपर आजाता है और ऐसा होनेसे उसके राज्यकी श्रीवृद्धि होती है ॥२॥

वल्लभदेव[2] विद्वानने लिखा है कि 'साधारण मनुष्य भी उत्तम पुरुषोंकी संगतिसे गौरव—महत्व प्राप्त कर लेते हैं, जिसप्रकार तंतु पुष्प-मालाके संयोगसे शिर पर धारण कर लिये जाते हैं ॥१॥'

उक्त सिद्धान्तका दृष्टान्त द्वारा समर्थनः—

महद्भिः पुरुषैः प्रतिष्ठितोऽश्मापि भवति देवः किं पुनर्मनुष्यः ॥३॥

अर्थः—अचेतन और प्रतिमाकी आकृति-युक्त पाषाण भी विद्वानोंके द्वारा प्रतिष्ठित होनेसे देव हो जाता है—देवकी तरह पूजा जाता है । तब 'सचेतन पुरुषका महापुरुषोंकी संगतिसे उन्नत होजाना' इसमें तो कहना ही क्या है ? अर्थात् अवश्य उन्नत होजाता है ॥३॥

हारीत[1] विद्वान्ने लिखा है कि 'उत्तम पुरुषोंसे स्थापित या प्रतिष्ठित पाषाण भी देव होजाता है, तब क्या उनकी संगतिसे मनुष्य उत्तम नहीं होसकता ? अवश्य होसकता है ॥१॥

निष्कर्षः—इसलिये राजाको या सर्व साधारण मनुष्योंको महापुरुषोंकी बात माननी चाहिये ॥३॥
उक्त सिद्धान्तका ऐतिहासिक प्रमाण द्वारा समर्थनः—

तथा चानुश्रूयते विष्णुगुप्तानुग्रहादनधिकृतोऽपि किल चन्द्रगुप्तः साम्राज्यपदमवापेति ॥४॥

अर्थः—इतिहास बताता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य (सम्राट् नन्दका पुत्र) ने स्वयं राज्यका अधिकारी न होनेपर भी विष्णुगुप्त—चाणिक्य नामके विद्वान्के अनुग्रहसे साम्राज्य पदको प्राप्त किया * ॥४॥

शुक्र[2] नामके विद्वान्ने लिखा है कि 'जो राजा राजनीतिमें निपुण महामात्य—प्रधान मंत्री—की नियुक्ति करनेमें किसी प्रकारका विकल्प नहीं करता, वह अकेला होनेपर भी राज्यश्रीको प्राप्त करता है। जिसप्रकार चन्द्रगुप्त मौर्यने अकेले होने पर भी चाणक्य नामक विद्वान् महामात्यकी सहायतासे राज्यश्रीको प्राप्त किया था ॥१॥'
प्रधान मंत्रीके सद्गुणोंका निर्देशः—

---

१ तथा च हारीतः—पाषाणोऽपि च विबुधः स्थापितो यैः प्रजायते । उत्तमैः पुरुषस्तैस्तु किं न स्यान्मानुषोऽपरः ॥१॥

* इतिहास बताता है कि ३२६ ई० पू० में नन्द वंशका राजा महापद्मनन्द मगधका सम्राट था। नन्दवंशके राजा अत्याचारी शासक थे, इसलिये उनकी प्रजा उनसे अप्रसन्न होगई और अन्तमें विष्णुगुप्त—चाणक्य नामके ब्राह्मण विद्वान्-की सहायतासे इस वंशके अन्तिम राजाको उसके सेनापति चन्द्रगुप्त मौर्यने ३२२ ई० पू० में गद्दी से उतार दिया और स्वयं राजा बन बैठा। मैगास्थनीज नामक यूनानी राजदूतने जो कि चन्द्रगुप्तके दरबारमें रहता था, चन्द्रगुप्तके शासन प्रबन्ध की बड़ी प्रशंसा की है। इसने २४ वर्ष पर्यन्त नीतिन्यायपूर्वक राज्य शासन किया। कथासरित्सागर में भी लिखा है कि नन्द राजा के पास ६६ करोड़ सुवर्ण मुद्राएं थीं। अतएव इसका नाम नवनंद था। इसी नंदको मरवा कर चाणक्यने चन्द्रगुप्त मौर्य को मगध की राजगद्दी पर बैठाया। किन्तु इतने विशाल साम्राज्यके अधिपति की मृत्युके बाद सरलतासे उक्त साम्राज्यको हस्तगत करना जरा टेढ़ी खीर थी। नंदके मंत्री राक्षस-आदि उसकी मृत्युके बाद उसके वंशजोंको राजगद्दी पर बिठा कर मगध साम्राज्यको उसी वंशमें रखनेकी चेष्टा करते रहे। इन मंत्रियोंने चाणक्य तथा चन्द्रगुप्तकी सम्मिलित शक्तिका विरोध बड़ी दृढ़तासे किया। कवि विशाखदत्त मुद्राराक्षसमें लिखते हैं कि शक, यवन, कम्बोज व पारसीक आदि जाति के राजा चन्द्रगुप्त और पर्वतेश्वरकी सहायता कर रहे थे। करीब ५-६ वर्षों तक चन्द्रगुप्तको नन्दवंशके मंत्रियोंने पाटलिपुत्रमें प्रवेश नहीं करने दिया, किन्तु विष्णुगुप्त-चाणक्य (कौटिल्य) की कुटिल नीति के सामने इन्हें सिर झुकाना पड़ा। अन्तमें विजयी चन्द्रगुप्तने चाणक्य की सहायतासे नन्दवंशका मूलोच्छेद करके सुगांगप्रासादमें बड़े समारोहके साथ प्रवेश किया।

निष्कर्षः—चाणक्यने विषकन्याके प्रयोगसे नंदोंको मरवाकर अपनी आज्ञाके अनुसार चलनेवाले चन्द्रगुप्त मौर्यको मगधप्रान्तके साम्राज्य पद पर आसीन किया। इसका पूर्ण वृत्तान्त पाठकों को कवि विशाखदत्तके मुद्राराक्षससे तथा अन्य कथासरित्सागर आदि ग्रन्थों से जान लेना चाहिये। विस्तारके भयसे अधिक नहीं लिखना चाहते।

२ तथा च शुक्रः—महामात्यं वरो राजा निर्विकल्पं करोति यः। एकशोऽपि महीं लेभे हीनोऽपि वृषलो यथा ॥१॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशामेकतमं स्वदेशजमाचाराभिजनविशुद्धमव्यसनिनमव्यभिचारिणमधीताखिलव्यवहारतंत्रमस्त्रज्ञमशेषोपाधिविशुद्धं च मंत्रिणं कुर्वीत ॥५॥

अर्थः—बुद्धिमान् राजा या प्रजाको निम्नप्रकारके गुणोंसे विभूषित प्रधान मंत्री नियुक्त करना चाहिये। जो द्विज—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णोंमें से एक हो किन्तु शूद्र न हो, अपने देश आर्यावर्त्त का निवासी हो, किन्तु विदेशका रहनेवाला न हो, सदाचारी अर्थात् दुष्कर्मोंमें प्रवृत्ति करनेवाला न हो किन्तु पवित्र आचरणवाला हो। जो कुलीन हो--जिसके माता और पिताका पक्ष (वंश) विशुद्ध हो (जो कि विवाहित समान वर्णवाले माता पितासे उत्पन्न हो)। जो जुआ खेलना, मद्यपान करना और परस्त्रीसेवन आदि व्यसनोंसे दूर हो। जो द्रोह करनेवाला न हो—जो दूसरे राजासे मिला हुआ न होकर केवल अपने स्वामीमें ही श्रद्धायुक्त हो। व्यवहार विद्यामें निपुण--नीतिज्ञ (जिसने समस्त व्यवहार शास्त्रों-नीतिशास्त्रों के रहस्यका अध्ययन किया हो)। युद्ध विद्यामें निपुण तथा शत्रु-चेष्टाकी परीक्षामें निपुण हो अथवा समस्त प्रकारके छल-कपटसे रहित हो अर्थात् दूसरेके कपटको जाननेवाला होनेपर भी स्वयं कपट करनेवाला न हो।

भावार्थः—राजाका प्रधान मंत्री द्विज, स्वदेशवासी, सदाचारी, कुलीन, व्यसनोंसे रहित, स्वामीसे द्रोह न करनेवाला, नीतिज्ञ, युद्ध-विद्या-विशारद और निष्कपट, इन नौ प्रकारके गुणोंसे विभूषित होना चाहिये; तभी उसके राज्यकी चन्द्रवत् उन्नति (वृद्धि) होसकती है अन्यथा नहीं ॥५॥

मत्रीके उपर्युक्त गुणोंमें से 'स्वदेशवासी' गुणका समर्थनः—

समस्तपक्षपातेषु स्वदेशपक्षपातो महान् ॥६॥

अर्थः—समस्त पक्षपातोंमें अपने देशका पक्षपात प्रधान माना गया है।

हारीत[1] नामके विद्वान्ने लिखा है कि 'जो राजा अपने देशवासी मंत्रीको नियुक्त करता है, वह आपत्तिकाल आनेपर उससे मुक्त होजाता है ॥ १ ॥'

भावार्थः—राजमंत्रीके उक्त ६ गुणोंमें से 'अपने देशका रहनेवाला' यह गुण मुख्य माना गया है। क्योंकि दूसरे देशका मंत्री अपने देशका पक्ष करनेके कारण कभी राज्यका अहित भी कर सकता है, अतएव मंत्रीको अपने देशका निवासी होना आवश्यक है।

निष्कर्षः—जहाँपर 'दूसरे देशका रहनेवाला मनुष्य राजमंत्री नहीं होसकता' इस बातका समर्थन किया गया है वहाँपर दूसरे देशका रहनेवाला व्यक्ति जो कि प्रजाके आचार-विचारोंसे शून्य है, शासक—राजा किसप्रकार हो सकता है? एवं उसके शासनमें रहनेवाली प्रजाको किस प्रकार सुरक्षा मिल सकती है? क्योंकि दूसरे देशका निवासी शासक अपने देशके पक्षपातरूपी पिशाच से गृहीत होनेके कारण अपनी प्रजाका क्या हित कर सकता है? अर्थात् नहीं कर सकता। इसे राजनीतिज्ञ पाठक स्वयं सोच सकते हैं ॥ ६ ॥

दुराचारसे होनेवाली हानिका निर्देश:—

विषनिषेक इव दुराचारः सर्वान् गुणान् दूषयति ॥ ७ ॥

अर्थ:—दुराचार—खोटा आचरण (कुत्सित और निंद्य कर्मोंमें प्रवृत्ति) विष-भक्षणकी तरह समस्त गुणों नाश कर देता है,—अर्थात् जिसप्रकार विषका भक्षण जीवन नष्ट कर देता है उसी प्रकार दुराचार भी विद्या, कला और नीतिमत्ता, आदि मानवोचित गुणोंको अथवा राज्यकी वृद्धि और रक्षा करनेवाले संधि और विग्रह आदि षाड्गुण्यको नष्ट कर देता है।

अत्रि[1] विद्वान्ने भी कहा है कि 'जो राजा दुराचारी मंत्रीको नियुक्त करता है, वह उसकी खोटी सलाह से अपने राजोचित सदगुणों-संधि-विग्रह आदि षाड्गुण्य -को खोबैठता है—नष्ट कर डालता है ॥ १ ॥'

निष्कर्ष:—राजाका प्रधान मंत्री सदाचारी होना चाहिये, अन्यथा—उसके दुराचारी होनेपर राज्यवृक्षका मूल (राजनैतिक ज्ञान) और सैनिक संगठन-आदि सद्गुणोंके अभावसे राज्यकी क्षति सुनिश्चित रहती है ॥ ७॥

प्रधान मंत्रीके कुलीन—उच्चकुलवाले—न होनेसे हानि:—

दुष्परिजनो मोहेन कुतोऽप्यपकृत्य न जुगुप्सते ॥ ८ ॥

अर्थ:—नीच कुलवाला मंत्री राजासे द्रोह करके भी मोह के कारण किसी से भी लज्जा नहीं करता।

यम[2] विद्वान्ने भी कहा है 'कि स्वामीके साथ द्रोह-लड़ाई-झगड़ा करने पर भी नीच कुलवालेको लज्जा नहीं होती; अतः बुद्धिमान् राजाको नीच कुलका मंत्री नहीं बनाना चाहिये ॥ १ ॥'

भावार्थ:—कुलीन पुरुष अज्ञानवश यदि कुछ दोष-अपराध करता है तो उसे लज्जा होती है, परन्तु नीच कुलवाला निर्लज्ज—बेशर्म होता है; इसलिये राजाको उच्च कुलका मंत्री बनाना चाहिये ॥८॥

मद्यपान-आदि व्यसनोंमें आसक्त मंत्रीसे होनेवाली हानि—

सव्यसनसचिवो राजारूढव्यालगज इव नासुलभोऽपायः[3] ॥ ९ ॥

अर्थ:—जिस राजाका मंत्री जुआ, मद्यपान और परकलत्रसेवन-आदि व्यसनोंमें फसा हुआ है, वह राजा पागल हाथीपर चढ़े हुए मनुष्यकी तरह शीघ्र नष्ट होजाता है ॥ ९ ॥

राजासे द्रोह करनेवाले मंत्रीका स्वरूप:—

किं तेन केनापि यो विपदि नोपतिष्ठते ॥ १० ॥

---

१ तथा च अत्रि:—दुराचारममात्यं यः कुरुते पृथिवीपतिः। भूपार्हांस्तस्य मंत्रेण गुणान् सर्वान् प्रणाशयेत् ॥ १ ॥

२ तथा च यमः—अकुलीनस्य नो लज्जा स्वामिद्रोहे कृते सति। [मंत्रिणं कुलहीनं च तस्मान्न स्थापयेद्बुधः] ॥ १ ॥

नोट:—इस श्लोकका तीसरा चरण संशोधित एवं परिवर्तित किया गया है तथा ४ थे चरणकी पद्यरचना हमने स्वयं की है; क्योंकि सं० टी० पुस्तकमें अशुद्ध छपा हुआ था। सम्पादक—

३ 'सुलभापायः' ऐसा पाठ मु० और ह० लि०मू० प्रतियों में है; परन्तु अर्थ-भेद कुछ नहीं है।

अर्थः—उस मंत्री, मित्र या सेवकसे क्या लाभ है ? जो विपत्तिके समय अपने स्वामी या मित्रकी सहायता नहीं करता किन्तु उल्टा उससे द्रोह करता है, चाहे वह कितना ही विद्वान् और व्यवहार कुशल ही क्यों न हो।

भावार्थः—अपने स्वामीसे द्रोह करनेवाले मंत्री और सेवकोंका रखना निरर्थक है; अतएव प्रकरणमें राजमंत्रीको राज-द्रोही नहीं होना चाहिये ॥ १० ॥

शुक्र[1] विद्वान्ने कहा है कि 'जो विपत्ति पड़नेपर द्रोह करता है, उस मंत्रीसे राजाका क्या लाभ है ? चाहे वह समस्त गुणोंसे विभूषित ही क्यों न हो ॥ १ ॥'

उक्त बातका समर्थनः—

भोज्येऽसम्मतोऽपि हि सुलभो लोकः[2] ॥ ११ ॥

अर्थः--यह निश्चित है कि भोजनकी वेलामें विना बुलाये आनेवाले लोग बहुत हैं। अर्थात्—सुखके समय सभी लोग सहायक होजाते हैं किंतु दुःखमें कोई सहायक नहीं होता। अतएव विपत्तिमें सहायता करनेवाला पुरुष राजमंत्री पदके योग्य है अन्य नहीं ॥ ११ ॥

वल्लभदेव[3] विद्वान्ने कहा है कि 'धनादिक वैभवके प्राप्त होनेपर दूसरे लोग भी कुटुम्बियोंकी तरह व्यवहार करते हैं; अतः राजाओंको विपत्तिके समय सहायता करने वाले मंत्रीका मिलना दुर्लभ है चाहे वह नीच कुलका भी क्यों न हो ॥१॥'

व्यवहार-कुशलताके रहस्यको न जाननेवाले मंत्रीका दोषः—

किं तस्य भक्त्या यो न वेत्ति स्वामिनो हितोपायमहितप्रतीकारं वा ॥१२॥

अर्थः—जो मंत्री अपने स्वामीकी उन्नतिके उपाय (कोष-वृद्धि-आदि) और दुःखोंका प्रतीकार—शत्रु का नाश-आदि—को नहीं जानता, किन्तु केवल भक्तिमात्र दिखाता है 'उस मंत्रीकी केवल भक्तिसे क्या लाभ है ? कोई लाभ नहीं ॥१२॥

भावार्थः—जो व्यक्ति राजाका हित-साधन और अहित-प्रतीकारके उपायोंको नहीं जानता, किन्तु केवल उसकी भक्तिमात्र करता है, उसे राजमंत्री बनानेसे राज्यकी श्रीवृद्धि नहीं होसकती, इसलिये राजा को राजनीति विद्यामें प्रवीण एवं कर्तव्य-निपुण पुरुषको मंत्री पद पर नियुक्त करना चाहिये ॥१२॥

गुरु[1] विद्वान्ने कहा है कि 'जो व्यक्ति राजाकी धन-प्राप्तिके उपाय और उसके शत्रु-नाश पर ध्यान नहीं देता, उसके जाने हुए शिष्टाचार और नमस्कार आदि व्यवहारोंसे क्या लाभ है ? अर्थात् कोई लाभ नहीं ॥१॥

शस्त्रविद्यामें निपुण होकरके भी भीरुता दिखानेवाले मंत्रीका दोष:—

किं तेन सहायेनास्त्रज्ञेन[2] मंत्रिणा यस्यात्मरक्षणेऽप्यस्त्रं न प्रभवति ॥१३॥

अर्थ:—जिसका शस्त्र—खड्ग और धनुष-आदि—अपनी रक्षा करनेमें भी समर्थ नहीं है ऐसे शस्त्र विद्यामें प्रवीण सहायक मंत्रीसे राजाका क्या लाभ होसकता है ? कोई लाभ नहीं होसकता ।

भावार्थ:—जो व्यक्ति युद्ध-कलामें प्रवीण होकरके भी वीररस-पूर्ण—बहादुर है, वही राज-मंत्री होनेके योग्य है । परन्तु जो केवल शस्त्र-विद्यासे परिचित होकर कायरता दोषसे अपनी रक्षा भी नहीं कर सकता वह (डरपोक) राजमंत्री होनेका अधिकारी नहीं है ॥१३॥

उपधा—शत्रु-चेष्टाकी परीक्षाका निर्देश:—

धर्मार्थकामभयेषु व्याजेन परचित्तपरीक्षणमुपधा[3] ॥१४॥

अर्थ—शत्रुके धर्म, अर्थ, काम और भयकी जानकारीके लिये—अमुक शत्रुभूत राजा धार्मिक है ? अथवा अधार्मिक है ? उसके खजानेमें प्रचुर सम्पत्ति है, अथवा नहीं ? वह कामान्ध है ? अथवा जितेन्द्रिय ? बहादुर है ? या डरपोक ? इत्यादि ज्ञान प्राप्त करनेके उद्देश्यसे गुप्तचरोंके द्वारा छलसे शत्रु-चेष्टाकी परीक्षा करना, यह 'उपधा' या 'उपाधि' नामका राज-मंत्रीका प्रधान सद्गुण है ।

भावार्थ:—राजनीतिमें निपुण मंत्रीका कर्त्तव्य है कि शत्रुभूत राजाकी धर्म-निष्ठा या धर्म-शून्यताके ज्ञानके लिये धर्म-विद्यामें निपुण गुप्तचरको उसके यहाँ भेजकर उसकी राजपुरोहितसे मित्रता करावे और गुप्तचरसे कह रक्खे कि उसकी धार्मिकता या पापनिष्ठाकी हमें शीघ्र खबर दो । तदनन्तर शत्रुभूत राजाकी धार्मिकताका निश्चय होनेपर मंत्रीको अपने राजासे मिलकर उस शत्रु राजासे संधि कर लेनी चाहिये । यदि वह पापी प्रतीत हो तो उससे विग्रह—युद्ध करके अपने राज्यकी श्री-वृद्धि कर लेनी चाहिये । यह मंत्रीकी 'धर्मोपधा' शक्ति है ।

अर्थोपधा—इसीप्रकार मंत्री अर्थमें निपुण गुप्तचरको अपने देशकी वस्तुएँ लेकर बेचनेके बहाने से शत्रु के देश में भेजे । वह वहाँ जाकर शत्रु राजा के कोषाध्यक्ष से मित्रता करके कोष की शुद्धि का निश्चय करे । पश्चात् वापिस आकर मंत्री को सूचित कर देवे । यदि शत्रु राजा के पास कोष—धन-राशि अधिक है, तो मंत्री को उससे संधि कर लेनी चाहिये, यदि शत्रुका खजाना खाली हो रहा हो, तो उससे विग्रह करके राज्य की वृद्धि करनी चाहिये ।

---

१ तथा च गुरुः—किं तस्य व्यवहारार्थैर्विज्ञातैः शुभकैरपि यो न चिन्तयते राज्ञो धनोपायं रिपुक्षयं ॥१॥

२ मु. मू. प्रति में 'अस्त्रज्ञेन' यह पद नहीं है ।

३ 'धर्मार्थकामनयव्याजेन परिचित्तपरीक्षणमुपधा' ऐसा मु. एवं ह. लि. मू. प्रति में पाठ है, परन्तु अर्थ-भेद कुछ नहीं ।

कामोपधा—इसी प्रकार काम शास्त्रमें प्रवीण गुप्तचर को भेजकर उसकी कंचुकीके साथ मित्रता कराके काम शुद्धिका निश्चय करे। यदि शत्रु राजा कामी हो-द्यूत-क्रीड़न परकलत्र-सेवन-आदि व्यसनोंमें फंसा हुआ हो तो उससे युद्ध करना योग्य है। यदि जितेन्द्रिय हो तो संधि करने के योग्य है।

भयोपधा—इसी प्रकार मंत्रीको शत्रु राजाके यहाँ शूरवीर और युद्धकलामें प्रवीण गुप्तचर भेजकर उसकी शत्रुके सेनापतिसे मित्रता करवाकर शत्रु राजाकी वहादुरी या डरपोकपनका निश्चय करे। यदि शत्रु राजा डरपोक हो तो मंत्रीको उसके साथ युद्ध छेड़ना चाहिये और यदि वहादुर हो तो उससे संधि कर लेनी चाहिये।

निष्कर्ष—इस प्रकार मंत्रीको चतुर गुप्तचरोंद्वारा शत्रु भूत राजाओंकी धार्मिक, आर्थिक, कामिक और भय सम्बन्धी शुद्धि का निश्चय करते रहना चाहिये। ऐसा करने वाला ही मंत्री षाड्गुण्य-(संधि, विग्रह, यान और आसन-आदि) का उचित स्थानपर प्रयोग करके अप्राप्तराज्यकी प्राप्ति, प्राप्तकी सुरक्षा और रक्षितराज्यकी वृद्धि करनेमें समर्थ होता है ॥१४॥

शुक्र[1] विद्वानने कहा है 'कि राजमंत्रीको अपने-अपने विषयोंमें प्रवीण गुप्तचरोंको शत्रुभूतराजाके यहां भेजकर उसके पुरोहित से उसकी धर्म-शून्यता, कोषाध्यक्षसे निर्धनता, कञ्चुकीसे विषयलम्पटता और सेनापतिसे डरपोकपनेका निश्चय करके अपने राजासे सलाह करके उसके साथ विग्रह या युद्ध करना चाहिये ॥ १ ॥'

नीचकुलवाले मंत्रियोंके दोष:—

अकुलीनेषु नास्त्यपवादाद्भयम् ॥ १५ ॥

अर्थः- नीचकुलवाले मंत्री आदि अपनी अपकीर्ति—लोकमें होनेवाली निन्दा—से नहीं डरते।

भावार्थ:—नीच कुलका मंत्री लोकमें होनेवाली अपनी निन्दासे नहीं डरता, इसलिये वह कभी राजाका अनर्थ भी कर सकता है; अतएव राजाको कुलीन मंत्री रखना चाहिये। ॥१५॥

वल्लभदेव[2] विद्वान्ने कहा है कि 'नीच कुलका व्यक्ति अपनी अपकीर्तिपर ध्यान नहीं देता; इसलिये राजाको उसे मंत्री नहीं बनाना चाहिये ॥ १ ॥'

पूर्वोक्त वातका विशेष समर्थन:—

अलर्कविषवत् कालं प्राप्य विकुर्वते विजातयः ॥ १६ ॥

अर्थ:—नीचकुलवाले राजमंत्री वगैरह पुरुष कालान्तर में (राजाके ऊपर आपत्ति आनेपर) पागल कुत्तेके विषकी तरह विरुद्ध होजाते हैं।

भावार्थः—जिसप्रकार पागल कुत्तेके दाँतका विष काटे हुये मनुष्यको उसी समय विकार पैदा नहीं करता; किन्तु वर्षाकाल आनेपर उसे कष्ट पहुँचाता है, उसी प्रकार कुलहीनमंत्री भी राजाके ऊपर आपत्ति पड़नेपर उसके पूर्वकृत दोषको स्मरण करके उससे विरुद्ध होजाते हैं; अतएव नीचकुल वाले मंत्रियोंका रखना राजाको अनुचित है ॥ १६ ॥

वादरायण[1] विद्वानने भी उक्त सिद्धान्तका समर्थन किया है कि 'जिस राजाके मंत्री नीचकुलके होते हैं, वे राजाके ऊपर विपत्ति आनेपर उसके द्वारा किये हुए पहले दोषको स्मरण करके उससे विरुद्ध होजाते हैं ॥ १ ॥

कुलीनमंत्रीका स्वरूपः—

तदमृतस्य विषत्वं यः कुलीनेषु दोषसम्भवः ॥ १७ ॥

अर्थः—कुलीन पुरुषोंमें विश्वासघात-आदि दोषोंका होना अमृतका विष होनेके समान है। अर्थात् जिस प्रकार अमृत विष नहीं हो सकता, उसी प्रकार उच्च कुलवालोंमें भी विश्वासघात आदि दोष नहीं हो सकते ॥ १७ ॥

रैभ्य[2] विद्वान्ने कहा है कि 'यदि अग्नि शीतल–ठंडी, चन्द्रमा उष्ण और अमृत विष होसके तब कहीं उच्च–कुलवालोंमें भी विश्वासघात–आदि दोष होसकते हैं। अर्थात् जिस प्रकार अग्नि ठंडी नहीं हो सकती, चन्द्रमा गरम नहीं होसकता और अमृत विष नहीं होसकता, उसीप्रकार कुलीन पुरुष भी आपत्तिके समय अपने स्वामी-आदि से विरुद्ध होकर विश्वासघात-आदि दोष नहीं कर सकते ॥१॥'

ज्ञानी मंत्रीका ज्ञान जिसप्रकार व्यर्थ होता है:—

घटप्रदीपवत्तज्ज्ञानं मंत्रिणो यत्र न परप्रतिबोधः ॥१८॥

अर्थः—जिस ज्ञानके द्वारा दूसरोंको समझा कर सन्मार्ग पर न लगाया जावे, वह मंत्री या विद्वान् का ज्ञान घटमें रक्खे हुये दीपकके समान व्यर्थ है। अर्थात् जिसप्रकार उजालकर घड़े में स्थापित किया हुआ दीपक केवल घड़े को ही प्रकाशित करता है, परन्तु वाह्य देशमें रहनेवाले पदार्थोंको प्रकाशित नहीं करता, इसलिये वह व्यर्थ समझा जाता है, उसीप्रकार मंत्री अपने राजाको और विद्वान् पुरुष दूसरों को समझानेकी कलामें यदि प्रवीण नहीं है, तो उसका ज्ञान निरर्थक है ॥१८॥

वर्ग[3] विद्वान्ने कहा है 'कि जो मंत्री अनेक सद्गुणों से विभूषित होने पर भी यदि राजा को समझानेकी कलामें प्रवीण—चतुर नहीं है, तो उसके समस्त गुण घटमें रक्खेहुए दीपकके समान व्यर्थ हैं ॥१॥'

शास्त्र ज्ञान की निष्फलता:—

तेष शस्त्रमिव शास्त्रमपि निष्फलं येषां प्रतिपक्षदर्शनाद्भयमन्वयन्ति चेतांसि ॥१९॥

---

१ तथा च वादरायणः—अमात्या कुलहीना ये पार्थिवस्य भवन्ति ते। आपत्काले विरुध्यन्ते स्मरन्तः पूर्वदुष्कृतम् ॥१॥
२ तथा च रैभ्यः—यदि स्याच्छीतलो वन्हिः सोष्णस्तु रजनीपतिः। अमृतं च विषं भाति तत्कुलीनेषु विक्रिया ॥१॥
३ तथा च वर्गः—सुगुणाढ्योऽपि यो मंत्री नृपं शक्तो न बोधितुम् [निरर्थका भवन्त्यन्ते] गुणा घटप्रदीपवत् ॥१॥
नोटः—उक्त श्लोकके तीसरे चरणकी पद्य-रचना हमने स्वयं की है, क्योंकि सं. टी० पुस्तक में नहीं थी। सम्पादक—

अर्थः—जिन वीर पुरुषोंके चित्त शत्रुओंको देखकर भयभीत होते हैं उनका शस्त्र-धारण जिस-प्रकार व्यर्थ है, उसीप्रकार जिन विद्वान् पुरुषोंके मन वादियों—विरुद्ध सिद्धान्तका समर्थन करनेवाले पुरुषों—को देखकर भयभीत होते हैं, उनका शास्त्रज्ञान भी निरर्थक है ॥१६॥

वादरायण[1] विद्वान्ने भी कहा है कि 'जिसप्रकार शस्त्र-विद्या में प्रवीण योद्धा पुरुष यदि शत्रुओं से डरता है, तो उसकी शस्त्रकला निरर्थक है, उसी प्रकार विद्वान् पुरुष भी यदि वादियोंके साथ शास्त्रार्थ-आदि करने से डरता है, तो उसका शास्त्रज्ञान भी निरर्थक है ॥१॥'

जिस स्थिति में शस्त्र व शास्त्रज्ञान निरर्थक होता है :—

तच्छस्त्रं शास्त्रं वात्मपरिभवाय यन्न हन्ति परेषां प्रसरं[2] ॥२०॥

अर्थ—जिस वीर पुरुष का शस्त्र शत्रुओं के बढ़ते हुए वेग—आक्रमण—को नष्ट नहीं करता, उसका शस्त्र-धारण करना उसके पराभव—पराजय (हार) के लिये है। एवं जिस विद्वान् पुरुष का शास्त्र-ज्ञान वादियों के बढ़ते हुए वेग को नहीं रोकता, उसका शास्त्रज्ञान भी उसके पराजय का कारण होता है।

निष्कर्षः—इसलिये वीर पुरुषको शस्त्रधारणका और विद्वान् पुरुष को शास्त्रज्ञानका क्रमशः उपयोग (शत्रु-निग्रह और प्रबल युक्तियों द्वारा अपने सिद्धान्तका समर्थन और परपक्ष-खंडन आदि) करना चाहिये अन्यथा—ऐसा न करनेसे उन दोनोंका पराजय अवश्यम्भावी है। ॥२०॥

नारद[3] विद्वानने भी कहा है कि 'जो योद्धा शत्रुके बढ़ते हुए आक्रमणको अपनी शस्त्र-कलाकी शक्तिसे नष्ट नहीं करता, वह लघुताको प्राप्त होता है। इसीप्रकार जो विद्वान् वादियोंके वेगको अपनी विद्वत्ताकी शक्तिसे नहीं रोकता, वहभी लघुताको प्राप्त होता है ॥१॥'

कायर व मूर्ख पुरुषमें मंत्री-आदि पदकी अयोग्यताः—

न हि गली वलीवर्दो भारकर्मणि केनापि युज्यते ॥२१॥

अर्थः—कोई भी विद्वान् पुरुष गायके बछड़ेको बोझा ढोनेमें नहीं लगाता।

भावार्थः—जिसप्रकार बछड़ेको महान् बोझा ढोनेमें लगाने से कोई लाभ नहीं, उसीप्रकार कायर पुरुषको युद्ध करनेके लिये और मूर्ख पुरुषको शास्त्रार्थ करनेके लिये प्रेरित करनेमें कोई लाभ नहीं होता। इसलिये प्रकरणमें मंत्री को युद्धविद्या-प्रवीण व राजनीतिज्ञ होना चाहिये। कायर और मूर्ख पुरुष मंत्री पदके योग्य नहीं।

निष्कर्ष:—अपरिपक्व होनेके कारण बछड़े से बोझा ढुवाना जिस प्रकार निरर्थक है, उसी प्रकार कायर और मूर्ख पुरुष को मंत्रीपद पर नियुक्त करना निरर्थक है ॥२१॥

राजाओं को षाड्गुण्य—संधि व विग्रह-आदि राजनैतिक कार्य—जिस विधि से करना चाहिये:—

मंत्रपूर्वः सर्वोऽप्यारंभः क्षितिपतीनाम् ॥२२॥

अर्थ:—राजाओं को अपने समस्त कार्यों (संधि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव) का आरम्भ मंत्रपूर्वक—सुयोग्य मंत्रियोंके साथ निश्चय करके करना चाहिये।

शुक्र[1] विद्वान्‌ने कहा है 'कि जो राजा मंत्रीके साथ बिना निश्चय किये ही संधि-विग्रह यान और आसन-आदि कार्य करता है, उसके वे कार्य नपुंसक-स्त्री के संभोगकी तरह निष्फल होजाते हैं ॥१॥'

मंत्र—मंत्री-आदि की सलाह—से होनेवाला लाभ:—

अनुपलब्धस्य ज्ञानं, उपलब्धस्य निश्चयः, निश्चितस्य बलाधानं, अर्थस्य द्वैधस्य संशयच्छेदनं, एकदेशलब्धस्याशेषोपलब्धिरिति मंत्रसाध्यमेतत्[2] ॥२३॥

अर्थ:—सन्धि व विग्रह-आदि में उपयोगी एवं अज्ञात—बिना जाने हुए—या अप्राप्त (बिना प्राप्त किये हुए) शत्रु-सैन्य वगैरह कार्य का जानना या प्राप्त करना। जाने हुए कार्यका निश्चय करना अथवा प्राप्त किये हुए को स्थिर करना। निश्चित कार्यको दृढ़ करना या किसी कार्य में संदेह उत्पन्न होनेपर उसका निवारण करना। उदाहरणमें शत्रुभूत राजा के देश से आये हुए पहले गुप्तचरने शत्रु-सैन्य-आदि के बारे में कुछ और कहा तथा दूसरे ने उससे विपरीत कह दिया ऐसे अवसर पर तीसरे विश्वासपात्र गुप्तचर को भेजकर उक्त संशय का निवारण करना अथवा अमुक शत्रुभूत राजा से सन्धि करना चाहिये? अथवा विग्रह—आदि करना चाहिए? इस प्रकार का संशय उत्पन्न होनेपर प्रबल प्रमाणों से उसको निवारण करना और एक देश प्राप्त किये हुए भूमि- आदि पदार्थों को पूर्ण प्राप्त करना अथवा एक देश जाने हुए कार्यके शेष भाग को भी जान लेना ये सब कार्य राजाको मंत्र—मंत्री आदि की सलाह से सिद्ध करना चाहिए। अथवा उक्त मंत्रसे इन सब कार्योंकी सिद्धि होती है।

गुरु[3] विद्वान्‌ने कहा है कि 'राजनीतिके विद्वान्‌ राजा को बिना जानी हुई शत्रु-सेना को गुप्तचरों के द्वारा जान लेनी चाहिये और जानने के पश्चात् यह निश्चय करना चाहिये कि हमारा कार्य (सन्धि और विग्रह-आदि) सिद्ध होगा? या नहीं? ॥१॥

निष्कर्ष:—विजिगीषु राजा को अप्राप्त राज्यादि की प्राप्ति और सुरक्षा-आदिके लिये अत्यन्त बुद्धिमान्‌ व राजनीतिके धुरन्धर विद्वान्‌ और अनुभवी मंत्री-मण्डलके साथ बैठकर मंत्र का विचार करना अत्यन्त आवश्यक है ॥२३॥

---

१ तथा च शुक्रः—अमंत्रमंत्रिभिः सार्धं यः कार्यं कुरुते नृपः । तस्य तन्निष्फलतां याति षण्ढस्त्रीसुरतं यथा ॥१॥

२ उक्त सूत्र मु० मू० पुस्तक से संकलन किया गया है, सं० टी० पु० में भी ऐसा ही पाठ है, परन्तु उसमें संदिग्ध है और कोई पार्थक्य नहीं है । सम्पादक—

३ तथा च गुरुः—अज्ञातं शत्रुसैन्यं च चरैर्ज्ञेयं विचक्षणैः । पश्चात् विचारयेत्कार्यं सिद्धं नवेति वा ॥१॥

मंत्रियोंका लक्षण या कर्तव्य:—

अकृतारम्भमारब्धस्याप्यनुष्ठानमनुष्ठितविशेषं विनियोगसम्पदं च ये कुर्युस्ते मंत्रिणः ॥२४॥

अर्थ:—जो विना प्रारम्भ किये हुए कार्यों का प्रारम्भ करें, प्रारम्भ किये हुए कार्यों को पूरा करें और जो कार्य पूरे होचुके हों उनमें कुछ विशेषता लावें तथा अपने अधिकार का उचित स्थानमें प्रभाव दिखावें उन्हें मंत्री कहते हैं ॥२४॥

शुक्र[१] विद्वान्‌ने कहा है कि 'जो कुशल पुरुष राजाके समस्त कार्योंमें विशेषता तथा अपने अधिकारका प्रभाव दिखानेमें प्रवीण हों, वे राजमंत्री होनेके योग्य हैं, और जिनमें उक्त कार्य करनेकी योग्यता नहीं है, वे मंत्रीपदके योग्य नहीं हैं ॥१॥'

मंत्र—मंत्रियोंके साथ किये हुए विचार—के अङ्ग:—

कर्मणामारम्भोपायः पुरुषद्रव्यसंपद्देशकालविभागो विनिपातप्रतीकारः कार्यसिद्धिश्चेति पंचांऽगो मंत्रः ॥२५॥

अर्थ:—मंत्रके पांच अङ्ग होते हैं। १ कार्य के प्रारम्भ करनेका उपाय, २ पुरुष और द्रव्यसम्पत्ति, ३ देश और काल का विभाग, ४ विनिपात-प्रतीकार और ५ कार्यसिद्धि।

१ कार्य प्रारम्भ करनेका उपाय—जैसे अपने राष्ट्रको शत्रुओंसे सुरक्षित रखनेके लिये उसमें खाई परकोटा और दुर्ग-आदि निर्माण करनेके साधनोंका विचार करना और दूसरे देशमें शत्रुभूत राजाके यहां सन्धि व विग्रह-आदिके उद्देश्यसे गुप्तचर व दूत भेजना-आदि कार्योंके साधनोंपर विचार करना यह मंत्रका पहला अङ्ग है।

किसी[२] नीतिकारने कहा है कि 'जो पुरुष कार्य-प्रारम्भ करनेके पूर्व ही उसकी पूर्णताका उपाय—साम व दान आदि–नहीं सोचता, उसका वह कार्य कभी भी पूर्ण नहीं होता ॥१॥'

२ पुरुष व द्रव्यसम्पत्ति अर्थात्—यह पुरुष अमुक कार्य करनेमें निपुण है, यह जानकर उसे उस-कार्यमें नियुक्त करना तथा द्रव्य सम्पत्ति कि इतने धनसे अमुक कार्य सिद्ध होगा, यह क्रमशः 'पुरुष सम्पत्' और 'द्रव्य सम्पत्' नामका दूसरा मंत्राङ्ग है। अथवा स्वदेश-परदेशकी अपेक्षासे प्रत्येकके दो भेद होजाते हैं।

उदाहरणार्थ:—पुरुष—अपने देशमें दुर्ग आदि बनानेमें अत्यंत चतुर बढ़ई और लुहार-आदि और द्रव्य—लकड़ी, पत्थर आदि। दूसरे देशमें पुरुष, संधि आदि करनेमें कुशल दूत तथा सेनापति और द्रव्य—रत्न व सुवर्ण-आदि।

किसी नीतिकार[३]ने कहा है कि 'जो मनुष्य अपने कार्य-कुशल पुरुषको उसके करनेमें नियुक्त नहीं करता तथा उस कार्यके योग्य धन नहीं लगाता, उससे कार्य-सिद्धि नहीं होपाती ॥१॥'

३ देश और कालका विभाग—अमुक कार्य करनेमें अमुक देश व अमुक काल अनुकूल एवं अमुक देश और काल प्रतिकूल है। इसका विभाग (विचार) करना मंत्रका तीसरा अङ्ग है, अथवा अपने देश में देश (दुर्ग आदिके बनाने के लिये जनपदके बीचका देश) और काल—सुभिक्ष-दुर्भिक्ष तथा वर्षा। एवं दूसरेके देशमें सन्धि-आदि करनेपर कोई उपजाऊ प्रदेश और काल—आक्रमण करने या न करनेका समय कहलाता है, इनका विचार करना यह देश-काल विभाग नामका तीसरा मन्त्राङ्ग कहलाता है।

किसी विद्वान्[1]ने कहा है 'कि जिसप्रकार नदीकी मछली जमीनपर प्राप्त होनेसे नष्ट होजाती है, उसी प्रकार राजा भी खोटे देशको प्राप्त होकर नष्ट होजाता है ॥१॥'

जिसप्रकार कौआ रात्रिके समय और उल्लू दिनके समय घूमता हुआ नष्ट होजाता है, उसीप्रकार राजा भी वर्षा-काल-आदि खोटे समयको प्राप्त होकर नष्ट होजाता है। अर्थात्—वर्षा-ऋतु-आदि कुसमयमें लड़ाई करनेवाला राजा भी अपनी सेनाको निस्सन्देह कष्टमें डाल देता है॥२॥

४ विनिपात प्रतीकार—आई हुई आपत्तियोंके नाशका उपाय चिंतवन करना। जैसे अपने दुर्ग-आदि-पर आनेवाले या आये हुये विघ्नोंका प्रतीकार करना यह मंत्रका 'विनिपात प्रतिकार' नामक चौथा अङ्ग है।

किसी विद्वान्[2]ने कहा है 'कि जो मनुष्य आपत्ति पड़नेपर मोह(अज्ञान)को प्राप्त नहीं होता और यथा-शक्ति उद्योग करता है, वह उस आपत्तिको नष्ट कर देता है ॥१॥'

५ कार्यसिद्धि—उन्नति, अवनति और सम-अवस्था यह तीन प्रकारकी कार्य-सिद्धि है। जिन सामा-दि उपायोंसे विजिगीषु राजा अपनी उन्नति, शत्रुकी अवनति या दोनोंकी सम-अवस्थाको प्राप्त हो, यह कार्य-सिद्धि नामका पांचवाँ मंत्राङ्ग है।

किसी विद्वान्[3]ने कहा है 'कि जो मनुष्य साम,दान,दंड व भेद उपायोंसे कार्य-सिद्धि चिंतवन करता है और कहींपर उससे विरक्त नहीं होता, उसका कार्य निश्चयसे सिद्ध होजाता है ॥१॥'

निष्कर्ष:—विजिगीषु राजाको समस्त मंत्री-मंडलसे या एकसे या दोसे उक्त पंचाङ्ग मंत्रका विचार वा तदनुकूल प्रवृत्ति करनी चाहिये ॥२५॥

मंत्र—सलाह-के अयोग्यस्थान:—

आकाशे प्रतिशब्दवति चाश्रये मंत्रं न कुर्यात् ॥२६॥

अर्थ:—जो स्थान चारों तरफ से खुला हुआ हो ऐसे स्थानपर तथा पर्वत व गुफा-आदि स्थानोंमें जहाँपर प्रतिध्वनि निकलती हो, राजा और मंत्री-आदिको मंत्रणा नहीं करनी चाहिये ॥२६॥

भावार्थ:—गुप्त मंत्रणाका स्थान चारों ओरसे ढकाहुआ और प्रति ध्वनिसे रहित होना चाहिये

---

१ उक्तं च यतः—यथात्र सैन्धवस्तोये स्थले मत्स्यो विनश्यति। शीघ्रं तथा महीपालः कुदेशं प्राप्य सीदति॥१॥
यथा काको निशाकाले कौशिकश्च दिवा चरन्। स विनश्यति कालेन तथा भूपो न संशयः ॥२॥

२ उक्तं च यतः—आपत्काले तु सम्प्राप्ते यो न मोहं न प्रगच्छति। उद्यमं कुरुते शक्त्या स तं नाशयति ध्रुवं॥१॥

३ तथा चोक्तं—सामादिभिरुपायैर्यो कार्यसिद्धिं प्रचिन्तयेत्। न निर्वेगं क्वचिद्याति तस्य तत् सिद्ध्यति ध्रुवं ॥१॥

जिससे आपसकी वातचीत का शब्द बाहर न आसके ॥२६॥

गुरु[1] विद्वान्ने कहा है 'कि मंत्रसिद्धि चाहनेवाले राजाको खुले हुए स्थानमें मंत्रणा नहीं करनी चाहिये, परन्तु जिस स्थानमें मंत्रणाका शब्द टकराकर प्रतिध्वनि नहीं होती हो, ऐसे स्थानमें बैठकर मंत्रणा करनी चाहिये ॥१॥'

मंत्र जानने के साधनः—

मुखविकारकराभिनयाभ्यां प्रतिध्वानेन वा मनःस्थमप्यर्थमभ्यूहन्ति विचक्षणाः ॥२७॥

अर्थः—चतुर लोग मंत्रणा करनेवालों के मुख के विकारसे हस्तादिके संचालनसे, तथा प्रतिध्वनिरूप शब्दसे मनमें रहनेवाले गुप्त अभिप्रायको जान लेते हैं।

भावार्थः—चतुर दूत राजाके मुखकी आकृति और हस्त-आदि अंगोंकेसंचालन-आदिसे उसके हृदय-को वात जान जाते हैं, अतएव राजाको दूतके समक्ष ये कार्य नहीं करने चाहिये। अन्यथा मंत्र प्रकाशित हो जाता है ॥२७॥

वल्लभदेव[2] विद्वान्ने कहा है कि 'मुखकी आकृति, अभिप्राय, गमन, चेष्टा, भाषण और नेत्र तथा मुखके विकारसे मनमें रहनेवाली गुप्त बात जान लीजाती है ॥१॥'

मंत्र—गुप्त विचारको सुरक्षित रखनेकी अवधिः—

आकार्यसिद्धेरक्षितव्यो मंत्रः ॥२८॥

अर्थः—जबतक कार्य सिद्ध न होजावे तब तक विवेकी पुरुषको अपने मंत्रकी रक्षा करनी चाहिये। अर्थात्—उसे प्रकाशित नहीं करना चाहिए, अन्यथा कार्य सिद्ध नहीं होपाता। ॥२८॥

विदुर विद्वान्[3]ने कहा है कि 'विष-भक्षण केवल खानेवाले व्यक्तिको और खड्ग-आदि-शस्त्र भी एक आदमीको मारते हैं; परन्तु धर्मका नाश या मंत्रका भेद समस्त देश और सारी प्रजा-सहित राजाको नष्ट कर डालता है ॥१॥'

अपरीक्षित स्थानमें मंत्रणा करनेसे हानि।—

दिवा नक्तं वाऽपरीक्ष्य मंत्रयमाणस्याभिमतः प्रच्छन्नो वा भिनत्ति मंत्रम् ॥२९॥

अर्थः—जो व्यक्ति दिन या रात्रिमें मन्त्रणा करने योग्य स्थानकी परीक्षा किये बिनाही मंत्र करता है उसका गुप्त मंत्र प्रकाशित होजाता है, क्योंकि छिपा हुआ आत्मीय पुरुष उसे सुनकर प्रकाशित कर देता है ॥२९॥

ऐतिहासिक दृष्टान्त द्वारा उक्त वातका समर्थनः—

श्रूयते किल रजन्यां वटवृक्षे प्रच्छन्नो वररुचिर-प्र-शि-खेति पिशाचेभ्यो वृत्तान्तमुपश्रुत्य चतुरक्षरार्द्यैः पादैः श्लोकमेकं चकारेति ॥३०॥

अर्थः—इतिहास प्रमाणमें वृद्धपुरुषोंके मुखसे सुना जाता है कि एक समय पिशाच लोग हिरण्यगुप्त संबंधी वृत्तान्तकी गुप्त मंत्रणा कर रहे थे, उसे रात्रिमें वटवृक्षके नीचे छिपेहुए वररुचि नामके मनुष्य (राज मंत्री)ने सुन लिया था; अतएव उसने हिरण्यगुप्तके द्वारा कहेहुए श्लोकके प्रत्येक पाद संबंधी एकर अक्षरोंसे अर्थात्–चारों पादोंके चार अक्षरों—(अ-प्र-शि-ख)से पूर्ण (चारों पाद) श्लोककी रचना करली।

वररुचि का संक्षिप्त इतिवृत्त—यह नन्द नामके राजाका जो कि ३२२ ई० पू० में भारतका सम्राट् हुआ है, मन्त्री था।

एक समय नन्दराजाका पुत्र राजकुमार हिरण्यगुप्त वनमें क्रीड़ा करनेके लिये गया था। उसने रात्रिमें सोते हुए पुरुषको जो कि इसका मित्र था, खड्गसे मारडाला। उस पुरुषने मरते समय 'अ-प्र-शि-ख' यह पद उच्चारण किया, उसे सुनकर अपने प्रिय मित्रको धोखेसे मारा गया समझकर हिरण्यगुप्त मित्रके साथ द्रोह करनेके पापसे ज्ञान-शून्य, किंकर्तव्य विमूढ़ और अधिक शोकके कारण पागलकी तरह व्याकुल होकर कुछ काल तक स्वयं उसी जंगलमें भटकता रहा। पश्चात् राज-कर्मचारियों द्वारा यहाँ-वहाँ ढूंढे जानेपर मिला और इसलिये वे उसे राजा नंदके पास लेगये। यह राजसभामें लाया गया। वहाँपर शोकसे पीड़ित होकर 'अ-प्र-शि-ख'अप्रशिख अक्षरोंका वार-वार उच्चारणकर क्षुब्ध होरहा था, नंदराजने उसके अर्थको न समझ कर मंत्री पुरोहित और सदस्योंसे पूछा कि इसके द्वारा उच्चारण किये हुए अ-प्र-शि-ख पदका क्या अर्थ है? परन्तु उसका अर्थ न समझनेके कारण लोग चुपकी साध गये। परंतु उनमें से वररुचि नामका मंत्री बोला कि राजन् एक दो दिनके पश्चात् मैं इसका अर्थ बतलाऊँगा। ऐसी प्रतिज्ञा करके वह रात्रिमें उसी वनमें वटके वृक्षके नीचे जाकर छिप गया। वहाँपर उसने पिशाचोंके द्वारा उक्त वृत्तांत (हिरण्यगुप्त-राजकुमारके द्वारा सोते हुए पुरुषका खड्गसे सिर काटा जाना) को सुना। पश्चात् प्रकरणका ज्ञान होजाने से उसने उक्त श्लोक के प्रत्येक चरणके एक २ अक्षरसे अर्थात्- चारों चरणोंके चार अक्षरोंसे राजसभामें जाकर निम्न प्रकार श्लोक बना दिया।

वररुचि[1] रचित श्लोकका अर्थः—'इसी तुम्हारे पुत्रने अर्थात्-नंद राजाके पुत्र हिरण्यगुप्तने वनमें सोते हुए मनुष्यकी चोटी खींचकर खड्गसे उसका शिर काट डाला ॥१॥'

मंत्रणा—गुप्त सलाह-के अयोग्य व्यक्ति——

न तैः सह मंत्रं कुर्यात् येषां पक्षीयेष्वपकुर्यात् ॥३१॥

अर्थः—राजाने जिनके बंधु-आदि कुटुम्बियोंका अपकार-अनिष्ट (वध-बंधनादि) किया है, उसे उन विरोधियोंके साथ मंत्र-गुप्त सलाह नहीं करनी चाहिये, क्योंकि विरोधियोंके साथ मंत्रणा करनेसे उसके भेदका भय रहता है—मंत्र प्रकाशित होजाता है ॥३१॥

शुक्र[2] विद्वान्ने उक्त बातका समर्थन किया है कि 'राजाको उनके संबंधियोंके साथ कदापि मंत्र नहीं

---

१ वररुचिरचितः श्लोकः—अनेन तव पुत्रेण प्रसुप्तस्य वनान्तरे। शिखामाक्रम्य पादेन खड्गेनोपहृतं शिरः ॥१॥

नोटः—यह पाठ मु० मू० पुस्तकसे संकलन किया है सं० टी० पुस्तक में २रा पाठ है देखो सं. टी. पु. ११८ पृष्ठ।

२ तथा च शुक्रः—येषां वधादिकं कुर्यात्पार्थिवश्च विरोधिनां। तेषां संबंधिभिः सार्द्धं मंत्रः कार्यो न कर्हिचित् ॥१॥

करना चाहिये, जिन विरोधियोंका उसने वध-बंधनादि अनिष्ट-बुरा किया हो ॥१॥'

मंत्रके समय न आने योग्य व्यक्ति:—

अनायुक्तो मंत्रकाले न तिष्ठेत् ॥३२॥

अर्थात्:—कोई भी व्यक्ति राजाकी आज्ञाके विना मंत्रणाके समय विना बुलाया हुआ उस स्थान पर न ठहरे। अर्थात् जो पुरुष राजाकी आज्ञाके अनुसार विचार करनेके लिये बुलाये गये हों, वे ही वहाँ जावें, अन्य (विना बुलाये हुए) व्यक्ति न जावें।

भावार्थ:—राजाका प्रिय व्यक्ति भी यदि मंत्रणा-कालमें पहुंच जाता है, तो राजा मंत्रभेदकी शंकासे शङ्कित होकर उससे रुष्ट (नाराज) होजाता है ॥३२॥

शुक्र [1] विद्वान्ने भी कहा है 'कि जो व्यक्ति राजाकी मंत्र-वेलामें विना बुलाया हुआ चला जाता है वह प्रिय होने पर भी राजाका कोप-भोजन होजाता है ॥१॥'

गुप्तमंत्रणाको प्रकाशित करनेवाले दृष्टान्त:—

तथा च श्रूयते शुकसारिकाभ्यामन्यैश्च तिर्यग्भिर्मन्त्रभेदः कृतः ॥३३॥

अर्थ:—वृद्ध पुरुषोंसे सुना जाता है कि पहिले कभी तोता मैना ने तथा दूसरे पशुओंने राजाकी गुप्त मंत्रणाको प्रकाशित कर दिया था।

निष्कर्ष:—अतः मंत्र स्थानमें पशु पक्षियों को भी नहीं रहने देना चाहिये ॥३३॥

गुप्त मंत्रके प्रकाशित होनेसे कष्ट होता है :—

मंत्रभेदादुत्पन्नं व्यसनं दुष्प्रतिविधेयं स्यात् ॥३४॥

अर्थ:—गुप्त मंत्रणाके प्रकाशित होजानेसे राजाको जो संकट पैदा होता है वह कठिनाईसे भी नष्ट नहीं हो सकता।

भावार्थ:—इसलिये राजा को अपने मंत्रकी रक्षामें सदा सावधान रहना चाहिये। क्योंकि मंत्रभेदका कष्ट दुर्निवार होता है।

गर्ग [1] विद्वानने कहा है कि मंत्रके भेद होजानेसे राजाको जो संकट पैदा होता है, उसका नाश होना बहुत कठिन है अथवा वह कठिनाई से भी नष्ट नहीं होता ॥१॥

जिन कारणोंसे गुप्त मंत्रणा प्रकाशित होती है :—

इङ्गितमाकारो मदः प्रमादो निद्रा च मंत्रभेदकारणानि ॥३५॥

उक्त पाँचोंके क्रमशः लक्षण:—

इङ्गितमन्यथावृत्तिः ॥ ३६ ॥
कोपप्रसादजनिताशरीरी विकृतिराकारः ॥३७॥
पानस्त्रीसंगादिजनितो हर्षो मदः ॥३८॥
प्रमादो गोत्रस्खलनादिहेतुः ॥३९॥
अन्यथा चिकीर्षतोऽन्यथावृत्तिर्वा प्रमादः ॥४०॥
निद्रान्तरितो[1] [निद्रितः] ॥४१॥

अर्थः—गुप्त अभिप्रायको अभिव्यक्त (प्रकाश) करनेवाली शरीरकी चेष्टा 'इङ्गित' है। अथवा स्वाभाविक क्रियाओंसे भिन्न क्रियाओंके करनेको इङ्गित (चेष्टा) कहते हैं ॥३६॥

क्रोधसे होनेवाली भयंकर आकृति व प्रसन्नतासे होनेवाली सौम्य-आकृतिको 'आकार' कहते हैं। अथवा क्रोधसे होनेवाली मुखकी म्लानता एवं प्रसादसे होनेवाली मुखकी प्रसन्नताको 'आकार' कहते हैं ॥ ३७ ॥

मद्यपान व स्त्रीसंभोगसे होनेवाले हर्षको 'मद' कहते हैं ॥ ३८ ॥

अपने या दूसरोंके नामको भूल जाना या उसका अन्यथा कहना आदिमें कारण असावधानी को 'प्रमाद' कहते हैं ॥ ३९ ॥

इसी प्रकार करनेयोग्य इच्छित कार्यको छोड़कर दूसरे कार्यको करने लगना ऐसी असावधानता-रूप प्रवृत्ति को भी 'प्रमाद' कहा गया है ॥ ४० ॥

गाढ़ नींदमें व्याप्त होनेको 'निद्रा' कहा है ॥ ४१ ॥

भावार्थः—उक्त पांच बातें गुप्त मंत्रको प्रकाशित करती हैं।

उदाहरणार्थः—जब मंत्रणा करते समय राजा-आदि अपने मुखादिकी विजातीय (गुप्त अभिप्राय को प्रकट करनेवाली) चेष्टा बनाते हैं, उससे गुप्तचर उनके अभिप्रायको जान लेते हैं। इसीप्रकार क्रोधसे उत्पन्न होनेवाली भयंकर आकृति और शान्तिसे होनेवाली सौम्य आकृतिको देखकर गुप्तचर जान लेते हैं, कि राजाकी भयंकर आकृति 'विग्रह' को और सौम्य आकृति 'संधि' को बता रही है। इसी प्रकार शराब पीना, आदि 'प्रमाद' और निद्रा आदि भी गुप्त रहस्यको प्रकाशित करने वाले हैं, अतएव इनको छोड़ देना चाहिये ॥ ३६-४१ ॥

---

१ यह सूत्र मु०व० ह० लि० मूल प्रतियोंमें नहीं है किंतु सं० टी० पुस्तकमें होनेसे संकलन किया गया है और वह भी अधूरा था, जिसे पूर्ण कर दिया गया है। संपादक:—

विमर्शः—संभवतः 'निद्रा' प्रसिद्ध होनेसे आचार्यश्रीने उसका पृथक् लक्षण-निर्देश करना उचित न समझा हो। पश्चात् सं० टीकाकारने क्रम-प्राप्त होनेसे उसका लक्षण किया है।

निद्रान्तरितो इसके आगे यदि 'निद्रितः' ऐसा 'इतच्' प्रत्ययान्त पद और होता, तो विशेष उत्तम था। संपादक:—

वसिष्ठ[1] विद्वान्ने भी कहा है कि 'राजाको मंत्रणाके समय अपने मुखकी आकृति शुभ और शरीरकी आकृति सौम्य रखनी चाहिये तथा निद्रा, मद और आलस्य छोड़ देना चाहिये ॥१॥'

मंत्र (निश्चित विचार) को शीघ्र ही कार्यरूपमें परिणत करनेका आदेश—

उद्धृतमन्त्रो न दीर्घसूत्रः स्यात् ॥४२॥

अर्थ—विजिगीषु विचार निश्चित होजानेपर उसे शीघ्रही कार्यरूपमें परिणत करनेका यत्न करे, इसमें उसे आलस्य नहीं करना चाहिए। सारांश यह है कि मंत्रमें विलम्ब करनेसे उसके फूटनेका भय रहता है जिससे कार्य-सिद्धि नहीं होपाती। अतः उसे शीघ्र ही कार्यरूपमें परिणत करना चाहिये ॥४२॥

कौटिल्य[2] ने भी कहा है कि 'अर्थका निश्चय करके उसको शीघ्र ही कार्यरूपमें परिणत करना चाहिये, समयको व्यर्थ बिताना श्रेयस्कर नहीं ॥१॥'

शुक्र[3] विद्वान् ने कहा है कि 'जो मनुष्य विचार निश्चित करके उसी समय उसका आचरण नहीं करता, उसे मंत्रका फल (कार्य-सिद्धि) प्राप्त नहीं होता ॥१॥'

निश्चित विचारके अनुसार कार्य न करने से हानि—

अननुष्ठाने छात्रवत् किं मंत्रेण* ॥४३॥

अर्थ—विजिगीषुको कर्तव्य-पालनके विना केवल निश्चित विचारसे आलसी विद्यार्थीकी तरह कोई लाभ नहीं होता—कार्य-सिद्धि नहीं होती। जिसप्रकार आलसी शिष्य गुरुसे मंत्र सीख लेता है, किन्तु तदनुकूल जप वगैरहका आचरण नहीं करता; अतः उसका मंत्र सीखना निष्फल है, उसीप्रकार विजिगीषु भी यदि मंत्रणाके अनुकूल कर्त्तव्यमें प्रवृत्त नहीं होता तो उसकी मंत्रणा भी व्यर्थ है ॥४३॥

शुक्र[4] विद्वान्ने कहा है कि 'जो विजिगीषु मंत्रका निश्चय करके उसके अनुकूल कार्य नहीं करता, उसका वह मंत्र आलसी छात्रके मंत्रकी तरह व्यर्थ होजाता है ॥१॥'

उक्त बातका दृष्टान्त द्वारा पुनः समर्थन—

न ह्यौषधिपरिज्ञानादेव व्याधिप्रशमः ॥४४॥

अर्थ—केवल औषधिके ज्ञानमात्रसे रोगकी शांति नहीं होसकती। सारांश यह है कि जिसप्रकार केवल औषधके जानलेने मात्रसे व्याधियोंका नाश नहीं होता किन्तु उसके सेवनसे ही होता है, उसी प्रकार विचार-मात्रसे सन्धि व विग्रह आदि कार्य सिद्ध नहीं होसकते, किन्तु मंत्रणाके अनुकूल प्रवृत्ति करनेसे कार्य सिद्ध होते हैं ॥४४॥

नारद[1] विद्वान्ने कहा है कि 'जिसप्रकार दवाई के ज्ञान लेनेपर भी उसके भक्षण किये विना व्याधि नष्ट नहीं होती, उसीप्रकार मंत्रको कार्य-रूपमें परिणत किये विना केवल विचारमात्रसे कार्य-सिद्ध नहीं होता ॥१॥'

संसार में प्राणियोंका शत्रु—

नास्त्यविवेकात् परः प्राणिनां शत्रुः ॥४५॥

अर्थ—संसारमें नीतिशास्त्रके अज्ञानको छोड़कर प्राणियोंका कोई दूसरा शत्रु नहीं है। क्योंकि नैतिक अज्ञान ही मनुष्यको शत्रु से वध-बंधनादि कष्ट दिलाता है अथवा उससे सभी कार्य नष्ट होजाते हैं ॥४५॥

गुरु[2] विद्वान्ने कहा है कि 'अज्ञान (मूर्खता) प्राणियोंका महाशत्रु है, जिसके कारण मनुष्यको वध-बंधनादिके कष्ट भोगने पड़ते हैं ॥१॥'

स्वयं करने योग्य कार्यको दूसरोंसे करानेसे हानि—

आत्मसाध्यमन्येन कारयन्नौषधमूल्यादिव व्याधिं चिकित्सति ॥४६॥

अर्थ—जो मनुष्य स्वयं करने योग्य कार्यको दूसरोंसे कराता है, वह केवल औषधिके मूल्य-ज्ञानसे ही रोगका परिहार—नाश चाहता है। अर्थात् जिसप्रकार केवल दवाईकी कीमत समझ लेनेमात्रसे बीमारी नष्ट नहीं होती, उसीप्रकार स्वयं करने योग्य कार्यको दूसरोंसे करानेसे वह कार्य सिद्ध नहीं होता ॥४६॥

भृगु[3] विद्वान्ने कहा है कि 'जो मूर्ख मनुष्य स्वयं करने योग्य कार्य दूसरोंसे कराता है, वह दवाईके केवल मूल्य समझनेसे रोगका नाश करना चाहता है ॥१॥'

स्वामी की उन्नति-अवनतिका सेवकपर प्रभाव—

यो यत्प्रतिबद्धः स तेन सहोदयव्ययी ॥४७॥

अर्थ—जो सेवक जिस स्वामीके आश्रित है वह अपने स्वामीकी उन्नतिसे उन्नतिशील और अवनति से अवनतिशील होता है। सारांश यह है कि संसारमें सेवकके ऊपर उसके स्वामीकी आर्थिक-हानि और लाभका प्रभाव पड़ता है ॥४७॥

भागुरि[4] विद्वान् ने कहा है कि 'राजा तालावके जल-समान है और उसका सेवक कमल-समूहके समान है, इसलिये राजाकी वृद्धिसे उसके सेवककी वृद्धि और हानिसे उसकी भी हानि होती है ॥१॥'

---

१ तथा च नारदः—विज्ञाते भेषजे यद्वत् विना भक्षं न नश्यति। व्याधिस्तथा च मंत्रेऽपि न सिद्धिः कृत्यवर्जिते ॥१॥

२ तथा च गुरुः—अविवेकः शरीरस्थो मनुष्याणां महारिपुः। यश्चानुष्ठानमात्रोऽपि करोति वधबंधनम् ॥१॥

३ तथा च भृगुः—आत्मसाध्यं तु यत्कार्यं योऽन्यपार्श्वात् सुमन्दधीः। कारापयति स व्याधिं नयेद् भेषजमूल्यतः ॥१॥

४ तथा च भागुरिः—सरस्तोयसमो राजा भृत्यः पद्माकरोपमः। तद्वृद्धया वृद्धिमभ्येति तद्विनाशे विनश्यति ॥१॥

स्वामीके आश्रयसे सेवकको लाभ—

स्वामिनाधिष्ठितो मेषोऽपि सिंहायते ॥४८॥

अर्थ—साधारण (कमजोर) मेढ़ा भी अपने स्वामीसे अधिष्ठित हुआ शेरके समान आचरण करता है—बलवान् होजाता है, फिर मनुष्यका तो कहना ही क्या है। सारांश यह कि साधारण सेवकभी अपने स्वामीकी सहायताको प्राप्तकर वीर होजाता है ॥४७॥

रैभ्य[1] विद्वान् ने कहा है कि 'जिसप्रकार साधारण कुत्ता भी अपने स्वामीको प्राप्तकरके शेरके समान आचरण करता है, उसीप्रकार साधारण कायर सेवक भी अपने स्वामीकी सहायतासे वीर हो जाता है ॥१॥'

मंत्रणा-गुप्तसलाहके समय मंत्रियोंका कर्त्तव्य—

मंत्रकाले विगृह्य विवादः स्वैरालापश्च न कर्त्तव्यः ॥४६॥

अर्थ—मंत्रियोंको मंत्रणाके समय परस्परमें कलह करके वाद-विवाद और स्वच्छन्द बातचीत (हंसी-मजाक आदि) न करनी चाहिये। सारांश यह है कि कलह करने से वैर-विरोध और स्वच्छन्द—युक्ति-अनुभव शून्य—वार्तालाप से अनादर होता है, अतएव मंत्रियोंको मंत्रकी वेलामें उक्त बातें न करनी चाहिये ॥४६॥

गुरु[2] विद्वान् ने कहा है कि 'जो मंत्री मंत्र-वेला में वैर-विरोधके उत्पादक वाद-विवाद और हंसी-मजाक आदि करते हैं उनका मंत्र कार्य सिद्ध नहीं होता ॥१॥'

मंत्रका प्रधान प्रयोजन—फल—

अविरुद्धैरस्वैरैर्विहितो मंत्रो लघुनोपायेन महतः कार्यस्य सिद्धिर्मंत्रफलम् ※॥५०॥

अर्थ—परस्पर वैर-विरोध न करनेवाले—प्रेम और सहानुभूति रखनेवाले और हंसी-मजाक आदि स्वच्छन्द (युक्ति व अनुभव-शून्य) वार्तालाप न करनेवाले (सावधान) मंत्रियोंके द्वारा जो मंत्रणा कीजाती है, उससे थोड़ेसे उपायसे उपयोगी महान् कार्यकी सिद्धि होती है और यही (अल्प उपायसे महान् कार्यसिद्धि करना) मंत्रका फल या माहात्म्य है। सारांश यह कि थोड़े उपायसे थोड़ा कार्य और महान् उपाय से महान् कार्य सिद्ध होना, यह मंत्रशक्तिका फल नहीं है, क्योंकि वह तो मंत्रणाके विना भी हो सकता है; परन्तु थोड़ेसे उपाय द्वारा महान् कार्यकी सिद्धि होना यही मंत्रशक्तिका माहात्म्य है ॥५०॥

नारद[3] विद्वान्ने कहा है कि 'सावधान (बुद्धिमान) राज-मंत्री एकान्तमें बैठकर जो पाड्गुण्य-संधि

---

१ तथा च रैभ्यः—स्वामिनाधिष्ठितो भृत्यः परस्मादपि कातरः। यदापि सिंहायते तद्वत् [illegible] ॥१॥

२ तथा च गुरुः—विरोधवाक्यहास्यानि मंत्रकाल उपस्थिते। ये कुर्वन्ति [illegible] मंत्रकार्यं न सिद्ध्यति ॥१॥

३ तथा च नारदः—सावधानाश्च ये मंत्रं [illegible] ॥१॥

※ 'लघुनोपायेन महतः कार्यस्य सिद्धिर्मन्त्रफलम्' ऐसा मु० मू० व ह० लि० मू० प्रतियोंमें पाठ है, परन्तु विशेष अर्थभेद नहीं है।

व विग्रह आदि—सम्बन्धी मंत्रणा करते हैं, उससे वे राजाके महान् कार्य (संधि और विग्रह आदि षाड्गुण्य) को विना क्लेश से सिद्ध कर डालते हैं' ॥१॥

उक्त वाक्यका दृष्टान्त द्वारा समर्थन—

न खलु तथा हस्तेनोत्थाप्यते ग्रावा यथा दारुणा ॥५१॥

अर्थ—जिसप्रकार पृथ्वीमें गड़ी हुई विशाल पत्थरकी चट्टानें तिरछी लकड़ीके यन्त्र विशेषसे शीघ्र ही थोड़े परिश्रमसे उठाई जासकती है (स्थानसे हटाई जाती हैं), उसप्रकार हाथोंसे महान् परिश्रम करनेपर भी नहीं उठाई जा सकती । इसीप्रकार मंत्रशक्तिसे महान् कार्य भी, थोड़े परिश्रमसे सिद्ध होजाते हैं, विना मंत्रणाके कदाऽपि सिद्ध नहीं होसकते × ॥५१॥

हारीत[1] विद्वान्ने कहा है कि 'राजा जिस कार्य (अप्राप्त राज्यकी प्राप्ति-आदि) को युद्ध करके अनेक कष्ट उठाकर सिद्ध करता है उसका वह कार्य मंत्र-शक्ति रूप उपायसे सरलतासे सिद्ध होजाता है, अतएव उसे मंत्रियोंके साथ अवश्य मंत्रणा करानी चाहिये ॥१॥'

जिस प्रकारका मंत्री राजाका शत्रु होता है—

स मंत्री शत्रुर्यो नृपेच्छयाऽकार्यमपि कार्यरूपतयाऽनुशास्ति ॥५२॥

अर्थ—जो मंत्री राजाकी इच्छासे-उसकी आज्ञाके अनुसार चलनेके उद्देश्यसे-उसको अकर्त्तव्यका कर्त्तव्यरूपसे उपदेश देता है, वह राजाका शत्रु है। सारांश यह है कि अकर्त्तव्यमें प्रवृत्त होनेसे राजाकी अत्यन्त हानि होती है, इसलिये अकर्त्तव्यका उपदेश देनेवाले मंत्रीको शत्रु कहा गया है ॥५२॥

भागुरि[2] विद्वान्ने कहा है कि 'जो मंत्री राजाको अकर्त्तव्यका कर्त्तव्य और कर्त्तव्यका अकर्त्तव्य बता देता है, वह मंत्रीके रूपमें शत्रु है ॥१॥'

मंत्रीका कर्त्तव्य—

वरं स्वामिनो दुःखं न पुनरकार्योपदेशेन तद्विनाशः * ॥५३॥

अर्थ—मंत्रीको राजाके लिये दुःख देना उत्तम है—अर्थात् यदि वह भविष्यमें हितकारक किन्तु

---

१ तथा च हारीतः—यत् कार्यं साधयेद् राजा क्लेशैः संग्रामपूर्वकैः । मंत्रेण सुखसाध्यं तत्तस्मान्मंत्रं प्रकारयेत् ॥१॥

२ तथा च भागुरिः—अकृत्यं कृत्यरूपं च सत्यं चाकृत्यसंज्ञितं निवेदयति भूपस्य स वैरी मंत्रिरूपधृक् ॥१॥

* 'वरं स्वामिनो मरणाद्दुःखं न पुनरकार्योपदेशेन तद्विनाशः' ऐसा मु० मू० व ह० लि० मूल प्रतियोंसें पाठान्तर है। जिसका अर्थ यह है कि सच्चे मंत्रीका कर्त्तव्य है कि वह अपने स्वामीको सदा तात्कालिक कठोर परन्तु भविष्यमें हितकारक उपदेश देवे। ऐसे अवसर पर राजाकी इच्छाके विरुद्ध उपदेश देनेसे क्रुद्ध हुए राजाके द्वारा उसको मरण-संकट भी उपस्थित होजावे तो भी उत्तम है परन्तु राजाकी इच्छानुकूल अहितका उपदेश देकर उसे क्षति—हानि—पहुंचाना उत्तम नहीं है। —सम्पादक

तत्काल अप्रिय लगनेवाले ऐसे कठोर वचन बोलकर राजाको दुःखी करता है तो उत्तम है, परन्तु अकर्त्तव्यका उपदेश देकर राजाका नाश करना अच्छा नहीं—अर्थात् तत्काल प्रिय लगने वाले, किन्तु भविष्यमें हानिकारक वचन बोलकर अकार्यका उपदेश देकर उसका नाश करना अच्छा नहीं ॥५३॥

नारद[1] विद्वान्ने कहा है कि 'मंत्रीको राजाके प्रति भविष्यमें सुखकारक किन्तु तत्काल पीड़ा-कारक वचनोंका बोलना अच्छा है, किन्तु तत्काल प्रिय और भविष्यमें भयानक वचनोंका बोलना उत्तम नहीं ॥१॥'

मंत्रीको आग्रह करके राजासे जो कर्त्तव्य कराना चाहिये—

पीयूषमपिवतो बालस्य किं न क्रियते कपोलहननं * ॥५४॥

अर्थ—जब बच्चा माताके स्तनोंका दूध नहीं पीता, तब क्या वह उसके गालोंमें थप्पड़ लगाकर उसे दूध नहीं पिलाती ? अवश्य पिलाती है। सारांश यह है कि जिसप्रकार माता बच्चेके हितके लिये उससे तात्कालिक कठोर और भविष्यमें हितकारक व्यवहार करती है, उसीप्रकार मंत्रीको भी राजाकी भलाईके लिये भविष्यमें हितकारक और तत्कालमें कठोर व्यवहार करना चाहिये ॥५४॥

गर्ग[2] विद्वान्ने भी कहा है कि 'जिसप्रकार माता बच्चेको ताड़ना देकर दूध पिलाती है, उसी प्रकार मंत्री भी खोटे मार्गमें जाने वाले राजाको कठोर वचन बोलकर सन्मार्गमें लगा देता है ॥१॥'

मंत्रियोंका कर्त्तव्य—

मंत्रिणो राजद्वितीयहृदयत्वान्न केनचित् सह संसर्गं कुर्युः ॥५५॥

अर्थ—मंत्री लोग राजाके दूसरे हृदय रूप होते हैं—राजारूप ही होते हैं, इसलिये उन्हें किसीके साथ स्नेहादि सम्बन्ध न रखना चाहिये ॥५५॥

नीतिकार शुक्र[3] ने भी कहा है कि 'मंत्री लोग राजाओंके दूसरे हृदय होते हैं; इसलिये उनको उनकी वृद्धिके लिये दूसरेसे संसर्ग नहीं करना चाहिये ॥१॥'

राजाके सुख-दुखका मंत्रियों पर प्रभाव—

राज्ञोऽनुग्रहविग्रहावेव मंत्रिणामनुग्रहविग्रहौ ॥५६॥

अर्थ—राजाकी सुख-सम्पत्ति ही मंत्रियोंकी सुख-सम्पत्ति है एवं राजाके कष्ट मंत्रियोंके कष्ट

---

१ तथा च नारदः—वरं पीडाकरं वाक्यं परिणामसुखावहं । मंत्रिणा भूमिपालस्य न मृष्टं यद्भयानकम् ॥१॥

* पीयूषमपि पिबतः बालस्य किं न क्रियते कपालहननम् ? ऐसा मु० व ह० लि० मू० प्रतियोंमें पाठान्तर है जिसका अर्थ यह है कि बच्चा दूधको भी पी रहा है और यदि वह दूध उसके लिये अपथ्य—हानिकारक है, तो क्या अधिक पीने पर माताके द्वारा उसे मस्तकमें ताडन नहीं किया जाता ? अवश्य किया जाता है, उसीप्रकार मंत्री भी अपने स्वामीके लिये भविष्यमें हानि-कारक उपदेश कदापि न देवे। —सम्पादक

२ तथा च गर्गः—जननी बालकं यद्वद्धत्वा स्तन्यं प्रपाययेत्। एवमुन्मार्गगो राजा धार्यते मंत्रिणा यदि ॥१॥

३ तथा च शुक्रः—मंत्रिणः पार्थिवेन्द्राणां द्वितीयं हृदयं ततः। तस्मादन्येन न संसर्गः कार्यो वृद्धये ॥१॥

व विग्रह आदि—सम्बन्धी मंत्रणा करते हैं, उससे वे राजाके महान् कार्य (संधि और विग्रह आदि षाड्गुण्य) को विना क्लेश से सिद्ध कर डालते हैं' ॥१॥

उक्त वाक्यका दृष्टान्त द्वारा समर्थन—

न खलु तथा हस्तेनोत्थाप्यते ग्रावा यथा दारुणा ॥५१॥

अर्थ—जिसप्रकार पृथ्वीमें गड़ी हुई विशाल पत्थरकी चट्टानें तिरछी लकड़ीके यन्त्र विशेषसे शीघ्र ही थोड़े परिश्रमसे उठाई जासकती हैं (स्थानसे हटाई जाती हैं), उसप्रकार हाथोंसे महान् परिश्रम करनेपर भी नहीं उठाई जा सकती। इसीप्रकार मंत्रशक्तिसे महान् कार्य भी, थोड़े परिश्रमसे सिद्ध होजाते हैं, विना मंत्रणाके कदाऽपि सिद्ध नहीं होसकते × ॥५१॥

हारीत[1] विद्वान्ने कहा है कि 'राजा जिस कार्य (अप्राप्त राज्यकी प्राप्ति-आदि) को युद्ध करके अनेक कष्ट उठाकर सिद्ध करता है उसका वह कार्य मंत्र-शक्ति रूप उपायसे सरलतासे सिद्ध होजाता है, अतएव उसे मंत्रियोंके साथ अवश्य मंत्रणा करानी चाहिये ॥१॥'

जिस प्रकारका मंत्री राजाका शत्रु होता है—

स मंत्री शत्रुर्यो नृपेच्छयाऽकार्यमपि कार्यरूपतयाऽनुशास्ति ॥५२॥

अर्थ—जो मंत्री राजाकी इच्छासे--उसकी आज्ञाके अनुसार चलनेके उद्देश्यसे--उसको अकर्त्तव्यका कर्त्तव्यरूपसे उपदेश देता है, वह राजाका शत्रु है। सारांश यह है कि अकर्त्तव्यमें प्रवृत्त होनेसे राजाकी अत्यन्त हानि होती है, इसलिये अकर्त्तव्यका उपदेश देनेवाले मंत्रीको शत्रु कहा गया है ॥५२॥

भागुरि[2] विद्वान्ने कहा है कि 'जो मंत्री राजाको अकर्त्तव्यका कर्त्तव्य और कर्त्तव्यका अकर्त्तव्य बता देता है, वह मंत्रीके रूपमें शत्रु है ॥१॥'

मंत्रीका कर्त्तव्य—

वरं स्वामिनो दुःखं न पुनरकार्योपदेशेन तद्विनाशः ※ ॥५३॥

अर्थ—मंत्रीको राजाके लिये दुःख देना उत्तम है—अर्थात् यदि वह भविष्यमें हितकारक किन्तु

---

१ तथा च हारीतः—यत् कार्यं साधयेद् राजा क्लेशैः संग्रामपूर्वकैः। मंत्रेण सुखसाध्यं तत्तस्मान्मंत्रं प्रकारयेत् ॥१॥

२ तथा च भागुरिः—अकृत्यं कृत्यरूपं च कृत्यं चाकृत्यसंज्ञितं निवेदयति भूपस्य स वैरी मंत्रिरूपधृक् ॥१॥

※ 'वरं स्वामिनो मरणाद्दुःखं न पुनरकार्योपदेशेन तद्विनाशः' ऐसा मु० मू० व ह० लि० मूल प्रतियोंमें पाठान्तर है। जिसका अर्थ यह है कि सच्चे मंत्रीका कर्त्तव्य है कि वह अपने स्वामीको सदा तात्कालिक कठोर परन्तु भविष्यमें हितकारक उपदेश देवे। ऐसे अवसर पर राजाकी इच्छाके विरुद्ध उपदेश देनेसे क्रुद्ध हुए राजाके द्वारा उसको मरण-संकट भी उपस्थित होजावे तो भी उत्तम है परन्तु राजाकी इच्छानुकूल अहितका उपदेश देकर उसे क्षति—हानि—पहुंचाना उत्तम नहीं है। —सम्पादक

तत्काल अप्रिय लगनेवाले ऐसे कठोर वचन बोलकर राजाको दुःखी करता है तो उत्तम है, परन्तु अकर्त्तव्यका उपदेश देकर राजाका नाश करना अच्छा नहीं—अर्थात् तत्काल प्रिय लगने वाले, किन्तु भविष्यमें हानिकारक वचन बोलकर अकार्यका उपदेश देकर उसका नाश करना अच्छा नहीं ॥५३॥

नारद[1] विद्वान्ने कहा है कि 'मंत्रीको राजाके प्रति भविष्यमें सुखकारक किन्तु तत्काल पीड़ा-कारक वचनोंका बोलना अच्छा है, किन्तु तत्काल प्रिय और भविष्यमें भयानक वचनोंका बोलना उत्तम नहीं ॥१॥'

मंत्रीको आग्रह करके राजासे जो कर्त्तव्य कराना चाहिये—

पीयूषमपिबतो बालस्य किं न क्रियते कपोलहननं * ॥५४॥

अर्थ—जब बच्चा माताके स्तनोंका दूध नहीं पीता, तब क्या वह उसके गालोंमें थप्पड़ लगाकर उसे दूध नहीं पिलाती ? अवश्य पिलाती है। सारांश यह है कि जिसप्रकार माता बच्चेके हितके लिये उससे तात्कालिक कठोर और भविष्यमें हितकारक व्यवहार करती है, उसीप्रकार मंत्रीको भी राजाकी भलाईके लिये भविष्यमें हितकारक और तत्कालमें कठोर व्यवहार करना चाहिये ॥५४॥

गर्ग[2] विद्वान्ने भी कहा है कि 'जिसप्रकार माता बच्चेको ताड़ना देकर दूध पिलाती है, उसी प्रकार मंत्री भी खोटे मार्गमें जाने वाले राजाको कठोर वचन बोलकर सन्मार्गमें लगा देता है ॥१॥'

मंत्रियोंका कर्त्तव्य—

मंत्रिणो राजद्वितीयहृदयत्वान्न केनचित् सह संसर्गं कुर्युः ॥५५॥

अर्थ—मंत्री लोग राजाके दूसरे हृदय रूप होते हैं—राजारूप ही होते हैं, इसलिये उन्हें किसीके साथ स्नेहादि सम्बन्ध न रखना चाहिये ॥५५॥

नीतिकार शुक्र[3] ने भी कहा है कि 'मंत्री लोग राजाओंके दूसरे हृदय होते हैं; इसलिये उनको उसकी वृद्धिके लिये दूसरेसे संसर्ग नहीं करना चाहिये ॥१॥'

राजाके सुख-दुखका मंत्रियों पर प्रभाव—

राज्ञोऽनुग्रहविग्रहावेव मंत्रिणामनुग्रहविग्रहौ ॥५६॥

अर्थ—राजाकी सुख-सम्पत्ति ही मंत्रियोंकी सुख-सम्पत्ति है एवं राजाके कष्ट मंत्रियोंके कष्ट

---

१ तथा च नारदः—वरं पीड़ाकरं वाक्यं परिणामसुखावहं । मंत्रिणा भूमिपालस्य न मृष्टं यद्भयानकम् ॥१॥

* पीयूषमपि पिबतः बालस्य किं न क्रियते कपालहननम् ? ऐसा मु० व ह० लि० मू० प्रतियोंमें पाठान्तर है जिसका अर्थ यह है कि बच्चा दूधको भी पी रहा है और यदि वह दूध उसके लिये अपथ्य—हानिकारक है, तो क्या अधिक पीने पर माताके द्वारा उसे मस्तकमें ताडन नहीं किया जाता ? अवश्य किया जाता है, उसीप्रकार मंत्री भी अपने स्वामीके लिये भविष्यमें हानि-कारक उपदेश कदापि न देवे। —सम्पादक

२ तथा च गर्गः—जननी बालकं यद्वद्धत्वा स्तन्यं प्रपाययेत् । एवमुन्मार्गगो राजा धार्यते मंत्रिणा पथि ॥१॥

३ तथा च शुक्रः—मंत्रिणः पार्थिवेन्द्राणां द्वितीयं हृदयं ततः । ततोऽन्येन न संसर्गस्तैः कार्यो नृपवृद्धये ॥१॥

व विग्रह आदि—सम्बन्धी मंत्रणा करते हैं; उससे वे राजाके महान् कार्य (संधि और विग्रह आदि षाड्गुण्य) को विना क्लेश से सिद्ध कर डालते हैं' ॥१॥

उक्त वाक्यका दृष्टान्त द्वारा समर्थन—

न खलु तथा हस्तेनोत्थाप्यते ग्रावा यथा दारुणा ॥५१॥

अर्थ—जिसप्रकार पृथ्वीमें गड़ी हुई विशाल पत्थरकी चट्टान तिरछी लकड़ीके यन्त्र विशेषसे शीघ्र ही थोड़े परिश्रमसे उठाई जासकती है (स्थानसे हटाई जाती है-), उसप्रकार हाथोंसे महान् परिश्रम करनेपर भी नहीं उठाई जा सकती । इसीप्रकार मंत्रशक्तिसे महान् कार्य भी, थोड़े परिश्रमसे सिद्ध होजाते हैं, विना मंत्रणाके कदाऽपि सिद्ध नहीं होसकते × ॥५१॥

हारीत[1] विद्वान्ने कहा है कि 'राजा जिस कार्य (अप्राप्त राज्यकी प्राप्ति-आदि) को युद्ध करके अनेक कष्ट उठाकर सिद्ध करता है उसका वह कार्य मंत्र-शक्ति रूप उपायसे सरलतासे सिद्ध होजाता है, अतएव उसे मंत्रियोंके साथ अवश्य मंत्रणा करानी चाहिये ॥१॥'

जिस प्रकारका मंत्री राजाका शत्रु होता है—

स मंत्री शत्रुर्यो नृपेच्छयाऽकार्यमपि कार्यरूपतयाऽनुशास्ति ॥५२॥

अर्थ—जो मंत्री राजाकी इच्छासे--उसकी आज्ञाके अनुसार चलनेके उद्देश्यसे--उसको अकर्त्तव्यका कर्त्तव्यरूपसे उपदेश देता है, वह राजाका शत्रु है। सारांश यह है कि अकर्त्तव्यमें प्रवृत्त होनेसे राजाकी अत्यन्त हानि होती है, इसलिये अकर्त्तव्यका उपदेश देनेवाले मंत्रीको शत्रु कहा गया है ॥५२॥

भागुरि[2] विद्वान्ने कहा है कि 'जो मंत्री राजाको अकर्त्तव्यका कर्त्तव्य और कर्त्तव्यका अकर्त्तव्य बता देता है, वह मंत्रीके रूपमें शत्रु है ॥१॥'

मंत्रीका कर्त्तव्य—

वरं स्वामिनो दुःखं न पुनरकार्योपदेशेन तद्विनाशः ※ ॥५३॥

अर्थ—मंत्रीको राजाके लिये दुःख देना उत्तम है—अर्थात् यदि वह भविष्यमें हितकारक किन्तु

---

१ तथा च हारीतः—यत् कार्यं साधयेद् राजा क्लेशैः संग्रामपूर्वकैः । मंत्रेण सुखसाध्यं तत्तस्मान्मंत्रं प्रकारयेत् ॥१॥

२ तथा च भागुरिः—अकृत्यं कृत्यरूपं च सत्यं चाकृत्यसंज्ञितां निवेदयति भूपस्य स वैरी मंत्रिरूपधृक् ॥१॥

※ 'वरं स्वामिनो मरणाद्दुःखं न पुनरकार्योपदेशेन तद्विनाशः' ऐसा मु० मू० व ह० लि० मूल प्रतियोंमें पाठान्तर है। जिसका अर्थ यह है कि सच्चे मंत्रीका कर्त्तव्य है कि वह अपने स्वामीको सदा तात्कालिक कठोर परन्तु भविष्यमें हितकारक उपदेश देवे। ऐसे अवसर पर राजाकी इच्छाके विरुद्ध उपदेश देनेसे क्रुद्ध हुए राजाके द्वारा उसको मरण-संकट भी उपस्थित होजावे तो भी उत्तम है परन्तु राजाकी इच्छानुकूल अहितका उपदेश देकर उसे क्षति—हानि—पहुंचाना उत्तम नहीं है। —सम्पादक

तत्काल अप्रिय लगनेवाले ऐसे कठोर वचन बोलकर राजाको दुःखी करता है तो उत्तम है, परन्तु अकर्त्तव्यका उपदेश देकर राजाका नाश करना अच्छा नहीं—अर्थात् तत्काल प्रिय लगने वाले, किन्तु भविष्यमें हानिकारक वचन बोलकर अकार्यका उपदेश देकर उसका नाश करना अच्छा नहीं ॥५३॥

नारद[1] विद्वान्ने कहा है कि 'मंत्रीको राजाके प्रति भविष्यमें सुखकारक किन्तु तत्काल पीड़ा-कारक वचनोंका बोलना अच्छा है, किन्तु तत्काल प्रिय और भविष्यमें भयानक वचनोंका बोलना उत्तम नहीं ॥१॥'

मंत्रीको आग्रह करके राजासे जो कर्त्तव्य कराना चाहिये—

पीयूषमपिवतो बालस्य किं न क्रियते कपोलहननं * ॥५४॥

अर्थ—जब बच्चा माताके स्तनोंका दूध नहीं पीता, तब क्या वह उसके गालोंमें थप्पड़ लगाकर उसे दूध नहीं पिलाती ? अवश्य पिलाती है। साराँश यह है कि जिसप्रकार माता बच्चेके हितके लिये उससे तात्कालिक कठोर और भविष्यमें हितकारक व्यवहार करती है, उसीप्रकार मंत्रीको भी राजाकी भलाईके लिये भविष्यमें हितकारक और तत्कालमें कठोर व्यवहार करना चाहिये ॥५४॥

गर्ग[2] विद्वान्ने भी कहा है कि 'जिसप्रकार माता बच्चेको ताड़ना देकर दूध पिलाती है, उसी प्रकार मंत्री भी खोटे मार्गमें जाने वाले राजाको कठोर वचन बोलकर सन्मार्गमें लगा देता है ॥१॥'

मंत्रियोंका कर्त्तव्य—

मंत्रिणो राजद्वितीयहृदयत्वान्न केनचित् सह संसर्गं कुर्युः ॥५५॥

अर्थ—मंत्री लोग राजाके दूसरे हृदय रूप होते हैं—राजारूप ही होते हैं, इसलिये उन्हें किसीके साथ स्नेहादि सम्बन्ध न रखना चाहिये ॥५५॥

नीतिकार शुक्र[3] ने भी कहा है कि 'मंत्री लोग राजाओंके दूसरे हृदय होते हैं; इसलिये उनको उसकी वृद्धिके लिये दूसरेसे संसर्ग नहीं करना चाहिये ॥१॥'

राजाके सुख-दुखका मंत्रियों पर प्रभाव—

राज्ञोऽनुग्रहविग्रहावेव मंत्रिणामनुग्रहविग्रहौ ॥५६॥

अर्थ—राजाकी सुख-सम्पत्ति ही मंत्रियोंकी सुख-सम्पत्ति है एवं राजाके कष्ट मंत्रियोंके कष्ट

---

१ तथा च नारदः—वरं पीड़ाकरं वाक्यं परिणामसुखावहं । मंत्रिणा भूमिपालस्य न मृष्टं यद्भयानकम् ॥१॥

* पीयूषमपि पिवतः वालस्य किं न क्रियते कपालहननम् ? ऐसा मु० व ह० लि० मू० प्रतियोंमें पाठान्तर है जिसका अर्थ यह है कि बच्चा दूधको भी पी रहा है और यदि वह दूध उसके लिये अपथ्य—हानिकारक है, तो क्या अधिक पीने पर माताके द्वारा उसे मस्तकमें ताडन नहीं किया जाता ? अवश्य किया जाता है, उसीप्रकार मंत्री भी अपने स्वामीके लिये भविष्यमें हानि-कारक उपदेश कदापि न देवे। —सम्पादक

२ तथा च गर्गः—जननी बालकं यद्वद्धत्वा स्तन्यं प्रपाययेत् । एवमुन्मार्गगो राजा धार्यते मंत्रिणा पथि ॥१॥

३ तथा च शुक्रः—मंत्रिणः पार्थिवेन्द्राणां द्वितीयं हृदयं ततः । ततोऽन्येन न संसर्गस्तैः कार्यो नृपवृद्धये ॥१॥

समझे जाते हैं। अथवा राजा जिस पुरुषका निग्रह (दंड देना) और अनुग्रह करता है, वह मंत्रियों के द्वारा किया हुआ ही समझना चाहिये। अर्थात् मंत्रियोंको पृथक रूपसे उस पुरुषका निग्रह या अनुग्रह नहीं करना चाहिये। अन्यथा (यदि मंत्री लोग, राजाकी अवज्ञा करके उस पुरुषका अलगसे निग्रह या अनुग्रह करेंगे) 'ये मेरे राज्याधिकारको छीनना चाहते हैं' ऐसा समझकर राजा उसपर विश्वास नहीं करेगा ॥५६॥

हारीत[1] विद्वान्ने कहा है कि 'क्योंकि मंत्रीगण सदा राजाके हितैषी होते हैं; अतएव राजाकी उन्नतिसे मंत्रियोंकी उन्नति होती है एवं राजाके ऊपर कष्ट पड़नेसे मंत्रियों को भी कष्ट उठाना पड़ता है ॥१॥'

कर्त्तव्य-परायण मंत्रियोंके कार्योंमें सफलता न होनेका कारण—

स दैवस्यापराधो न मंत्रिणां यत् सुघटितमपि कार्यं न घटते ॥५७॥

अर्थ—जो मंत्री राज-कार्यमें सावधान होते हैं, तथापि उनके द्वारा अच्छी तरह मंत्रणापूर्वक किया हुआ भी कार्य जब सिद्ध नहीं होता, उसमें उनका कोई दोष नहीं, किन्तु राजाके पूर्वजन्म संबंधी भाग्यका ही दोष समझना चाहिये ॥५७॥

भार्गव[2] विद्वान्ने कहा कि—'राजाके कार्यमें सावधान और हितैषी मंत्रियोंका जो कार्य सिद्ध नहीं होता, उसमें उनका कोई दोष नहीं, किन्तु भाग्यका ही दोष समझना चाहिये ॥१॥

राजाके कर्त्तव्यका निर्देश—

स खलु नो राजा यो मंत्रिणोऽतिक्रम्य वर्तेत ॥५८॥

अर्थ—जो राजा मंत्रियोंकी बातको उल्लङ्घन करता है—न उनकी बात सुनता है और न आचरण करता है, वह राजा नहीं रह सकता—उसका राज्य क्रमागत होने पर भी नष्ट हो जाता है ॥५८॥

भारद्वाज[3] विद्वान्ने कहा है कि 'जो राजा हितैषी मंत्रियोंकी बातको नहीं मानता, वह अपने पिता और दादासे चले आये क्रमागत राज्यमें चिरकाल तक नहीं ठहर सकता—उसका राज्य नष्ट होजाता है ॥१॥'

पुनः मंत्रणाका माहात्म्य—

सुविवेचितान्मंत्राद्भवत्येव कार्यसिद्धिर्यदि स्वामिनो न दुराग्रहः स्यात् ॥५९॥

अर्थ—यदि राजा दुराग्रही—हठी न हो तो अच्छी तरह विचारपूर्वक किये हुए मंत्रसे अवश्य कार्य-सिद्धि होती है। सारांश यह कि जब मंत्रिमंडल अपनी सैनिक शक्तिको दृढ़ और शत्रुकी सैनिक शक्ति क्षीण देखता है, एवं देश कालका विचार करके सन्धि-विग्रहादि कार्य प्रारम्भ करता है,

---

१ तथा च हारीतः—राज्ञः पुष्ट्या भवेत् पुष्टिः सचिवानां महत्तरा । व्यसनं व्यसनेनापि तेन तस्य हिताश्च ये ॥१॥

२ तथा च भार्गवः—मंत्रिणां सावधानानां यत्कार्यं न प्रसिद्ध्यति । तत् स दैवस्य दोषः स्यान्न तेषां सुहितैषिणाम् ॥१॥

३ तथा च भारद्वाजः—यो राजा मंत्रिणां वाक्यं न करोति हितैषिणां । न स तिष्ठेच्चिरं राज्ये पितृपैतामहेऽपि च ॥१॥

तब उसकी अवश्य विजय होती है, परन्तु ऐसे अवसरपर राजाकी अनुमति होनी चाहिये, उसे दुराग्रही नहीं होना चाहिये ॥५९॥

ऋषिपुत्रक[1] विद्वान्ने कहा कि 'यदि राजा मंत्रीके साथ हठ करने वाला नहीं है, तो अच्छी तरह विचार किये हुऐ मंत्रसे कार्यकी स्थायी सिद्धि होती है ॥१॥'

पराक्रम-शून्य राजाकी हानि—

अविक्रमतो राज्यं वणिक्खड्गयष्टिरिव ॥६०॥

अर्थ—जो राजा पराक्रम-रहित है उसका राज्य वणिक्—व्यापारी सेठके खड्गके समान व्यर्थ है। अर्थात् जिसप्रकार प्रहार-क्रियामें कुशलता न रखनेवाले सेठका खड्ग व्यर्थ है, उसीप्रकार पराक्रमसे शून्य राजाका राज्य भी व्यर्थ है, क्योंकि उसे पराक्रमी पुरुष जीत लेते हैं ॥६०॥'

भारद्वाज[2] विद्वान्ने कहा है कि 'पराक्रम-शून्य राजाका कोई भी सन्धि-विग्रहादि कार्य सेठके खड्गके समान व्यर्थ है; क्योंकि वह शत्रुओंसे पराजित होजाता है ॥१॥'

नीति—सदाचार प्रवृत्तिसे लाभ—

नीतिर्यथावस्थितमर्थमुपलम्भयति ॥६१॥

अर्थ—नीतिशास्त्रका ज्ञान मनुष्यको करने योग्य कार्यके स्वरूपका बोध करा देता है ॥६१॥

गर्ग[3] विद्वान्ने कहा है कि 'माता भी मनुष्यका अहित कर सकती है, परन्तु अच्छी तरह विचार पूर्वक आचरणकी हुई नीति—सदाचार प्रवृत्ति-कदाऽपि उसका अहित नहीं कर सकती। अनीति—दुराचार रूप प्रवृत्ति—मनुष्यको खाए हुए विषफलके समान मार डालती है ॥१॥'

हित-प्राप्ति और अहित-त्यागका उपाय—

हिताहितप्राप्तिपरिहारौ पुरुषकारायत्तौ ॥६२॥

अर्थ—हितकारक—सुख देने वाली—वस्तुकी प्राप्ति करना और अहित—दुःख देनेवाली—वस्तुओं को छोड़ना यह आत्मशक्ति—पुरुषार्थके अधीन है। सारांश यह है कि जो वस्तु हितकारक होनेपर भी दुर्लभ होती है उसे नैतिक मनुष्य पुरुषार्थ—आत्मशक्ति—से प्राप्त कर लेता है। एवं जो वस्तु तत्कालमें लाभदायक होनेपर भी अहित—फलकालमें दुःखदायक—होती है, उसे वह जितेन्द्रिय होकर—अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके—आत्मशक्तिसे छोड़ देता है ॥६२॥

वादरायण[4] विद्वान ने कहा है 'कि उद्योगी मनुष्य आत्मशक्तिसे हितकारक वस्तु दुर्लभ होने परभी

---

१ तथा च ऋषिपुत्रकः—सुमंत्रितस्य मंत्रस्य सिद्धिर्भवति शाश्वती। यदि स्यान्नान्यथाभावो मंत्रिणा सह पार्थिवः ॥१॥

२ तथा च भारद्वाजः—परेषां जायते साध्यो यो राजा विक्रमच्युतः। न तेन सिद्ध्यते किंचिदसिना श्रेष्ठिनो यथा ॥१॥

३ तथा च गर्गः—मातापि विकृतिं याति नैव नीतिः स्वनुष्ठिता। अनीतिर्भक्षयेन्मर्त्यं किंपाकमिव भक्षितम् ॥१॥

४ तथा च वादरायणः—हितं वाप्यथवानिष्टं दुर्लभं सुलभं च वा। आत्मशक्त्याप्नुयान्मर्त्यो हितं चैव सुलाभदं ॥१॥

प्राप्त कर लेता है और अहितकारक सुलभ होनेपर भी छोड़ देता है एवं लाभदायक और हितकारक कार्य में प्रवृत्ति करता है ॥१॥'

मनुष्य-कर्त्तव्य—

अकालसहं कार्यमद्यस्वीनं न कुर्यात्❀ ॥६३॥

अर्थ—जो कार्य विलम्ब करने योग्य नहीं है—शीघ्र करने योग्य है—उसके करनेमें विलम्ब (देरी) न करना चाहिये ॥६३॥

चारायण[1] विद्वान् ने कहा है कि 'विशेष सफल होनेवाले कार्यको यदि शीघ्र न किया जावे तो समय उसके फलको पीलेता है—विलम्ब करनेसे वह कार्य सिद्ध नहीं होपाता ॥१॥'

समय चूक जाने पर किये गये कार्यका दोष—

कालातिक्रमान्नखच्छेद्यमपि कार्यं भवति कुठारच्छेद्यं ॥६४॥

अर्थ—समय चूक जानेपर नखके द्वारा काटने योग्य—सरलता से किया जानेवाला—कार्यभी कुल्हाड़े से काटने योग्य—अत्यन्त कठिन—होजाता है। सारांश यह है कि जो कार्य समयपर किया जाता है वह थोड़े परिश्रम से सिद्ध—सफल—होजाता है, परन्तु समय चूक जानेपर उसमें महान् परिश्रम करना पड़ता है ॥६४॥

शुक्र[2] विद्वान् ने भी कहा है कि 'सामने उपस्थित हुए किसी कार्यको यदि उस समय न किया जावे तो थोड़े परिश्रम से सिद्ध होनेवाले उस कार्यमें महान् परिश्रम करना पड़ता है ॥१॥'

नीतिज्ञ मनुष्यका कर्त्तव्य—

को नाम सचेतनः सुखसाध्यं कार्यं कृच्छ्रसाध्यमसाध्यं वा कुर्यात् ॥६५॥

अर्थ—कौन ऐसा बुद्धिमान् पुरुष होगा ? जोकि सुखसे सिद्ध होनेयोग्य—सरल (थोड़े परिश्रमसे सिद्ध होनेयोग्य) कार्यको दुःखसे सिद्ध होनेयोग्य (कठिन) या असाध्य (बिलकुल न सिद्ध होने योग्य) करेगा ? कोई भी नहीं करेगा ॥६५॥

गुरु[3] विद्वान् ने भी कहा है कि 'बुद्धिमान् पुरुषको सुलभ कार्य कठिन या दुर्लभ नहीं करना चाहिये ॥१॥'

❀ 'अकालसहं कार्यं यशस्वी विलम्बेन न कुर्यात्' ऐसा पाठ मु० व ह० लि० मू० प्रतियों में वर्तमान है, जो कि सं० टी० पुस्तकके पाठसे विशेष अच्छा है, उसका अर्थ यह है कि कीर्तिकी कामना रखनेवाले मनुष्यको शीघ्र करने योग्य कार्य विलम्बसे न करना चाहिए।

१ तथा च चारायणः—यस्य तस्य हि कार्यस्य सफलस्य विशेषतः। क्षिप्रमक्रियमाणस्य कालः पिबति तत्फलम् ॥१॥

२ तथा च शुक्रः—तत्क्षणान्नात्र यत् कुर्यात् किंचित् कार्यमुपस्थितम्। स्वल्पायासेन साध्यं चेत्तत् कृच्छ्रेण प्रसिद्ध्यति ॥१॥

३ तथा च गुरुः—सुखसाध्यं च यत् कार्यं कृच्छ्रसाध्यं न कारयेत्। असाध्यं वा मतिर्यस्य (भवेच्चित्ते निरर्गला) ॥१॥

संशोधित व परिवर्तित— सम्पादक—

मंत्रियोंके विषयमें विचार और एक मंत्रीसे हानि—

एको मंत्री न कर्त्तव्यः ॥ ६६ ॥

एको हि मन्त्री निरवग्रहश्चरति मुह्यति च कार्येषु कृच्छ्रेषु ॥ ६७ ॥

अर्थ—राजाको केवल एक मंत्री नहीं रखना चाहिये, क्योंकि अकेला मंत्री स्वतन्त्र होनेसे निरङ्कुश होजाता है; इसलिये वह अपनी इच्छाके अनुसार राजाका विरोधी होकर प्रत्येक कार्यको कर डालता है, और कठिनतासे निश्चय करने योग्य कार्योंमें मोह—अज्ञानको प्राप्त होजाता है।

आप्त[1]—प्रामाणिक—पुरुषोंने भी कहा है कि 'विद्वान् व्यक्ति भी अकेला कर्त्तव्यमार्गमें संदिग्ध रहता है, अतः राजाको एक मंत्री नहीं बनाना चाहिये ॥ ६६—६७ ॥'

नारद[2] विद्वान्ने कहा है कि 'राजासे नियुक्त किया हुआ अकेला मंत्री अपनी इच्छानुसार कार्योंमें प्रवृत्ति करता है, उसे राजासे डर नहीं रहता तथा कठिन कार्य करनेका निश्चय नहीं कर सकता ॥ १ ॥'

दो मन्त्रियोंसे हानि—

द्वावपि मंत्रिणौ न कार्यौ ॥ ६८ ॥

द्वौ मंत्रिणौ संहतौ राज्यं विनाशयतः ॥ ६९ ॥

अर्थ—राजा दो मंत्रियोंको भी सलाहके लिये न रक्खे; क्योंकि दोनों मंत्री आपसमें मिलकर राज्य को नष्ट कर डालते हैं ॥ ६८—६९ ॥

नारद[3] विद्वान्ने कहा है कि 'राजा यदि दो मंत्रियोंको सलाहके लिये रक्खे, तो वे परस्परमें मिलकर—सलाह करके—उसके धनको नष्ट कर डालते हैं ॥ १ ॥'

दोनों मन्त्रियोंसे होनेवाली हानि—

निगृहीतौ तौ तं विनाशयतः ॥ ७० ॥

अर्थ—यदि दोनों मंत्रियोंका निग्रह किया जाता है, तो वे मिलकर राजाको नष्ट कर देते हैं ॥७०॥

गुरु[4] विद्वान्ने भी कहा है कि 'समस्त राज-कर्मचारी मंत्रियोंके अधीन होते हैं; अतः राजाके प्रतिद्वन्दी—विरोधी—मंत्री उनकी सहायतासे राजाको मार देते हैं ॥ १ ॥'

राजाको जितने मंत्री रखने चाहिये—

त्रयः पंच सप्त वा मन्त्रिणस्तैः कार्याः ॥ ७१ ॥

---

१ 'ज्ञातसारोऽपि खल्वेकः संदिग्धे कार्यवस्तुनि' संगृहीत—

२ तथा च नारदः—एको मंत्री कृतो राज्ञा स्वेच्छया परिवर्तते । न करोति भयं राज्ञः कृत्येषु परिमुह्यति ॥ १ ॥

३ तथा च नारदः—मंत्रिणां द्वितयं चेत् स्यात् कथंचित् पृथिवीपतेः । अन्योन्यं मंत्रयित्वा तु कुरुते विभवक्षयं ॥ १ ॥

४ तथा च गुरुः—भूपतेः सेवका ये स्युस्तेस्युःसचिवसम्मताः । तैस्तैः सहायतां नीतैर्हन्युस्तं प्राणयाद्भयात् ?॥ १ ॥

अर्थ—राजाओंको तीन, पांच या सात मंत्री नियुक्त करने चाहिये। सारांश यह है कि विषम संख्यावाले मंत्रिमंडलका परस्परमें एक मत होना कठिन है; इसलिये वे राज्यके विरुद्ध षड्यन्त्र—बगावत वगैरह—करनेमें असमर्थ रहते हैं; अतः राजाको तीन, पांच या सात मंत्री रखनेका निर्देश किया गया है ॥ ७१ ॥

परस्पर ईर्षा करनेवाले मन्त्रियोंसे हानि—

विषमपुरुषसमूहे दुर्लभमैकमत्यं* ॥ ७२ ॥

अर्थ—यदि राजा परस्परमें ईर्षा करनेवाले मंत्रि-मण्डलको नियुक्त करे, तो उसकी किसी योग्य राजकीय कार्यमें एक सम्मति होना कठिन है ॥ ७२ ॥

राजपुत्र[1] विद्वान्ने भी कहा है कि 'आपसमें ईर्षा करनेवालोंकी किसी कार्यमें एक सम्मति नहीं होती; इसलिये राजाको परस्परमें स्पर्द्धा (ईर्षा) न करनेवाले—पारस्परिक प्रेम व सहानुभूतिसे रहनेवाले—मंत्रियोंकी नियुक्ति करनी चाहिये ॥ १ ॥'

बहुत मंत्रियोंसे होनेवाली हानि—

बहवो मंत्रिणः परस्परं स्वमतीरुत्कर्षयन्ति × ॥७३॥

अर्थ—परस्परमें ईर्षा रखनेवाले बहुतसे मंत्री राजाके समक्ष अपनी २ बुद्धिका महत्व प्रकट करके अपना २ मत पुष्ट करते हैं। सारांश यह है कि ईर्षालु बहुतसे मंत्री अपना २ मत पुष्ट करनेमें प्रयत्नशील होते हैं, इससे राज-कार्यमें हानि होती है ॥७३॥

रैभ्य[2] विद्वान्ने कहा है कि 'जो राजा बहुतसे ईर्षालु मंत्रियोंको रखता है, तो वे अपने २ मतको उत्कृष्ट समझ कर राज-कार्यको नष्ट कर डालते हैं ॥१॥'

स्वेच्छाचारी मंत्रियोंसे हानि—

स्वच्छन्दाश्च न विजृम्भन्ते ॥७४॥

अर्थ—स्वेच्छाचारी मंत्री आपसकी उचित सलाह नहीं मानते ॥७४॥

अत्रि[3] विद्वान्ने भी कहा है कि 'स्वेच्छाचारी मंत्री राजाके हितैषी नहीं होते और मंत्रणा करते हुए उचित बातको नहीं मानते ॥१॥'

---

* उक्त सूत्रका यह अर्थ भी होसकता है कि विषम मंत्रिमण्डल (तीन, पांच या सात) के रहनेपर उसका परस्पर मिलकर राजाका प्रतिद्वंदी (विरोधी) होना दुर्लभ है, यह अर्थ भी प्राकरणिक है; क्योंकि ७१वें सूत्र द्वारा विषम मंत्रिमंडलके रखनेका आचार्यश्रीने स्पष्टनिर्देश किया है। सम्पादक—

१ तथा च राजपुत्रः—मिथः संस्पर्धमानानां नैकं संजायते मतं। स्पर्धाहीना ततः कार्या मंत्रिणः पृथिवीभुजा ॥ १ ॥

× 'बहवो मंत्रिणः परस्परमतिभिरुत्कर्षयन्ति' ऐसा मु॰मू॰ प्रतिमें पाठ है, परन्तु अभिप्राय दोनोंका एक है। संपादक—

२ तथा च रैभ्यः—बहूंश्च मंत्रिणो राजा सस्पर्द्धान् करोति यः। घ्नन्ति ते नृपकार्यं यत् स्वमंत्रस्य कृता वराः ॥१॥

३ तथा च अत्रिः—स्वच्छन्दा मंत्रिणो नूनं न कुर्वन्ति यथोचितं। मंत्रं मंत्रयमाणाश्च भूपस्याहिताः स्मृताः ॥१॥

राजा व मनुष्य-कर्त्तव्य—

यद्बहुगुणमनपायबहुलं भवति तत्कार्यमनुष्ठेयम् ॥७५॥

अर्थ—राजा या विवेकी मनुष्यको सम्पत्ति और कीर्ति-लाभ-आदि बहुत गुणोंसे युक्त (श्रेष्ठ) तथा विनाश-रहित—नित्य व कल्याणकारक कार्य करना चाहिये ॥७५॥

जैमिनि[1] विद्वान्ने भी कहा है कि 'महान् राज्यके इच्छुक राजाको जो २ कार्य अधिक श्रेष्ठ और विनाशसे रहित व कल्याणकारक हों उन्हें करना चाहिये ॥१॥

मनुष्य-कर्त्तव्य—

तदेव भुज्यते यदेव परिणमति ॥७६॥

अर्थ—जिसका परिपाक (पचना) अच्छी तरहसे होसके, वही प्रकृति-ऋतुके अनुकूल भोजन करना उचित है। सारांश यह है कि नैतिक मनुष्यको पचनेवाले (निरन्तर विशुद्ध, पुण्य, यशस्य, और न्याय-युक्त तथा भविष्यमें कल्याण-कारक) सत् कार्य करना चाहिये। उसे न पचनेवाले समाज-दंड और राज-दंडादि द्वारा अपकीर्तिको फैलानेवाले अन्याय-युक्त असत् कार्योंसे सदा दूर रहना चाहिये। इसी प्रकार राजाको भी राज्यकी श्रीवृद्धिमें उपयोगी संधि और विग्रह-आदि कार्य इसप्रकार विशुद्ध मंत्रणा पूर्वक करना चाहिये, जिससे उसका भविष्य उज्वल—श्रेयस्कर हो। उसे भविष्यमें होनेवाली राज्य-क्षति संबंधी कार्यों से सदा दूर रहना चाहिये ॥७६॥

जिसप्रकारके मंत्रियोंकी नियुक्तिसे कोई हानि नहीं—

यथोक्तगुणसमवायिन्येकस्मिन् युगले वा मंत्रिणि न कोऽपि दोषः ॥७७॥

अर्थ—यदि मंत्रीमें पूर्वोक्त गुण (पांचमें सूत्रमें कहे हुए द्विज, स्वदेशवासी, सदाचारी, कुलीन और व्यसनोंसे रहित-आदि सद्गुण) विद्यमान हों तो एक या दो मंत्रियोंकी भी नियुक्ति करनेसे राजाकी हानि नहीं होसकती। सारांश यह है कि पूर्वमें आचार्यश्री ने एक या दो मंत्रियोंके रखनेका निषेध किया था, परन्तु अब यथार्थ सिद्धान्त प्रगट करते हैं कि पूर्वोक्त गुणों से विभूषित एक या दो मंत्रियों के रखनेमें भी राजाकी कोई हानि नहीं होसकती ॥७७॥

बहुतसे मूर्ख मंत्रियोंके रखनेका निषेध—

न हि महानप्यन्धसमुदायो रूपमुपलभेत ॥७८॥

अर्थ—बहुतसे भी अन्धोंका समूह रूपको नहीं जान सकता। सारांश यह है कि जिसप्रकार बहुतसा अन्ध-समुदाय हरित-पीतादि रूपको नही जान सकता, उसीप्रकार पूर्वोक्त गुणसे शून्य व मूर्ख मंत्रि-मंडल भी राज्य-वृद्धिके उपायों का यथार्थ निश्चय नहीं कर सकता। अतएव नीतिज्ञ राजाको मूर्ख मंत्रि-मंडल नहीं रखना चाहिये ॥७८॥

---

१ तथा च जैमिनिः—यद्यच्छ्रेष्ठतरं कृत्यं तत्तत्कार्यं महीभुजा। नोपघातो भवेद्यत्र राज्यं विपुलमिच्छता ॥१॥

दोनों मंत्रियोंके रखनेसे कोई हानि नहीं इसका दृष्टान्त द्वारा समर्थन—

अवार्यवीर्यौ धुर्यौ किंन्न महति भारे नियुज्यते* ॥७९॥

अर्थ—दोनों बैल यदि अधिक बलिष्ठ हों, तो क्या वे दोनों महान् बोझा ढोनेके लिए गाड़ी वगैरह में नहीं जोते जाते ? अवश्य जोते जाते हैं। सारांश यह है कि उसीप्रकार दो मन्त्री भी यदि पूर्वोक्त गुणोंसे अलंकृत हों, तो वे भी राज्य-भारको वहन करनेमें समर्थ होसकते हैं; अतएव उक्त गुणोंसे युक्त दो मन्त्रियोंके रखनेमें कोई हानि नहीं है ॥७९॥

बहुतसे सहायकोंसे लाभ—

बहुसहाये राज्ञि प्रसीदन्ति सर्व एव मनोरथाः ॥८०॥

अर्थ—जिस राजाके बहुतसे सहायक (राज्यमें सहायता देनेवाले भिन्न २ विभागोंके भिन्न २ प्रधान मन्त्री आदि) होते हैं, उसे समस्त अभिलषित पदार्थोंकी प्राप्ति होती है ॥८०॥

वर्ग[1] विद्वान् ने कहा है कि 'जिसप्रकार मद-शून्य हाथी और दांतोंसे रहित सर्प सुशोभित व कार्य करनेमें समर्थ नहीं होता, उसीप्रकार राजाभी सहायकोंसे रहित होनेपर शोभायमान और राजकीय कार्य करनेमें समर्थ नहीं होता, इसलिये उसे बहुतसे सहायक रखने चाहिये ॥१॥'

केवल मन्त्रीके रखनेसे हानि—

एको हि पुरुषः केषु नाम कार्येष्वात्मानं विभजते ॥८१॥

अर्थ—अकेला आदमी अपनेको किन २ कार्योंमें नियुक्तकर सकता है ? नहीं कर सकता। सारांश यह है कि राजकीय बहुतसे कार्य होते हैं, उन्हें अकेला मन्त्री किसप्रकार सम्पन्न कर सकता है ? नहीं कर सकता, अतएव अलग-अलग विभागोंके लिये बहुतसे मंत्री-आदि सहायक होने चाहिये ॥८१॥

जैमिनि[2] विद्वान् ने कहा है कि 'जो राजा अपनी मूर्खतासे एक मन्त्रीको ही रखता है व दूसरे सहायकोंको नहीं रखता, इससे उसके बहुतसे राजकार्य नष्ट होजाते हैं ॥१॥'

उक्त बातका दृष्टान्त द्वारा समर्थन—

किमेकशाखस्य शाखिनो महती भवतिच्छाया × ॥८२॥

---

* 'अवार्यवीर्यौ द्वौ धुर्यौ किं महति भारे न नियुज्येते' ऐसा मु० मू० पु० में पाठ है, जो कि सं० टी० पु० के पाठसे उत्तम (व्याकरणके अनुकूल) है, परन्तु सारांश दोनोंका एक सा है। संपादक—

१ तथा च वर्गः—मदहीनो यथा नागो दंष्ट्राहीनो यथोरगः। असहायस्तथा राजा तद् कार्यो बहवश्च ते ॥१॥

२ तथा च जैमिनिः—एकं यः कुरुते राजा मन्त्रिणं मन्दबुद्धितः। तस्य भूरीणि कार्याणि सीदन्ति च तदाश्रयात् ॥१॥
संशोधित व परिवर्तित। सम्पादक—

× किमेकशाखाशाखिनो महतोऽपि भवतिच्छाया ? ऐसा मु० व ह० लि० मू० प्रतियोंमें पाठ है, परन्तु विशेष अर्थभेद नहीं है। सम्पादक—

अर्थ—क्या केवल एक शाखावाले वृक्षसे अधिक छाया होसकती है ? नहीं होसकती, उसीप्रकार अकेले मन्त्रीसे राज्यके महान् कार्य सिद्ध नहीं होसकते ॥८२॥

अत्रि[1] विद्वान् ने भी कहा है कि 'जिसप्रकार एक ही शाखा (डाली) वाले वृक्षसे छाया नहीं होती, उसीप्रकार अकेले मन्त्रीसे राज-कार्य सिद्ध नहीं होसकते ॥१॥'

आपत्तिकालमें सहायकोंकी दुर्लभता—

कार्यकाले दुर्लभः पुरुषसमुदायः ॥८३॥

अर्थ—आपत्तिकाल आनेपर कार्य करनेवाले सहायक पुरुषोंका मिलना दुर्लभ होता है। अतएव नैतिक व्यक्ति या राजा कार्यमें सहायक पुरुषोंको पहलेसे ही संग्रह करे। सारांश यह है कि यद्यपि भविष्यमें आनेवाली आपत्तिसे बचाव करनेके लिए पहलेसे सहायक पुरुषोंके रखनेमें अधिक धनराशिका व्यय होता है, तथापि नैतिक पुरुष उसकी परवाह न करे। क्योंकि धन-व्ययकी अपेक्षा सहायक पुरुषोंके संग्रहको नीतिनिष्ठोंने अधिक महत्व दिया है और इसीकारण विजिगीषु राजालोग भविष्यमें होनेवाले शत्रुओंके हमले आदिसे राष्ट्रको सुरक्षित रखनेके लिये विशाल सैनिक-संगठन करनेमें प्रचुर धनराशिके व्ययकी ओर ध्यान नहीं देते। क्योंकि आपत्तिकाल आनेपर उसीसमय सहायक पुरुषोंका मिलना कठिन होता है ॥८३॥

किसी विद्वान्[2] नीतिकार ने कहा है कि 'विवेकी पुरुषोंको आपत्तिसे छुटकारा पानेके लिये पहलेसे ही सहायक पुरुष रखने चाहिये, क्योंकि आपत्ति पड़नेपर तत्काल उनका मिलना दुर्लभ होता है ॥१॥'

पहलेसे ही सहायक पुरुषोंका संग्रह न करनेसे हानि—

दीप्ते गृहे कीदृशं कूपखननम् ॥८४॥

अर्थ—मकानमें आग लगजानेपर उसे बुझानेको तत्काल पानीके लिए कुआ खोदना क्या उचित है ? नहीं। सारांश यह है कि जिसप्रकार मकानमें लगी हुई आगको बुझानेके लिए उसी समय कुआ खोदना व्यर्थ है, उसीप्रकार आपत्ति आनेपर उसे दूर करनेके लिए सहायक-संग्रह व्यर्थ है ॥८४॥

नीतिकार चाणिक्य[3]ने कहा है कि 'नैतिक पुरुषको पहलेसे ही विपत्तिके नाशका उपाय चिंतवन करलेना चाहिए, अकस्मात् मकानमें आग लग जानेपर कुएका खोदना उचित नहीं ॥१॥'

धन-व्ययकी अपेक्षा सहायक पुरुषोंके संग्रहकी विशेष उपयोगिता—

न धनं पुरुषसंग्रहाद्बहु मन्तव्यं ॥८५॥

अर्थ—सहायक पुरुषोंके संग्रहकी अपेक्षा धनको उत्कृष्ट नहीं समझना चाहिए। इसलिए धनाभिलाषी एवं विजिगीषु राजाओं को सहायक पुरुषोंका संग्रह करना चाहिए ॥८५॥

---

१ तथा च अत्रिः—यथैकशाखवृक्षस्य नैवच्छाया प्रजायते। तथैकमंत्रिणा राज्ञः सिद्धिः कृत्येषु नो भवेत् ॥१॥

२ उक्तं च—अग्रे-अग्रे प्रकर्त्तव्याः सहायाः सुविवेकिभिः। आपन्नाशाय ते यस्माद् दुर्लभा व्यसने स्थिते ॥१॥

३ तथा च चाणिक्यः—विपदानां प्रतीकारं पूर्वमेव प्रचिन्तयेत्। न कूपखननं युक्तं प्रदीप्ते सहसा गृहे ॥१॥

शुक्र[1] विद्वान्ने कहा है कि 'राजाको सहायक पुरुष-श्रेष्ठोंके विना धन नहीं मिलता; इसलिये सम्पत्तिके अभिलाषी राजाओंको सदा वीर पुरुषोंका संग्रह करना चाहिये ॥ १ ॥'

उक्त बातका समर्थन—सहायक पुरुषोंको धन देनेसे लाभ—

सत्क्षेत्रे बीजमिव पुरुषेपूप्तं कार्यं शतशः फलति * ॥ ८६ ॥

अर्थ—उत्तम उपजाऊ खेतमें बोए हुए बीजकी तरह सत्पुरुषों (सहायक कार्यपुरुष—मंत्री, सेनापति और अर्थ-सचिव-आदि) को दिया हुआ धन निस्सन्देह अनेक फल देता है—अनेक आर्थिक लाभ-वगैरह प्रयोजनोंको सिद्ध करता है। सारांश यह है कि जिसप्रकार उपजाऊ पृथिवीमें बोए गये धान्यादिके बीज प्रचुर धान्य-राशिको उत्पन्न करते हैं, उसीप्रकार मंत्री, अमात्य, पुरोहित और सेनापति-आदि सहायक पुरुषोंको दिया हुआ धन भी प्रचुर धन-राशिको उत्पन्न करता है; अतएव विजिगीषु राजा या नैतिक पुरुष सहायक सत्पुरुषोंके संग्रहकी अपेक्षा धनको अधिक न समझे ॥ ८६ ॥

जैमिनि[2] विद्वान्ने भी कहा है कि 'उत्तम मनुष्यको दिया हुआ धन और सौंपा हुआ कार्य उपजाऊ भूमिमें बोई हुई धान्यके समान निस्सन्देह सैकड़ों फल (असंख्य धन-आदि) देता है ॥ १॥'

कार्य पुरुषोंका स्वरूप—

बुद्धावर्थे युद्धे च ये सहायास्ते कार्यपुरुषाः ॥ ८७ ॥

अर्थ—बुद्धि, धन और युद्धमें जो सहायक होते हैं वे कार्यपुरुष हैं। सारांश यह है कि राजाओंको राजनैतिक बुद्धि प्रदान करनेवाले प्रधान मंत्री और पुरोहित आदि, सम्पत्तिमें सहायक अर्थ-सचिव वगैरह और युद्धमें सहायक सेनासचिव-आदि इनको 'कार्यपुरुष' कहते हैं, अन्यको नहीं ॥ ८७ ॥

शौनक[3] विद्वान्ने कहा है कि 'जो राजाको कर्त्तव्य (संधि-विग्रहादि) में अज्ञान होनेपर बुद्धि, संकट पड़ने पर धन एवं शत्रुओंसे लोहा लेनेके समय सैनिक शक्ति देकर उसकी सहायता करते हैं, उन्हें (प्रधान मंत्री, अर्थसचिव और सेनासचिव-आदि को) 'कार्यपुरुष' माना गया है ॥ १ ॥'

जिस समयमें जो सहायक होते हैं—

खादनवारायां को नाम न सहायः × ॥ ८८ ॥

अर्थ—भोजनके समय कौन सहायक नहीं होता? सभी सहायक होते हैं। सारांश यह है कि

---

१ तथा च शुक्रः—न बाह्य पुरुषेन्द्राणां धनं भूपस्य जायते। तस्माद्धनार्थिना कार्यः सर्वदा वीरसंग्रहः ॥ १ ॥

* 'सुक्षेत्रेषु बीजमिव कार्यपुरुषेपूप्तं धनं शतशः फलति' इसप्रकार का मु०मू० व ह०लि०मू० प्रतियोंमें पाठ है, परन्तु अर्थ-भेद कुछ नहीं।

२ तथा च जैमिनिः—सन्नरे योजितं कार्यं धनं च शतधा भवेत्। सुक्षेत्रे वापितं यद्वत् सस्यं तद्वदसंशयं ॥ १ ॥

३ तथा च शौनकः—मोहे यच्छन्ति ये बुद्धिमर्थे कृच्छ्रं तथा धनं। वैरिसंघे सहायत्वं ते कार्यपुरुषा मताः ॥ १ ॥

× 'खादनवेलायां तु को नाम कस्य न सहायः' ऐसा मु० मू० पुस्तकमें पाठ है, परन्तु अर्थ-भेद कुछ नहीं।

उत्पत्तिके समय सभी पुरुष सहायक होजाते हैं, परन्तु जब मनुष्यके ऊपर आपत्ति पड़ती है तब कोई सहायता नहीं करता; इसीलिये आपत्ति आनेके पूर्व ही सहायक पुरुषोंका संग्रह कर लेना श्रेष्ठ है ॥ ८८ ॥

वर्ग[1] विद्वान्‌ने भी कहा है कि 'जब गृहमें धन होता है, तब साधारण व्यक्ति भी मित्र होजाता है, परन्तु धनके नष्ट होजाने पर बन्धु जन भी तत्काल शत्रुता करने लगते हैं ॥ १ ॥'

जिसप्रकारके पुरुषको मन्त्रणा करनेका अधिकार नहीं—

श्राद्ध इवाश्रोत्रियस्य न मंत्रे मूर्खस्याधिकारोऽस्ति ॥ ८९ ॥

अर्थ—जो मनुष्य धार्मिक क्रियाकांडोंका विद्वान् नहीं है, उसको जिसप्रकार श्राद्धक्रिया (श्रद्धासे किया जानेवाला दान पुण्य) करानेका अधिकार नहीं है, उसीप्रकार राजनीति-ज्ञानसे शून्य—मूर्ख—मंत्रीको भी मंत्रणा (उचित सलाह) का अधिकार नहीं है ॥ ८९ ॥

मूर्ख मन्त्रीका दोष—

किं नामान्धः पश्येत् ॥ ९० ॥

अर्थ—क्या अंधा मनुष्य कुछ देख सकता है ? नहीं देख सकता। सारांश यह है कि उसीप्रकार अंधेके समान मूर्ख मन्त्री भी मंत्रका निश्चय नहीं कर सकता ॥ ९० ॥

शौनक[2] विद्वान्‌ने भी कहा है कि 'यदि अंधा पुरुष कुछ घट-पटादि वस्तुओंको देख सकता हो, तब कहीं मूर्ख मंत्री भी राजाओंके मंत्रको जान सकता है ॥ १ ॥'

मूर्ख राजा और मूर्ख मंत्रीके होनेसे हानि—

किमन्धेनाकृष्यमाणोऽन्धः समं पन्थानं प्रतिपद्यते ※॥ ९१ ॥

अर्थ—यदि अंधे मनुष्यको दूसरा अंधा लेजाता है, तो भी क्या वह सममार्ग (गड्ढे और कंकड़-पत्थरोंसे रहित एकसे रास्ते) को देख सकता है ? नहीं देख सकता। सारांश यह है कि उसीप्रकार यदि मूर्ख राजा भी मूर्ख मंत्रीकी सहायतासे संधि-विग्रहादि राजकार्योंकी मन्त्रणा करे, तो क्या वह उसके फल (विजयलक्ष्मी व अर्थ-लाभ-आदि) प्राप्त कर सकता है ? नहीं कर सकता ॥ ९१ ॥

शुक्र[3] विद्वान्‌ने भी कहा है कि 'यदि अन्धा मनुष्य दूसरे अन्धेके द्वारा खींचकर मार्गमें लेजाया जावे, तथापि यदि वह (अन्धा) ठीक रास्तेको देख सके, तब कहीं मूर्ख राजाभी मूर्ख मंत्रीकी सहायता से मंत्र—राजकीय उचित सलाह—का निश्चय कर सकता है। सारांश यह है कि उक्त दोनों कार्य असंभव हैं, इसलिये राज-मंत्रीको राजनीतिका विद्वान् होना चाहिये ॥१॥'

---

१ तथा च वर्गः—यदा स्यान्मंदिरे लक्ष्मीस्तदान्योऽपि सुहृद्भवेत् । वित्तक्षये तथा बन्धुस्तत्क्षणाद् दुर्जनायते ॥ १ ॥

२ तथा च शौनकः—यद्यन्धो वीक्ष्यते किंचिद् घटं वा पटमेव च । तदा मूर्खोऽपि सो मंत्री मंत्रं पश्येत् स भूभृताम् ॥१॥

※ 'न चान्धेनाकृष्यमाणोऽन्धः समं पंथानं प्रतिपद्यते' ऐसा मु० व ह० लि० मू० प्रतियोंमें पाठ है, परन्तु अर्थ-भेद कुछ नहीं। संपादक—

३ तथा च शुक्रः—अन्धेनाकृष्यमाणोऽत्र चेदन्धो मार्गवीक्षकः । भवेत्तन्मूर्खभूपोऽपि मंत्रं चेत्यज्ञमंत्रिणः ॥१॥

मूर्ख मंत्रीसे कार्य-सिद्धि निश्चित नहीं है, इसका दृष्टान्तों द्वारा समर्थन—

तदन्धवर्तकीयं काकतालीयं वा यन्मूर्खमंत्रात् कार्यसिद्धिः ॥६२॥

अर्थ—मूर्ख मंत्रीकी मंत्रणा—सलाहसे भी कभी किसी समय कार्य-सिद्धि होजाती है, परन्तु वह अन्धेके हाथ आई हुई बटेर—चिड़िया विशेष—को न्यायके समान अथवा काकतालीय न्याय (ताड़ वृक्षके नीचेसे उड़कर जानेवाले कौएको उसीसमय उस वृक्षसे गिरनेवाले ताड़फलकी प्राप्ति रूप न्याय) के समान सार्वकालिक—सदा होनेवाली और निश्चित नहीं होती। अर्थात्—जिसप्रकार अन्धेके हाथोंमें कभी किसी समय भाग्योदय से बटेर पक्षी अचानक आजाता है परन्तु उसका मिलना सदा व निश्चित नहीं है।

अथवा जिसप्रकार ताड़वृक्षके नीचे से उड़कर जानेवाले कौएके मुखमें उसीसमय उस वृक्षसे गिरनेवाले ताड़फलका प्राप्त होना, कभी उसके भाग्योदय से होजाता है, परन्तु सार्वकालिक व निश्चित नहीं है, उसीप्रकार राजाको भी भाग्योदय से, मूर्ख मन्त्रीकी मंत्रणासे कार्यसिद्धि होजाती है, परन्तु वह सदा और निश्चित नहीं होती।

स्पष्टीकरण—अन्धेके हाथमें प्राप्त हुई बटेर-न्याय—कभी बटेर (चिड़िया विशेष) अन्धेके शिर पर बैठ जाती है। वह 'मेरे शिरपर क्या चीज आपड़ी'? ऐसा समझकर उसे अपने दोनों हाथोंसे पकड़ लेता है, यह 'अन्धेके हाथमें आई हुई बटेर-न्याय' है प्रकरणमें जिसप्रकार यद्यपि बटेरकी प्राप्ति चक्षुष्मान् (आंखोंवाले) पुरुषकी तरह अन्धेको भी हुई, परन्तु अन्धेको उसकी प्राप्ति कदाचित् भाग्योदय से होती है, सदा व निश्चित रीतिसे नहीं। उसीप्रकार राजाको भी मूर्ख मंत्रीकी मंत्रणा से कदाचित् भाग्योदय से काय-सिद्धि होसकती है, परन्तु वह सार्वकालिक और नियत नहीं।

इसीप्रकार काकतालीयन्याय-ताड़ वृक्षमें चिरकालसे फल लगता है और वह कभी ताड़ वृक्ष से टूट कर गिरते समय उसके नीचे मार्ग से जाते हुऐ कौएके मुखमें भाग्योदयसे प्राप्त होजाता है उसे 'काकतालीयन्याय' कहते हैं। उक्त प्रकरणमें जिसप्रकार ताड़ वृक्षके फलकी प्राप्ति कौएको कभी भाग्योदय से होजाती है, परन्तु वह सार्वकालिक और नियत नहीं, उसीप्रकार मूर्ख मंत्रीकी मंत्रणासे राजाको भी कदाचित् भाग्योदय से कार्यसिद्धि होसकती है, परन्तु सदा और निश्चित नहीं होसकती ॥६२॥

गुरु[1] विद्वान्ने भी कहा है कि 'मूर्खकी मंत्रणासे किसीप्रकार जो कार्य-सिद्धि होती है, उसे अन्धे के हाथमें आई हुई बटेर-न्याय एवं काकतालीय-न्यायके समान कदाचित् और अनिश्चित समझनी चाहिये ॥१॥'

मूर्ख मंत्रियोंको मंत्र-ज्ञान जिसप्रकार का होता है—

स घुणाक्षरन्यायो यन्मूर्खेषु मंत्रपरिज्ञानम्* ॥६३॥

---

१ तथा च गुरुः—अंधवर्तकमेवैतत् काकतालीयमेव च। यन्मूर्खमंत्रतः सिद्धिः कथंचिदपि जायते ॥१॥

* मु० मू० प्रतिमें 'कार्यपरिज्ञानं' ऐसा पाठ है, उसका अर्थ-कर्त्तव्य-निश्चय है, विशेष अर्थभेद कुछ नहीं। संपादक—

अर्थ—मूर्ख मनुष्यको मंत्रणाका ज्ञान घुणाक्षरन्यायके समान कदाचित् होजाता है, परन्तु निश्चित नहीं है।

स्पष्टीकरण—घुणाक्षरन्याय—घुण (कीड़ाविशेष) लकड़ीको धीरे २ खाता है, उससे उसमें विचित्र रेखाएं होजाती हैं, उनमेंसे कोई रेखा कदाचित् अक्षराकार (क, ख-आदि अक्षरोंकी आकृतिवाली) होजाती है, उसे 'घुणाक्षरन्याय' कहते हैं। उक्त प्रकरणमें जिसप्रकार घुणसे लकड़ीमें अक्षरका बनना कदाचित् होता है परन्तु निश्चित नहीं, उसीप्रकार मूर्ख पुरुषसे मंत्रणाका ज्ञान भी कदाचित् भाग्योदयसे होसकता है, परन्तु वह निश्चित व सदा नहीं होसकता ॥६३॥'

गुरु[1] विद्वान्ने भी कहा है कि 'मूर्ख मनुष्योंको मंत्र (सलाह) का ज्ञान घुणाक्षरन्यायके समान कदाचित् होता है, परन्तु नियत न होनेसे उसे ज्ञान नहीं कहा जासकता ॥१॥'

शास्त्रज्ञानसे शून्य मनकी कर्त्तव्य-विमुखता—

अनालोकं लोचनमिवाशास्त्रं मनः कियत् पश्येत् ॥६४॥

अर्थ—शास्त्रज्ञानसे शून्य जडात्मक मन ज्योति-रहित नेत्रके समान कितना कर्त्तव्य-बोध कर सकता है? नहीं कर सकता। सारांश यह है कि जिसप्रकार अन्धा पुरुष ज्योति-हीन नेत्रोंके द्वारा घट-पटादि पदार्थोंको नहीं देख सकता, उसीप्रकार जिस मनुष्यका मन शास्त्रज्ञानके संस्कारसे शून्य है, वह भी समुचित कर्त्तव्यका निश्चय नहीं कर सकता ॥६४॥

गर्ग[2] विद्वान् ने भी कहा है कि 'जिसप्रकार ज्योति-हीन चक्षु किसी भी घट-पटादि वस्तुको नहीं देख सकती, उसीप्रकार शास्त्र ज्ञानसे शून्य मन भी मंत्रणाका निश्चय नहीं कर सकता ॥१॥'

सम्पत्ति-प्राप्तिका उपाय—

स्वामिप्रसादः सम्पदं जनयति न पुनराभिजात्यं पांडित्यं वा ॥६५॥

अर्थ—स्वामीकी प्रसन्नता सम्पत्तिको पैदा करती है, कुलीनता व विद्वत्ता नहीं। अर्थात्—आश्रित मनुष्य कितना ही विद्वान् और उच्च कुलका क्यों न हो, परन्तु यदि उससे उसका स्वामी प्रसन्न नहीं है, तो उसे कदाऽपि धन प्राप्त नहीं होसकता ॥६५॥

शुक्र[3] विद्वान् ने कहा है कि 'संसारमें बहुतसे कुलीन और विद्वान् पुरुष दरिद्र दिखाई देते हैं, परन्तु जिनपर राजाकी कृपा है, वे मूर्ख व कुल-हीन होनेपर भी धनाढ्य देखे जाते हैं ॥१॥'

वज्रमूर्खके स्वभावका दृष्टान्त द्वारा समर्थन—

हरकण्ठलग्नोऽपि कालकूटः काल एव ॥६६॥

---

१ तथा च गुरुः—यन्मूर्खेषु परिज्ञानं जायते मंत्रसंभवम्। स हि घुणाक्षरन्यायो न तज्ज्ञानं प्रकीर्तितम् ॥१॥

२ तथा च गर्गः—आलोकरहितं नेत्रं यथा किंचिन्न पश्यति। तथा शास्त्रविहीनं यन्मनो मंत्रं न पश्यति ॥१॥

३ तथा च शुक्रः—कुलीना पण्डिता दुःस्था दृश्यन्ते बहवो जनाः। मूर्खाः कुलविहीनाश्च धनाढ्या राजवल्लभाः ॥१॥

अर्थ—शिवजीके श्वेत कण्ठमें लगा हुआ भी विष विषही है। अर्थात् वह अपने नाशकारक स्वभावको नहीं छोड़ सकता अथवा कृष्णसे श्वेत नहीं होसकता। सारांश यह है कि जिसप्रकार विष शिवजीके अत्यन्त श्वेत कंठके आश्रयसे अपने प्राण-घातक स्वभावको नहीं छोड़ सकता, उसीप्रकार वज्र-मूर्ख मनुष्यभी राज-मंत्री आदि ऊँचे पदोंपर अधिष्ठित होनेपर भी अपने मूर्खता-पूर्ण स्वभावको नहीं छोड़ सकता ॥ ९६ ॥

सुन्दरसेन[1] विद्वान् ने भी कहा है कि 'वस्तुका स्वभाव उपदेशसे बदला नहीं जासकता, क्योंकि जल भी गरम होजानेपर पुनः अपने शीतल स्वभावको प्राप्त होजाता है ॥१॥'

मूर्ख मंत्रियोंको राज्य-भार सौंपनेसे हानि—

स्ववधाय कृत्योत्थापनमिव मूर्खेषु राज्यभारारोपणम् ॥९७॥

अर्थ—जो राजा मूर्ख मंत्रियोंको राज्य-भार समर्पण करता है, वह अपने नाशके लिए कीगई मंत्र-सिद्धिके समान अपना नाशकर डालता है। सारांश यह है कि जिसप्रकार कोई मनुष्य अपने शत्रु-वध करनेके उद्देश्यसे मंत्रविशेष सिद्ध करता है, उसके सिद्ध होजानेपर शत्रु-वध करनेके लिए एक पिशाच प्रगट होता है, परन्तु यदि शत्रु जप, होम और दानादि करनेसे विशेष बलवान् होता है, तब वह पिशाच शत्रुको न मारकर उल्टा मंत्रसिद्धि करनेवालेको मार डालता है, उसीप्रकार राजाभी मूर्ख मंत्रीको राज्य-भार सौंपनेसे अपना नाश कर डालता है ॥९७॥

शुक्र[2] विद्वान् ने कहा है कि 'जो राजा अपना राज्य-भार मूर्ख मंत्रियोंको सौंप देता है, वह अपना नाश करनेके लिये मंत्रविशेष सिद्ध करता है ॥१॥'

कर्त्तव्य-विमुख मनुष्यके शास्त्रज्ञानकी निष्फलता—

अकार्यवेदिनः किं बहुना शास्त्रेण ॥९८॥

अर्थ—जो मनुष्य कर्त्तव्य (हित-प्राप्ति व अहित-परिहार) को नहीं जानता—चतुर नहीं है, उसका बहुत शास्त्रोंका अभ्यास व्यर्थ है ॥९८॥

रैभ्य[3] विद्वान् ने भी कहा है कि 'जो व्यक्ति कर्त्तव्य-परायण नहीं, उसका बढ़ा हुआ बहुत शास्त्रोंका अभ्यास भस्ममें हवन करनेके समान व्यर्थ है ॥१॥'

---

१ तथा च सुन्दरसेनः—[स्वभावो नोपदेशेन] शक्यते कर्तुमन्यथा। सुतप्तान्यपि तोयानि पुनर्गच्छन्ति शीतताम् ॥१॥
नोट—उक्त श्लोकका प्रथम चरण संशोधित एवं परिवर्तित किया गया है; क्योंकि सं० टी० पुस्तकमें अशुद्ध मुद्रित था। सम्पादक—

२ तथा च शुक्रः—मूर्खमंत्रिषु यो भारं [राजोत्थं संप्रयच्छति]। आत्मनाशाय कृत्यां स उत्थापयति भूमिपः ॥१॥
नोट—उक्त पद्यका दूसरा चरण संशोधित किया गया है। सम्पादक—

३ तथा च रैभ्यः—न कार्यं यो निजं वेत्ति शास्त्राभ्यासेन तस्य किं। [बहुनाऽपि वृद्धार्थेन] यथा भस्महुतेन च ॥१॥
नोट—उक्त पद्यका तीसरा चरण संशोधित किया गया है। सम्पादक—

गुणहीन मनुष्यकी कड़ी आलोचना—

गुणहीनं धनुः पिंजनादपि कष्टम् * ॥९९॥

अर्थ—जिसप्रकार डोरी-शून्य धनुषको शत्रु पर प्रहार करनेके लिये चढ़ाना व्यर्थ है, उसीप्रकार जो मनुष्य नैतिकज्ञान, सदाचार और वीरता-प्रभृति गुणोंसे शून्य (मूर्ख) है, उसको केवल स्वांस लेने मात्रसे क्या लाभ है ? कोई लाभ नहीं—उसका जन्म निरर्थक है ॥९९॥

जैमिनि[1] विद्वान् ने भी कहा है कि 'गुण-शून्य राजा डोरी-रहित धनुषके समान निरर्थक है ॥१॥'

राज-मंत्रीके महत्वका कारण—

चक्षुष इव मंत्रिणोऽपि यथार्थदर्शनमेवात्मगौरवहेतुः ॥१००॥

अर्थ—जिसप्रकार नेत्रकी सूक्ष्मदृष्टि उसके महत्व-प्रशंसाका कारण होती है, उसीप्रकार राज-मंत्री की भी यथार्थदृष्टि (सन्धि-विग्रह-आदि कार्य-साधक मंत्रका यथार्थज्ञान) उसको राजा द्वारा गौरव प्राप्त करनेमें कारण होती है ॥१००॥

गुरु[2] विद्वान् ने भी कहा है कि 'जिसप्रकार सूक्ष्मदृष्टि-युक्त नेत्रोंकी लोकमें प्रशंसा होती है, उसी-प्रकार यथार्थ मंत्रणामें चतुर मंत्रीकी भी राजा द्वारा प्रशंसा कीजाती है ॥१॥'

मंत्र—सलाहके अयोग्य व्यक्ति—

शस्त्राधिकारिणो न मंत्राधिकारिणः स्युः ॥१०१॥

अर्थ—शस्त्र-संचालन करनेवाले—केवल वीरता प्रकट करनेवाले—क्षत्रिय लोग मंत्रणा करनेके पात्र नहीं हैं ॥१०१॥

जैमिनि[3] विद्वान् ने कहा है कि 'राजाको मंत्रणा निश्चय करनेके लिये क्षत्रियोंको नियुक्त नहीं करना चाहिए, क्योंकि वे केवल युद्ध करनेकी सलाह देना जानते हैं ॥१॥'

पूर्वोक्त बातका समर्थन—

क्षत्रियस्य परिहरतोऽप्यायात्युपरि भंडनं ॥१०२॥

अर्थ—क्षत्रियको रोकने पर भी केवल कलह करना ही सूझता है, अतः उसे मंत्री नहीं बनाना चाहिये ॥१०२॥

---

* 'गुणरहितं धनुः पिंजनादप्यधिकं ? निकृष्टम् ' ऐसा पाठान्तर मु० मू० प्रतिमें है। यद्यपि अर्थभेद कुछ नहीं है, तथापि इसकी अपेक्षा उक्त सं० टी० पुस्तकका पाठ अच्छा है। सम्पादक—

1 तथा च जैमिनिः—गुणहीनश्च यो राजा स व्यर्थश्चापयष्टिवत् ॥१॥

२ तथा च गुरुः—सूक्ष्मालोकस्य नेत्रस्य यथा शंसा प्रजायते । मंत्रिणोऽपि सुमंत्रस्य तथा सा नृपसंभवा ॥१॥

३ तथा च जैमिनिः—मंत्रस्थाने न कर्त्तव्याः क्षत्रियाः पृथिवीभुजा। यतस्ते केवलं मंत्रं प्रपश्यन्ति रणोद्भवम् ॥१॥

निग्रह-आदि) किसप्रकार होसकती है ? नहीं होसकती । इसलिये राजमंत्री धन-लम्पट नहीं होना चाहिये ॥ १ ॥

पुरुषोंकी प्रकृति—

तावत् सर्वोऽपि शुचिर्निःस्पृहो यावन्न परवरस्त्रीदर्शनमर्थागमो वा *॥ १०६ ॥

अर्थ—तब तक सभी मनुष्य पवित्र और निर्लोभी रहते हैं, जब तक कि उन्होंने दूसरोंकी उत्कृष्ट और कमनीय कान्ताओं (स्त्रियों) व धन-प्राप्तिको नहीं देखा ॥ १०६ ॥

वर्ग[1] विद्वान्ने कहा है कि 'जब तक मनुष्य दूसरेकी स्त्री और धनको नहीं देखता, तभी तक पवित्र और निर्लोभी रह सकता है, परन्तु इनके देखने से उसके दोनों गुण (पवित्रता व निर्लोभीपन) नष्ट होजाते हैं ॥१॥'

निर्दोषीको दूषण लगाने से हानि—

अदुष्टस्य हि दूषणं सुप्तव्यालप्रबोधनमिव ॥११०॥

अर्थ—निर्दोषी पुरुषको दूषण लगाना सोते हुए सर्प या व्याघ्रको जगानेके समान हानिकारक है । अर्थात् जिसप्रकार सोते हुए सर्प या व्याघ्रको जगानेसे जगानेवालेकी मृत्यु होती है, उसीप्रकार निर्दोषीको दूषण लगानेमे मनुष्यकी हानि होती है; क्योंकि ऐसा करनेसे निर्दोषी व्यक्ति वैर-विरोध करके उसकी यथाशक्ति हानि करनेमें प्रयत्नशील रहता है ॥११०॥

गुरु[2] विद्वानने कहा है कि 'जो मूर्ख किसी निर्दोषी शिष्ट पुरुषको दूषण लगाता है, वह अपनी मृत्यु करानेके लिये सोते हुए सर्प या व्याघ्रको जगानेके समान अपनी हानि करता है ॥१॥'

जिसके साथ मित्रता न करनी चाहिये—

येन सह चित्तविनाशोऽभूत्, स सन्निहितो न कर्त्तव्यः ◌॥१११॥

अर्थ—जिसके व्यवहार से मन फट चुका हो, उसके साथ मित्रता न करनी चाहिये ॥१११॥

उक्त बातका दृष्टान्त द्वारा स्पष्टीकरण—

सकृद्विघटितं चेतः स्फटिकवलयमिव कः सन्धातुमीश्वरः॥ ११२॥

अर्थ—वैर-विरोधके कारण एकबार फटे हुए मनको स्फटिकमणिके कङ्कण समान कौन जोड़नेमें समर्थ है ? कोई नहीं ॥११२॥

---

* 'अर्थाधिगमो वा' ऐसा मू० मू० प्रतिमें पाठ है, परन्तु अर्थ-भेद कुछ नहीं । सम्पादक—

१ तथा च वर्गः—तावच्छुचिरलोभः स्यात् यावन्नेक्षेत् परस्त्रियं । वित्तं च दर्शनात्ताभ्यां द्वितीयं तत् प्रणश्यति ॥ १ ॥

२ तथा च गुरुः—सुखसुप्तमहिं मूर्खो व्याघ्रं वा यः प्रबोधयेत् । स साधोर्दूषणं दद्यान्निर्दोषस्यात्ममृत्यवे ॥१॥

◌ उक्त सूत्र सं० टी० पुस्तकमें न होनेपर भी प्राकरणिक होनेके कारण मु० मू० व ह० लि० मू० प्रतियोंमें वर्तमान होने से संकलन किया गया है । सम्पादक—

जैमिनि[1] विद्वान्ने कहा है कि 'जिसप्रकार लोकमें टूटा हुआ पाषाण-कङ्कण पुनः जुड़ नहीं सकता, उसीप्रकार पूर्व वैरके कारण दूषित—प्रतिकूलताको प्राप्त हुआ—शत्रु का चित्त पुनः अनुराग-युक्त नहीं होसकता ॥१॥

जिस कारण से स्नेह नष्ट होता है—

न महताप्युपकारेण चित्तस्य तथानुरागो यथा विरागो भवत्यल्पेनाप्यपकारेण ॥११३॥

अर्थ—महान् उपकारसे भी मनमें उतना अधिक स्नेह उपकारीके प्रति नहीं होता, जितना अधिक मन थोड़ासा अपकार (द्रोह-आदि) करने से फट जाता है ॥११३॥

वादरायण[2] विद्वान्ने भी कहा है कि 'लोकमें थोड़ासा अपकार करनेसे जैसा अधिक वैर-विरोध उत्पन्न होजाता है, वैसा बहुत उपकार करनेसे भी स्नेह नहीं होता ॥१॥'

शत्रुओंके कार्य—

सूचीमुखसर्पवन्नानपकृत्य विरमन्त्यपराद्धाः ॥११४॥

अर्थ—शत्रु लोग दृष्टि-विषवाले सर्पकी तरह अपकार किये विना विश्राम नहीं लेते ॥११४॥

भृगु[3] विद्वानने कहा है कि 'जिसप्रकार दृष्टिविष-युक्त सर्प देखने मात्रसे अपकार (जहर पैदा करके मारना) पैदा करता है, उसीप्रकार सभी शत्रु लोग भी अपकारसे रहित नहीं होते, अर्थात् ये भी महान् अपकार करते हैं ॥१॥'

काम-वेग से हानि—

अतिवृद्धः कामस्तन्नास्ति यन्न करोति ॥११५॥

अर्थ—कामी पुरुष अत्यन्त बढ़ी हुई कामवासनाके कारण संसारमें ऐसा कोई अकार्य नहीं, जिसे नहीं करता। अर्थात् सभी प्रकारके निंदनीय व घृणित कार्य करता है ॥ ११५ ॥

उक्त बातका पौराणिक दृष्टान्तमाला द्वारा समर्थन—

श्रूयते हि किल कामपरवशः प्रजापतिरात्मदुहितरि, हरिर्गोपवधूषु, हरः शान्तनु-कलत्रेषु, सुरपतिर्गौतमभार्यायां, चन्द्रश्च बृहस्पतिपत्न्यां मनश्चकारेति ॥११६॥

अर्थ—पुराणोंमें प्रसिद्ध है कि ब्रह्माजी कामके वशीभूत होकर अपनी सरस्वती नामकी पुत्रीमें, कृष्ण

---

१ तथा च जैमिनिः—पाषाणघटितस्यात्र सन्धिर्भग्नस्य नो यथा। कंकणस्येव चित्तस्य तथा वैरं दूषितस्य च ॥१॥

२ तथा च वादरायणः— न तथा जायते स्नेहः प्रभूतैः सुकृतैर्बहुः। स्वल्पेनाप्यपकारेण यथा वैरं प्रजायते ॥१॥

३ तथा च भृगुः—यो दृष्टिविषः सर्पो दृष्टस्तु विकृतिं भजेत्। तथापराधिनः सर्वे न स्युर्विकृतिवर्जिताः ॥१॥

ग्वालोंकी स्त्रियोंमें, शिवजी गंगा नामकी शान्तनुकी स्त्रीमें, इन्द्र गौतमकी स्त्री अहल्यामें और चन्द्र तारानामकी बृहस्पतिकी स्त्रीमें आसक्त हुए ❀ ॥११६॥

मनुष्योंकी धन-वाञ्छाका दृष्टान्त द्वारा समर्थन—

अर्थेषूपभोगरहितास्तर वोऽपि साभिलाषाः किं पुनर्मनुष्याः ॥११७॥

अर्थ—जब कि वृक्ष अपने धन—पुष्प-फलादि-का उपभोग नहीं करते, तथापि वे भी धनके इच्छुक होते हैं। अर्थात् स्वयं पुष्प व फलशाली होनेकी इच्छा रखते हैं, पुनः धनका उपभोग करनेवाले मनुष्योंका तो कहना ही क्या है? वे तो अवश्य धनके इच्छुक होते हैं, क्योंकि उन्हें उसका उपभोग (शरीर-यात्रादि) करना पड़ता है ॥११७॥

जैमिनि[1] विद्वान्ने कहा है कि 'जो वृक्ष अपने मनसे स्वयं उपभोग-रहित हैं, वे भी धनके इच्छुक देखे जाते हैं— वे भी पुष्प-फलादिकी वाञ्छा करते हैं, पुनः मनुष्योंका तो कहनाही क्या है ॥१॥'

लोभका स्वरूप—

कस्य न धनलाभाल्लोभः प्रवर्तते ॥११८॥

अर्थ—संसारमें धन मिलने से किसे उसका लोभ नहीं होता? सभीको होता है ॥११८॥

वर्ग[2] विद्वान्ने कहा है कि 'जब तक मनुष्योंको धनादि प्राप्त नहीं होते, तब तक उन्हें लोभ भी नहीं होता। अन्यथा-(यदि यह बात नहीं है, तो) वनमें रहनेवाला मुनि भी दान-ग्रहण न करे ॥ १ ॥'

जितेन्द्रियकी प्रशंसा—

स खलु प्रत्यक्षं दैवं यस्य परस्वेष्विव परस्त्रीषु निःस्पृहं चेतः ॥ ११९ ॥

अर्थ—जिस मनुष्यकी चित्तवृत्ति अन्य-धनके समान पर-स्त्रियोंके देखने पर भी लालसा-रहित है, वह प्रत्यक्ष देवता है मनुष्य नहीं, क्योंकि उसने असाधारण धर्म (परस्त्री परधनका त्यागरूप) का अनुष्ठान किया ॥ ११९ ॥

वर्ग[3] विद्वान्ने कहा है कि 'जिस महापुरुषका मन पर-कलत्र व पर-धन देख लेनेपर भी विकार-युक्त नहीं होता, वह देवता है मनुष्य नहीं ॥ १ ॥'

संतोषी पुरुषोंका कार्यारम्भ—

समायव्ययः कार्यारम्भो राभसिकानाम् ॥ १२० ॥

❀ उक्त कथानक अर्जुन पुराण ग्रन्थों से जाननी चाहिये।

१ तथा च जैमिनिः—अर्थं तेऽपि च वाञ्छन्ति ये वृक्षा आत्मचेतसा। उपभोगैः परित्यक्ताः किं पुनर्मनुष्याश्च ये ॥१॥

२ तथा च वर्गः—तावन्न जायते लोभो यावल्लाभो न विद्यते। मुनिर्यदि वनस्थोऽपि दानं गृह्णाति नान्यथा ॥१॥

३ तथा च वर्गः—परद्रव्ये-कलत्रे च यस्य दृष्टे महात्मनः। न मनो विकृतिं याति स देवो न च मानवः ॥ १ ॥

अर्थ—संतोषी पुरुष जो कार्य आरम्भ करते हैं, उसमें उन्हें आमदनी व खर्च बराबर होता है तथापि सन्तुष्ट रहते हैं ॐ ॥ १२० ॥

हारीत[1] विद्वान्‌ने कहा है कि 'संतोषी पुरुष जिस कार्यमें आमदनी व खर्च बराबर है और यदि वह हाथसे निकल रहा है, तो भी वे उसे संतोष पूर्वक करते रहते हैं, फिरभी नहीं छोड़ते ॥ १ ॥'

महामूर्खोंका कार्य—

बहुक्लेशेनाल्पफलः कार्यारम्भो महामूर्खाणाम् ॥ १२१ ॥

अर्थः—महामूर्ख मनुष्य जो कार्य आरम्भ करते हैं, उसमें उन्हें बहुत कष्ट उठाने पड़ते हैं और फल बहुत थोड़ा मिलता है ॥ १२१ ॥

वर्ग[2] विद्वान्‌ने कहा है कि 'लोकमें महामूर्ख पुरुष अधिक क्लेश-युक्त और अल्पफलवाले कार्य करते हैं और उनसे वे विरक्त नहीं होते ॥ १ ॥'

अधम पुरुषोंका कार्यारम्भ—

दोषभयान्न कार्यारम्भः कापुरुषाणाम् A ॥ १२२

अर्थः—कुत्सित-निंद्य पुरुष दोषोंके भयसे (इस कार्यके करनेमें यह दोष है और अमुक कार्यमें यह दोष है इत्यादि दोषोंके डरसे) किसीभी कार्यको शुरू नहीं करते। सारांश यह है कि अधम पुरुष आलसी, उद्यम-हीन व डरपोक होते हैं; इसलिये वे दोषोंके डरसे कार्यारम्भ नहीं करते ॥ १२२ ॥

वर्ग[3] विद्वान्‌ने भी कहा 'कि कुत्सित पुरुष भयभीत होकर कर्त्तव्यमें दोषोंका स्वयं चिंतवन करते हुए अच्छे कार्य भी नहीं करते ॥ १ ॥'

भय-शङ्काका त्यागपूर्वक कर्त्तव्य-प्रवृत्ति—

मृगाः सन्तीति किं कृषिर्न क्रियते B ॥ १२३ ॥

ॐ उक्त सूत्रका यह अर्थ भी होसकता है कि जो लोग क्रोधादि कषायोंके आवेगमें आकर विना विचारे कार्य करते हैं, उनके व्यापारादि कार्योंमें आमदनी और खर्च बराबर होता है। सम्पादकः—

१ तथा च हारीतः—आयव्ययौ समौ स्यातां यदि कार्यो विनश्यति। ततस्तोषेण कुर्वन्ति भूयोऽपि न त्यजन्ति तम् ॥१॥

२ तथा च वर्गः—बहुक्लेशानि कृत्यानि स्वल्पभावानि चक्रतुः ?। महामूर्खतमा येऽत्र न निर्वेदं व्रजन्ति च ॥ १ ॥

A 'दोषभयात् कार्यानारम्भः कापुरुषाणाम्' इस प्रकार मु० व ह० लि० मू० प्रतियोंमें पाठ है, परन्तु अर्थ-भेद कुछ नहीं।

३ तथा च वर्गः—कार्यदोषान् विचिन्वन्तो नराः का पुरुषाः स्वयं ' भाव्यान्यपि त्रस्ता [न कृत्यानि प्रकुर्वन्ति] ॥ १ ॥

नोटः—उक्त पद्यका जब आमूल चूल (पूर्ण) परिवर्तन किया जाता, तब कहीं छन्दशास्त्रानुकूल होसकता था, परन्तु हमने सं० टीकाकारके उद्धरणको ज्यों का त्यों सुरक्षित रखनेके अभिप्रायसे केवल क्रियापद (प्रचक्रतुः) का जो कि बिलकुल अशुद्ध था, परिवर्तन किया है और बाकीका ज्यों का त्यों संकलन किया है। सम्पादक—

B 'मृगाः सन्तीति किं कृषिर्न कृष्यते' इसप्रकार मु० व ह० लि०मू० प्रतियोंमें पाठ है, परन्तु अर्थ-भेद कुछ नहीं।

अजीर्णभयात् किं भोजनं परित्यज्यते A ॥ १२४ ॥

अर्थ—हिरणोंके डरसे क्या खेती नहीं कीजाती ? अवश्य कीजाती है । अजीर्णके डरसे क्या भोजन करना छोड़ दिया जाता है ? नहीं छोड़ा जाता । सारांश यह है कि जिसप्रकार हिरणोंके डरसे खेती करना नहीं छोड़ा जाता और अजीर्णके भयसे भोजन करना नहीं छोड़ा जाता, उसीप्रकार विघ्नोंके डरसे सज्जन लोग कर्त्तव्य-पथको नहीं छोड़ते ॥ १२३-१२४ ॥

कार्यारम्भमें विघ्नोंकी विद्यमानता—

स खलु कोऽपीहाभूदस्ति भविष्यति वा यस्य कार्यारम्भेषु प्रत्यवाया न भवन्ति B ॥ १२५ ॥

अर्थ—जिसको कार्यारम्भमें विघ्न नहीं होते, क्या लोकमें ऐसा कोई पुरुष हुआ है ? होगा ? या है ? न हुआ, न होगा, न है ॥ १२५॥

भागुरि[१] विद्वानने कहा है कि 'उद्योगीको लक्ष्मी मिलती है। कुत्सित पुरुष—आलसी लोग—भाग्य-भरोसे रहते हैं, इसलिये भाग्यको छोड़कर आत्म-शक्ति से उद्योग करो, तथापि यदि कार्य-सिद्धि नहीं होती, इसमें कर्त्तव्यशील पुरुषका कोई दोष नहीं किन्तु भाग्यका ही दोष है ॥ १ ॥'

दुष्ट अभिप्राय-युक्त पुरुषोंके कार्य—

आत्मसंशयेन कार्यारम्भो व्यालहृदयानाम् * ॥ १२६ ॥

अर्थ—सांप व श्वापद (हिंसक जन्तुओं) के समान दुष्ट हृदय-युक्त पुरुष ऐसे निन्द्य कार्य (चोरी-वगैरह) प्रारम्भ करते हैं, जिनसे उन्हें अपने नाशकी संभावना रहती है ॥१२६॥

शुक्र[२] विद्वान्ने भी कहा है कि 'सर्प या श्वापद तुल्य दुष्ट हृदय-युक्त राजाओंके सभी कार्य उनके घातक होते हैं ॥१॥'

महापुरुषोंके गुण व मृदुता लाभका क्रमशः विवेचन—

दुर्भीरुत्वमासन्नशूरत्वं रिपौ प्रति महापुरुषाणां ॥१२७॥

A 'अजीर्णभयान्न खलु भोजनं परित्यज्यते' ऐसा मु० व ह० लि० मू० प्रतियोंमें पाठ है, परन्तु अर्थ-भेद कुछ नहीं।

B 'स खलु किं कोऽपीहाभूदस्ति भविष्यति वा यस्याप्रत्यवायः कार्यारम्भः' इसप्रकार मु० व ह० लि० मू० प्रतियोंमें पाठान्तर वर्तमान है, परन्तु अर्थ-भेद कुछ नहीं।

१ तथा च भागुरिः—यस्योद्यमो भवति तं समुपैति लक्ष्मी, दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति। दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या, यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः ॥१॥

* 'आत्मसंशयेन कार्यारम्भो बालहृदयानाम्' ऐसा मु० व ह० लि० मू० प्रतियोंमें पाठान्तर है, जिसका अर्थ यह है कि जो मनुष्य परिपक्वबुद्धि—विचारशील नहीं हैं उन्हें कार्य-प्रारम्भमें अपनी शङ्का [यह कार्य मुझसे होगा ? या नहीं ? इस प्रकारकी आशङ्का] हुआ करती है।

२ तथा च शुक्रः—ये व्यालहृदया भूपास्तेषां कर्माणि यानि च। आत्मसन्देहकारीणि तानि स्युर्निखिलानि च ॥१॥

जलवन्मार्दवोपेतः A पृथूनपि भूभृतो भिनत्ति ॥१२८॥

अर्थ—महापुरुष दूरवर्ती शत्रु से भयभीत होते हैं—उससे युद्ध नहीं करते, परन्तु शत्रु के निकट आजाने पर अपनी वीरता दिखाते हैं ॥१२७॥

नीतिशास्त्र[1] में कहा है कि 'बुद्धिमान् पुरुष सामपूर्वक उपायोंसे युद्ध करना छोड़े और कभी भाग्य से युद्ध करना पड़े तो अधिक सैनिक शक्ति-युक्त होकर होनशक्तिके साथ युद्ध करे ॥१॥

जब तक शत्रु सामने नहीं आया, तभी तक उससे डरे और सामने आने पर निडर होकर उस पर प्रहार करे ॥२॥'

जिसप्रकार कोमल जल-प्रवाह विशाल पर्वतोंको उखाड़ देता है, उसीप्रकार कोमल राजा भी महाशक्ति-शाली शत्रु-राजाओंको नष्ट कर डालता है ॥ १२८ ॥

गुरु[2] विद्वान्ने भी कहा है कि 'मृदुता (नम्रता) गुण से महान् कार्य भी सिद्ध होते हैं, क्योंकि जल-प्रवाहके द्वारा कठोर पर्वत भी विदारण कर दिये जाते हैं ॥ १॥'

प्रिय वचनों से लाभ, गुप्त रहस्य-प्रकाशकी अवधि व महापुरुषोंके वचन क्रमशः—

प्रियंवदः शिखीव सदर्पानपि द्विषत्सर्पानुत्सादयति B ॥१२९॥

नाविज्ञाय परेषामर्थमनर्थं वा स्वहृदयं प्रकाशयन्ति महानुभावाः ॥१३०॥

क्षीरवृक्षवत् फलसम्पादनमेव महतामालापः C ॥१३१॥

अर्थ—प्रियवादी पुरुष मोरके समान अभिमानी शत्रुरूपी सर्पोंको नष्ट कर देता है ॥१२९॥

शुक्र[1] विद्वान्ने भी कहा है कि 'जिसप्रकार मयूर मधुर स्वरसे दर्प-युक्त सर्पोंको नष्ट कर देता है, उसीप्रकार मीठे वचन बोलनेवाला राजा भी अहंकारी शत्रुओंको निस्सन्देह नष्ट कर डालता है ॥१॥

उत्तम पुरुष दूसरोंके हृदयकी अच्छी या बुरी बात जानकरके ही अपने मनकी बात प्रगट करते हैं ॥ १३० ॥

A 'जलकेलिवन्मार्दवोपेतः इत्यादि मु० मू० प्रतिमें पाठान्तर है, परन्तु अर्थ-भेद कुछ नहीं ।

१ उक्तं च यतो नीतौ—युद्धं परित्यजेद्धीमानुपायैः सामपूर्वकैः । कदाचिज्जायते दैवाद्धीनेनापि बलाधिकः ॥१॥
तावत् परस्य भेतव्यं यावन्नो दर्शनं भवेत् । दर्शने तु पुनर्जाते प्रहर्तव्यमशंकितैः ॥२॥

२ तथा च गुरुः—मार्दवेनापि सिद्ध्यन्ति कार्याणि सुगुरूण्यपि । यतो जलेन भिद्यन्ते पर्वता अपि निष्ठुराः ॥१॥

B उक्त पाठ दिल्ली व पूना लायब्रेरीकी ह० लि० मू० प्रतियोंसे संकलन किया गया है । 'प्रियंवदः शिखीव द्विषत्सर्पानुच्छादयति' ऐसा सं० टी० पु० में पाठ है, इसका अर्थ भी पूर्वोक्त समझना चाहिये । संपादक—

C 'क्षीरवृक्षवत् फलप्रदो महतामालापः' ऐसा उक्त मू० प्रतियोंमें सुन्दर पाठ है । सम्पादक—

१ तथा च शुक्रः—यो राजा मृदुवाक्यः स्यात्सदर्पानपि विद्विषः । स निहन्ति न सन्देहो मयूरो भुजगानिव ॥१॥

सर्वान् गुणान् निहन्त्यनुचितज्ञः ॥ १३६ ॥

परस्परं मर्मकथनयात्मविक्रम एव A॥ १४० ॥

अर्थ—अत्यन्त क्रोध करनेवाले मनुष्यका ऐश्वर्य अग्निमें पड़े हुए नमकके समान सैंकड़ों प्रकारसे नष्ट होजाता है ॥ १३८ ॥

ऋषिपुत्रक[1] विद्वान्ने भी कहा है कि 'जिसप्रकार अग्निमें पड़ा हुआ नमक नष्ट होजाता है, उसी प्रकार अत्यन्त क्रोधी राजाका ऐश्वर्य नष्ट होजाता है ॥ १ ॥'

योग्य-अयोग्यके विचारसे शून्य पुरुष अपने समस्त ज्ञानादि गुणोंको नष्ट कर देता है ॥१३६॥

नारद[2] विद्वान ने भी कहा है 'जिसप्रकार नपुंसक पुरुषको युवती स्त्रियाँ निरर्थक हैं, उसीप्रकार समस्त गुणोंसे विभूषित पुरुष भी यदि समयानुकूल कर्त्तव्यको नहीं जानता, तो उसके समस्त गुण निरर्थक होजाते हैं ॥ १ ॥'

जो पुरुष परस्परकी गुप्त बात कहते हैं, वे अपना २ पराक्रम ही दिखाते हैं। सारांश यह है कि जिसकी गुप्त बात प्रकट कीजाती है, वह भी ऐसा ही करनेको तत्पर होजाता है; अत एव वे दोनों दूसरोंके समक्ष अपना पराक्रम दिखाकर अपनी हानि करते हैं ॥ १४० ॥

जैमिनि[3] विद्वान्ने भी कहा है कि 'जो मनुष्य लड़ाई-झगड़ा करके दूसरेका गुप्त रहस्य प्रकट करदेता है, तो दूसरा भी इसके गुप्त रहस्यको प्रकट किये विना नहीं रहता; अत एव नैतिक पुरुषको किसीका गुप्त मंत्र नहीं फोड़ना चाहिये ॥ १ ॥'

शत्रुओंपर विश्वास करनेसे हानि—

तदजाकृपाणीयं यः परेषु विश्वासः ॥ १४१ ॥

---

१ तथा च ऋषिकपुत्रकः—अतिक्रोधो महीपालः प्रभुत्वस्य विनाशकः। लवणस्य यथा वह्निर्मध्ये निपतितस्य च ॥१॥

२ तथाच नारदः—गुणैः सर्वैः समेतोऽपि वेत्ति कालोचितं न च। वृथा तस्य गुणा सर्वे यथा षण्ढस्य योषितः ॥१॥

A परस्य मर्मकथनमात्मविक्रयः' इसप्रकार मु० मू० प्रतिमें और 'परस्परमर्मकथनमात्मविक्रयः' इसप्रकार पूना गवर्नं० लायब्रेरीकी ह० लि० मू० प्रतियोंमें पाठान्तर है, इसका अर्थ यह है कि जो मनुष्य अपनी गुप्त बात दूसरेसे कह देता है, वह उसके लिये अपने आपको बेंच देता है। क्योंकि गुप्त बात कहनेवालेको उससे हमेशा यह डर बना रहता है कि यदि यह मुझसे विरुद्ध होजायगा, तो मेरे मन्त्र—गुप्त रहस्य—को फोड़कर मुझे मरवा डालेगा अथवा मुझे अधिक हानि पहुँचायगा; अत एव उसे सदा उसकी आज्ञानुकूल चलना पड़ता है; इसलिये दूसरेको अपना गुप्त रहस्य प्रकट करना उसे अपनेको बेंच देनेके समान है। निष्कर्षः—अतः नैतिक व्यक्ति अपने गुप्त रहस्यको सदा गुप्त रक्खे।

३ तथा च जैमिनिः—परस्य मर्म भेदं च कुरुते कलहाश्रयः। तस्य सोऽपि करोत्येव तस्मान्मंत्रं न भेदयेत् ॥ १ ॥

अर्थ—शत्रुओंपर विश्वास करना 'अजाकृपाणीय⊛' न्यायके समान घातक है ॥ १४१ ॥

नीतिकार चाणक्य[1] ने भी कहा है कि 'नैतिक पुरुषको अविश्वासी—धोखेवाज पर विश्वास नहीं करना चाहिए और विश्वासीपर भी विश्वास नहीं करना चाहिए, क्योंकि विश्वास करनेसे उत्पन्न हुआ भय मनुष्यको जड़मूलसे नष्ट कर देता है ॥१॥'

चंचलचित्त और स्वतन्त्र पुरुषकी हानि क्रमशः—

क्षणिकचित्तः किंचिदपि न साधयति A॥१४२॥

स्वतंत्रः सहसाकारित्वात् सर्वं विनाशयति ॥१४३॥

अर्थ—जिसका चित्त चंचल है वह किसी भी कार्यको सिद्ध नहीं कर सकता ॥१४२॥

हारीत[2] विद्वान् ने भी कहा है कि 'चंचल बुद्धिवाले मनुष्यका कोई भी सूक्ष्म कार्य थोड़ासा भी सिद्ध नहीं होता, इसलिये यश चाहनेवालोंको अपना चित्त स्थिर करना चाहिए ॥१॥'

जो राजा स्वतन्त्र होता है—राजकीय कार्योंमें मंत्री आदिकी योग्य सलाह नहीं मानता—वह विना सोचे-समझे अनेक कार्योंको एकही कालमें आरम्भ करनेके कारण अपने समस्त राज्यको नष्ट कर डालता है ॥१४३॥

नारद[3] विद्वान् ने भी कहा है कि 'जो राजा स्वतन्त्र होता है, वह मंत्रियोंसे कुछ नहीं पूँछता और स्वयं राजकीय कार्य करता रहता है, इसलिये वह निश्चयसे अपने राज्यको नष्ट कर देता है ॥१॥'

⊛ 'अजाकृपाणीयका स्पष्टीकरण—

किसी समय किसी भूखे व हिंसक बटोहीने वनमें विचरता हुआ वकरोंका झुण्ड देखा। वह स्वार्थ-वश उस झुंडके एक हृष्ट-पुष्ट वकरेको वहुतसे कोमल और हरे पत्ते खिलाने लगा; इससे वकरा उसके पीछे २ चलने लगा। कुछ दूरीपर वह उसके वध करनेकी इच्छासे किसी हथियारको ढूँढ़ने तत्पर हुआ। पश्चात् उसे दैव-योगसे एक खड्ग जिसे उसने पूर्वमें ही गाड़ रक्खा था, मिला। पश्चात् उसने खड्गसे उस वकरेको क़त्ल कर भक्षण कर लिया, इसे 'अजाकृपाणीय' कहते हैं। सारांश यह है कि जिसप्रकार वकरा अपने शत्रु (वटोही) पर विश्वास करनेसे मार डाला गया, उसी प्रकार जो मनुष्य शत्रुपर विश्वास करता है, वह उसके द्वारा मार दिया जाता है; अतएव नैतिक मनुष्यको शत्रुओंपर कदाऽपि विश्वास नहीं करना चाहिये।

१ तथा च चाणिक्यः—न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्तेऽपि न विश्वसेत्। विश्वासाद्भयमुत्पन्नं मूलादपि निकृन्तति ॥१॥

A 'क्षणिकः किञ्चित्किमपि न साधयति' ऐसा मु० व ह० लि० मू० प्रतियोंमें पाठ है, परन्तु अर्थ-भेद कुछ नहीं।

२ तथा हारीतः—चलचित्तस्य नो किंचित् कार्यं किंचित् प्रसिद्ध्यति। सुसूक्ष्ममपि तत्तस्मात् स्थिरं कार्यं यशोऽर्थिभिः॥१॥

३ तथा च नारदः—यः स्वतंत्रो भवेद्राजा सचिवान्न च पृच्छति। स्वयं कृत्यानि कुर्वाणः स राज्यं नाशयेद् ध्रुवम् ॥१॥

आलस्य-असावधानी से हानि तथा मनुष्य-कर्त्तव्य क्रमशः—

अलसः सर्वकर्मणामनधिकारी ॥१४४॥

प्रमादवान् भवत्यवश्यं विद्विषां वशः ॥१४५॥

कमप्यात्मनोऽनुकूलं प्रतिकूलं न कुर्यात् ॥१४६॥

प्राणादपि प्रत्यवायो रक्षितव्यः [A] ॥१४७॥

अर्थ—आलसी पुरुष समस्त राजकीय-आदि कार्योंके अयोग्य होता है ॥१४४॥

राजपुत्र[1] विद्वान् ने कहा है कि 'जो राजा छोटे २ कार्योंमें भी आलसी अधिकारियों—मंत्री-आदि—को नियुक्त करता है उसके समस्त कार्य सिद्ध नहीं होते ॥१॥'

जो मनुष्य कर्त्तव्य-पालनमें सावधान वा उत्साही नहीं है, वह शत्रुओंके वश होजाता है ॥१४५॥

जैमिनि[2] विद्वान् ने भी कहा है कि 'जो राजा छोटे २ कार्योंमें भी शिथिलता करता है, वह महान् ऐश्वर्य-युक्त होकरके भी शत्रुओंके अधीन होजाता है ॥१॥'

नैतिक मनुष्यका कर्त्तव्य है कि किसी भी अनुकूल-मित्रको शत्रु न बनावे ॥१४६॥

राजपुत्र[3] विद्वान् ने भी कहा है कि 'जो राजा मित्रको शत्रु बनाता है, उसे इस मूर्खताके कारण अनेक कष्ट व अपकीर्ति उठानी पड़ती है ॥१॥'

मनुष्यको प्राणोंसे भी अधिक अपने गुप्त रहस्यकी रक्षा करनी चाहिए ॥१४७॥

भागुरि[4] विद्वानने कहा है कि 'राजाको अपने जीवनसे भी अधिक अपने गुप्त रहस्य सुरक्षित रखने चाहिये, क्योंकि शत्रुओंको मालूम होजानेपर वे लोग प्रविष्ट होकर उसे मार डालते हैं ॥१॥'

A 'प्राणादपि प्रत्यवायो न रक्षितव्यः' इसप्रकार मु० मू० व ह० लि० मू० प्रतियोंमें पाठान्तर है, जिसका अर्थ यह है कि अपनेमें दोष होनेपर भी क्या प्राण-रक्षाका कार्य नहीं करना चाहिये ? अवश्य करना चाहिये । सारांश यह है कि इसमें प्राणरक्षा और सं० टी० पुस्तकके पाठमें अपने गुप्तरहस्यकी रक्षा मुख्य है । सम्पादक—

१ तथा च राजपुत्रः—आलस्योपहतान् योऽत्र विदधात्यधिकारिणः । सूक्ष्मेष्वपि च कृत्येषु न सिद्ध्येत्तानि तस्य हि ॥१॥

२ तथा च जैमिनिः—सुसूक्ष्मेष्वपि कृत्येषु शैथिल्यं कुरुतेऽत्र यः । स राजा रिपुवश्यः स्यात् [प्रभूतविभवोऽपि सन्]॥१॥
चतुर्थ चरण संशोधित व परिवर्तित । सम्पादक—

३ तथा च राजपुत्रः—मित्रत्वे वर्त्तमानं यः शत्रुरूपं क्रियान्नृपः । स मूर्खो भण्यते राजा अपवादं च गच्छति ॥१॥

४ तथा च भागुरिः—आत्मच्छिद्रं प्ररक्षेत जीवादपि महीपतिः । यतस्तेन प्रलब्धेन प्रविश्य घ्नन्ति शत्रवः ॥१॥

अपनी शक्ति न जानकर वलिष्ठ शत्रुके साथ युद्ध करनेसे हानि व आपद्ग्रस्त राजाका धर्म क्रमशः—

आत्मशक्तिमजानतो विग्रहः क्षयकाले कीटिकानां पक्षोत्थानमिव ॥ १४८ ॥

कालमलभमानोऽपकर्तरि साधु वर्तेत ॥ १४९ ॥

अर्थ—जो राजा अपनी सैनिक व कोश-शक्तिको न जानकर वलवान् शत्रुके साथ युद्ध करता है, वह विनाशकालमें पतङ्गोंके पङ्ख उठानेकी तरह अपना नाश कर डालता है। सारांश यह है कि जब पतङ्गोंका विनाशकाल आता है—जब वे दीपककी लौमें जल-भुनकर मरने लगते हैं—उससमय अपने पङ्ख उठाते हैं, उसीप्रकार राजाका जव विनाशकाल आता है, उस समय उसकी बुद्धि वलवान् शत्रुके साथ युद्ध करने तत्पर होती है ॥ १४८ ॥

गुरु[1] विद्वान्ने कहा है कि 'जिसप्रकार मदोन्मत्त हाथी अचल (दृढ़) और बहुत ऊंचे पहाड़को जव भेदन करता है, तव उसके दाँत (खीसें) टूट जाते हैं और वापिस लौट जाता है, उसीप्रकार जो राजा सैनिक-कोश-शक्तिसे स्थिर, वृद्धिंगत तथा वलवान् शत्रुके साथ युद्ध करता है, उसे भी अपनी शक्ति नष्ट करके वापिस लौटना पड़ता है ॥ १ ॥'

विजिगीषुको जव तक अनुकूल समय प्राप्त न हो, तब तक उसे शत्रुके साथ शिष्टताका व्यवहार करना चाहिये—उससे मैत्री कर लेनी चाहिये। सारांश यह है कि विजिगीषुको हीनशक्तिके साथ युद्ध और विशिष्ट शक्ति-युक्तके साथ सन्धि करनी चाहिये॥ १४९ ॥

भागुरि[2] विद्वान्ने कहा है कि 'विजिगीषुको वलिष्ठ शत्रु देखकर उसकी आज्ञानुसार चलना चाहिये, परन्तु स्वयं शक्ति-संचित होजाने पर जिसप्रकार पत्थरसे घड़ा फोड़ दिया जाता है, उसीप्रकार शत्रुको नष्ट कर देना चाहिये ॥ १ ॥'

उक्त वातका दृष्टान्त-माला द्वारा समर्थन व अभिमानसे हानि क्रमशः—

किन्नु खलु लोको न वहति मूर्ध्ना दग्धुमिन्धनं ॥ १५० ॥

नदीरयस्तरूणामंह्रीन् क्षालयन्नप्युन्मूलयति ॥ १५१ ॥

उत्सेको हस्तगतमपि कार्यं विनाशयति ॥ १५२ ॥

अर्थ—मनुष्य ईंधनको आगमें जलानेके उद्देश्यसे क्या शिर पर धारण नहीं करते? अवश्य करते हैं। सारांश यह है कि जलाने-योग्य ईंधनको शिर-वहनके समान पूर्वमें शत्रुसे शिष्ट व्यवहार करना चाहिये, पश्चात् अवसर पाकर शक्ति-संचय होनेपर उससे युद्ध करना चाहिये ॥ १५० ॥

---

१ तथा च गुरुः—अचलं प्रोन्नतं योऽत्र रिपुं याति यथाचलम्। शीर्णदन्तो निवर्तेत स यथा मत्तवारणः॥ १॥

२ तथा च भागुरिः—वलवन्तं रिपुं दृष्ट्वा तस्य छन्दोऽनुवर्तयेत्। वलाप्त्या स पुनस्तं च भिन्द्यात् कुंभमिवाश्मना ॥१॥

शुक्र[1] विद्वानने भी कहा है कि 'जिसप्रकार मनुष्य लकड़ियोंको जलानेके उद्देश्यसे पहले उन्हें अपने मस्तकपर वहन करता है, उसीप्रकार विजिगीषुको पूर्वमें शत्रुको सन्मानित करके पश्चात् शक्ति-संचय करके उसका वध करना चाहिये ॥ १ ॥'

नदीका वेग (प्रवाह) अपने तटके वृक्षोंके चरण—जड़ें-प्रक्षालन करता हुआ भी उन्हें जड़से उखाड़ देता है। सारांश यह है कि उसीप्रकार विजिगीषुका कर्त्तव्य है कि वह शत्रुके साथ पूर्वमें शिष्ट व्यवहार करके पश्चात् उसके उन्मूलनमें प्रवृत्ति करे ॥१५१॥'

शुक्र[2] विद्वान्ने भी कहा है कि 'जिसप्रकार नदीका वेग—प्रवाह—तटवर्ती वृक्षोंके पाद—जड़ें धोता हुआ भी उनका उन्मूलन करता है, उसीप्रकार बुद्धिमानोंको पहले शत्रुओंको सन्मानित करके पश्चात् वध करना चाहिये ॥ १ ॥'

अभिमानी पुरुष अपने हाथमें आये हुए कार्य—सन्धि-आदि द्वारा होनेवाले अर्थ-लाभादि प्रयोजन—को नष्ट कर डालता है ॥ १५२ ॥

शुक्र[3] विद्वान्ने भी कहा है कि 'विजिगीषुको शत्रुसे प्रिय वचन बोलना चाहिये और बिलावकी तरह चेष्टा करनी चाहिये परन्तु जब शत्रु इसके ऊपर विश्वास करने लगे, तब जिसप्रकार बिलाव मौका पाकर चूहेका हनन कर देता है, उसीप्रकार इसे भी उसका हनन कर देना चाहिये ॥ १ ॥'

शत्रु-विनाशके उपायको जाननेवालेका लाभ, उसका दृष्टान्त द्वारा समर्थन व नैतिककर्त्तव्य—

नाल्पं महद्वापक्षेपोपायज्ञस्य A ॥ १५३ ॥
नदीपूरः सममेवोन्मूलयति [तीरजतृणांह्रिपान्] ॥ १५४ ॥
युक्तमुक्तं वचो बालादपि गृह्णीयात् ॥ १५५ ॥

अर्थ—शत्रु-विनाशके उपाय—सन्धि-विग्रहादि—जाननेवाले विजिगीषुके सामने न हीनशक्ति शत्रु ठहर सकता है और न महाशक्ति-शाली ॥१५३॥

शुक्र[4] विद्वान्ने भी कहा है कि 'जो राजा शत्रु-वधके उपाय भलीभाँति जानता है, उसके सामने

---

१ तथा च शुक्रः—दग्धुं वहति काष्ठानि तथापि शिरसा नरः। एवं मान्योऽपि वैरी यः पश्चाद्वध्यः स्वशक्तितः ॥१॥

२ तथा च शुक्रः—क्षालयन्नपि वृक्षांह्रीन्नदीवेगः प्रणाशयेत्। पूजयित्वापि यद्वच्च शत्रुर्वध्यो विचक्षणैः ॥ १ ॥

३ तथा च शुक्रः— वचनं कृपणं ब्रूयात् कुर्यान्मार्जारचेष्टितम्। विश्वस्तमाखुवच्छत्रुं ततस्तं तु निपातयेत् ॥ १ ॥

A 'नाल्पं महद्वाप्यकोपोपायज्ञस्य' इसप्रकार मु० व ह० लि० मू० प्रतियोंमें पाठान्तर है, जिसका अर्थ यह है कि जो व्यक्ति क्रोध-शान्तिके उपाय—सत्सङ्ग व नैतिकज्ञान-आदि—से अनभिज्ञ है, उसे 'यह शत्रु महान्—प्रचुरशक्तिशाली है अथवा लघु-हीनशक्ति-युक्त है' इस प्रकारका विवेक नहीं होता।

४ तथा च शुक्रः—वधोपायान् विजानाति शत्रूणां पृथिवीपतिः। तस्याग्रे च महान् शत्रुस्तिष्ठते न कुतो लघुः ॥ १ ॥

महान्—प्रचुर सैनिकशक्ति-सम्पन्न—शत्रु नहीं ठहर सकता पुनः हीनशक्तिवाला किसप्रकार ठहर सकता है ? नहीं ठहर सकता ॥ १ ॥'

जिसप्रकार नदीका पूर तटवर्ती तृण व वृक्षोंको एक साथ उखाड़ कर फेंक देता है, उसीप्रकार शत्रु-विनाशके उपायोंको जाननेवाला विजिगीषु भी अनेक सफल—अव्यर्थ—उपायोंसे महाशक्तिशाली व हीनशक्ति-युक्त शत्रुओंको परास्त कर देता है ॥ १५४ ॥

गुरु[1] विद्वान्ने भी कहा है कि 'जिसप्रकार नदीका पूर तटवर्ती तृण व वृक्षोंको उखाड़ देता है, उसीप्रकार शत्रुओंसे प्रियवादी बुद्धिमान् राजा भी शत्रुओंको नष्ट कर देता है ॥ १ ॥'

नैतिक मनुष्यको न्याय-युक्त योग्य वचन बच्चेसे भी ग्रहण कर लेना चाहिये ॥ १५५ ॥

विदुर[2] विद्वान्ने भी कहा है कि 'जिसप्रकार धान्यकी ऊबी बटोरनेवाला पुरुष उसे खेतसे संचय कर लेता है, उसीप्रकार चतुर मनुष्यको भी बच्चे की सार बात मान लेनी चाहिये, उसे छोटा समझकर उसकी न्याय-युक्त बातकी अवहेलना (तिरस्कार) नहीं करनी चाहिये ॥ १ ॥'

उक्त बातका दृष्टान्तमाला द्वारा समर्थन व निरर्थक वाणीसे वक्ताकी हानि—

रवेरविषये किं न दीपः प्रकाशयति ॥१५६॥
अल्पमपि वातायनविवरं बहूनुपलम्भयति ॥१५७॥
पतिंवरा इव परार्थाः खलु वाचस्ताश्च निरर्थकं प्रकाश्यमानाः शपयन्त्यवश्यं जनयितारं ॥१५८॥

अर्थ—जहांपर सूर्य-प्रकाश नहीं है, वहां क्या दीपक पदार्थोंको प्रकाशित नहीं करता ? अवश्य करता है। उसीप्रकार ज्ञान-वृद्धोंके अभावमें बालक या मूर्ख पुरुषभी न्याय-युक्त बात बोल सकता है, अतः उसकी कही हुई युक्ति-युक्त बात शिष्ट पुरुषोंको अवश्य मान लेनी चाहिये ॥१५६॥

जिस प्रकार झरोखा—रोशनदान—छोटा होनेपर भी गृहवर्ती बहुतसे पदार्थोंको प्रकाशित करता है, उसीप्रकार बालक या अज्ञ भी नैतिक बात कह सकता है, अतः शिष्टोंको उसकी नीति-पूर्ण बात स्वीकार करनी चाहिये ॥१५७॥

हारीत[3] विद्वान् ने भी कहा है कि 'जिसप्रकार छोटासा रोशनदान दृष्टिगोचर हुआ बहुतसी वस्तुएं प्रकाशित करता है, उसीप्रकार बालक या अज्ञद्वारा कहे हुए युक्ति-युक्त वचन भी लाभदायक होते हैं ॥१॥'

---

१ तथा च गुरुः—पार्थिवो मृदुवाक्यैर्यः शत्रूनालापयेत् सुधीः । नाशं नयेच्छनैस्तांश्च तीरजान् सिन्धुपूरवत् ॥१॥ संशोधित

२ तथा च विदुरः—लघुं मत्वा प्रलापेत बालाच्चापि विशेषतः । यत्सारं भवति तद्ग्राह्यं शिलाहारी शिलं यथा ॥१॥

३ तथा च हारीतः—गवाक्षविवरं सूक्ष्मं यद्यपि स्याद्विलोकितं । प्रकाशयति यद्भूरि तद्वद्बालप्रजल्पितम् ॥१॥

जिसप्रकार अपनी इच्छानुकूल पतिको चुननेवाली कन्याएं दूसरोंको दीजाने पर (पिताद्वारा उनकी इच्छा-विरुद्ध दूसरोंके साथ विवाही जाने पर) पिताको तिरस्कृत करती हैं या उसकी हँसी कराती हैं, उसीप्रकार श्रोताओंकी इष्ट प्रयोजन-सिद्धि करनेवाली वक्ताकी वाणी भी जब निरर्थक कही जाती है, तब वह वक्ताको तिरस्कृत करती है अथवा उसकी हँसी-मजाक कराती है। निष्कर्ष यह है कि नैतिक वक्ताको श्रोताओंके इष्ट प्रयोजन-साधक, तात्विक और मधुर वचन बोलना चाहिये एवं उसे निरर्थक वचन कहना छोड़ देना चाहिये, जिससे उसका तिरस्कार और हंसी-मजाक न होने पावे। अथवा जिसप्रकार विवाह-योग्य कन्याएं अपने पतिकी इष्ट प्रयोजन-सिद्धि करनेवाली होती हैं, उसीप्रकार वक्ताकी वाणी भी श्रोताओंकी इष्टप्रयोजन-सिद्धि करनेवाली होती है परन्तु जब वक्ता नीति-विरुद्ध और निरर्थक वाणी बोलता है, तब उससे उसका तिरस्कार या हँसी-मजाक किया जाता है ॥१५८॥

वर्ग[1] विद्वान् ने भी कहा है 'जो मनुष्य निरर्थक वाणी बोलता है उसकी हँसी होती है। जिसप्रकार स्वयं पतिको चुननेवाली कन्याएं अपने पिताका जो कि उन्हें दूसरोंके साथ विवाहना चाहता है; आदर नहीं करती ॥१॥'

मूर्ख वा जिद्दीको उपदेश देनेसे हानि क्रमशः—

तत्र युक्तमप्युक्तंमयुक्तसमं यो न विशेषज्ञः A ॥१५९॥

स खलु पिशाचकी B वातकी वा यः परेऽनर्थिनि वाचमुदीरयति ॥१६०॥

अर्थ—जो मनुष्य वक्ताके कहे हुए वचनोंपर विशेष विचार (इसने अमुक बात मेरे हितकी कही है-इत्यादि) नहीं करता—जो मूर्ख है, उसके सामने उचित बात कहना भी अनुचितके समान है, क्योंकि उसका कोई फल नहीं होता। सारांश यह है कि मूर्खको हितोपदेश देना व्यर्थ है ॥१५९॥

वर्ग[2] विद्वान् ने भी कहा है कि 'मूर्खको उपदेश देना जंगलमें रोनेके समान व्यर्थ है, क्योंकि वह उससे हित-अहितका विचार नहीं करता; इसलिये बुद्धिमान् पुरुषको उससे बातचीत नहीं करनी चाहिए ॥१॥'

जो वक्ता उस श्रोतासे बातचीत करता है जो कि उसकी बातको सुनना नहीं चाहता, उसकी लोग इसप्रकार निन्दा करते हैं कि इस वक्ताको पिशाचने जकड़ लिया है या इसे वातोल्वण सन्निपात रोग होगया है, जिससे कि यह निरर्थक प्रलाप कर रहा है ॥१६०॥

---

१ तथा वर्गः—वृथालापं च यः कुर्यात् स पुमान् हास्यतां व्रजेत्। पतिंवरा पिता यद्वदन्यस्यार्थे वृथा[ददत्] ॥१॥ संशो०

A 'तत्र युक्तमप्युक्तमनुक्तसमं यो न विशेषज्ञः' इसप्रकारका पाठान्तर मु० व ह० लि० मू० प्रतियोंमें विद्यमान है, जिसका अर्थ यह है कि मूर्खके समक्ष योग्य वचन कहना भी नहीं कहनेके समान है।

B मु० व ह० लि० मू० प्रतियोंमें 'पातकी' ऐसा पाठान्तर है जिसका अर्थ 'पापी' है।

२ तथा च वर्गः—अरण्यरुदितं तत्स्यात् यन्मूर्खस्योपदिश्यते। हिताहितं न जानाति जल्पितं न कदाचन ॥१॥

भागुरि[1] विद्वान् ने कहा है 'जो वक्ता उसकी बात न सुननेवाले मनुष्यके सामने बोलता है वह मूर्ख है, क्योंकि वह निसन्देह जंगलमें रोता है ॥१॥'

नीति-शून्य पुरुषकी हानि व कृतघ्न सेवकोंकी निन्दा क्रमशः—

विध्यायतः प्रदीपस्येव नयहीनस्य वृद्धिः A॥१६१॥

जीवोत्सर्गः स्वामिपदमभिलषतामेव B ॥१६२॥

अर्थ—नीति-विरुद्ध प्रवृत्ति करनेवाले पुरुषकी बढ़ती तत्काल बुझते हुए दीपककी बढ़तीके समान उसको जड़-मूलसे नष्ट करनेवाली होती है। अर्थात् जिसप्रकार बुझनेवाला दीपक अधिक प्रकाश करके समूल नष्ट होजाता है, उसीप्रकार अन्यायी मनुष्य भी अन्याय-संचित धनादिसे तत्काल उन्नतिशीलसा मालूम पड़ता है, परन्तु राजदंड-आदिके खतरे से खाली न होनेके कारण अन्तमें वह जड़-मूलसे नष्ट होजाता है ॥१६१॥

नारद[2] विद्वान् ने भी कहा है कि 'अन्यायी मनुष्योंकी जो चोरी वगैरह अन्यायसे बढ़ती होती है उसे बुझनेवाले दीपककी बढ़तीके समान विनाशका कारण समझनी चाहिये ॥१॥'

जो सेवक—अमात्य-आदि—कृतघ्नताके कारण अपने स्वामीके राज्यपदकी कामना करते हैं, उनका विनाश-मरण होता है। सारांश यह है कि सेवकोंको अपने स्वामी-पद (राज्यपद) की कामना नहीं करनी चाहिए ॥१६२॥

तीव्रतम अपराधियोंको मृत्यु-दंड देनेसे लाभ व लुब्ध राज-कर्मचारी क्रमशः—

बहुदोषेषु क्षणदुःखप्रदोऽपायोऽनुग्रह एव ॥१६३॥

स्वामिदोषस्वदोषाभ्यामुपहतवृत्तयः क्रुद्ध-लुब्ध-भीतावमानिताः कृत्याः ॥१६४॥

अर्थ—तीव्रतम अपराधियोंका विनाश राजाको क्षणभरके लिये कष्टदायक होता है, परन्तु यह उसका उपकार ही समझना चाहिये, क्योंकि इससे राज्यकी श्रीवृद्धि होती है ॥१६३॥

---

१ तथा च भागुरिः—अश्रोतुः पुरतो वाक्यं यो वदेदविचक्षणः। अरण्यरुदितं सोऽत्र कुरुते नात्र संशयः ॥१॥

A 'विध्यायतः प्रदीपस्येव नयहीनस्य वृद्धिः' ऐसा पाठान्तर मु० व ह० लि० मू० प्रतियोंमें है, जिसका अर्थ यह है कि जिसप्रकार बुझनेवाले या बहुत धीमी रोशनीवाले दीपकका कोई उपयोग नहीं है, उसीप्रकार अन्यायी पुरुषकी वृद्धिका कोई उपयोग—हित-प्राप्ति-आदि—नहीं है।

B 'जीवोत्सर्गः स्वाप्रियमभिलषतामेव' इस प्रकार मु० व ह० लि० मू० प्रतियोंमें पाठान्तर है। जिसका अर्थ यह है कि राजाको उसका बुरा चाहनेवाले विरोधियोंका नाश कर देना चाहिये।

२ तथा च नारदः—चौर्यादिभिः समृद्धिर्या पुरुषाणां प्रजायते। ज्योतिष्कस्येव सा भूतिर्नाशकाल

हारीत[1] विद्वान्ने भी कहा है कि 'राजाओंको उन पापियों—अत्यन्त भयानक अपराधियों—को मार देना चाहिये, चाहे वे उनके कुटुम्बी होनेके कारण अवध्य—मृत्यु-दंडके अयोग्य भी हों। क्योंकि पापियोंका नाश क्षणभरके लिये दुःखदायक होने पर भी भविष्यमें कल्याण-कारक होता है ॥१॥'

मंत्री, अमात्य और सेनाध्यक्ष-आदि राज्याधिकारियोंमें से राज-दोष (क्रोध व ईर्ष्या-आदि) और स्वयं किये हुए अपराधोंके कारण जिनकी जीविका (वेतनादि) नष्ट कर दीगई है, वे क्रोधी, लोभी, भीत और तिरस्कृत होते हैं, उन्हें 'कृत्या'के समान महाभयङ्कर जानना चाहिये। अर्थात् जिसप्रकार जारण-मारणादि मंत्रों से अयथाविधि किया हुआ यज्ञ क्षुब्ध (असन्तुष्ट) होनेपर यज्ञ करनेवालेका घातक होता है, उसीप्रकार पृथक्करण (नौकरीसे हटाना) और अपमानादिसे क्षुब्ध—असन्तुष्ट हुए राज-कर्मचारी भी राज-घातक होते हैं। निष्कर्ष यह है कि नीतिज्ञ राजाको उन क्षुब्ध हुए अधिकारी वर्गसे सदा सावधान रहना चाहिये एवं आगेके सूत्रमें कहे हुए नैतिक उपायों से उन्हें वश करना चाहिये ॥१६४॥

नारद[2] विद्वान्ने भी कहा है कि 'राजाको पूर्वमें अधिकारी-पद पर नियुक्त किये हुए मंत्री-आदि राज-कर्मचारियोंकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये—अपने वशमें करना चाहिये, यदि वे राज-घातक नहीं हैं, तो उन्हें अपने २ पदोंपर नियुक्त कर देना चाहिये ॥१॥'

पूर्वोक्त क्षुब्ध राज-कर्मचारियोंका वशीकरण व राजाका मंत्री-आदिके साथ वर्ताव क्रमशः—

अनुवृत्तिरभयं त्यागः सत्कृतिश्च कृत्यानां वशोपायाः A ॥१६५॥

क्षयलोभविरागकारणानि प्रकृतीनां न कुर्यात् ॥१६६॥

अर्थ—पूर्वोक्त कृत्या समान राज्य-क्षति करनेवाले कारण-वश क्षुब्ध हुए अधिकारियों (मंत्री व सेनाध्यक्ष-आदि) को वश करनेके निम्नप्रकार उपाय हैं। १ उनकी इच्छानुकूल प्रवृत्ति करना (यदि वे पुनः अपने पदों पर नियुक्त होना चाहें, तो नियुक्त करना आदि) २ अभयदान (जीविकाके विना दारिद्र्य-दोष से भयभीतोंको पुनः जीविका पर लगाना) ३ त्याग—अभिलषित धन देना और ४ सत्कार—तिरस्कृतों का सन्मान करना।

विमर्श:—नीतिज्ञ राजाका कर्त्तव्य है कि वह कारण-वश क्षुब्ध हुए पूर्वोक्त क्रोधी, लोभी, भीत व तिरस्कृत अधिकारियोंमें से क्रोधी और लोभी कर्मचारियोंको पूर्वकी तरह नौकरीसे पृथक् रक्खे; क्योंकि उन्हें पुनः नियुक्त करने से उसकी तथा राज्यकी क्षति होनेकी संभावना रहती है, तथा जीविकाके विना

---

१ तथा च हारीतः—अवध्या अपि वध्यास्ते ये तु पापा निजा अपि। क्षणदुःखे च तेषां च पश्चात्तच्छ्रेयसे भवेत् ॥१॥

२ तथा च नारदः—नोपेक्षणीयाः सचिवाः साधिकाराः कृताश्च ये। योजनीयाः स्वकृत्ये ते न चेत् स्युर्वधकारिणः ॥१॥

A उक्त सूत्र सं० टी० पुस्तकमें नहीं है, परन्तु मु० व ह० लि० मू० प्रतियोंसे संकलन किया गया है और वास्तवमें प्राकरणिक एवं क्रम-प्राप्त भी है। संपादक—

भयभीत हुए कर्मचारियोंको पुनः उनके पदोंपर आसीन कर देवे, क्योंकि ऐसा करने से वे कृतज्ञताके कारण बगावत नहीं कर सकते एवं उसे तिरस्कृतोंको वश करनेके लिये उनका सन्मान करना चाहिये ॥१६५॥

राजाका कर्त्तव्य है कि जिन कारणों से उनकी प्रकृति—मंत्री और सेनापति-आदि राज्यके अङ्ग—नष्ट और विरक्त—कर्त्तव्य-च्युत होती हो, उन्हें न करे एवं लोभके कारणों से पराङ्मुख होकर उदारता से काम लेवे ॥१६६॥

वसिष्ठ[1] विद्वान्ने भी कहा है कि 'राजाको अमात्य-आदि प्रकृतिके नष्ट और विरक्त होनेके साधनों का संग्रह तथा लोभ करना उचित नहीं है, क्योंकि प्रकृतिके दुष्ट—नष्ट और विरक्त होने से राज्यकी वृद्धि किस प्रकार होसकती है? नहीं होसकती ।

प्रकृति-क्रोधसे हानि व अवध्य अपराधियोंके प्रति राज-कर्त्तव्य क्रमशः—

सर्वकोपेभ्यः प्रकृतिकोपो गरीयान् ॥१६७॥

अचिकित्स्यदोषदुष्टान् खनिदुर्गसेतुबन्धाकरकर्मान्तरेषु क्लेशयेत् ॥१६८॥

अर्थ—शत्रु-आदि से होनेवाले समस्त क्रोधोंकी अपेक्षा मंत्री व सेनापति-आदि प्रकृतिका क्रोध राजाके लिये विशेष कष्टदायक होता है। निष्कर्ष यह है कि राज्यरूपी वृक्षका मूल अमात्यादि प्रकृति होती है, अतः उसके विरुद्ध होनेपर राज्य नष्ट होजाता है, अतः राजाको उसे सन्तुष्ट रखनेमें प्रयत्नशील रहना चाहिये ॥१६७॥

राजपुत्र[1] विद्वानने भी कहा है कि 'अमात्य-आदि प्रकृतिके लोग सदा राजाओंके सभी छिद्र—दोष जानते हैं, अतएव विरुद्ध हुआ प्रकृति वर्ग शत्रुओंको राज-दोष बताकर उनसे राजाको मरवा देता है ॥१॥'

राजाका कर्त्तव्य है कि वह जिनके अपराध कौटुम्बिक-संबंध-आदिके कारण दवाई करनेके अयोग्य हैं—दूर नहीं किये जासकते (जिन्हें वध-बंधनादि द्वारा दंडित नहीं किया जासकता) ऐसे राज-द्रोही महान् अपराधियोंको तालाव-खाई खुदवाना, किलेमें रखकर काम कराना, नदियोंके पुल बंधवाना और खानियोंसे लोहा-प्रभृति धातुएं निकलवाना-इत्यादि कार्योंमें नियुक्त कर क्लेशित करे ॥१६८॥

शुक्र[2] विद्वान्ने भी उक्त बातकी पुष्टि की है कि 'जो महापराधी राज-वंशज होनेसे वध करनेके

---

१ तथा च वसिष्ठः—क्षयो लोभो विरागश्च प्रकृतीनां न शस्यते [कुतस्तासां प्रदोषेण] राज्यवृद्धिः प्रजायते ॥१॥
तृतीयचरण संशोधित एवं परिवर्तित । सम्पादक—

१ तथा च राजपुत्रः—राज्ञां छिद्राणि सर्वाणि विदुः प्रकृतयः सदा । निवेद्य तानि शत्रुभ्यस्ततो नाशं नयन्ति त—

२ तथा च शुक्रः—अवध्या ज्ञातयो ये च बहुदोषा भवन्ति च । कर्मान्तरेषु नियोज्यास्ते येन स्युर्व्यसन नि—

योग्य नहीं हैं, उन्हें राजाको भिन्न २ कार्यों (तालाव-खुदवाना-आदि) में नियुक्त करके क्लेशित—दुःखी करना चाहिये ॥१॥'

कथा-गोष्ठीके अयोग्य व उनके साथ कथा-गोष्ठी करनेसे हानि क्रमशः—

अपराध्यैरपराधकैश्च सह गोष्ठीं न कुर्यात् A ॥१६९॥

ते हि गृहप्रविष्टसर्पवत् सर्वव्यसनानामागमनद्वारं ॥१७०॥

अर्थ—राजाको अपराधी व अपराध करानेवालोंके साथ कथा-गोष्ठी (वार्तालाप-सहवास) नहीं करनी चाहिये। सारांश यह है कि अपराध करने व करानेवाले (वैरी) उच्छृंखल, छिद्रान्वेषी और भयङ्कर वैर-विरोध करनेवाले होते हैं। अतः राजाको शत्रु-कृत उपद्रवों से वचाव करनेके लिये उनके साथ कथा-गोष्ठी करनेका निषेध किया गया है ॥१६९॥

नारद[1] विद्वान्ने भी कहा है कि 'जो अपने ऐश्वर्यका इच्छुक है, उसे सजा पाये हुए (वैरी) व अपराधियोंके साथ कथा-गोष्ठी नहीं करनी चाहिये ॥१॥'

निश्चय से वे लोग—दण्डित व अपराधी पुरुष—गृहमें प्रविष्ट हुए सर्पकी तरह समस्त आपत्तियोंके आनेमें कारण होते हैं। अर्थात्—जिसप्रकार घरमें घुसा हुआ सांप घातक होता है, उसी-प्रकार सजा पाये हुए और अपराधी लोग भी वार्तालाप-सहवासको प्राप्त हुए छिद्रान्वेषण द्वारा शत्रुओं से मिल जाते है; अतः राजाको अनेक कष्ट पहुंचानेमें समर्थ होने से घातक होते हैं ॥१७०॥

शुक्र[2] विद्वान्ने भी कहा है कि 'जिसप्रकार मकानमें प्रविष्ट हुआ साँप निरन्तर भय उत्पन्न करता है, उसीप्रकार गृह-प्राप्त दण्डित व अपराधी लोगभी सदा भय पैदा करते रहते हैं ॥१॥'

क्रोधीके प्रति कर्त्तव्य, उससे हानि व जिसका गृहमें आगमन निष्फल है, क्रमशः—

न कस्यापि क्रुद्धस्य पुरतस्तिष्ठेत् ॥१७१॥

क्रुद्धो हि सर्प इव यमेवाग्रे पश्यति तत्रैव रोषविषमुत्सृजति ॥१७२॥

अप्रतिविधातुरागमनाद्वरमनागमनम् ॥१७३॥

अर्थ—नैतिक पुरुषको किसी भी क्रोधी पुरुषके सामने नहीं ठहरना चाहिये। अभिप्राय यह है कि क्रोधसे अन्धबुद्धि-युक्त पुरुष जिस किसी (निरपराधीको) भी अपने सामने खड़ा हुआ देखता है, उसे मार डालता है, इसलिये उसके सामने ठहरनेका निषेध किया गया है ॥१७१॥

A अपराद्धैरपराधकैश्च सहवासं न कुर्वीत' इसप्रकार मु० व ह० लि० मू० प्रतियोंमें पाठ है, परन्तु अर्थ-भेद कुछ नहीं।

१ तथा च नारदः—परिभूता नरा ये च कृतो यैश्च पराभवः। न तैः सह क्रियाद् गोष्ठीं य इच्छेद् भूतिमात्मनः ॥१॥

२ तथा च शुक्रः—यथाहिर्मन्दराविष्टः करोति सततं भयं। अपराध्याः सदोषाश्च तथा तेऽपि गृहागताः ॥१॥

गुरु[1] विद्वान्‌ने भी कहा है कि 'जैसे अन्धा पुरुष कुपित होने पर जो भी उसके सामने खड़ा रहता है, उसे मार देता है, उसीप्रकार क्रोधसे अन्धा पुरुष भी अपने सामने रहनेवाले व्यक्तिको मार देता है, अतः उससे दूर रहना चाहिये ॥१॥'

क्योंकि क्रोधी पुरुष जिस किसीको सामने देखता है, उसीके ऊपर सर्पके समान रोषरूपी जहर फैंक देता है। अभिप्राय यह है कि जिसप्रकार सांप निरपराधीको भी डस लेता है, उसीप्रकार क्रोधसे अन्धा पुरुष भी निपराधीको भी मार देता है, इसलिये उसके पास नहीं जाना चाहिये ॥१७२॥

जो मनुष्य प्रयोजन सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं है, उसका प्रयोजनार्थीके गृह आनेकी अपेक्षा न आना ही उत्तम है, क्योंकि उसके निरर्थक आनेसे प्रयोजनार्थी—कार्य-सिद्धि चाहने वाले—का व्यर्थ समय नष्ट होनेके सिवाय कोई लाभ नहीं ॥१७३॥

भारद्वाज[2] विद्वान्‌ने भी कहा है कि 'किसी प्रयोजन-सिद्धिके लिये बुलाया हुआ मनुष्य (वैद्य-आदि) यदि उसकी प्रयोजनसिद्धि (रोग-निवृत्ति-आदि) नहीं कर सकता तो उसके लानेसे कोई लाभ नहीं, क्योंकि वह (निरर्थक व्यक्ति) केवल प्रयोजनार्थीके समयको व्यर्थ नष्ट करता है ॥१॥'

इति मन्त्रिसमुद्देश।

—×—

---

१ तथा च गुरुः—यथान्धः कुपितो हन्यात् यच्चैवाग्रे व्यवस्थितं। क्रोधान्धोऽपि तथैवात्र तस्मात्तं दूरतस्त्यजेत् ॥१॥

२ तथा च भारद्वाजः—प्रयोजनार्थमानीतो यः कार्यं तन्न साधयेत्। आनीतेनापि किं तेन व्यर्थोपद्रवकारिणा ॥१॥

११ पुरोहित-समुद्देश ।

——×——

पुरोहित (राज-गुरु) का लक्षण या गुण व मंत्री-पुरोहितके प्रति राज-कर्त्तव्य क्रमशः—

पुरोहितमुदितोदितकुलशीलं षडंगवेदे दैवे निमित्ते दंडनीत्यामभिविनीतमापदां दैवीनां मानुषीणां च प्रतिकर्तारं कुर्वीत ॥ १ ॥

राज्ञो हि मंत्रिपुरोहितौ मातापितरौ, अतस्तौ न केषुचिद्वाञ्छितेषु विस्तरयेत्[A] ॥२॥

अर्थ—जो कुलीन, सदाचारी और छह वेदाङ्ग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द व ज्योतिष), चार वेद (ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद व सामवेद अथवा प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग), ज्योतिष, निमित्तज्ञान और दंडनीति विद्यामें प्रवीण हो एवं दैवी (उल्कापात, अतिवृष्टि और अनावृष्टि आदि) तथा मानुषी आपत्तियोंके दूर करनेमें समर्थ हो, ऐसे विद्वान् पुरुषको राजपुरोहित—राज-गुरु बनाना चाहिये ॥१॥

शुक्र[1] विद्वान्ने भी कहा है कि राजाओंको देवता व आकाश से उत्पन्न हुए एवं पृथिवीपर होनेवाले समस्त उपद्रव और सभी प्रकारकी आपत्तियों (शारीरिक बुखार-गल गंडादि, मानसिक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक—व्याघ्रादि-जनित पीड़ा और आधिदैविक—आकस्मिक पीड़ाएं-आदि) की शान्तिके लिये पुरोहित नियुक्त करना चाहिये ॥१॥'

निश्चयसे मंत्री-पुरोहित हितैषी होनेके कारण राजाके माता-पिता हैं, इसलिये उसे उनको किसी भी अभिलषित पदार्थमें निराश नहीं करना चाहिये ॥२॥

गुरु[2] विद्वान्ने भी कहा है कि 'मंत्री-पुरोहित राजाके माता-पिताके समान हैं, अतः वह उन्हें किसी भी प्रकार से मन-चाहे पदार्थोंमें आशा-हीन (निराश) न करे ॥१॥'

---

१ तथा च शुक्रः—दिव्यान्तरिक्षभौमानामुत्पातानां प्रशान्तये । तथा सर्वापदां चैव कार्यो भूपैः पुरोहितः ॥१॥

A उक्त क्रियापदके स्थानमें प्रायः सभी मू० प्रतियोंमें 'विसूरयेत् दुःखयेद्दुर्विनयेद्वा' ऐसा उत्तम पाठान्तर वर्तमान है, जिसका अर्थ क्रमशः प्रतिकूल, दुःखी और अपमानित करना है, शेष-अर्थ पूर्ववत् है ।

२ तथा च गुरुः—समौ मातृपितृभ्यां च राज्ञो मंत्री पुरोहितौ । अतस्तौ वाञ्छितैरर्थैर्न कथंचिद्विस्तरयेत् ॥१॥

आपत्तियोंका स्वरूप वा भेद एवं राज-पुत्रकी शिक्षा क्रमशः—

अमानुष्योऽग्निरवर्षमतिवर्षं मरकी दुर्भिक्षं सस्योपघातो जन्तूत्सर्गो व्याधि-भूत-पिशाच-शाकिनी-सर्प-व्याल-मूषक-क्षोभश्चेत्यापदः ॥३॥

शिक्षालापक्रियाक्षमो राजपुत्रः सर्वासु लिपिषु प्रसंख्याने पदप्रमाण-प्रयोगकर्मणि नीत्यागमेषु रत्नपरीक्षायां सम्भोग-प्रहरणोपवाह्यविद्यासु च साधु विनेतव्यः ॥४॥

अर्थ—उल्कापात—बिजली गिरना, अनावृष्टि, अतिवृष्टि, महामारी रोग, दुर्भिक्ष—अकाल, टिड्डी वगैरह से धान्य-नाश, हिंसक जीवोंके छूटनेसे होनेवाली पीड़ा, बुखार-गलगंडादि शारीरिक रोग, भूत, पिशाच, शाकिनी, सर्प और हिंसक जन्तुओंसे होनेवाली पीड़ा और मूषकोंकी प्रचुरतासे होनेवाला कष्ट—प्लेगकी बीमारी वगैरह आपत्तियाँ हैं। निष्कर्ष यह है कि प्रकरणमें राज-पुरोहितको उक्त प्रकारकी राष्ट्र पर होनेवाली दैवी-मानुषी आपत्तियोंका प्रतीकार करनेमें समर्थ होना चाहिये ॥३॥

राजा अपने राजकुमारको पहले पब्लिक सभाओंके योग्य वक्तृत्व-कलामें प्रवीण बनावे। पश्चात् समस्त भाषाओंको शिक्षा, गणितशास्त्र, साहित्य, न्याय, व्याकरण, नीतिशास्त्र, रत्नपरीक्षा, कामशास्त्र शस्त्र-विद्या, और हस्ती-अश्वादि वाहन विद्यामें अच्छीतरह प्रवीण बनावे ॥४॥

राजपुत्र[1] विद्वान्ने भी कहा है कि 'जिसका राजकुमार विद्याओंमें प्रवीण नहीं व मूर्ख है, उसका राज्य सुशिक्षित राजकुमारके बिना निस्सन्देह नष्ट होजाता है ॥१॥'

गुरु-सेवाके साधन, विनयका लक्षण व उसका फल क्रमशः—

अस्वातन्त्र्यमुक्तकारित्वं नियमो विनीतता[A] च गुरूपासनकारणानि ॥५॥

व्रतविद्यावयोधिकेषु नीचैराचरणं विनयः ॥६॥

पुण्यावाप्तिः शास्त्ररहस्यपरिज्ञानं सत्पुरुषाधिगम्यत्वं च विनयफलम् ॥७॥

अर्थ—स्वच्छन्द न रहना, गुरुकी आज्ञा-पालन, इन्द्रियोंका वशीकरण, अहिंसादि सदाचार-प्रवृत्ति एवं नम्रताका व्यवहार, ये गुण गुरु-सेवाके साधन हैं—शिष्यकी उक्त सत्प्रवृत्तिसे गुरु प्रसन्न रहते हैं ॥५॥

---

१ तथा च राजपुत्रः—कुमारो यस्य मूर्खः स्यान्न विद्यासु विचक्षणः। तस्य राज्यं विनश्येत्तदप्राप्त्या नात्र संशयः ॥१॥

A इसके स्थानमें मु० व ह० लि० मू० प्रतियोंमें 'विनीततार्थश्च' ऐसा पाठ है जिसका अर्थ नम्रता और धन देना है। अर्थात् नम्रताका बर्ताव करना और धन देनेसे गुरु प्रसन्न रहते हैं बाकी अर्थ पूर्ववत् है। सम्पादक—

गौतम[1] विद्वान्‌ने भी कहा है कि 'जो शिष्य सदा गुरुकी आज्ञा-पालन व अपनी इच्छानुकूल प्रवृत्ति-निरोध करता है और विनय व व्रतपालनमें प्रवृत्त होता है, उसे विद्या-प्राप्तिमें सफलता होती है ॥१॥'

व्रत-पालन—अहिंसा, सत्य व अचौर्य-आदि सदाचार प्रवृत्ति, विद्याध्ययन और आयुमें बड़े पुरुषोंके साथ नमस्कारादि नम्रताका बर्ताव करना विनय गुण है। सारांश यह है कि व्रती, विद्वान् व वयोवृद्ध (माता-पिता आदि) पुरुष जो कि क्रमशः सदाचार-प्रवृत्ति, शास्त्राध्ययन और हित-चिंतवन आदि सद्गुणों से विभूषित होनेके कारण श्रेष्ठ माने गये हैं, उनको नमस्कारादि करना विनय गुण है ॥६॥

गर्ग[2] विद्वान्‌ने भी कहा है कि 'जो व्रत-पालनसे उत्कृष्ट एवं विद्याध्ययनसे महान् और वयोवृद्ध हैं, उनकी भक्ति करना 'विनय' कहा गया है ॥१॥'

व्रती महापुरुषोंकी विनयसे पुण्य-प्राप्ति, विद्वानोंकी विनयसे शास्त्रोंका वास्तविक स्वरूप-ज्ञान एवं माता-पिता-आदि वयोवृद्ध हितैषियोंकी विनयसे शिष्ट पुरुषोंके द्वारा सन्मान मिलता है ॥७॥

विद्याभ्यासका फल—

अभ्यासः कर्मसु कौशलमुत्पादयत्येव यद्यस्ति तज्ज्ञेभ्यः सम्प्रदायः ॥८॥

अर्थ—यदि विद्या-जिज्ञासु पुरुषोंके लिये विद्वान् गुरुओंकी परम्परा चली आरही है तो उस क्रमसे किया हुआ विद्याभ्यास कर्त्तव्य-पालनमें चतुरता उत्पन्न करता है। अभिप्राय यह है कि विद्वान् गुरुओंकी परम्परापूर्वक किये हुए विद्याभ्याससे शास्त्रोंका यथार्थ बोध होता है, जिससे मनुष्य कर्त्तव्य-पालनमें निपुणता प्राप्त करता है ॥८॥

शिष्य-कर्त्तव्य (गुरुकी आज्ञा-पालन, रोष करनेपर जवाब न देना व प्रश्न करना-आदि) क्रमशः—

गुरुवचनमनुल्लंघनीयमन्यत्राधर्मानुचिताचारात्मप्रत्यवायेभ्यः[A] ॥९॥

---

१ तथा च गौतमः—सदादेशकरो यः स्यात् स्वेच्छया न प्रवर्तते। विनयव्रतचर्याढ्यः स शिष्यः सिद्धिभाग्भवेत् ॥१॥

२ तथा च गर्गः—व्रतविद्याधिका ये च तथा च वयसाधिकाः। यत्तेषां क्रियते भक्तिर्विनयः स उदाहृतः ॥१॥

A गुरुवचनमनुल्लंघनीयमन्यत्राधर्मानुचिताचारात्' ऐसा मु० व ह० लि० मू० प्रतियोंमें पाठ है, जिसका अर्थ यह है कि शिष्यको गुरुके वचन उल्लंघन नहीं करने चाहिये, परन्तु अधर्म व नीति-विरुद्ध प्रवृत्ति संबंधी वचनोंके उल्लङ्घन करनेमें कोई दोष नहीं है।

युक्तमयुक्तं वा गुरुरेव जानाति यदि न शिष्यः प्रत्यर्थवादी[A]॥१०॥

गुरुजनरोषेऽनुत्तरदानमभ्युपपत्तिश्चौषधम् ॥११॥

शत्रूणामभिमुखः पुरुषःश्लाघ्यो न पुनर्गुरूणाम् ॥१२॥

आराध्यं न प्रकोपयेद्यद्यसावाश्रितेषु कल्याणशंसी[B] ॥१३॥

गुरुभिरुक्तं नातिक्रमितव्यं, यदि नैहिकामुत्रिकफलविलोपः ॥१४॥

सन्दिहानो गुरुमकोपयन्नापृच्छेत् ॥१५॥

गुरूणां पुरतो न यथेष्टमासितव्यम्[C] ॥१६॥

नानभिवाद्योपाध्यायाद्विद्यामाददीत[E] ॥१७॥

अध्ययनकाले व्यासङ्गं पारिप्लवमन्यमनस्कतां च न भजेत् ॥१८॥

सहाध्यायिषु बुद्ध्यतिशयेन नाभिभूयेत[F] ॥१९॥

प्रज्ञयातिशयानो न गुरुमवज्ञायेत[G] ॥२०॥

अर्थ—अधर्म, अनुचित-आचार—नीति-विरुद्ध प्रवृत्ति और अपने सत्कर्त्तव्योंमें विघ्नकी बातोंको छोड़कर बाकी सभी स्थानोंमें शिष्यको गुरुके वचन उल्लंघन नहीं करना चाहिये ॥९॥ यदि शिष्य गुरुसे

A 'प्रत्यवायेभ्यो युक्रमयुक्तं वा गुरुरेव जानाति यदि न शिष्यः प्रत्यर्थी वादी वा स्यात्' इसप्रकार का पाठान्तर मु० व ह० लि० मू० प्रतियोंमें वर्तमान है, जिसका अर्थ यह है कि जब आज्ञाकारी शिष्य गुरु से शत्रुता व वाद-विवाद नहीं करता, तथापि गुरुजन अयोग्यता-आदिके कारण उसकी शिक्षा-दीक्षा आदि में विघ्न-बाधाएं उपस्थित करते हैं, ऐसे अवसर पर शिष्यको उनपर श्रद्धा रखनी चाहिये, क्योंकि गुरुजन ही उस विषयमें योग्य-अयोग्यका निर्णय कर सकते हैं।

B 'कल्याणमाशंसति' इसप्रकारका पाठ उक्त मू० प्रतियोंमें है, परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं।

C उक्त पाठ उक्त मू० प्रतियोंसे संकलन किया गया है।

E मु० व ह० लि० मू० प्रतियोंमें उक्त सूत्रके पश्चात् 'यद्युक्ति-जाति-श्रुताभ्यामाधिक्यं समानत्वं वा' इसप्रकारका अधिक पाठ वर्तमान है, जिसका अर्थ यह है कि यदि शिष्य अपने गुरुकी अपेक्षा वक्तृत्वकला, जाति और विद्वत्ता से अधिक या समान है, तथापि उसे गुरुको नमस्कार किये विना विद्या ग्रहण नहीं करना चाहिये।

F 'नाभ्यसूयेत्' ऐसा पाठ उक्त मू० प्रतियोंमें है, जिसका अर्थ—ईर्ष्या नहीं करनी चाहिये शेष पूर्ववत्।

G 'अवल्हादयेत्' ऐसा पाठ उक्त मू० प्रतियोंमें है जिसका अर्थ लज्जित करना है, शेष पूर्ववत्।

शत्रुता और वाद-विवाद करने वाला नहीं है, तो उसके योग्य-अयोग्य कर्त्तव्यको गुरु ही जानता है ॥१०॥ गुरुजनोंके कुपित होनेपर शिष्यको जवाब न देना और उनकी सेवा करना उनके क्रोध-शान्तिकी औषधि है ॥११॥ शत्रुओंके सामने जानेवाला—उनसे लड़ाई-झगड़ा करने वाला—पुरुष प्रशंसनीय है, किन्तु गुरुजनोंके सामने जानेवाला—उनसे शत्रुता व वाद-विवाद करनेवाला शिष्य प्रशंसाके योग्य नहीं—निंद्य है ॥१२॥ यदि पूज्य (गुरु-आदि) अपने अधीन रहनेवाले शिष्यादिकी कल्याण-कामना करता है, तो उसे कुपित—नाराज—नहीं करना चाहिये ॥१३॥ जो इसलोक व परलोक सम्बन्धी सुखके नष्ट करने की इच्छा नहीं करते उन्हें गुरुजनोंकी कही हुई बात उल्लंघन नहीं करनी चाहिये ॥१४॥ सन्देह-युक्त शिष्य गुरुको कुपित (नाराज) न करके नम्रतासे प्रश्न पूंछे ॥१५॥ शिष्योंको गुरुजनोंके सामने अपनी इच्छानुसार (उद्दण्डतापूर्वक) नहीं बैठना चाहिये ॥ १६ ॥ गुरुको नमस्कार किये बिना उससे विद्याग्रहण नहीं करना चाहिये ॥१७॥

वसिष्ठ[1] विद्वान् ने भी कहा है कि 'जिसप्रकार शूद्र वेदश्रवण नहीं कर सकता, उसीप्रकार गुरुको नमस्कार न करनेवाले उद्दण्ड छात्रको भी विद्या प्राप्त नहीं होसकती ॥१॥'

शिष्यको विद्याध्ययन करनेके सिवाय दूसरा कार्य, शारीरिक व मानसिक चपलता तथा चित्त-प्रवृत्तिको अन्यत्र लेजाना ये कार्य नहीं करने चाहिये ॥१८॥

गौतम[2] विद्वान् ने भी कहा है कि 'जो शिष्य पठन-कालमें दूसरा कार्य चपलता और चित्तकी प्रवृत्तिको अन्यत्र लेजाता है, वह मूर्ख रह जाता है ॥१॥'

तीक्ष्णबुद्धि छात्रको अपने सहपाठियोंका तिरस्कार नहीं करना चाहिये ॥१६॥

गुरु[3] विद्वान् ने भी कहा है कि 'जो छात्र गुरुसे विद्या पढ़ना चाहता है और यदि वह अपने सहपाठियोंकी अपेक्षा तीक्ष्णबुद्धि है, तथापि उसे उनका पराभव—तिरस्कार नहीं करना चाहिए ॥१॥'

शिष्यका कर्त्तव्य है कि वह गुरुकी अपेक्षा विशेष विद्वान् होनेपर भी उसका तिरस्कार न करे ॥२०॥

भृगु[4] विद्वान् ने कहा है कि 'जो छात्र अधिक बुद्धिमान् होनेपर अपने गुरुको अनादर दृष्टि से देखता है, वह मरकर नरक जाता है और संसारमें अपकीर्ति प्राप्त करता है ॥१॥'

---

१ तथा च वसिष्ठः—नमस्कारं विना शिष्यो यो विद्याग्रहणं क्रियात् । गुरोः स तां न चाप्नोति शूद्रो वेदश्रुतिं यथा ॥१॥

२ तथा च गौतमः—अन्यकार्यं च चापल्यं तथा चैवान्यचित्ततां । प्रस्तावे पठनस्यात्र यः करोति जडो भवेत् ॥१॥

३ तथा च गुरुः—न सहाध्यायिनः कुर्यात् पराभवसमन्वितान् । स्वबुद्ध्यतिशयेनात्र यो विद्यां वाञ्छति प्रभोः ॥१॥

४ तथा च भृगुः—बुद्ध्याधिकस्तु यश्छात्रो गुरुं पश्येदवज्ञया । स प्रेत्य नरकं याति वाच्यतामिह भूतले ॥१॥

माता-पितासे प्रतिकूल पुत्रकी कड़ी आलोचना और पुत्रकर्त्तव्य क्रमशः—

स किमभिजातो मातरि यः पुरुषः शूरो वा पितरि ॥२१॥

अननुज्ञातो न क्वचिद् व्रजेत् ॥२२॥

मार्गमचलं जलाशयं च नैकोऽवगाहयेत् Λ ॥२३॥

अर्थ—जो मनुष्य माता-पिताके साथ वैर-विरोध करके अपनी वीरता प्रकट करता है, क्या वह कुलीन कहा जासकता है ? नहीं कहा जासकता। अभिप्राय यह है कि प्रत्येक मनुष्यको अपनी कुलीनता प्रगट करनेके लिए माता पिताकी भक्ति करनी चाहिये ॥२१॥

मनु[1] विद्वान् ने भी कहा है कि 'सच्चा पुत्र वही है, जो माता-पितासे किसी प्रकारका द्वेष नहीं करता, परन्तु जो उनसे द्वेष करता है, उसे दूसरेका वीर्य समझना चाहिये ॥१॥'

पुत्रको माता पिताकी आज्ञाके विना कहीं न जाना चाहिये ॥२२॥

वसिष्ठ[2] विद्वान् ने भी कहा है कि 'जो पुत्र माता पिताकी आज्ञाके विना सूक्ष्म कार्य भी करता है, उसे कुलोन नहीं समझना चाहिये ॥१॥'

पुत्रको माता-पिता व साथियोंके विना—अकेला—किसो मार्गमें नहीं जाना चाहिये, व पहाड़-पर नहीं चढ़ना चाहिये और न कुआ-बावड़ी आदि जलाशयमें प्रविष्ट होना चाहिये ॥२३॥

गुरु[3] विद्वान् ने भी कहा है कि 'माता पितासे रहित—अकेले—पुत्रको बावड़ी-कूप-आदि जलाशयमें, तथा मार्ग और पहाड़में प्रवेश नहीं करना चाहिये ॥१॥'

गुरु, गुरु-पत्नी, गुरु-पुत्र व सहपाठीके प्रति छात्र-कर्त्तव्य क्रमशः—

पितरमिव गुरुमुपचरेत् ॥२४॥

गुरुपत्नीं जननीमिव पश्येत् ॥२५॥

गुरुमिव गुरुपुत्रं पश्येत् ॥२६॥

सब्रह्मचारिणि बान्धव इव स्निह्येत् ॥२७॥

Λ 'अवगाहेत' इसप्रकार का पाठ मु० व ह० लि० मू. प्रतियों में उपलब्ध है परन्तु अर्थ-भेद कुछ नहीं है।

१ तथा च मनुः— न पुत्रः पितरं द्वेष्टि मातरं न कथंचन। यस्तयोर्द्वेषसंयुक्तस्तं विन्द्यादन्यरेतसं ॥१॥

२ तथा च वशिष्ठः—पितृमातृसमादेशमगृहीत्वा करोति यः। सुसूक्ष्माण्यपि कृत्यानि स कुलीनो भवेन्न हि ॥१॥

३ तथा च गुरुः—वापीकूपादिकं यच्च मार्गं वा यदि वाचलं। नैकोऽवगाहयेत् पुत्रः पितृमातृविवर्जितः ॥१॥

अर्थ—शिष्यको गुरुकी पिताके सदृश सेवा करनी चाहिये ॥२४॥

भारद्वाज[1] विद्वान् ने कहा है कि 'जो छात्र गुरुकी पिताके समान भक्ति करता है, वह समस्त विद्याएं प्राप्तकर ऐहिक व परलौकिक सुख प्राप्त करता है ॥१॥'

शिष्य गुरु-पत्नीको माताके समान पूज्य समझे ॥२५॥

याज्ञवल्क्य[2] विद्वान् ने भी कहा है कि 'जो छात्र गुरु-पत्नीको भोग-लालसासे देखता है, वह नरक जाता है और उसे विद्या प्राप्त नहीं होती ॥१॥'

छात्र गुरु-पुत्रको गुरुके सदृश पूज्य समझे ॥२६॥

वादरायण[3] विद्वान् ने भी कहा है कि 'जो शिष्य गुरु-पुत्रकी गुरुके समान सेवा करता है, उसके लिये गुरु प्रसन्न होकर अपनी समस्त विद्या पढ़ा देता है ॥१॥'

छात्रको अपने सहपाठी ब्रह्मचारीसे बन्धुकी तरह स्नेह करना चाहिये ॥२७॥

मनु[4] विद्वान् ने भी कहा है कि 'जिसप्रकार भाईसे स्वाभाविक प्रेम किया जाता है, उसीप्रकार शिष्यको अपने सहपाठी विद्यार्थीके साथ स्वाभाविक प्रेम करना चाहिये ॥१॥'

शिष्यकर्त्तव्य (ब्रह्मचर्य व विद्याभ्यास) व अतिथियोंसे गुप्त रखने योग्य बात क्रमशः—

ब्रह्मचर्यमाषोडशाद्वर्षात्ततो गोदानपूर्वकं दारकर्म चास्य ॥२८॥

समविद्यैः सहाधीतं सर्वदाभ्यस्येत् ॥२९॥

गृहदौःस्थित्यमागन्तुकानां पुरतो न प्रकाशयेत् ॥३०॥

अर्थ—छात्र सोलह वर्षपर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रत धारण करे, पश्चात् इसका गो-दानपूर्वक विवाह-संस्कार होना चाहिये ॥२८॥ ब्रह्मचारी छात्रको सहपाठियोंके साथ पढ़े हुए शास्त्रका सदा अभ्यास करना चाहिये ॥२९॥ नैतिक मनुष्यको अपनी गृह-विपत्ति (दरिद्रता-आदि) अतिथियोंके समक्ष प्रकाशित नहीं करनी चाहिये ॥३०॥

---

१ तथा च भारद्वाजः—योऽन्तेवासी पितुर्यद्वद् गुरोर्भक्तिं समाचरेत्। स विद्यां प्राप्य निःशेषां लोकद्वयमवाप्नुयात् ॥१॥

२ तथा च याज्ञवल्क्यः—गुरुभार्यां च यः पश्येद् दृष्ट्वा चात्र सकामया। स शिष्यो नरकं याति न च विद्यामवाप्नुयात्॥१॥

३ तथा च वादरायणः—यथा गुरुं तथा पुत्रं यः शिष्यः समुपाचरेत्। [तस्य रुष्टो गुरुः कृत्स्नां] निजां विद्यां निवेदयेत्॥१॥
तृतीय चरण संशोधित। संपादक—

४ तथा च मनुः—यथा भ्रातुः प्रकर्त्तव्यः [स्नेहोऽत्र निर्निबन्धनः]। तथा स्नेहः प्रकर्तव्यः शिष्येण ब्रह्मचारिणः ॥१॥
द्वितीय चरण संशोधित व परिवर्तित। सम्पादक—

पर-गृहमें प्रविष्ट हुए पुरुषोंकी प्रवृत्ति व महापुरुषका लक्षण क्रमशः—

परगृहे सर्वोऽपि विक्रमादित्यायते ॥३१॥

स खलु महान् यः स्वकार्येष्विव परकार्येषूत्सहते * ॥३२॥

अर्थ—सभी मनुष्य दूसरोंके गृहमें जाकर उसका धनादि-व्यय करानेके लिये विक्रमादित्य राजाकी तरह उदार होजाते हैं—धनाढ्योंका अनुकरण करने लगते हैं ॥३१॥ जो अपने कार्य समान दूसरोंके कार्य उत्साहपूर्वक करता है, वही महापुरुष है ॥३२॥

वादीभसिंह[1] सूरिने कहा है कि 'परोपकारी सज्जन पुरुष अपनी आपत्तिपर दृष्टि नहीं डालते ॥१॥'

दूसरोंके कार्य-साधनमें लोकप्रवृत्ति जैसी होती है—

परकार्येषु को नाम न शीतलः ॥३३॥

अर्थ—कौन पुरुष दूसरोंके कार्य-साधनमें ठंडा—आलसी (उद्योग-शून्य) नहीं होता ? सभी होते हैं ॥ ३३ ॥

राज-कर्मचारी-प्रकृति, धनिक कृपणों की गुणगानसे हानि व धनाभिलाषीको संतुष्ट करना क्रमशः—

राजासन्नः को नाम न साधुः ॥३४॥

अर्थपरेष्वनुनयः केवलं दैन्याय ॥३५॥

को नामार्थार्थी प्रणामेन तुष्यति ॥३६॥

अर्थ—कौनसा राज-कर्मचारी राजाके समीप जाकर सज्जन नहीं होता ? सभी होते हैं। सारांश यह है कि ये लोग दंड-भयसे कृत्रिम सज्जन होते हैं, न कि स्वाभाविक ॥३४॥ प्रयोजन-वश धनाढ्य कृपणोंका अनुनय (गुण-गान-आदि) करनेसे केवल दीनता ही प्रगट होती है, न कि अर्थ-लाभादि प्रयोजन-सिद्धि ॥३५॥ कौन धनाभिलाषी पुरुष केवल प्रणाम मात्रसे सन्तुष्ट होता है ? कोई नहीं ॥३६॥

---

* 'स खलु महान् यः स्वकार्येषु उत्सहते' इसप्रकार मू० प्रतियोंमें पाठान्तर है, जिसका अर्थ यह है कि जो अपने कर्त्तव्य-पालनमें उत्साह रखता है वही महापुरुष है परन्तु सं०टी० पुस्तकका पाठ उत्तम व हृदयप्रिय है। संपादक—

1 तथा च वादीभसिंहसूरिः—स्वापदं न हि पश्यन्ति सन्तः पारार्थ्यतत्पराः ॥१॥ क्षत्रचूड़ामणौ—

राज-कर्मचारियोंमें समदृष्टि, दरिद्रसे धनग्रहण और असमर्थको प्रयोजन कहना क्रमशः—

आश्रितेषु कार्यतो विशेषकरणेऽपि* दर्शनप्रियालापनाभ्यां सर्वत्र समवृत्तिस्तंत्रं वर्द्धयति अनुरञ्जयति च ॥३७॥

तनुधनादर्थग्रहणं मृतमारणमिव ॥३८॥

अप्रतिविधातरि कार्यनिवेदनमरण्यरुदितमिव ॥३९॥

अर्थ—राजाका कर्त्तव्य है कि वह अपने आश्रित अमात्य-आदि प्रकृतिके साथ अनुरक्त दृष्टि और मधुरभाषण-आदि शिष्ट व्यवहार समान रक्खे। क्योंकि पक्षपात-शून्य समदृष्टिसे राजतंत्रकी श्रीवृद्धि होती है व समस्त प्रकृति—अमात्य-आदि—उससे अनुरक्त रहती है। यदि उसमेंसे किसी कर्मचारी द्वारा उसकी विशेष प्रयोजन-सिद्धि हुई हो, तो उसे एकान्तमें पारितोषिक-प्रदान द्वारा प्रसन्न करे, परन्तु उसका पक्षपात प्रकाशित नहीं होने पावे, अन्यथा अन्य प्रकृतिके लोग राजासे द्वेष करने लगते हैं ॥३७॥ दरिद्र मनुष्यसे धन लेना मरे हुएको मारनेके समान कष्टदायक है। सारांश यह है कि राजा धनिकोंसे ही टेक्स वसूल करे, गरीबोंसे नहीं, क्योंकि उन्हें विशेष कष्ट होता है ॥३८॥ जिसप्रकार जंगलमें रुदन करना व्यर्थ है, उसीप्रकार प्रयोजन-सिद्धि करनेमें असमर्थ पुरुषके लिये अपना प्रयोजन कहना निरर्थक है ॥३९॥

तुलसीदास[1] कवि ने भी कहा है कि नैतिक पुरुषको दूसरेके गृह जाकर अपना दुःख प्रगट नहीं करना चाहिये, क्योंकि इससे गम्भीरता नष्ट होती है और प्रयोजन भी सिद्ध नहीं होता ॥१॥'

हठीको उपदेश, कर्त्तव्यज्ञान-शून्यको शिक्षा, विचार-शून्य (मूर्ख) को योग्य बात कहना और नीच पुरुषका उपकार करना इनकी क्रमशः निष्फलता—

दुराग्रहस्य हितोपदेशो बधिरस्याग्रतो गानमिव × ॥४०॥

अकार्यज्ञस्य शिक्षणमन्धस्य पुरतो नर्तनमिव + ॥४१॥

अविचारकस्य युक्तिकथनं तुषकण्डनमिव ॥४२॥

नीचेषूपकृतमुदके विशीर्णं लवणमिव ॥४३॥

---

* १ 'आश्रितेषु कार्यतो विशेषकरणं' इत्यादि सं० टी० पु० में पाठ है, परन्तु हमने उक्त पाठ मु० व ह० लि० मू० प्रतियोंसे संकलन किया है। सम्पादक—

१ तथा च तुलसीदासः कविः—तुलसी पर घर जायके दुःख न दीजे रोय। भरम गमावे आपना बात न बूझे कोय ॥१॥ संगृहीत—

× + उक्त दोनों सूत्र मु० मू० प्रतिमें नहीं हैं, परन्तु अन्य ह० लि० मू० प्रतियोंमें वर्तमान हैं। सम्पादक—

अर्थ—हठग्राही पुरुषको हितका उपदेश देना बहरेके सामने गीत गानेके समान निष्फल है ॥४०॥ कर्त्तव्यज्ञान-शून्य—मूर्ख पुरुषको शिक्षा देना अन्धेके सामने नाचनेके समान व्यर्थ है ॥४१॥ जिसप्रकार भूसेका कूटना निरर्थक है, उसीप्रकार विचार-शून्य—मूर्खको योग्य बात करना व्यर्थ है ॥४२॥

विद्वानों[1] ने भी कहा है कि 'जिसप्रकार सर्पको दूध पिलाना विष-वर्द्धक है, उसीप्रकार मूर्खको उपदेश देना दुःखदायक है ॥१॥'

नीच मनुष्यके साथ किया हुआ उपकार पानीमें फेंके हुए नमककी तरह नष्ट होजाता है। सारांश यह है कि नीच मनुष्य प्रत्युपकार करनेके बदले उल्टी हानि पहुँचाने तत्पर रहता है ॥४३॥

वादीभसिंहसूरि[2] ने भी कहा है कि जिसप्रकार सांपको पिलाया हुआ दूध विष-वर्धक होता है, उसीप्रकार नीच मनुष्यके साथ किया हुआ उपकार अपकार—हानिके लिये होता है ॥१॥

मूर्खको समझानेमें परिश्रम, परोक्षमें उपकार करना व बिना मौकेकी बात कहना इनकी निष्फलता और उपकारको प्रगट करनेसे हानि क्रमशः—

अविशेषज्ञे प्रयासः शुष्कनदीतरणमिव ॥४४॥

परोक्षे किलोपकृतं सुप्तसंवाहनमिव ॥४५॥

अकाले विज्ञप्तमूषरे कृष्टमिव ॥४६॥

उपकृत्योद्घाटनं वैरकरणमिव ॥४७॥

अर्थ—मूर्ख पुरुषको समझानेमें परिश्रम करना सूखी नदीमें तैरनेके समान निष्फल है ॥४४॥ जो मनुष्य पीठ पीछे किसीका उपकार करता है, वह सोते हुए के पैर दाबनेके समान व्यर्थ कष्ट उठाता है। सारांश यह है कि यद्यपि पीठ पीछे उपकार करनेसे भी भलाई होती है परन्तु उसे मालूम नहीं रहता कि किसने मेरा उपकार किया है? इसलिये वह कभी भी उपकारीका प्रत्युपकार नहीं करता, इसलिये परोक्षमें उपकार करना निरर्थक है ॥४५॥ बिना मौकेकी बात कहना ऊपर जमीनमें बीज बोनेके समान निरर्थक है अतः अवसर पर बात कहनी चाहिये ॥४६॥ जो पुरुष किसीकी भलाई करके उसके सामने प्रगट करता है, वह उससे वैर-विरोध करनेके समान है ॥४७॥

---

१ उक्तं च—उपदेशो हि मूर्खाणां केवलं दुःखवर्द्धनं। पयःपानं भुजंगानां केवलं विषवर्द्धनम् ॥१॥ संगृहीत—

२ तथा च वादीभसिंहसूरिः—उपकारोऽपि नीचानामपकाराय कल्पते। पन्नगेन पयः पीतं विषस्यैव हि वर्द्धनम् ॥१॥

उपकार करनेमें असमर्थ की प्रसन्नता-आदि निरर्थक कार्य क्रमशः—

अफलवतः प्रसादः काशकुसुमस्येव* ॥४८॥

गुणदोषावनिश्चित्यानुग्रहनिग्रहविधानं ग्रहाभिनिवेश इव ॥४९॥

उपकारापकारासमर्थस्य तोषरोपकरणमात्मविडम्बनमिव ॥५०॥

अर्थ—उपकार करनेमें असमर्थ पुरुषका प्रसन्न होना कास—घासविशेष—के पुष्प समान निरर्थक है। अर्थात् नदीके तटवर्ती कास (तृणविशेष) में फूल ही होते हैं, फल नहीं होते, अतः जिसप्रकार कासका फूल निष्फल—फल-रहित—होता है, उसीप्रकार उपकार करनेमें असमर्थ पुरुषका प्रसन्न होना निष्फल—अर्थ-लाभादि प्रयोजन-रहित होता है ॥४८॥

किसी विद्वान्[1] ने भी कहा है कि जिस मनुष्यके असन्तुष्ट—नाराज—होनेपर किसी प्रकारका भय नहीं है और संतुष्ट होनेपर धन-प्राप्ति नहीं होती व जो उपकार-अपकार नहीं कर सकता, वह नाराज होनेपर भी क्या कर सकता है? कुछ नहीं कर सकता ॥१॥'

नैतिक मनुष्यको किसीके गुण-दोषका निश्चय करके उसका क्रमशः उपकार-अनुपकार करना चाहिये। अर्थात् उसे गुणवान्—शिष्ट पुरुषका उपकार और दुष्ट पुरुषका अपकार करना चाहिये, परन्तु जो इससे विपरीत प्रवृत्ति करता है—गुण-दोषका निश्चय किये विना ही किसीके अनुग्रह-निग्रह (उपकार-अपकार) में प्रवृत्त होता है, वह राहु-केतु या भूत-पिशाचके द्वारा व्याप्त पुरुषके समान कष्ट उठाता है। अर्थात् जिसप्रकार राहु-केतु इन अशुभ ग्रहोंसे या पिशाचादिके आक्रमणसे मनुष्य पीड़ित होता है, उसी प्रकार गुण-दोषकी परीक्षा किये विना किसीका उपकार-अनुपकार करनेवाला मनुष्य भी अनेक कष्ट भोगता है ॥४९॥ जो मनुष्य उपकार करनेमें समर्थ नहीं है, उसे सन्तुष्ट करनेका प्रयत्न करना और अपकार करनेमें असमर्थको असंतुष्ट करना अपनी हँसी करानेके सदृश है। सारांश यह है कि जिसप्रकार अपनी हँसी कराना अनुचित है, उसीप्रकार उपकार करनेमें असमर्थको सन्तुष्ट करना और अपकार करनेमें असमर्थको असन्तुष्ट करना अनुचित है, अतः नैतिक व्यक्ति अपने उपकारीको संतुष्ट और अपकारीको असंतुष्ट रक्खे, जिसके परिणामस्वरूप वह संतुष्ट से उपकार प्राप्त कर सके और असंतुष्ट से अपनी हानिका वचाव कर सके ॥५०॥

---

* 'अफलवतो नृपतेः प्रसादः काशकुसुमस्येव' इसप्रकारका पाठ मू० प्रतियोंमें है, जिसका अर्थ राज-पक्षमें पूर्ववत् समझना चाहिये। सम्पादक—

१ उक्तं च—यस्मिन् रुष्टे भयं नास्ति तुष्टे नैव धनागमो। ऽनुग्रहोनिग्रहो नास्ति स रुष्टः किं करिष्यति ॥१॥संगृहीत—

झूठी बहादुरी बतानेवालोंकी एवं उदार-धनकी प्रशंसापूर्वक कृपण-धनकी क्रमशः कड़ी आलोचना—

ग्राम्यस्त्रीविद्रावणकारि गलगर्जितं ग्रामशूराणाम् ॥५१॥

स विभवो मनुष्याणां यः परोपभोग्यो न तु यः स्वस्यैवोपभोग्यो व्याधिरिव ॥५२॥

अर्थ—जो मनुष्य स्वयं डरपोक हैं किन्तु झूठी शूरता दिखाकर ऊपरी भय दिखाते हैं, उनके भयङ्कर चिल्लाने से केवल ग्रामीण स्त्रियाँ ही भयभीत होती हैं, अन्य नागरिक मनुष्य नहीं ॥५१॥ मनुष्योंका वही धन प्रशंसनीय है, जो दूसरों द्वारा भोगा जासके, किन्तु जिसको धनी पुरुष रोग समान स्वयं भोगता है वह कृपण-धन निन्ध है ॥५२॥

वल्लभदेव[1] विद्वान ने भी कहा है कि 'उस कृपण-लक्ष्मीसे क्या लाभ है ? जो कि कुलवधू-समान केवल उसीके द्वारा भोगी जाती है और जो सर्वसाधारण वेश्याकी तरह पथिकों द्वारा नहीं भोगी जाती ॥१॥'

ईर्ष्यालु गुरु, पिता, मित्र तथा स्वामीकी कड़ी आलोचना क्रमशः—

स किं गुरुः पिता सुहृद्वा योऽभ्यसूययाऽर्भं बहुदोषं बहुषु वा दोषं प्रकाशयति न शिक्षयति च ॥५३॥

स किं प्रभुर्यश्चिरसेवकेष्वेकमप्यपराधं न सहते ॥५४॥

अर्थ—वह गुरु, पिता व मित्र निन्ध वा शत्रु सदृश है, जो कि ईर्ष्यावश अपने बहुदोषी शिष्य, पुत्र व मित्रके दोष दूसरोंके समक्ष प्रगट करता है और उसे नैतिक शिक्षण नहीं देता ॥५३॥

गौतम[2] विद्वान् ने कहा है कि 'गुरुको ईर्ष्यावश अपने शिष्यके दोष बहुत मनुष्योंके समक्ष प्रकाशित नहीं करने चाहिये, किन्तु उसे हितकी शिक्षा देनी चाहिये ॥१॥'

वह स्वामी निन्ध है, जो कि अपने चिरकालीन सेवकका एक भी अपराध क्षमा नहीं करता ॥५४॥
शुक्र[3] विद्वान् ने भी कहा है कि 'स्वामीको उस सेवकका, जो कि भक्त होकर चिरकालसे उसकी सेवा कर रहा है, केवल एक दोषके कारण निग्रह नहीं करना चाहिये ॥१॥'

इति पुरोहित-समुद्देश।

---

१ तथा च वल्लभदेवः—किं तया क्रियते लक्ष्म्या या वधूरिव केवला। या न वेश्येव सामान्या पथिकैरुपभुज्यते ॥१॥

२ तथा च गौतमः—शिक्षां दद्यात् स्वशिष्यस्य तद्दोषं न प्रकाशयेत्। ईर्ष्यागर्भं भवेद्यच्च प्रभूतस्य जनाग्रतः ॥१॥

३ तथा च शुक्रः—चिरकालचरो भृत्यो भक्तियुक्तः प्रसेवयेत्। न तस्य निग्रहः कार्यो दोषस्यैकस्य कारणात् ॥१॥

१२ सेनापति-समुद्देश—

सेनापतिके गुण-दोष व राज-सेवककी उन्नति क्रमशः—

अभिजनाचारप्राज्ञानुरागशौचशौर्यसम्पन्नः प्रभाववान्, बहुबान्धवपरिवारो, निखिलनयोपायप्रयोगनिपुणः समभ्यस्तसमस्तवाहनायुधयुद्धलिपिभाषात्मपरिज्ञानस्थितिः सकलतन्त्रसामन्ताभिमतः, साङ्ग्रामिकाभिरामिकाकारशरीरो, भर्तुरादेशाभ्युदयहितवृत्तिषु निर्विकल्पः स्वामिनात्मवन्मानार्थप्रतिपत्तिः, राजचिह्नैः सम्भावितः, सर्वक्लेशायाससहः*, इति सेनापतिगुणाः ॥१॥

स्वैः परैश्च प्रधृष्यप्रकृतिरप्रभाववान् स्त्रीजितत्वमौद्धत्यं व्यसनिताऽक्षयव्ययप्रवासोपहतत्वं तन्त्राप्रतीकारः सर्वैः सह विरोधः परपरीवादः परुषभाषित्वमनुचितज्ञताऽसंविभागित्वं स्वातन्त्र्यात्मसम्भावनोपहतत्वं स्वामिकार्यव्यसनोपेक्षः सहकारिकृतकार्यविनाशो राजहितवृत्तिषु चेर्ष्यालुत्वमिति सेनापतिदोषाः ॥२॥

स चिरं जीवति राजपुरुषो यो नगरनापित इवानुवृत्तिपरः × ॥३॥

अर्थ—जिसमें निम्नप्रकारके गुण वर्तमान हों, उसे सेनाध्यक्ष-पदपर नियुक्त करना चाहिये। कुलीन, आचार-व्यवहार-सम्पन्न, राज-विद्याप्रवीण (विद्वान्), स्वामी व सेवकोंसे अनुरक्त, पवित्रहृदय, बहुपरिवारयुक्त, समस्त नैतिक उपाय (साम-दानादि) के प्रयोग (अग्नि व जल-स्तम्भनप्रभृति) करनेमें कुशल, जिसने समस्त हाथी, घोड़े आदि वाहन, खड्गादिशस्त्र-संचालन, युद्ध और भिन्न देशवर्ती भाषाओंका

---

* इसके पश्चात् 'स्वैः परैश्चाप्रधृष्यप्रकृतिः' इतना अधिक पाठान्तर मू० प्रतियोंमें है, जिसका अर्थ यह है कि जिसकी प्रकृति-प्रधानपुरुष—आत्मीय—राष्ट्रीय और बाहरके शत्रुओं द्वारा पराजित न कीजासके।

× इसके पश्चात् 'सर्वासु प्रकृतिषु' इतना अधिक पाठ मू० प्रतियोंमें है, जिसका अर्थ पूर्ववत् समझना चाहिये।

सम्पादक—

ज्ञान प्राप्त किया हो, आत्मज्ञानी, समस्तसेना व अमात्यप्रभृति प्रधान राज-सेवकोंका प्रेमपात्र, जिसका शरीर योद्धाओंसे लोहा लेनेकी शक्ति-सम्पन्न और मनोज्ञ (युद्ध करनेमें उत्साही) हो, स्वामीकी आज्ञा-पालन, युद्धमें विजय प्राप्ति व राष्ट्रके हित-चिंतवनमें विकल्प रहित, जिसे स्वामीने अपने समान समझकर सन्मानित व धन देकर प्रतिष्ठित किया हो, छत्र-चामरादि राज-चिन्होंसे युक्त और समस्त प्रकारके कष्ट व खेदोंको सहन करनेमें समर्थ ये सेनाध्यक्षके गुण हैं। सारांश यह है कि उक्त गुण-विभूषित वीर पुरुषको सेनाध्यक्ष-पदपर नियुक्त करनेसे विजिगीषुको विजयलक्ष्मी प्राप्त होती है ॥१॥

शुक्र[1] विद्वान्ने भी कहा है कि 'जो राजा समस्त गुण-विभूषित सेनाध्यक्षकी नियुक्ति करता है, वह शत्रु-कृत पराभव प्राप्त नहीं करता ॥ १ ॥'

जिसकी प्रकृति (प्रधान पुरुष) आत्मीय व दूसरे शत्रुओंसे पराजित होसके, तेज-शून्य, स्त्रीकृत उपद्रवोंसे वश किया जानेवाला (जितेन्द्रियता-शून्य), अभिमानी; व्यसनासक्त, मर्यादासे बाहर धनव्ययी, चिरकाल पर्यन्त परदेशवासी, दरिद्र, सैन्यापराधी, सबके साथ वैर-विरोध करनेवाला, अनुचित बातको जाननेवाला, अपनी आयको अकेला खाने वाला, स्वच्छन्द प्रकृति-युक्त, स्वामीके कार्य व आपत्तियोंका उपेक्षक, युद्ध-सहायक योद्धाओंका कार्य-विघातक और राज-हित चिन्तकोंसे ईर्ष्यालु ये सेनापतिके दोष हैं। अभिप्राय यह है कि उक्त दोष-युक्त पुरुषको सेनाध्यक्ष बनानेसे राज्य-क्षति होती है ॥ २ ॥

गुरु[2] विद्वान्ने कहा है कि 'जो मन्दबुद्धि राजा सेनापतिके दोष-युक्त पुरुषको सेनापति बनाता है, वह सेनापति प्रचुर सैनिक शक्ति युक्त होनेपर भी विजयश्री प्राप्त नहीं कर सकता ॥ १ ॥'

जो राज-सेवक राजकीय प्रधान पुरुषोंकी नाईकी तरह विनय करता है, वह चिरकाल तक सुखी रहता है। अर्थात् जिसप्रकार नाई नगरमें प्रविष्ट होकर समस्त मनुष्योंके साथ विनयका वर्ताव करनेसे जीवन-निर्वाह करता हुआ सुखी रहता है, उसीप्रकार राजकीय पुरुषोंके साथ विनयशील राजसेवक भी चिरकाल तक सुखी रहता है ॥ ३ ॥

शुक्र[3] विद्वान्ने कहा है कि 'जो राज-सेवक राजकीय प्रकृतिकी सदा विनय करता है वह राजाका प्रेमपात्र होकर चिरकाल तक सुखी रहता है ॥ १ ॥'

इति सेनापति-समुद्देश।

---

१ तथा च शुक्रः—सर्वैर्गुणैः समोपेतं सेनानाथं करोति यः। भूमिपालो न चाप्नोति स शत्रुभ्यः पराभवं ॥१॥

२ तथा च गुरुः—सेनापतिं स्वदोषाढ्यं यः करोति स मन्दधीः। न जयं लभते संख्ये बहुसेनोऽपि स क्वचित् ॥१॥

३ तथा च शुक्रः—सेवकः प्रकृतीनां यो नम्रतां याति सर्वदा। स नन्दति चिरंकालं भूपस्यापि प्रियो भवेत् ॥१॥

१३ दूत-समुद्देश।

दूतका लक्षण, गुण व भेद क्रमशः—

अनासन्नेष्वर्थेषु दूतो मंत्री * ॥ १ ॥

स्वामिभक्तिरव्यसनिता दाक्ष्यं शुचित्वममूर्खता × प्रागल्भ्यं प्रतिभानवत्वं क्षान्तिः परमर्मवेदित्वं जातिश्च प्रथमे दूतगुणाः ॥ २ ॥

स त्रिविधो निसृष्टार्थः परिमितार्थः शासनहरश्चेति ॥ ३ ॥

यत्कृतौ स्वामिनः सन्धिविग्रहौ प्रमाणं स निसृष्टार्थः, यथा कृष्णः पाण्डवानाम् ॥४॥

अर्थ—जो अधिकारी दूरदेशवर्ती राजकीय कार्य—सन्धि-विग्रहादि—का साधक या प्रदर्शक होनेके कारण मंत्री समान होता है, उसे 'दूत' कहते हैं ॥ १ ॥

राजपुत्र[1] विद्वान् ने कहा है कि 'राजाका अन्य देशसंबन्धी कार्य—सन्धि-विग्रहादि—दूत द्वारा ही सिद्ध होता है; अतः वह (दूत) मंत्रीतुल्य उसे सिद्ध करता है ॥ १ ॥'

स्वामी-भक्त, द्यूत-क्रीड़न-मद्यपानादि व्यसनोंमें अनासक्त, चतुर, पवित्र (निर्लोभी व निर्मल शरीर तथा विशुद्ध वस्त्र-युक्त), विद्वान्, उदार, बुद्धिमान्, सहिष्णु, शत्रु-रहस्यका ज्ञाता और कुलीन ये दूतके मुख्य गुण हैं ॥ २ ॥

शुक्र[2] विद्वान् ने कहा है कि 'जो राजा चतुर, कुलीन, उदार एवं अन्य दूतोचित गुणोंसे युक्त दूतको भेजता है, उसका कार्य सिद्ध होता है ॥ १ ॥'

---

* 'आसन्नेष्वर्थेषु दूतो मंत्री' इस प्रकारका पाठान्तर मू० प्रतियोंमें वर्तमान है, जिसका अर्थ यह है कि जो अधिकारी शीघ्र करने योग्य कार्य—सन्धिविग्रहादि—का साधक, या प्रदर्शक होनेके कारण मंत्री-तुल्य है उसे 'दूत' कहते हैं।

× इसके स्थानमें 'अनुमूर्षता' ऐसा पाठ मू० प्रतियोंमें पाया जाता है, जिसका अर्थ यह है कि राज-दूतको रोगादिके कारण हीनशक्ति नहीं होना चाहिये, शेष अर्थ पूर्ववत् है।

१ तथा च राजपुत्रः—देशान्तरस्थितं कार्यं दूतद्वारेण सिद्ध्यति। तस्माद् दूतो यथा मंत्री तत्कार्यं हि प्रसाधयेत् ॥ १ ॥

२ तथा च शुक्रः—दक्षं जात्यं प्रगल्भं च, दूतं यः प्रेषयेन्नृपः। अन्यैश्च स्वगुणैर्युक्तं तस्य कृत्यं प्रसिद्ध्यति ॥ १ ॥

दूत तीन प्रकारके होते हैं। १ निसृष्टार्थ २ परिमितार्थ ३ शासनहर ॥ ३ ॥ जिसके द्वारा निश्चित किये हुए सन्धि-विग्रहको उसका स्वामी प्रमाण मानता है, वह 'निसृष्टार्थ' है, जैसे पांडवोंका कृष्ण। अभिप्राय यह है कि कृष्णने पांडवोंकी ओर से जाकर कौरवोंसे विग्रह—युद्ध—निश्चित किया था, उसे पांडवोंको प्रमाण मानना पड़ा; अतः कृष्ण पाण्डवोंके 'निसृष्टार्थ' राज-दूत थे। इसीप्रकार राजा द्वारा भेजे हुए संदेश और शासन—लेख—को जैसेका तैसा शत्रुके पास कहने या देनेवालेको क्रमशः 'परिमितार्थ' व 'शासनहर' जानना चाहिये ॥ ४ ॥

भृगु[1] विद्वान् ने कहा है कि 'जिसका निश्चित वाक्य—सन्धि-विग्रहादि—अभिलषित न होने पर भी राजाद्वारा उल्लङ्घन न किया जासके उसे नीतिज्ञोंने निसृष्टार्थ' कहा है ॥ १ ॥ जो, राजाद्वारा कहा, हुआ संदेश—वाक्य—शत्रुके प्रति यथार्थ कहता है, उससे हीनाधिक नहीं कहता, उसे 'परिमितार्थ' जानना चाहिये ॥ २ ॥ एवं जो राजाद्वारा लिखा हुआ लेख यथावत् शत्रुको प्रदान करता है, उसे नीतिज्ञोंने 'शासनहर' कहा है ॥ ३ ॥'

दूत-कर्त्तव्य (शत्रु-स्थानमें प्रवेश व प्रस्थानके नियम-आदि) क्रमशः—

अविज्ञातो दूतः परस्थानं न प्रविशेन्निर्गच्छेद्वा ॥ ५ ॥

मत्स्वामिनाऽसंधातुकामो रिपुर्मां विलम्बयितुमिच्छतीत्यननुज्ञातोऽपि दूतोऽपसरेद् गूढपुरुषान्वाऽवसर्पयेत् ॥ ६ ॥

परेणाशु प्रेषितो दूतः कारणं विमृशेत् ॥ ७ ॥

अर्थ—दूत शत्रु द्वारा अज्ञात होकर—उसकी आज्ञाके विना—न तो शत्रु-स्थानमें प्रविष्ट हो और न वहाँसे प्रस्थान करे। सारांश यह है कि जब दूत शत्रुकी आज्ञा-पूर्वक प्रवेश या प्रस्थान करता है, तब उसे अपने घातका भय नहीं रहता ॥ ५ ॥

गुरु[2] विद्वान् ने कहा है कि 'जो दूत शत्रुकी आज्ञा विना ही उसके स्थानमें प्रवेश या प्रस्थान करता है, वह वधको प्राप्त होता है ॥ १ ॥'

जब दूतको यह निश्चय होजावे कि यह शत्रु मेरे स्वामीसे सन्धि नहीं करेगा किन्तु युद्ध करनेका

---

१ तथा च भृगुः—यद्वाक्यं नान्यथाभावि प्रभोर्यद्यप्यनीप्सितम्। निसृष्टार्थः स विज्ञेयो दूतो नीतिविचक्षणैः ॥ १ ॥
यत् प्रोक्तं प्रभुणा वाक्यं तत् प्रमाणं वदेच्च यः। परिमितार्थ इति ज्ञेयो दूतो नान्यं ब्रवीति यः ॥ २ ॥
प्रभुणा लेखितं यच्च तत् परस्य निवेदयेत्। यः शासनहरः सोऽपि दूतो ज्ञेयो नयान्वितैः ॥ ३ ॥

२ तथा च गुरुः—शत्रुणा योऽपरिज्ञातो दूतस्तत्स्थानमाविशेत्। निर्गच्छेद्वा ततः स्थानात् स दूतो वधमाप्नुयात् ॥ १ ॥

इच्छुक है और इसीकारण मुझे यहाँ रोक रहा है, तब उसे शत्रुकी आज्ञाके विना ही वहाँसे प्रस्थान कर देना चाहिये या स्वामीके पास गुप्तदूत भेज देना चाहिये ॥ ६॥

हारीत[1] विद्वान् ने कहा है कि 'चतुर दूत शत्रुको अपने स्वामीसे युद्धकरनेका इच्छुक जानकर शत्रुकी आज्ञाके विना ही अपने स्वामीके स्थानपर पहुँच जावे या गुप्त दूत भेज देवे ॥ १॥'

यदि शत्रुने दूतको देखकर ही वापिस लौटा दिया हो, तो दूत उसका कारण सोचे ॥ ७॥

गर्ग[2] विद्वान् ने भी कहा है कि 'शत्रु द्वारा शीघ्र वापिस भेजा हुआ दूत उसका कारण जानकर स्वामीका हित करे ॥ १॥'

दूतका स्वामी-हितोपयोगी कर्त्तव्य—

कृत्योपग्रहोऽकृत्योत्थापनं सुतदायादावरुद्धोपजापः स्वमण्डलप्रविष्टगूढपुरुषपरिज्ञानमन्तपालाटविककोशदेशतन्त्रमित्रावबोधः कन्यारत्नवाहनविनिश्रावणं स्वामीष्टपुरुषप्रयोगात् प्रकृतिक्षोभकरणं दूतकर्म ॥ ८॥

मन्त्रिपुरोहितसेनापतिप्रतिबद्धपूजनोपचारविश्रम्भाभ्यां शत्रोरितकर्त्तव्यतामन्तः सारतां च विद्यात् ॥ ९॥

स्वयमशक्तः परेणोक्तमनिष्टं सहेत ॥ १०॥

गुरुषु स्वामिषु वा परिवादे नास्ति क्षान्तिः॥ ११॥

अर्थ—दूत स्वामी-हितार्थ शत्रु-राजाके यहाँ ठहरकर निम्नप्रकार कर्त्तव्य-पालन करे। १ नैतिक उपाय द्वारा शत्रु-कार्य—सैनिक-संगठन-आदि—को नष्ट करना, २ राजनैतिक उपाय द्वारा शत्रुका अनर्थ करना—शत्रु-विरोधी—क्रुद्ध, लुब्ध, भीत और अभिमानी—पुरुषोंको साम-दान द्वारा वशमें करना-आदि, ३ शत्रुके पुत्र, कुटुम्बी व जेलखानेमें वन्दीभूत मनुष्योंमें द्रव्य-दानादि द्वारा भेद उत्पन्न करना, ४ शत्रु द्वारा अपने देशमें भेजे हुए गुप्त पुरुषोंका ज्ञान, ५ सीमाधिप, आटविक (भिल्लादि), कोश देश, सैन्य और मित्रोंकी परीक्षा, ६ शत्रु राजाके यहाँ वर्तमान कन्यारत्न तथा हाथी-घोड़े आदि वाहनोंको निकालनेका प्रयत्न अथवा गुप्तचरों द्वारा स्वामीको बताना, ७ शत्रु-प्रकृति (मंत्री- सेनाध्यक्ष-आदि)में गुप्तचरोंके प्रयोग द्वारा क्षोभ उत्पन्न करना ये दूतके कार्य हैं ॥ ८॥

---

१ तथा च हारीतः—अमन्यानं परं शत्रुं दूतो ज्ञात्वा विचक्षणः। अनुक्तोऽपि गृहं गच्छेद् गुप्तान् वा प्रेषयेच्चरान् ॥ १॥
२ तथा च गर्गः—शत्रुणा प्रेषितो दूतो यच्छीघ्रं प्रविचिन्तयेत्। कारणं चैव विज्ञाय कुर्यात् स्वामिहितं ततः ॥१॥

दूत शत्रुके मंत्री, पुरोहित और सेनाध्यक्षके समीपवर्ती पुरुषोंको धन-दान द्वारा अपनेमें विश्वास उत्पन्न कराकर शत्रु-हृदयकी गुप्त बात—युद्धादि—व उसके कोश-सैन्यके प्रमाणका निश्चय करे ॥ ६ ॥

दूत शत्रुके प्रति स्वयं कठोर वचन न कहकर उसके कहे हुए कठोर वचन सहन करे ॥ १० ॥

शुक्र[1] विद्वान्‌ने कहा है कि 'लक्ष्मी चाहनेवाला दूत शत्रुसे कर्कश वचन न कहकर उसके कठोर वचन सहे और उत्तर न देवे ॥ १ ॥'

जब दूत शत्रु-मुखसे अपने गुरु व स्वामीकी निन्दा सुने तब उसे शान्त नहीं रहकर उसका यथायोग्य प्रतीकार करना चाहिये ॥ ११ ॥

जैमिनि[2] विद्वान्‌ने कहा है कि 'जो पुरुष शत्रुसे की हुई अपने गुरु व स्वामीकी निन्दा सुनकर कुपित नहीं होता, वह नरक जाता है ॥ १ ॥'

निरर्थक विलम्बसे हानि—

स्थित्वापि यियासतोऽवस्थानं केवलमुपक्षयहेतुः ॥ १२ ॥

अर्थ—जो मनुष्य स्थित होकरके भी किसी प्रयोजन—अर्थ-लाभादि—सिद्धिके लिये देशान्तरमें गमन करनेका इच्छुक है, यदि वह किसी कारणवश—आलस्य-आदिके कारण—रुक जाता है या जानेमें विलम्ब कर देता है, तो इससे उसके धन-लाभादि प्रयोजन नष्ट होजाते हैं; अत एव नैतिक व्यक्तिको गन्तव्य स्थानमें अवश्य जाना चाहिये।

रैभ्य[3] विद्वान्‌ने भी कहा है कि 'नैतिक पुरुष गन्तव्य स्थानमें जानेसे विलम्ब न करे, अन्यथा उसकी धन-क्षति होती है ॥ १ ॥' राजनैतिक-प्रकरणमें अभिप्राय यह है कि जो विजिगीषु स्थित होकरके भी शक्ति-संचय—सैनिक-संगठन-आदि करके शत्रुपर चढ़ाई करनेके उद्देश्यसे शत्रु-देशमें जानेका इच्छुक है, यदि वह वहाँ नहीं जाता या विलम्ब कर देता है, तो उसके धन-जन-आदिकी क्षति होजाती है; क्योंकि शत्रु उसे हीनशक्ति समझकर उस पर चढ़ाई कर देता है, जिसके फलस्वरूप उसके धन-जनकी क्षति होती है ॥ १२ ॥

दूतोंसे सुरक्षा व उसका दृष्टान्त द्वारा समर्थन—

वीरपुरुषपरिवारितः शूरपुरुषान्तरितात् दूतान् पश्येत् ॥ १३ ॥

श्रूयते हि किल चाणिक्यस्तीक्ष्णदूतप्रयोगेणैकं नन्दं जघान ॥ १४ ॥

---

१ तथा च शुक्रः—असमर्थेन दूतेन शत्रोर्यत् परुषं वचः। तत् क्षन्तव्यं न दातव्यमुत्तरं श्रियमिच्छता ॥ १ ॥

२ तथा च जैमिनिः—गुरोर्वा स्वामिनो वापि कृतां निन्दां परेण तु। यः शृणोति न कुप्येच्च स पुमान्नरकं व्रजेत् ॥१॥

३ तथा च रैभ्यः—अवश्यं यदि गन्तव्यं तन्न कुर्याद्विलम्बनम्। गन्तव्यनेव नो चेद्धि तस्माद्धनपरिक्षयः ॥ १ ॥

अर्थ—विजिगीषुको स्वयं बहादुर सैनिकोंसे घिरा रहकर और शत्रु-देशसे आये हुए दूतोंको भी वीर सैनिकोंके मध्यमें रखकर उनसे वार्तालाप आदि करना चाहिये। सारांश यह है कि विजिगीषु कभी भी अरक्षित अवस्थामें—पल्टनके पहरेके बिना—शत्रु-देशसे आये हुए दूतोंसे संभाषण-आदि न करे अन्यथा वह उनके खतरेसे खाली नहीं रह सकता ॥ १३ ॥

नारद[1] विद्वान्ने भी कहा है कि 'चिरकालीन जीवनकी कामना करनेवाला विजिगीषु बहुतसे वीर सैनिकोंसे घिरा रहकर शत्रु-दूतोंको देखे ॥ १ ॥' इतिहास बताता है कि आर्य चाणक्य (ई०से ३३० वर्ष पूर्वकालीन सम्राट् चन्द्रगुप्तका मंत्री) ने तीक्ष्णदूत—विषकन्याके प्रयोगद्वारा अरक्षित नन्द राजाको मार डाला था ॥ १४ ॥

शत्रु-प्रेषित लेख-उपहारके विषयमें राज-कर्तव्य व दृष्टान्त द्वारा स्पष्टीकरण क्रमशः—

शत्रुप्रहितं शासनमुपायनं च स्वैरपरीक्षितं नोपाददीत ॥ १५ ॥

श्रूयते हि किल स्पर्शविषवासिताद्भुतवस्त्रोपायनेन करहाटपतिः कैटभो वसुनामानं राजानं जघान ॥ १६ ॥

आशीविषविषधरोपेतरत्नकरण्डकप्राभृतेन च करवालः करालं जघानेति ॥ १७ ॥

अर्थ—विजिगीषु राजा शत्रुद्वारा भेजे हुए लेख व उपहार आत्मीयजनों—प्रामाणिक राजवैद्य-आदि—से बिना परीक्षा किये हुए स्वीकार न करे ॥ १५ ॥

शुक्र[2] विद्वान्ने कहा है कि 'राजाको शत्रु-प्रेषित पत्र व उपहार जब तक वैद्यादि आप्त—प्रामाणिक—पुरुषों द्वारा परीक्षित न किये जावें तब तक ग्रहण नहीं करना चाहिये ॥ १ ॥'

नीतिविद्या-विशारदोंकी परम्परासे सुना जाता है कि करहाट देशके राजा कैटभने वसुनामके प्रतिद्वन्द्वी राजाको दूतद्वारा भेजे हुए व फैलनेवाले विषसे वासित (वासना दिये गये—बार२ भिगोये हुए) बहुमूल्य वस्त्रोंके उपहार-भेंट द्वारा मार डाला। सारांश यह है कि वसुराजाने विष-दूषित उन बहुमूल्य वस्त्रोंको आप्तपुरुषों द्वारा परीक्षित किये बिना ज्यों ही धारण किया, त्यों ही वह तत्काल काल-कवलित होगया। अतः शत्रु-कृत खतरेसे सुरक्षित रहनेके लिये विजिगीषुको शत्रु-प्रेषित उपहार आप्तपुरुषों द्वार परीक्षित होनेपर ही ग्रहण करना चाहिये ॥ १६ ॥ इसी प्रकार करवाल नामके राजाने कराल नामके शत्रु राजाको दृष्टिविषवाले सर्पसे व्याप्त रत्नोंके पिटारेकी भेंट भेजकर मारडाला। सारांश यह है कि ज्यों ही कराल राजाने शत्रु-प्रेषित उस रत्न-पिटारेको खोला त्योंही वह उसमें वर्तमान दृष्टिविष सर्पके

---

१ तथा च नारदः—परदूतान् नृपः पश्येद् वीरैर्बहुभिरावृतः। शूरैरन्तर्गतस्तेषां चिरंजीवितुमिच्छया ॥ १ ॥

२ तथा च शुक्रः—यावत् परीक्षितं न स्वैर्लिखितं प्राभृतं तथा। शत्रोरभ्यागतं राज्ञा तावद्ग्राह्यं न तद्भवेत् ॥ १ ॥

विषसे तत्काल दीर्घनिद्रा(मृत्यु)को प्राप्त होगया; अतः राजाको शत्रु-प्रेषित उपहार आप्त-परीक्षित हुए स्वीकार करना चाहिये ॥ १७ ॥

दूतके प्रति राज-कर्त्तव्य—उसका वध न करना, दूत-लक्षण व दूतवचन-श्रवण क्रमशः—

महत्यपराधेऽपि न दूतमुपहन्यात् A ॥ १८ ॥

उद्धृतेष्वपि शस्त्रेषु दूतमुखा वै राजानः B ॥ १९ ॥

तेषामन्तावसायिनोऽप्यवध्याः ॥ २० ॥

किं पुनर्ब्राह्मणः ॥ २१ ॥

अवध्यभावो दूतः सर्वमेव जल्पति ॥ २२ ॥

कः सुधीर्दूतवचनात् परोत्कर्षं स्वापकर्षं च मन्येतः C ॥ २३ ॥

अर्थ—राजाका कर्तव्य है कि वह दूत द्वारा महान् अपराध किये जानेपर भी उसका वध न करे १८

शुक्र[1] विद्वान्‌ने कहा है कि 'राजा यदि अपनी भलाई चाहता है तो उसे दूतद्वारा गुरुतर अपराध किये जानेपर भी उसका उस समय वध नहीं करना चाहिये ॥ १ ॥'

वीर सैनिकोंद्वारा शस्त्र संचालित किये जानेपर भी—घोर युद्ध-आरम्भ होनेपर भी राजा लोग दूतमुखवाले होते हैं—दूत-वचनों द्वारा ही अपनी कार्य-सिद्धि (सन्धि-विग्रहादिसे विजयलक्ष्मी प्राप्त करना) करते हैं। अभिप्राय यह है कि युद्धके पश्चात् भी दूतोंका उपयोग होता है; अतः दूत वध करनेके अयोग्य हैं ॥ १९ ॥

गुरु[2] विद्वान्‌ने कहा है कि 'महाभयङ्कर युद्ध आरम्भ होनेपर भी दूत राजाओंके समक्ष सन्धि-आदि करानेके निमित्त विचरते रहते हैं; अत एव राजाको उनका वध नहीं कराना चाहिये ॥ १ ॥'

A 'महत्यपकारे दूतमपि हन्येत' इसप्रकारका पाठान्तर मु० व ह० लि० मू० प्रतियोंमें है, जिसका अर्थ यह है कि दूत द्वारा गुरुतर अपराध या अपकार किये जानेपर राजाको उसका वध कर देना चाहिये।

B उक्त सूत्रका 'उद्धृतेषु' पद मू० प्रतियोंसे संकलित किया गया है, सं० टी०पु० में 'उद्धतेषु' ऐसा पाठ है, अर्थ-भेद कुछ नहीं।

C 'कः सुधीर्दूतमुखात् स्वानात्' इत्यादि पाठान्तर मू० प्रतियोंमें वर्तमान है, परन्तु अभिप्रायमें कोई भेद नहीं।

सम्पादक—

१ तथा च शुक्रः—दूतं न पार्थिवो हन्यादपराधे गरीयसि। कृतेऽपि तत्क्षणात्तस्य यदीच्छेद् भूतिमात्मनः ॥ १ ॥

२ तथा च गुरुः—अपि सङ्ग्रामकालेऽपि वर्तमाने सुदारुणे। सर्पन्ति संमुखा दूता [वधं तेषां न कारयेत्]॥ १ ॥ सं०

यदि दूतोंके मध्यमेंसे चाण्डाल भी दूत बनकर आये हों, तो वे भी वध करनेके अयोग्य हैं उच्चवर्णवाले ब्राह्मण दूतोंका तो कहना ही क्या है ? अर्थात् वे तो सर्वथा वध करने अयोग्य होते हैं २०-२१

शुक्र[1] विद्वान्‌ने भी कहा है कि 'दूतोंमें यदि चाण्डाल भी हों तो राजाको अपनी कार्य-सिद्धिके लिये उनका वध नहीं करना चाहिये ॥ १ ॥'

दूत राजा द्वारा वध करनेके अयोग्य होता है, इसलिये वह उसके समक्ष सभी प्रकारके—सत्य, असत्य, प्रिय व अप्रिय—वचन बोलता है; अतः राजाको उसके कठोर वचन सहन करना चाहिये ॥२२॥

कौन बुद्धिमान् राजा दूतके वचन सुनकर शत्रुकी उन्नति और अपनी अवनति मानता है ? कोई नहीं मानता। अभिप्राय यह है कि राजाको दूत द्वारा प्रगट हुई शत्रु-वृद्धि प्रामाणिक—सत्य—नहीं माननी चाहिये ॥ २३ ॥

वसिष्ठ[2] विद्वान्‌ने भी कहा कि 'बुद्धिमान् राजाको ईर्ष्या छोड़कर दूत द्वारा कहे हुए प्रिय और अप्रिय सभी प्रकारके वचन सुनने चाहिये ॥ १ ॥'

दूतके प्रति शत्रु-रहस्यज्ञानार्थ राज-कर्तव्य व शत्रु लेख—

स्वयं रहस्यज्ञानार्थं परदूतो नयार्यैः स्त्रीभिरुभयवेतनैस्तद्‌गुणाचारशीलानुवृत्तिभिर्वा वंचनीयः ॥ २४ ॥

चत्वारि वेष्टनानि खड्गमुद्रा च प्रतिपक्षलेखानाम् ॥ २५ ॥

अर्थ—राजाका कर्त्तव्य है कि वह शत्रु राजाका गुप्त रहस्य—सैन्यशक्ति-आदि जाननेके लिये उसके दूतको नीतिज्ञ वेश्याओं, दोनों तरफसे वेतन पानेवाले दूतों तथा दूतके गुण, आचार व स्वभावसे परिचित रहनेवाले दूत-मित्रों द्वारा वशमें करे ॥ २५ ॥

शुक्र[3] विद्वान्‌ने कहा है कि 'राजाको शत्रु-दूतका रहस्य जिसके द्वारा शत्रु उन्नतिशील होरहा है, जाननेके लिये वेश्याओं, दोनों तरफसे वेतन पानेवाले तथा दूत-प्रकृतिसे परिचित व्यक्तियों द्वारा प्रयत्नशील रहना चाहिये ॥ १ ॥'

विजिगीषुको शत्रु राजाके पास भेजे हुए लेखों—पत्रादि-में चार वेष्टन व उनके ऊपर खड्गकी मुद्रा (मुहुर)लगा देनी चाहिये, जिससे वे मार्गमें न खुलने पावें ॥ २५ ॥

इति दूतसमुद्देश ।

---

१ तथा च शुक्रः— अन्त्यावसायिनो येऽपि दूतानां प्रभवन्ति च । अवध्यास्तेऽपि भूतानां स्वकार्यपरिसिद्धये ॥ १ ॥
२ तथा च वसिष्ठः—श्रोतव्यानि महीपेन दूतवाक्यान्यशेषतः । विज्ञेनेर्ष्यां परित्यज्य शुभान्यशुभान्यपि ॥ १ ॥
३ तथा च शुक्रः—दूतस्य यद्रहस्यं च तद्वेश्योभयवेतनैः । तच्छीलैर्वा परिज्ञेयं येन शत्रुः प्रसिद्ध्यति ॥ १ ॥

१४ चारसमुद्देश ।

गुप्तचरोंका लक्षण, गुण, वेतन व उसका फल क्रमशः—

स्वपरमण्डलकार्याकार्यावलोकने चाराः खलु चक्षूंषि क्षितिपतीनाम् ॥ १ ॥

अलौल्यममान्द्यममृषाभाषित्वमभ्यूहकत्वं चारगुणाः ॥ २ ॥

तुष्टिदानमेव चाराणां वेतनम् ॥ ३ ॥

ते हि तल्लोभात् स्वामिकार्येषु त्वरन्ते ॥ ४ ॥

अर्थ—गुप्तचर स्वदेश-परदेशसंबंधी कार्य-अकार्यका ज्ञान करनेके लिये राजाओंके नेत्र हैं। अभिप्राय यह है कि राजा लोग गूढ़पुरुषों द्वारा ही अपने व दूसरे देश संबन्धी राजकीय वृत्तान्त जानते हैं, स्वयं नहीं ॥ १ ॥

गुरु[1] विद्वान्ने कहा है कि 'राजा लोग दूरदेशवर्ती होकरके भी स्वदेश-परदेश संबंधी कार्य-अकार्य गुप्तचरों द्वारा जानते हैं ॥ १ ॥'

संतोष, आलस्यका न होना—उत्साह अथवा निरोगता, सत्यभाषण और विचार-शक्ति ये गुप्तचरोंके गुण हैं ॥ २ ॥

भागुरि[2] विद्वान्ने कहा है कि 'जिन राजाओंके गुप्तचर आलस्य-रहित—उत्साही, संतोषी, सत्यवादी और तर्कणाशक्ति-युक्त होते हैं, वे (गुप्तचर) अवश्य राजकीय कार्य सिद्ध करनेवाले होते हैं ॥ १ ॥'

कार्य-सिद्धि होजानेपर राजाद्वारा जो संतुष्ट होकर प्रचुर धन दिया जाता है, वही गुप्तचरोंका वेतन है; क्योंकि उस धनप्राप्तिके लोभसे वे लोग अपना स्वामीकी कार्य-सिद्धि शीघ्रतासे करते हैं ॥ ३-४ ॥

गौतम[3] विद्वानने भी कहा है कि 'जो गुप्तचर राजासे संतुष्ट होकर दिया हुआ प्रचुर धन प्राप्त करते हैं, वे उत्कंठित होकर राजकीय कार्य शीघ्र सिद्ध करते हैं ॥ १ ॥'

---

१ तथाच गुरुः—स्वमण्डले परे चैव कार्याकार्यं च यद्भवेत् । चरैः पश्यन्ति यद्भूपा सुदूरमपि संस्थिताः ॥ १ ॥

२ तथाच भागुरिः—अनालस्यमलौल्यं च सत्यवादित्वमेव च । ऊहकत्वं भवेद्येषां ते चराः कार्यसाधकाः ॥ १ ॥

३ तथा च गौतमः—स्वामितुष्टि प्रदानं ये प्राप्नुवन्ति समुत्सुकाः । ते तत्कार्याणि सर्वाणि चराः सिद्धिं नयन्ति च ॥१॥

गुप्तचरके वचनोंपर विश्वास, गुप्तचर-रहितकी हानि व उसका दृष्टांत द्वारा समर्थन क्रमशः—

असति संकेते त्रयाणामेकवाक्ये संप्रत्ययः + ॥५॥

अनवसर्पो हि राजा स्वैः परैश्चातिसन्धीयते ॥६॥

किमस्त्ययामिकस्य निशि कुशलम् ॥७॥

अर्थ—यदि राजाको गुप्तचर द्वारा कही हुई वातोंमें भ्रम या सन्देह उत्पन्न होजावे, तो तीन गुप्तचरों की कही हुई एकसी वात मिलनेपर उसे प्रमाण माननी चाहिये ॥५॥

भागुरि[1] विद्वान् ने कहा है कि 'जब गुप्तचरोंके वाक्य निश्चित (विश्वासके योग्य) न हों, तब राजा-को तीन गुप्तचरोंकी कही हुई एकसी वात सत्य मान लेनी चाहिए ॥१॥'

निश्चयसे जिस राजाके यहां गुप्तचर नहीं होते वह स्वदेश और परदेश सम्बन्धी शत्रुओं द्वारा आक्रमण किया जाता है, अतः विजीगोपुको स्वदेश-परदेशमें गुप्तचर भेजना चाहिये ॥६॥

चारायण[2] विद्वान् ने भी कहा है कि 'राजाओंको वैद्य, ज्योतिषी, विद्वान्, स्त्री, संपेरा और शराबी आदि विविध गुप्तचरों द्वारा अपनी तथा शत्रुओंकी सैन्यशक्ति जाननी चाहिये ॥१॥'

क्या द्वारपालके विना धनाढ्य पुरुषका रात्रिमें कल्याण होसकता है ? नहीं होसकता। उसीप्रकार गुप्तचरोंके विना राजाओंका कल्याण नहीं होसकता ॥७॥

वर्ग[3] विद्वान् ने कहा है कि 'जिसप्रकार रात्रिमें द्वारपालके विना धनाढ्यका कल्याण नहीं होता, उसीप्रकार चतुर गुप्तचरोंके विना राजाका भी कल्याण नहीं होसकता ॥१॥'

+ असति संकेते त्रयाणामेकवाक्ये युगपत् सम्प्रत्ययः' इसप्रकार मू० प्रतियोंमें पाठान्तर है, किन्तु अर्थ-भेद नहीं। नोट—उक्त सूत्रका यह अभिप्राय भी है कि जब राजा परिचित स्थानमें संकेत—शक्तिग्रह करके गुप्तचर भेजे, तो उसकी कही हुई वात प्रमाण मान लेनी चाहिये परन्तु जहां विना संकेत किये ही भेजे, ऐसे अवसर पर पारितोषिक-लोभसे गुप्तचर मिथ्याभाषण भी कर सकता है, इसलिये वहां तीनोंकी एकसी बात मिलनेपर उसपर विश्वास करलेना चाहिये। सम्पादक—

१ तथा च भागुरिः—असंकेतेन चाराणां यदा वाक्यं प्रतिष्ठितम्। त्रयाणामपि तत्सत्यं विज्ञेयं पृथिवीभुजा ॥१॥

२ तथा च चारायणः—वैद्यसंवत्सराचार्यैश्चारैर्ज्ञेयं निजं बलम्। वामाहितुण्डिकोन्मत्तैः परेषामपि भूभुजाम् ॥१॥

३ तथा च वर्गः— यथा प्राहरिकैर्बाह्यं रात्रौ क्षेमं न जायते। चारैर्विना न भूपस्य तथा ज्ञेयं विचक्षणैः ॥ १ ॥

गुप्तचरोंके भेद और उनके लक्षण—

छात्र*कापटिकोदास्थित-गृहपति-वैदेहिक-तापस-किरात × यमपट्टिकाहितुण्डिक-शौण्डिक-शौभिक-पाटच्चर-विट-विदूषक-पीठमर्द-नर्त्तक-गायन-वादक-वाग्जीवन-गणक शाकुनिक-भिषगैन्द्रजालिक-नैमित्तिक-सूदारालिक-संवादक-तीक्ष्ण + -क्रूर-जड़-मूक-बधिरान्धछद्मावस्थायियायिभेदेनावसर्पवर्गः ॥८॥

परमर्मज्ञः प्रगल्भश्छात्रः ॥९॥

यं कमपि समयमास्थाय प्रतिपन्नछात्रवेषकः कापाटिकः ॥१०॥

प्रभूतान्तेवासी प्रज्ञातिशययुक्तो राज्ञा परिकल्पितवृत्तिरुदास्थितः ॥११॥

गृहपतिवैदेहिकौ ग्रामकूटश्रेष्ठिनौ ॥१२॥

बाह्यव्रतविद्याभ्यां लोकदम्भहेतुस्तापसः ॥१३॥

अल्पाखिलशरीरावयवः किरातः ॥१४॥

यमपट्टिको गलत्रोटिकः प्रतिगृहं चित्रपटदर्शी वा ॥१५॥

अहितुण्डिकः सर्पक्रीड़ाप्रसरः ॥१६॥

शौण्डिकः कल्यपालः ॥१७॥

शौभिकः क्षपायां पटावरणेन रूपदर्शी ॥१८॥

पाटच्चरश्चौरो बन्दीकारो वा ॥१९॥

व्यसनिनां प्रेषणानुजीवो विटः ॥२०॥

सर्वेषां प्रहसनपात्रं विदूषकः ॥२१॥

कामशास्त्राचार्यः पीठमर्दः ॥२२॥

---

* मू० प्रतियोंमें 'छात्र' पद नहीं है।

× इसके पश्चात् 'मू० प्रतियोंमें आक्षिकालिक' पद है, जिसका अर्थ—द्यूतक्रीड़ामें निपुण गुप्तचर है।

+ इसके पश्चात् मू० प्रतियोंमें 'रसद' पाठ है जिसका अर्थ—आलसी गुप्तचर है।

गीताङ्गपटप्रावरणेन नृत्यवृत्त्याजीवी नर्तको नाटकाभिनयरङ्गनर्त्तको वा ॥२३॥

रूपाजीवावृत्त्युपदेष्टा गायकः ॥२४॥

गीतप्रबन्धगतिविशेषवादकचतुर्विधातोद्यप्रचारकुशलो वादकः ॥२५॥

वाग्जीवी वैतालिकः सूतो वा ॥२६॥

गणकः संख्याविद्दैवज्ञो वा ॥२७॥

शाकुनिकः शकुनवक्ता ॥२८॥

भिषगायुर्वेदविद्वैद्यः शस्त्रकर्मविच्च ॥२९॥

ऐन्द्रजालिकतन्त्रयुक्त्या मनोविस्मयकरो मायावी वा ॥३०॥

नैमित्तिको लक्ष्यवेधी दैवज्ञो वा ॥३१॥

महासाहसिकः सूदः॥ ३२॥

विचित्रभक्ष्यप्रणेता आरालिकः ॥ ३३ ॥ अङ्गमर्दनकलाकुशलो भारवाहको वा संवाहकः ॥ ३४ ॥

द्रव्यहेतोः कृच्छ्रेण कर्मणा यो जीवितविक्रयी स तीक्ष्णोऽसहनो वा ॥३५॥

बन्धुस्नेहरहिताः क्रूराः ॥३६॥अलसाश्च रसदाः॥३७॥

जड़-मूक-बाधिरान्धाः प्रसिद्धाः ॥ ३८ ॥

अर्थ—गुप्तचरों (खुफिया पुलिस)के निम्नप्रकार ३४ भेद हैं, उनमें कुछ अवस्थायी (जिन्हें राजा अपने ही देशमें मंत्री व पुरोहित-आदि की जाँचके लिये नियुक्त करता है) और कुछ यायी (जिन्हें शत्रु-राजाके देशमें भेजा जाता है) होते हैं। छात्र, कापटिक, उदास्थित, गृहपति, वैदेहिक, तापस, किरात, यमपट्टिक, अहितुण्डिक, शौण्डिक, शौभिक, पाटच्चर, विट, विदूषक, पीठमर्द, नर्त्तक, गायन, वादक, वाग्जीवन, गणक, शाकुनिक, भिषग्, ऐन्द्रजालिक, नैमित्तिक, सूद, आरालिक, संवादक, तीक्ष्ण, क्रूड़, रसद, जड़, मूक, वधिर, और अन्ध ॥ ८ ॥

दूसरोंके गुप्त रहस्यका ज्ञाता व प्रतिभाशाली गुप्तचरको 'छात्र' कहते हैं ॥ ९ ॥ किसी भी शास्त्रको पढ़कर छात्र-वेशमें रहनेवाले गुप्तचरको 'कापटिक' कहते हैं ॥ १० ॥ बहुतसी शिष्य-मण्डली सहित, तीक्ष्ण बुद्धि-युक्त (विद्वान) और जिसकी जीविका राजा द्वारा निश्चित

कीगई है, ऐसे गुप्तचरको 'उदास्थित' कहते हैं ॥ ११ ॥ कृषक-वेशमें रहनेवाला 'गृहपति' और सेठके वेषमें रहनेवाला गुप्तचर 'वैदेहिक' कहा जाता है ॥ १२ ॥ कपट-युक्त (बनावटी) व्रत विद्या द्वारा ठगनेवाले और सन्यासी-वेशधारी गुप्तचरको 'तापस' कहा है ॥ १३ ॥ जिसके समस्त शरीरके अङ्गोपाङ्ग (हस्त-पादादि) कदमें छोटे हों, उस (बोने) गुप्तचरको 'किरात' कहते हैं ॥ १४ ॥ प्रत्येक गृहमें जाकर चित्रपट—वस्त्रमें उकारी हुई तस्वीर--दिखानेवाला अथवा गला फाड़कर चिल्लानेवाला (कोट्टपाल-वेषी) गुप्तचर 'यमपट्टिक है ॥ १५ ॥ सर्प-क्रीड़ामें चतुर—सपेरेके वेषमें वर्तमान-गुप्तचर 'अहितुण्डिक' कहा गया है ॥ १६ ॥ शराब वेचनेवालेके वेषमें वर्तमान गुप्तचरको 'शौण्डिक' कहा है ॥ १७ ॥ जो गुप्तचर रात्रिमें नाट्य-भूमिमें पर्दा लगाकर नाटकका पात्र बनकर अनेक रूप प्रदर्शन करता है, उसे 'शौभिक' कहते हैं ॥ १८ ॥ चोर अथवा कैदीके वेषमें वर्तमान गुप्तचरको 'पाटच्चर' कहते हैं ॥ १९ ॥ जो गुप्तचर व्यभिचार-आदि व्यसनोंमें प्रवृत्ति करनेवाले व्यभिचारियों आदि को वेश्या-आदिके यहां भेजकर अपनी जीविका करता हुआ राजकीय प्रयोजन-सिद्धि करता है उसे 'विट' कहते हैं ॥ २० ॥ सभी दर्शकों या श्रोताओंको हंसानेकी कलामें प्रवीणगुप्तचर 'विदूषक' है ॥ २१ ॥ कामशास्त्र(वात्स्यायनकामसूत्र-आदि)के विद्वान् गुप्तचरको 'पीठमर्द' कहते हैं ॥ २२ ॥ जो गुप्तचर कमनीय व स्त्रीवेष-प्रदर्शक वस्त्र—साड़ी-जम्फर-आदि पहनकर नाँचनेकी जीविका करता हो अथवा नाटककी रङ्गभूमिमें सुन्दर वेष-भूषासे अलङ्कृत होकर भावप्रदर्शन पूर्वक नृत्य करनेवाला हो उसे 'नर्त्तक' कहते हैं ॥ २३ ॥ जो वेश्याओंकी जीविका—पुरुष-वशीकरण द्वारा धन-निष्कासन व संगीतकला-आदिका उपदेश देनेवाला हो,उसे 'गायक' कहते हैं॥२४॥गीत संबंधी प्रवन्धोंकी गतिविशेषोंको वजानेवाला और चारों प्रकारके—तत, अवनद्ध, घन व सुषिर (मृदङ्ग-आदि) वाद्य वजानेकी कलामें प्रवीण गुप्तचरको 'वादक' कहते हैं ॥ २५ ॥ जो स्तुति पाठक या वन्दी वनकर राजकीय प्रयोजन-सिद्धि करता है, उसे 'वाग्जीवी कहते हैं ॥ २६ ॥ गणित शास्त्रका वेत्ता अथवा ज्योतिष विद्याके विद्वान् गुप्तचरको 'गणक' कहते हैं ॥ २७ ॥ शुभ-अशुभ लक्षणोंसे शुभाशुभ फल वतानेवालेको 'शाकुनिक' कहते हैं ॥ २८ ॥ अष्टाङ्ग आयुर्वेदका ज्ञाता व शस्त्रचिकित्सा-प्रवीण गुप्तचरको 'भिषक्' कहते हैं ॥ २९ ॥

जो तन्त्रशास्त्रमें कही हुई युक्तियों द्वारा मनको आश्चर्य उत्पन्न करनेवाला हो अथवा मायाचारी हो उसे 'ऐन्द्रजालिक' कहते हैं ॥ ३० ॥ निशाना मारनेमें प्रवीण—धनुर्धारी अथवा निमित्तशास्त्रके विद्वान् गुप्तचरको 'नैमित्तिक' कहते हैं ॥ ३१ ॥ पाक-विद्या-प्रवीण गुप्तचरको 'सूद' कहते हैं ॥ ३२ ॥ नाना प्रकारकी भोज्य-सामग्री वनानेवाले गुप्तचरको 'आरालिक' कहते हैं ॥ ३३ ॥ हाथ-पैर आदि अङ्गोंके दावनेकी कलामें निपुण या भार ढोनेवाले(कुलीके भेषमें रहनेवाले)गुप्तचरको 'संवाहक' कहते हैं ॥ ३४ ॥ जो गुप्तचर धन-लोभसे अत्यंत कठिन कार्योंसे अपनी जीविका करते हैं, यहां तक कि कभी २ अपने जीवनको भी खतरेमें डालते हों। उदाहरणार्थ—ये लोग धन-लोभसे कभी २ हाथी और शेरका भी मुकावला करनेमें तत्पर होजाते हैं, इन्हें अपनी जानतक का खतरा नहीं रहता ऐसे दया सहनशीलता न रखनेवाले गुप्तचरों को

'तीक्ष्ण' कहा गया है ॥ ३५ ॥ जो गुप्तचर अपने बंधुजनोंसे प्रेम नहीं करता, उसे 'क्रूर' कहते हैं ॥ ३६ ॥ कर्त्तव्य पालनमें उत्साह न रखनेवाले आलसी गुप्तचरोंको 'रसद' कहते हैं ॥ ३७ ॥ मूर्खको 'जड़' गूंगेको 'मूक' बहिरेको 'बधिर' और अंधेको 'अंध' कहते हैं परन्तु ये स्वभावसे मूर्ख, गूंगे बहरे और अन्धे नहीं होते, किन्तु कपटसे अपनी प्रयोजन-सिद्धिके लिये होते हैं ॥ ३८ ॥

शुक्र[1] विद्वान्‌ने भी कहा है कि 'जिस राजाके यहां स्वदेशमें 'स्थायी' और शत्रु देशमें 'यायी' गुप्तचर घूमते रहते हैं, उसके राज्यकी वृद्धि होती है ॥ १ ॥

इति चारसमुद्देश—

—꙳—

१५—विचार-समुद्देश

विचार पूर्वक कर्त्तव्य-प्रवृत्ति, विचार-प्रत्यक्षका लक्षण व ज्ञानमात्रसे प्रवृत्ति- निवृत्ति क्रमशः—

नाविचार्य कार्यं किमपि कुर्यात् ॥ १ ॥

प्रत्यक्षानुमानागमैर्यथावस्थितवस्तुव्यवस्थापनहेतुर्विचारः ॥ २ ॥

स्वयं दृष्टं प्रत्यक्षम् ॥ ३ ॥ न ज्ञानमात्रत्वात् प्रेक्षावतां प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा ॥ ४ ॥

स्वयं दृष्टेऽपि मतिर्विमुह्यति संशेते विपर्यस्यति वा किं पुनर्न परोपदिष्टे वस्तुनि ॥५॥

अर्थ—नैतिक पुरुष विना विचारे—विना सोचे-समझे (प्रत्यक्ष, प्रामाणिक पुरुषोंके वचन व युक्ति द्वारा निर्णय किये विना) कोई भी कार्य न करे ॥ १ ॥

जैमिनि[2] विद्वान्‌ने कहा है कि 'प्रजा द्वारा प्रतिष्ठा चाहनेवाला राजा सूक्ष्म कार्य भी विना विचारे न करे ॥ १ ॥

सत्य-यथार्थ (जैसीकी तैसी) वस्तुकी प्रतिष्ठा (निर्णय) प्रत्यक्ष, अनुमान व आगम इन तीन प्रमाणों से होती है, न कि केवल एक प्रमाणसे। इसलिये उक्त प्रत्यक्षादि तीनों प्रमाण द्वारा जो सत्य वस्तुकी प्रतिष्ठाका कारण है उसे 'विचार' कहते हैं ॥२॥

---

१ तथा च शुक्रः—स्थायिनो यायिनश्चारा यस्य सर्पन्ति भूपतेः। स्वपक्षे परपक्षे वा तस्य राज्यं विवर्द्धते ॥ १ ॥

२ तथा च जैमिनिः—अपि स्वल्पतरं कार्यं नाविचार्य समाचरेत्। यदीच्छेत् सर्वलोकस्य शंसां राजा विशेषतः ॥१॥

शुक्र[1] विद्वान्ने भी कहा है कि 'प्रत्यक्षदर्शी, दार्शनिक व प्रामाणिक पुरुषों द्वारा किया हुआ विचार प्रतिष्ठित—सत्य व मान्य होता है, अतः प्रत्यक्ष, अनुमान व आगम प्रमाण द्वारा किये हुए निर्णयको यथार्थ 'विचार' कहते हैं ॥ १ ॥

चक्षु-आदि इन्द्रियों द्वारा स्वयं देखने व जाननेको 'प्रत्यक्ष' कहा है ॥ ३ ॥ बुद्धिमान् विचारक पुरुषोंको हितकारक पदार्थोंमें प्रवृत्ति और अहितकारक पदार्थोंसे निवृत्ति सिर्फ ज्ञानमात्रसे नहीं करनी चाहिये । उदाहरणमें जैसे किसी मनुष्यने मृगतृष्णा—सूर्य-रश्मियोंसे व्याप्त बालुका-पुञ्जमें जल मान लिया पश्चात् उसे उस भ्रान्त विचारको दूर करनेके लिये अनुमान प्रमाणसे यथार्थ निर्णय करना चाहिये कि क्या मरुस्थलमें ग्रीष्म ऋतुमें जल होसकता है ? नहीं होसकता । पश्चात् उसे किसी विश्वासी पुरुषसे पूंछना चाहिये कि क्या वहां जल है ? पश्चात् उसके मनाई करनेपर वहांसे निवृत्त होना चाहिये । सारांश यह है कि विचारक व्यक्ति सिर्फ ज्ञान मात्रसे किसी भी पदार्थमें प्रवृत्ति या निवृत्ति न करे ॥ ४ ॥

गुरु[2] विद्वान्ने भी कहा है कि 'बुद्धिमान् पुरुषको सिर्फ देखनेमात्रसे किसी पदार्थमें प्रवृत्ति या उससे निवृत्ति नहीं करनी चाहिये, जब तक कि उसने अनुमान और विश्वासी शिष्ट पुरुषों द्वारा वस्तुका यथार्थ निर्णय न कर लिया हो ॥१ ॥'

क्योंकि जब स्वयं प्रत्यक्ष किये हुए पदार्थमें बुद्धिको मोह—अज्ञान, संशय और भ्रम होता है, तब क्या दूसरोंके द्वारा कहे हुए पदार्थमें अज्ञान आदि नहीं होते ? अवश्य होते हैं ॥ ५ ॥

गुरु[3] विद्वान्ने भी उक्त बातको पुष्टि की है कि 'क्योंकि स्वयं देखी और सुनी हुई वस्तुमें मोह—अज्ञान व संशय होजाता है, इसलिये सिर्फ एक ही बुद्धिसे पदार्थका निश्चय नहीं करना चाहिये ॥ १ ॥'

विचारज्ञ-लक्षण, विना विचारे कार्य करनेसे हानि व राज्य-प्राप्तिके चिन्ह क्रमशः—

स खलु विचारज्ञो यः प्रत्यक्षेणोपलब्धमपि साधु परीक्ष्यानुतिष्ठति ॥ ६ ॥

अतिरभसात् कृतानि कार्याणि किं नामानर्थं न जनयन्ति ॥ ७ ॥

अविचार्य कृते कर्मणि यत् पश्चात् प्रतिविधानं गतोदके सेतुबन्धनमिव ॥ ८ ॥

आकारः शौर्यमायतिर्विनयश्च राजपुत्राणां भाविनो राज्यस्य लिङ्गानि ॥ ९ ॥

---

१ तथा च शुक्रः—दृष्टानुमानागमज्ञैर्यो विचारः प्रतिष्ठितः । स विचारोऽपि विज्ञेयस्त्रिभिरेतैश्च यः कृतः ॥ १ ॥

२ तथा च गुरुः—दृष्टमात्रान्न कर्तव्यं गमनं वा निवर्तनम् । अनुमानेन नो यावदिष्टवाक्येन भाषितम् ॥ १ ॥

३ तथा च गुरुः—मोहो वा संशयो वापि दृष्टश्रुतविपर्ययः । यतः संजायते तस्मात् तामेकां न विभावयेत् ॥ १ ॥

अर्थ—जो मनुष्य प्रत्यक्ष द्वारा जानी हुई वस्तुको भी अच्छी तरह परीक्षा—संशय, भ्रम व अज्ञान-रहित निश्चय—करके उसमें प्रवृत्ति करता है, उसे निश्चयसे विचारज्ञ—विचारशास्त्रका वेत्ता कहते हैं ॥६॥

ऋषिपुत्रक[1] विद्वान्ने भी कहा है कि 'जो व्यक्ति स्वयं देखी हुई वस्तुकी अच्छी तरह जाँच किये विना उसका निश्चय नहीं करता—जाँच पूर्वक ही निर्णय करता है, उसे 'विचारज्ञ' जानना चाहिये ॥१॥

विना विचारे—अत्यन्त उतावलीसे किये हुए कार्य लोकमें कौन २ से अनर्थ—हानि (इष्ट प्रयोजन-क्षति) उत्पन्न नहीं करते ? सभी प्रकारके अनर्थ उत्पन्न करते हैं ॥ ७ ॥

भागुरि[2] विद्वान्ने कहा है कि 'विद्वान् सार्थक या निरर्थक कार्य करते समय सबसे पहले उसका परिणाम—फल प्रयत्नसे निश्चय कर लेना चाहिये। क्योंकि विना विचार पूर्वक अत्यन्त उतावलीसे किये हुए कार्योंका फल चारों तरफसे विपत्ति-युक्त होनेसे हृदयको संतापित करनेवाला और कीलेके समान चुभनेवाला होता है ॥ १ ॥'

जो मनुष्य विना विचारे उतावलीमें आकर कार्य कर बैठता है और पश्चात् उसका प्रतीकार (इलाज-अनर्थ दूर करनेका उपाय) करता है, उसका वह प्रतीकार उपयोगी जल-प्रवाहके निकल जानेपर पश्चात् उसको रोकनेके लिये पुल या बंधान बाँधनेके सदृश निरर्थक होता है, इसलिये नैतिक पुरुषको समस्त कार्य विचार पूर्वक ही करना चाहिये ॥ ८ ॥

शुक्र[3] विद्वानने भी कहा है कि 'जो मनुष्य समस्त कार्य करनेके पूर्व उनका प्रतीकार—अनर्थ-परिहार नहीं सोचता और पश्चात् सोचता है, उसका ऐसा करना पानीका प्रवाह निकल जानेपर पश्चात् बंधान बांधनेके समान निरर्थक होता है ॥ १ ॥'

शारीरिक मनोज्ञ आकृति, पराक्रम, राजनैतिक-ज्ञान-सम्पत्ति, प्रभाव (सैन्य व कोशशक्तिरूप तेज) और नम्रता, राजकुमारोंमें वर्तमान ये सद्गुण उन्हें भविष्यमें प्राप्त होनेवाली राज्यश्रीके अनुमापक चिन्ह हैं ॥ ९ ॥

राजपुत्र[4] विद्वान्ने भी कहा है कि 'जिन राज-पुत्रोंमें शारीरिक सौन्दर्य, वीरता, राजनैतिक ज्ञान, सैनिक व कोश सम्बन्धी वृद्धि और विनयशीलता ये गुण पाये जावें, तो वे भविष्यमें राजा होते हैं ॥१॥'

---

१ तथा च ऋषिपुत्रकः—विचारज्ञः स विज्ञेयः स्वयं दृष्टेऽपि वस्तुनि। तावन्नो निश्चयं कुर्याद् यावन्नो साधु वीक्षितम् १

२ तथा च भागुरिः—सगुणमविगुणं वा कुर्वता कार्यमादौ, परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन।
अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्तेर्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः ॥ १ ॥

३ तथा च शुक्रः—सर्वेषामपि कार्याणां यो विधानं न चिन्तयेत्। पूर्वं पश्चाद् भवेद् व्यर्थं सेतुर्नष्टे यथोदके ॥ १ ॥

४ तथा च राजपुत्रः—आकारो विक्रमो बुद्धिर्विस्तारो नम्रता तथा। बालानामपि येषां स्युस्ते स्युर्भूपा नृपात्मजाः ॥१॥

अनुमानका लक्षण व फल, भवितव्यता-प्रदर्शक चिह्न तथा बुद्धि-प्रभाव क्रमशः—

कर्मसु कृतेनाकृतावेक्षणमनुमानम् ॥ १० ॥ संभावितैकदेशो नियुक्तं विद्यात् ॥ ११ ॥

प्रकृतेर्विकृतिदर्शनं हि प्राणिनां भविष्यतः शुभाशुभस्य चापि लिङ्गम् ॥ १२ ॥

य एकस्मिन् कर्मणि दृष्टबुद्धिः पुरुषकारः स कथं कर्मान्तरेषु न समर्थः ॥ १३ ॥

अर्थ—बहुत कार्योंमेंसे किये हुए कार्य-द्वारा विना किये हुए कार्यका बुद्धिसे निश्चय करना 'अनुमान' है। सारांश यह है कि किसीसे कीहुई एकदेश कार्य-सिद्धि द्वारा उसमें पूर्ण कार्य-सिद्धिकी सामर्थ्यका निश्चय करना अनुमान है। क्योंकि जो मनुष्य एकदेश कार्य-सिद्धि करनेमें कुशल होता है, उसे अनुमान प्रमाण द्वारा पूर्णकार्य-सिद्धिमें समर्थ जान लेना चाहिये ॥ १०-११ ॥

प्रकृति (शुभ-अशुभ स्वभाव) से विकृति (विकारयुक्त-वदलना) दिखाई देना प्राणियोंके भविष्यकालीन अच्छी-बुरी होनहारका ज्ञापक चिन्ह है। सारांश यह है कि जब कोई पुरुष नैतिकमार्ग—सदाचारसे अनीति—दुराचारमें प्रवृत्त हुआ दिखाई देवे तो समझ लेना चाहिये कि इसकी होनहार बुरी है। इसीप्रकार जब कोई मनुष्य सत्सङ्ग-आदि द्वारा अनीतिसे नीतिमें प्रवृत्त हुआ प्रतीत हो तो उसकी होनहार अच्छी समझनी चाहिये ॥ १२ ॥

नारद[1] विद्वान्ने भी कहा है कि 'जब मनुष्योंका शुभभाव पापमें प्रवृत्ति करने लगता है, तब उनका अनिष्ट (बुरा) होता है और जब उनका अशुभ भाव शुभमें प्रवृत्ति होने लगता है तब उनका कल्याण होता है ॥ १ ॥'

जो मनुष्य अपनी बुद्धि और पौरुष (उद्योग) एक कार्य सिद्धि करनेमें सफल कर चुका है, वह दूसरे कार्य सिद्ध करनेमें क्यों नहीं समर्थ होसकता? अवश्य होसकता है। अर्थात् संभव है कि बुद्धिमान् पुरुष किसी दूसरे अपरिचित कार्यमें कुशल न भी हो तथापि वह अपनी बुद्धिके प्रभावसे उस कार्यको सफल कर सकता है ॥ १३ ॥

जैमिनि[2] विद्वान्ने भी कहा है कि 'जिसकी बुद्धि और पौरुष एक कार्यमें सफल देखे जाचुके हैं, उसे उसी अनुमान प्रमाणसे दूसरा कार्य सिद्ध करनेमें भी समर्थ जानना चाहिये ॥ १ ॥।'

आगम और आप्तका लक्षण, निरर्थक वाणी, वचनोंकी महत्ता, कृपण-धनको कड़ी आलोचना और जनसाधारणकी प्रवृत्ति क्रमशः—

---

१ तथा च नारदः—शुभभावो मनुष्याणां यदा पापे प्रवर्तते। पापो वाथ शुभे तस्य तदा ह्यनिष्टं शुभं भवेत् ॥ १ ॥
२ तथा च जैमिनिः—पूर्वं यस्य मतिर्दृष्टा पुरुषार्थोऽपरस्तथा। पश्चात्तेनानुमानेन तस्य ज्ञेया समर्थता ॥ १ ॥

आप्तपुरुषोपदेश आगमः ॥ १४ ॥

यथानुभूतानुमितश्रुतार्थाविसंवादिवचनः पुमानाप्तः ॥ १५ ॥

सा वागुक्ताऽप्यनुक्तसमा, यत्र नास्ति सद्युक्तिः ॥ १६ ॥

वक्तुर्गुणगौरवाद्वचनगौरवम् ॥ १७ ॥

किं मितंपचेषु धनेन चाण्डालसरसि वा जलेन यत्र सतामनुपभोगः ॥ १८ ॥

लोको गतानुगतिको यतः सदुपदेशिनीमपि कुट्टिनीं तथा न प्रमाणयति यथा गोघ्नमपि ब्राह्मणम् ॥ १९ ॥

अर्थ—आप्त (वीतराग, सर्वज्ञ व हितोपदेशी तीर्थङ्कर प्रभु अथवा आगमानुकूल सत्यवक्ता शिष्टपुरुष) के उपदेशको 'आगम' कहते हैं ॥ १४॥

जो अनुभव, अनुमान एवं आगम प्रमाण द्वारा निश्चित किये हुए पदार्थोंको तदनुकूल—विरोध-शून्य—वचनों द्वारा निरूपण करता है, उस यथार्थवक्ता तीर्थङ्कर महापुरुषको वा उक्त गुण-सहित प्रामाणिक शिष्ट पुरुषको 'आप्त' कहते हैं ॥ १५ ॥

हारीत[1] विद्वान् ने भी कहा है कि 'जो पुरुष सत्यवक्ता, लोक-मान्य, आगमानुकूल पदार्थोंका निरूपण करनेवाला और मिथ्यावादी नहीं है, उसे 'आप्त' कहते हैं ॥ १ ॥'

वक्ता द्वारा कही हुई जिस वाणीमें प्रशस्त युक्ति—कहे हुए पदार्थको समर्थन करनेवाले वचन व शोभन-अभिप्राय—नहीं है, वह कही हुई भी बिना कही हुईके समान है ॥ १६ ॥

हारीत[2] विद्वान् ने कहा है कि 'वक्ताकी जो वाणी युक्ति-शून्य और श्रोताओंके अल्प या अधिक प्रयोजनको समर्थन करनेवाली नही है, उसे जंगलमें रोनेके समान निरर्थक जाननी चाहिये ॥ १ ॥'

वक्ताके गुणों—विद्वत्ता व नैतिक प्रवृत्ति-आदि—में महत्ता होनेसे उसके कहे हुए वचनोंमें महत्ता—प्रामाणिकता व मान्यता होती है ॥ १७ ॥

रैभ्य[3] विद्वान् ने भी कहा है कि 'यदि वक्ता गुणवान् होता है तो उसके वचन भी गुण-युक्त होते हैं और जो सभाके मध्य निरर्थक प्रलाप करता है उसकी हँसी होती है ॥ १ ॥'

---

१ तथा च हारीतः—यः पुमान् सत्यवादी स्यात्तथालोकस्य सम्मतः । श्रुतार्थो यस्य नो वाक्यमन्यथाप्तः स उच्यते ॥१॥

२ तथा च हारीतः—सा वाग्युक्तिपरित्यक्ता कार्यस्याल्पाधिकस्य वा । सा प्रोक्तापि वृथा ज्ञेया त्वरण्यरुदितं यथा ॥ १ ॥

३ तथा च रैभ्यः—यदि स्याद् गुणसंयुक्तो वक्ता वाक्यं च सद्गुणम् । मूर्खो वा हास्यतां याति सभामध्ये प्रजल्पितम् १

जिसप्रकार चाण्डालके सरोवरका पानी अधिक मात्रामें होने पर भी शिष्ट पुरुषोंके उपयोगमें न आनेके कारण व्यर्थ है, उसीप्रकार कृपण-धन भी सज्जनोंके उपयोगमें न आनेसे व्यर्थ है ॥ १८॥

नारद[1] विद्वान् ने कहा है कि 'सज्जनोंके उपभोग-शून्य चाण्डाल-तालावके पानी समान कृपण-धनसे क्या लाभ है ? कोई लाभ नहीं ॥ १ ॥'

जनसाधारण एक दूसरेकी देखादेखी करते हैं—यदि कोई मनुष्य किसी शुभ-अशुभ मार्गसे जाता है तो उसे देखकर दूसरे लोग भी विना परीक्षा किये ही उसका अनुकरण करने लगते हैं। क्योंकि यदि वृद्ध वेश्या धर्मका उपदेश देती है तो उसे कोई प्रमाण नहीं मानता और यदि गो-घातक ब्राह्मण धर्मका उपदेश देता है, तो लोग उसकी वात प्रमाण मानते हैं ॥ १९ ॥

गौतम[2] विद्वान् ने भी कहा है कि 'वेश्या धार्मिक होनेपर भी यदि धर्मोपदेश देती है तो उसे कोई नहीं पूँछता और गो-हत्या करनेवाला ब्राह्मण यदि धर्मका उपदेश देता है तो उसको सब प्रमाण मानते हैं ॥ १ ॥'

किसी विद्वान्[3] ने भी कहा है कि जनसमूह वास्तविक कर्त्तव्य-मार्गपर नहीं चलते किन्तु एक दूसरेकी देखादेखी करनेवाले होते हैं। वालुका—रेतमें लिङ्गका चिन्ह वनानेसे मेरा (कथा- नायकका) तांवेका वर्तन नष्ट होगया ॥ १ ॥'

इति विचार-समुद्देश ।

—※—
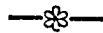
१ तथा च नारदः—किं कीनाशधनेनात्र किमन्त्यजतडागजम् । सलिलं यद्धि नो भोग्यं साधूनां संप्रजायते ॥ १ ॥

२ तथा च गौतमः—कुट्टनी धर्मयुक्तापि यदि स्यादुपदेशिनी । न च तां कोऽपि पृच्छेत जनो गोघ्नं द्विजं यथा ॥ १ ॥

३ तथा चोक्तं—गतानुगतिको लोको न लोकः पारमार्थिकः । वालुकालिङ्गमात्रेण गतं मे ताम्रभाजनम् ॥ १ ॥

※ कथानक—कोई दरिद्र ब्राह्मण हाथमें ताम्र-वर्तन लेकर समुद्र तटपर स्नानार्थ गया। उसने उसे चोरोंके भयसे समुद्र-तट पर खुला न रखकर वालु खोदकर उसके बीचमें गाड़ दिया और स्मृतिके लिये उसकी रेतके ऊपर लिङ्गका चिन्ह बनाकर स्नान करने चला गया। इसी अवसर पर बहुतसे लोग वहाँ स्नान करनेके लिये आये व ब्राह्मण-रचित हुए वालुका-लिङ्गको देखकर 'इस पर्वमें यही कल्याणकारक है' ऐसा समझकर उन्होंने वहाँपर बहुतसे वालुका-लिङ्ग वना डाले ऐसा होनेसे वह ब्राह्मण अपने बनाये हुए वालुका-लिङ्गको न समझ सका; अतएव उसका ताम्र-मय वर्तन न मिलनेसे नष्ट होगया। निष्कर्ष यह है जनसाधारण परीक्षक नहीं होते किन्तु एक दूसरेकी देखादेखी करते हैं। संगृहीत—

१६—व्यसन-समुद्देश।

व्यसन-लक्षण, भेद, सहज व्यसन-निवृत्ति, शिष्ट-लक्षण व कृत्रिम व्यसनोंसे निवृत्ति—

व्यस्यति पुरुषं श्रेयसः इति व्यसनम् ॥ १ ॥ व्यसनं द्विविधं सहजमाहार्यं च ॥ २ ॥ सहजं व्यसनं धर्माभ्युदयहेतुभिरधर्मजनितमहाप्रत्यवायप्रतिपादनैरुपाख्यानैर्योगपुरुषैश्च प्रशमं नयेत् ॥ ३ ॥

परचित्तानुकूल्येन तदभिलषितेषूपायेन विरक्तिजननहेतवो योगपुरुषाः ॥ ४ ॥

शिष्टजनसंसर्गदुर्जनाऽसंसर्गाभ्यां पुरातनमहापुरुषचरितोत्थिताभिः कथाभिराहार्यं व्यसनं प्रतिबध्नीयात् ॥ ५ ॥

अर्थ—जो दुष्कर्म—द्यूतक्रीड़न व मद्यपानादि—मनुष्यको कल्याण-मार्गसे गिराते हैं, उन्हें 'व्यसन' कहते हैं ॥ १ ॥

शुक्र[1] विद्वान् ने कहा है कि 'मनुष्य जिस असत्प्रवृत्तिसे निरन्तर उत्तमस्थानसे जघन्यस्थानको प्राप्त होता है उसे विद्वानोंको 'व्यसन' जानना चाहिये ॥ १ ॥'

व्यसन दो प्रकारके हैं—१ सहज—स्वाभाविक (जन्मसे ही उत्पन्न होनेवाले दुःख) २ आहार्य—कुसंगके कारण उत्पन्न होनेवाले (मद्यपान-परकलत्र-सेवन-आदि) ॥ २ ॥ मनुष्यको स्वाभाविक व्यसनधर्म व स्वर्गके उत्पादक कल्याण-कारक पदार्थों (विशुद्ध भाव-आदि)के चिंतवन, पापोंसे उत्पन्न हुए महादोषोंका कथन-श्रवण, तथा उन दोषोंके निरूपक चरित्र-(रावण-दुर्योधन-आदि अशिष्ट पुरुषोंके भयङ्कर चरित्र) श्रवण द्वारा एवं शिष्ट पुरुषोंकी सङ्गतिसे नष्ट करना चाहिये ॥ ३ ॥

गुरु[2] विद्वान् ने भी कहा है कि 'धर्मसे सुखी व पापसे दुःखी होनेवाले शिष्ट-दुष्ट पुरुषोंके चरित्र-श्रवण व महापुरुषोंके सत्सङ्गसे स्वाभाविक व्यसन नष्ट होते हैं ॥ १ ॥'

जो व्यसनी पुरुषके हृदय-प्रिय बनकर अनेक नैतिक उपाय द्वारा उसे उन अभिलषित वस्तुओं—मद्य-पानादि—से जिनमें उसे व्यसन (निरन्तर आसक्ति) उत्पन्न हुआ है, विरक्ति उत्पन्न करते हैं—छुड़ा देते हैं—उन्हें योग (शिष्ट) पुरुष कहते हैं ॥ ४ ॥

---

१ तथा च शुक्रः—उत्तमादधमं स्थानं यदा गच्छति मानवः। तदा तद्व्यसनं ज्ञेयं बुधैस्तस्य निरन्तरम् ॥ १ ॥

२ तथा च गुरुः—धर्मेणाभ्युदयो यस्य प्रत्यवायस्त्वधर्मतः। तं श्रुत्वा सहजं याति व्यसनं योगिसङ्गतः ॥ १ ॥

हारीत[1] विद्वान् ने भी शिष्ट पुरुषोंका इसीप्रकार लक्षण किया है ॥ १ ॥

बुद्धिमान् मनुष्यको शिष्ट पुरुषोंकी सङ्गति और दुष्टोंकी कुसंगतिके त्याग द्वारा एवं जिन उत्तम कथानकोंमें प्राचीन महापुरुषोंका आदर्श चरित्र-चित्रण किया गया है, उनके पठन-श्रवण द्वारा अपने कृत्रिम—कुसंग-जनित—व्यसनोंका नाश कर देना चाहिये ॥ ५ ॥

शुक्र[2] विद्वान् ने भी इसीप्रकार कहा है ॥ १ ॥

निजस्त्री-आसक्ति, मद्य-पान, मृगया (शिकार), द्यूत, पैशुन्य प्रभृति १८ प्रकारके व्यसन—

स्त्रियमतिशयेन भजमानो भवत्यवश्यं तृतीया प्रकृतिः ॥६॥ सौम्यधातुक्षयेण सर्वधातुक्षयः ॥७॥ पानशौण्डश्चित्तविभ्रमान् मातरमपि गच्छति ॥८॥ मृगयासक्तिः स्तेनव्यालद्विषद्दायादानामामिषं पुरुषं करोति ॥९॥ द्यूतासक्तस्य किमप्यकृत्यं नास्ति[3] ॥१०॥ मातर्यपि हि मृतायां दीव्यत्येव हि कितवः ॥११॥ पिशुनः सर्वेषामविश्वासं जनयति ॥१२॥ दिवास्वापः गुप्तव्याधिव्यालानामुत्थापनदंडः सकलकार्यान्तरायश्च ॥१३॥ न परपरीवादात् परं सर्वविद्वेषणभेषजमस्ति ॥१४॥ तौर्यत्रयासक्तिः प्राणार्थमानैर्वियोजयति[4] ॥१५॥ वृथाट्या नाविधाय कमप्यनर्थं विरमति ॥१६॥ अतीवेर्ष्यालुं स्त्रियो घ्नन्ति त्यजन्ति वा पुरुषम् ॥ १७ ॥

परपरिग्रहाभिगमः कन्यादूषणं वा साहसम् ॥१८॥ यत् साहसं दशमुखदण्डिकाविनाशहेतुः सुप्रसिद्धमेव ॥१९॥ यत्र नाहमस्मीत्यध्यवसायस्तत् साहसम् ॥२०॥ अर्थदूषकः कुबेरोऽपि भवति भिक्षाभाजनम् ॥२१॥ अतिव्ययोऽपात्रव्ययश्चार्थदूषणम् ॥२२॥ हर्षामर्षाभ्यामकारणं तृणाङ्कुरमपि नोपहन्यात्किंपुनर्मर्त्यम् ॥२३॥ श्रूयते किल निष्कारणभूतावमानिनौ वातापिरिल्वलश्च द्वावसुरावगस्त्याशनाद्विनेशतुरिति ॥२४॥ यथादोषं कोटिरपि गृहीता न दुःखायते । अन्यायेन पुनस्तृणशलाकापि गृहीता प्रजाः खेदयति ॥ २५ ॥

तरुच्छेदेन फलोपभोगः सकृदेव ॥२६॥ प्रजाविभवो हि स्वामिनोऽद्वितीयो भाण्डागारोऽतो

---

१ तथा च हारीतः—परचित्तानुकूल्येन विरक्तिं व्यसनात्मके । जनदन्तीष्टनाशेन ते ज्ञेया योगिनो नराः ॥ १ ॥'

२ तथा च शुक्रः—आहार्यव्यसनं नश्येत् [सत्सङ्गेनाहितासितम्] महापुरुषवृत्तान्तैः श्रुतैश्चैव पुरातनैः ॥१॥ सं०प०

३ 'नास्त्यकृतं द्यूतासक्तस्य' इसप्रकारका मू० प्रतियोंमें पाठ है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं ।

४ 'तौर्यत्रिकासक्तिः कं नाम प्राणार्थमानैर्न वियोजयति' इसप्रकारका पाठ मू० प्रतियोंमें है, परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं ।

युक्तितस्तमुपभुञ्जीत ॥२७॥ राजपरिगृहीतं तृणमपि काञ्चनीभवति [जायते पूर्वसञ्चितस्याप्यर्थस्यापहाराय[1]] ॥२८॥ वाक्पारुष्यं शस्त्रपातादपि विशिष्यते ॥ २६ ॥ जातिवयोवृत्तविद्यादोषाणामनुचितं वचो वाक्पारुष्यम् ॥३०॥ स्त्रियमपत्यं भृत्यं च तथोक्त्या विनयं ग्राहयेद्यथा हृदयप्रविष्टाच्छल्यादिव न ते दुर्मनायन्ते ॥ ३१ ॥ वधः परिक्लेशोऽर्थहरणमक्रमेण दण्डपारुष्यम् ॥३२॥ एकेनापि व्यसनेनोपहतश्चतुरङ्गोऽपि राजा विनश्यति, किं पुनर्नाष्टादशभिः ॥ ३३ ॥

अर्थ—अपनी स्त्रीको अधिक मात्रामें सेवन करनेवाला मनुष्य अधिक वीर्य धातुके क्षय होजानेसे असमयमें वृद्ध या नपुसंक होजाता है ॥ ६ ॥

धन्वन्तरि[2] विद्वान्के उद्धरणका भी यही अभिप्राय है ॥ १ ॥

क्योंकि स्त्री सेवनसे पुरुषकी शुक्र (वीर्य) धातु क्षय होती है, इससे शरीरमें वर्तमान बाकीकी समस्त छह धातुएँ—रस, रुधिर, मांस, मेद व अस्थि-आदि नष्ट होजाती हैं। निष्कर्ष यह है कि नैतिक पुरुषको वीर्यरक्षार्थ ब्रह्मचर्य पालन करना चाहिये अथवा अपनी स्त्रीको अधिक मात्रामें सेवनका त्याग करना चाहिये ॥ ७ ॥

वैद्यक[3] विद्वान्ने भी वीर्य-क्षयसे इसीप्रकार हानि बताकर वीर्यरक्षा करनेवाले शेरकी हाथीसे अधिक बलिष्ठताका निरूपण किया है ॥ १-२ ॥

मद्यपी-शराबी-पुरुष मानसिक विकार-वश (नशेमें आकर) माताको भी सेवन करने लगता है। अतः ऐसे अनर्थकारक मद्यका त्याग करना श्रेयस्कर है ॥ ८ ॥

नारद[4] विद्वान्ने भी इसीप्रकार मद्य-पानके दोष बताकर उसके त्याग करनेमें प्रवृत्त किया है ॥ १ ॥

---

१ कोष्ठाङ्कित पाठ मू० प्रतियोंमें नहीं है। इसके पश्चात् 'येन हृदयसन्तापो जायते तद्वचनं वाक्पारुष्यम्' ऐसा मू० प्रतियोंमें अधिक पाठान्तर वर्तमान है, जो कि क्रम-प्राप्त एवं उपयुक्त भी है, जिसका अर्थ यह है कि जिस अप्रिय वचनसे हृदय संतापित हो उसे 'वाक्पारुष्य' कहते हैं।

२ तथा च धन्वन्तरिः—अकालं जरसा युक्तः पुरुषः स्त्रीनिषेवणात्। अथवा यक्ष्मणा युक्तस्तस्माद् युक्तं निषेवयेत् ॥१॥

३ तथा च वैद्यकः—सौम्यधातुक्षये पुंसां सर्वधातुक्षयो यतः। तस्मात्तं रक्षयेद् यत्नान्मूलोच्छेदं न कारयेत् ॥ १ ॥
सौम्यधातुबलात् सर्वे बलवन्तो हि धातवः। [तं रक्षति यतः सिंहो] लघुस्तुङ्गेन सोऽधिकः ॥ २ ॥

४ तथा च नारदः—यदा स्यान्मद्यमत्तस्तु कुलीनोऽपि पुमांस्तदा। मातरं भजते मोहात्तस्माद्युक्तं निषेवयेत् ॥ १ ॥

शिकार खेलनेमें आसक्त पुरुष, चोर-डाकू, सिंह-व्याघ्रादि हिंसक जन्तु, शत्रु और कुटुम्बियों द्वारा मार डाला जाता है ॥ ९ ॥

भारद्वाज[1] विद्वान्‌के उद्धरणका भी यही अभिप्राय है ॥ १ ॥

जुआरी पुरुष लोकमें ऐसा कौनसा अनर्थ (पाप) है जिसमें प्रवृत्ति न करता हो; क्योंकि निश्चयसे माताके मर जाने पर भी जुआरी पुरुष जुआ खेलता रहता है। सारांश यह है कि जुआरी कर्त्तव्य-बोधसे विमुख होकर अनर्थ करता रहता है। अतः जुआका त्याग ही श्रेयस्कर है ॥ १०-११ ॥

शुक्र[2] विद्वान्‌ने कहा है कि 'यदि जुआरी मनुष्य प्रेम-वश कभी अपनी प्रियाकी ग्रन्थि स्पर्श करता है तब उसकी स्त्री 'कहीं यह मेरी सुन्दर साड़ी अपहरण करके जुएके दावमें न लगा देवे' इस डरसे उसे बिलकुल नहीं चाहती ॥ १ ॥'

चुगलखोर अपने ऊपर सभी पुरुषोंका अविश्वास उत्पन्न करता है। अर्थात् वह अपने कपट-पूर्ण वर्ताव (चुगली करने) के कारण लोकमें किसीका भी विश्वास-पात्र नहीं रहता ॥ १२ ॥

वसिष्ठ[3] विद्वानने भी राजाके समक्ष चुगली करनेवाले को सभी का अविश्वास-पात्र कहा है ॥ १ ॥

दिनमें शयन शरीरमें छिपे हुए अनेक रोगरूपी सर्पोंको जगानेका कारण और समस्त कार्य-सिद्धिमें बाधक है। निष्कर्ष यह है कि स्वास्थ्य व कार्य-सिद्धि चाहनेवाले व्यक्तिको ग्रीष्म-ऋतुको छोड़कर अन्य ऋतुओंमें दिनमें नहीं सोना चाहिये ॥ १३ ॥

धन्वन्तरि[4] विद्वान्‌ने भी ग्रीष्म-ऋतुको छोड़कर अन्य ऋतुओंमें दिनमें सोनेवालेके रोग-वृद्धि व मृत्यु होनेका निरूपण किया है ॥ १ ॥

लोकमें पर-निंदाको छोड़कर सबसे द्वेष उत्पन्न करानेवाली कोई औषधि नहीं है। अर्थात् जो मनुष्य पर-निंदा करता है, उससे सभी लोग द्वेष करने लगते हैं। अथवा जो मनुष्य पर-निंदा करता है, उस निंदा-निवृत्तिकी निंदा किये जानेवाले पुरुषकी प्रशंसाको छोड़कर अन्य कोई अमोघ औषधि नहीं है

---

१ तथा च भारद्वाजः—मृगयाव्यसनोपेतः पुरुषो वधमाप्नुयात्। चौरव्यालारिदायादशार्वादिकतमस्य च ॥१॥

२ तथा च शुक्रः—सानुरागोऽपि चेन्नीवीं पत्न्याः स्पृशति कर्हिचित्। द्यूतविक्लेच्छते साधुवस्त्राहरणशङ्कया ॥१॥

३ तथा च वसिष्ठः—विद्वानपि कुलीनोऽपि राजाग्रे चैव पैशुनम्। यः करोति नरो मूर्खस्तस्य कोऽपि न विश्वसेत् ॥१॥

४ तथा च धन्वन्तरिः—ग्रीष्मकालं परित्यज्य योऽन्यकाले दिवा स्वपेत्। तस्य रोगाः प्रवर्द्धन्ते यैः स याति यमालयम् ॥ १ ॥

उदाहरणार्थ—जब सोहन मोहनकी निंदा हमारे सामने करता है तब हमें चाहिये कि हम उस समय मोहन को अधिक प्रशंसा करें; ताकि वह उसकी निंदा करना छोड़ दे ॥ १४ ॥

हारीत[1] विद्वान्के उद्धरणका भी यही अभिप्राय है ॥ १ ॥

गान-श्रवण, नृत्य-दर्शन, व वादित्र-श्रवणमें आसक्त हुआ कौन पुरुष अपने प्राण, धन और मान-मर्यादा को नष्ट नहीं करता ? अर्थात् सभी नष्ट करते हैं अतः विवेकीको उक्त गान-श्रवण आदिमें आसक्त नहीं होना चाहिये ॥१५॥ निरर्थक यहाँ वहाँ घूमने-फिरनेवाला व्यक्ति अपूर्व अनर्थ(महान् पाप)किए विना विश्राम नहीं लेता। अर्थात् निष्प्रयोजन फिरनेवाला सभी पापोंमें फँस जाता है, अतः अर्थ-लाभादि प्रयोजन शून्य फिरनेका त्याग करना चाहिए ॥ १६ ॥

भृगु[2] विद्वान् ने भी निरर्थक फिरने वाले के विषय में यही कहा है ॥ १ ॥

जो लोग अपनी स्त्रियोंसे अत्यंत ईर्ष्या (डाह-द्वेष) करते हैं, उन्हें स्त्रियां छोड़ देती हैं या मार डालती हैं, अतः प्रत्येक व्यक्ति स्त्रीसे प्रेमका वर्ताव करे ॥ १७ ॥

भृगु[3] विद्वान्के उद्धरणका भी यही अभिप्राय है ॥१॥

दूसरोंकी स्त्रियोंका सेवन और कन्याओं को दूषित (सेवन) करना 'साहस' है जिसके द्वारा रावण और दाण्डिक्यको मृत्यु-दंड प्राप्त हुआ था यह पुराणोंमें प्रसिद्ध ही है ॥१८-१९॥

भारद्वाज[4] विद्वान् ने भी परकलत्र-सेवन व कन्या-दूषण को दुःख देनेवाला निरूपण किया है ॥१॥

भृगु[5] विद्वान् ने भी 'साहस' का यही लक्षण निर्देश किया है ॥१॥

जो मनुष्य आमदनी से अधिक खर्च व अपात्र-दान करता है, वह कुबेर समान धनाढ्य होने पर भी दरिद्र होजाता है पुनः साधारण व्यक्ति का दरिद्र होना स्वाभाविक है ॥२१॥

हारीत[6] विद्वान् के उद्धरणका भी यही अभिप्राय है ॥१॥

---

१ तथा च हारीतः—क्षयव्याधिपरीतस्य यथा नास्त्यत्र भेषजम्। परीवादप्रयोगस्य स्तुतिं मुक्त्वा न भेषजम् ॥१॥

२ तथा च भृगुः—वृथाटनं नरो योऽत्र कुरुते बुद्धिवर्जितः। अनर्थं प्राप्नुयाद्रौद्रं यस्य चान्तो न लभ्यते ॥१॥

३ तथा भृगुः—ईर्ष्याधिकं त्यजन्तिस्म घ्नन्ति वा पुरुषं स्त्रियः। कुलोद्भूता अपि प्रायः किं पुनः कुकुलोद्भवाः ॥१॥

४ तथा च भारद्वाजः—अन्यभार्योपहारो यस्तथा कन्याप्रदूषणम्। तत् साहसं परिज्ञेयं लोकद्वयभयप्रदम् ॥१॥

५ तथा च भृगुः— अङ्गीकृत्यात्मनो मृत्युं यत् कर्म क्रियते नरैः। तत्साहसं परिज्ञेयं रौद्रकर्मणि निर्भयम् ॥१॥

६ तथा च हारीतः— अतिव्ययं च योऽर्थस्य कुरुते कुत्सितं सदा। दारिद्र्योपहतः स स्याद्धनदोऽपि न किं परः ॥१॥

आमदनीसे अधिक धन-व्यय करना व अपात्रों को धन-आदि देना अर्थदूषण है ॥ २२ ॥ नैतिक पुरुष अहङ्कार व क्रोधवश निष्प्रयोजन घास का अंकर भी नष्ट न करे, फिर मनुष्य के विषयमें तो कहना ही क्या है। अर्थात् उसका सताना या वध करना महाभयङ्कर है ॥२३॥

भारद्वाज[1] विद्वान् ने भो निष्कारण कष्ट देने या वध करनेके विषय में यही कहा है ॥१॥

वृद्ध-परम्परासे पुराण ग्रन्थोंके आधारसे सुना जाता है कि निष्प्रयोजन प्रजा को पीड़ित करने वाले 'वातापि' व 'इल्वल' नामके दो असुर 'अगस्त्य' नामके सन्यासो द्वारा नष्ट हुए ॥ २४ ॥

यदि राजा द्वारा अपराधीके अपराधानुकूल न्यायोचित जुर्माना आदि करके करोड़ रुपए भी ले लिए गये हों, तो उससे उसे दुःख नहीं होता, परन्तु विना अपराध के—अन्यायद्वारा तृण-शलाका वरावर दंड दिया जाता हो, तो उससे प्रजा पीड़ित होती है ॥२५॥

भागुरि[2] विद्वान् ने अन्याय--पूर्वक द्रव्य हरणके विषयमें इसो प्रकार कहा है ॥१॥

जिस प्रकार वृक्षका मूलोच्छेद करनेसे उससे फल-प्राप्ति केवल उसी समय एक वार होती है उसी प्रकार जो राजा अन्यायके द्वारा प्रजाका सर्वस्व अपहरण करता है, उसे उसी समय केवल एक वार ही धन मिलता है, भविष्यमें नहीं ॥२६॥

वल्लभदेव[3] विद्वान् ने भी प्रजा का सर्वस्व अपहरण करने वाले राजाके विपयमें यही कहा है ॥१॥ प्रजाकी सम्पत्ति निश्चयसे राजा का विशाल खजाना है, इसलिए उसे उसका उपयोग न्यायसे करना चाहिए अनुचित उपाय—अपराध-प्रतिकूल आर्थिक दंड आदि द्वारा नहीं ॥ २७ ॥

गौतम[4] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

जो व्यक्ति राजकीय तृण भी चुरालेता है, उसे उसके वदलेमें सुवर्ण देना पड़ता है' क्योंकि राजकीय साधारण वस्तुकी चोरी राज-दंड-आदिके कारण पूर्व- संचित समस्त-धन को भी नष्ट करानेमें कारण होती है, अतः नैतिक व्यक्ति को राजकीय चोरी—व्लैक मार्केट आदि-द्वारा धन संचय करना छोड़ देना चाहिए ॥ २८ ॥ गर्ग[5] विद्वान् ने भी कहा है कि राजकीय अल्प धन का भी अपहरण गृहस्थ के समस्त धनके नाश का कारण है ॥ १ ॥

---

१ तथा च भारद्वाजः—तृणच्छेदोपि नो कार्यो विना कार्येण साधुभिः। येन नो सिद्ध्यते किंचित् न[किंपुनर्मानुषं महः] १

२ तथा च भागुरिः—गृहोता नैव दुःखाय कोटिरप्यपराधिनः। अन्यायेन गृहीतं यद्भुजा तृणमपिदम् ॥१॥

३ तथा च वल्लभदेव— मूलच्छेदे यथा नास्ति सत्फलस्य पुनस्तरोः। सर्वस्वहरणे तद्वत् नृपस्य तदुद्भवः ॥१॥

४ तथा च गौतमः—प्रजानां विभवो यश्च सोऽपरः कोश एव हि। नृपाणां युक्तितो ग्राह्यः सोऽन्यायेन न कर्हिचित् ॥१॥

५ तथा च गर्गः— यो हरेद्भूपजं वित्तमपि स्वल्पतरं हि यत्। गृहस्थस्यापि वित्तस्य तन्नाशाय प्रजायते ॥१॥

मर्म-भेदी कर्कश वचन शस्त्रके घावसे भी अधिक कष्टदायक होते हैं। इसलिए मनुष्यको किसीके लिए शस्त्र से चोट पहुंचाना अच्छाहै, परन्तु कर्कश- कठोर-वचन वोलना अच्छा नहीं ॥२६॥

विदुर[1] विद्वान्ने भी कहा है कि 'कर्कश वचनरूपी वाण महाभयङ्कर होते हैं; क्योंकि वे दूसरोंके मर्मस्थलोंमें प्रविष्ट होकर पीड़ा पहुंचाते हैं, जिनसे ताड़ित हुआ व्यक्ति दिन-रात शोकाकुल रहता है।१। मनुष्यकी जाति, आयुष्य, सदाचार, विद्या, व निर्दोषताके अयोग्य- विरुद्ध (विपरीत) वचन कहना वाक्पारुष्य है, अर्थात् कुलीनको नीचकुलका वयोवृद्धको वालक, सदाचारी को दुराचारी, विद्वान् को मूर्ख और निर्दोषी को सदोषी कहना वाक्पारुष्य है ।।३०॥

जैमिनि[2] विद्वान् ने भी वाक्पारुष्यका यही लक्षण करके उसे त्याग करने को कहा है ॥१॥

नैतिक मनुष्यको अपनी स्त्री, पुत्र व नौकरोंको वाक्पारुष्य—कर्कश वचनका त्यागपूर्वक हित, मित और प्रिय वचन वोलते हुए इसप्रकार विनयशील वनाना चाहिये, जिससे उसे हृदयमें चुभे हुए कीलेके समान कष्टदायक न होने पावें, किन्तु आनन्ददायक हों ॥ ३१ ॥

शुक्र[3] विद्वान् ने भी कहा है कि 'जिसके कर्कश वचनों द्वारा स्त्री, पुत्र व सेवक पीड़ित रहते हैं, उसे उनके द्वारा लेशमात्र भी सुख नहीं मिलता ॥ १ ॥'

अन्यायसे किसीका वध करना, जेलखानेकी सजा देना और उसका समस्त धन अपहरण करना या उसकी जीविका नष्ट करना 'दण्ड पारुष्य' है ॥ ३२ ॥

गुरु[4] विद्वान् ने भी दंडपारुष्यका यही लक्षण किया है ॥ १ ॥

जो राजा उक्त १८ प्रकारके व्यसनोंमें से एक भी व्यसनमें फँस जाता है, वह चतुरङ्ग सेना (हाथी, घोड़े, रथ और पदाति) से युक्त होता हुआ भी नष्ट होजाता है, फिर १८ प्रकारके व्यसनोंमें फँसा हुआ क्या नष्ट नहीं होता ? अवश्य नष्ट होता है ॥ ३३ ॥

भावार्थ—इस समुद्देशमें आचार्यश्रीने निम्नप्रकार १८ प्रकारके व्यसनोंका निर्देश किया है। १ स्त्री-आसक्ति, २ मद्य-पान, ३ शिकार खेलना ,४ द्यूत-क्रीड़न, ५ पैशुन्य (चुगली करना), ६ दिनमें शयन,

---

१ तथा च विदुर,—वाक्सायका रौद्रतमा भवन्ति यैराहतः शोचति रात्र्यहानि। परस्य मर्मस्वापि ते पतन्ति तान् पण्डितो नैव क्षिपेत् परेषु ॥१॥

२ तथा च जैमिनिः—[जातिविद्यासुवृत्ताढ्यान्] निर्दोषान् यस्तु भर्त्सयेत्। तद्गुणैर्वामतां नीतैः पारुष्यं तन्न कारयेत्।

३ तथा च शुक्रः—भार्याभृत्यसुता यस्य वाक्पारुष्यसुदुःखिताः। भवन्ति तस्य नो सौख्यं तेषां पार्श्वात् प्रजायते ॥१॥

४ तथा च गुरुः—[वधं क्लेशापहारं यः] प्रजानां कुरुते नृपः। अन्यायेन हि तत् प्रोक्तं दंडपारुष्यमेव च ॥१॥ संशो०

७ पर-निन्दा, ८ गीत-श्रवणमें आसक्ति, ६ नृत्यदर्शनमें आसक्ति, १० वादित्र-श्रवणमें आसक्ति ११ वृथागमन, १२ ईर्ष्या १३ साहस (परस्त्री-सेवन व कन्या-दूषण), १४ अर्थदूषण, १५ अकारणवध, १६ द्रव्य-हरण, १७ कर्कशवचन और और १८ दण्डपारुष्य। नैतिक व्यक्तिको इनका त्याग करना चाहिये।

इति व्यसनसमुद्देश।

---

११ स्वामी-समुद्देश।

राजाका लक्षण, अमात्य-आदि प्रकृति-स्वरूप, असत्य व धोखा देनेसे हानि—

धार्मिकः कुलाचाराभिजनविशुद्धः प्रतापवान्नयानुगतवृत्तिश्च स्वामी ॥ १ ॥ कोपप्रसादयोः स्वतन्त्रः ॥ २ ॥ आत्मातिशयं धनं वा यस्यास्ति स स्वामी* ॥ ३ ॥ स्वामिमूलाः सर्वाः प्रकृतयोऽभिप्रेतार्थयोजनाय भवन्ति नास्वामिकाः ॥ ४ ॥ उच्छिन्नमूलेषु तरुषु किं कुर्यात् पुरुषप्रयत्नः ॥ ५ ॥ असत्यवादिनो नश्यन्ति सर्वे गुणाः ॥ ६ ॥ वञ्चकेषु न परिजनो नापि चिरायुः ॥ ७ ॥

अर्थ—जो धर्मात्मा, कुलाचार व कुलीनताके कारण विशुद्ध, भाग्यशाली, नैतिक, दुष्टोंसे कुपित व शिष्टोंसे अनुरक्त होनेमें स्वाधीन और आत्म-गौरव-युक्त तथा प्रचुर सम्पत्तिशाली हो उसे 'राजा कहते हैं ॥ १-३ ॥

शुक्र[1] गर्ग[2], व गुरु[3] विद्वानों ने भी राजाका इसीप्रकार लक्षण-निर्देश किया है ॥ १-३ ॥

---

* 'आत्मातिशयजननं वा यस्याति स स्वामी' इसप्रकार मू० प्रतियोंमें पाठान्तर है, जिसका अर्थ यह है कि जो अन्य से अतिशयवान् हो वह स्वामी है, शेष पूर्ववत्।

१ तथा च शुक्रः—धार्मिको यः कुलाचारैर्विशुद्धः पुण्यवान्नयी। स स्वामी कुरुते राज्यं विशुद्धं राज्यकंटकैः' १ ॥

२ तथा च गर्गः—स्वायत्तः कुरुते यश्च निग्रहानुग्रहौ जने। पापे साधुसमाचारे स स्वामी नेतरः स्मृतः ॥ १ ॥

३ तथा च गुरुः—आत्मा च विद्यते यस्य धनं वा विद्यते बहु। स स्वामी प्रोच्यते लोकैर्नेतरोऽत्र कथंचन ॥ १ ॥

समस्त प्रकृतिके लोग (मंत्री-आदि) राजाके कारणसे ही अपने अभिलपित अधिकार प्राप्त करनेमें समर्थ होते हैं, राजाके विना नहीं ॥ ४ ॥

गर्ग[1] विद्वान्ने भी कहा है कि 'समस्त प्रकृतिवर्ग राजाके रहनेपर ही अपने अधिकार प्राप्त कर सकता है, अन्यथा नहीं ॥ १ ॥'

जिन वृक्षोंकी जड़ें उखड़ चुकी हों, उनसे पुष्प-फलादिकी प्राप्तिके लिये किया हुआ प्रयत्न क्या सफल होसकता है ? नहीं होसकता, उसीप्रकार राजाके नष्ट होजानेपर प्रकृतिवर्ग द्वारा अपने अधिकार-प्राप्तिके लिये किया हुआ प्रयत्न भी निष्फल होता है ॥ ५ ॥

भागुरि[2] विद्वान्ने भी राज-शून्य प्रकृतिको अभिलषित अधिकार प्राप्त न होनेके विषयमें इसीप्रकार कहा है ॥ १ ॥

झूठ बोलनेवाले मनुष्यके सभी गुण (ज्ञान-सदाचार-आदि) नष्ट हो जाते हैं ॥ ६ ॥

रैभ्य[3] विद्वान्ने भी कहा है कि 'मिथ्याभाषी मनुष्योंके कुलीनता, शील व विद्या प्रभृति समस्त गुण नष्ट हो जाते हैं ॥ १ ॥'

धोखेबाजोंके पास न सेवक ठहरते हैं और न वे चिरकाल तक जीवित रह सकते हैं; क्योंकि धोखेबाजों द्वारा सेवकों को वेतन नहीं मिलता, इससे उनके पास सेवक नहीं ठहरते एवं जनसाधारण उनसे द्वेष करते हैं, अतः वे असमयमें मार दिये जाते हैं; अतः वे दीर्घजीवी भी नहीं होते अतः शिष्ट पुरुषोंको धोखा देना छोड़ देना चाहिये ॥ ७ ॥

भागुरि[4] विद्वान्ने भी धोखेबाजोंके विषयमें इसीप्रकार कहा है ॥ १ ॥

लोक-प्रिय पुरुष, उत्कृष्टदाता, प्रत्युपकारसे लाभ पूर्वक सच्चा परोपकार, प्रत्युपकार-शून्यकी कड़ी आलोचना व स्वामीकी निरर्थक प्रसन्नता—

स प्रियो लोकानां योऽर्थं ददाति ॥ ८ ॥

---

१ तथा च गर्गः—स्वामिना विद्यमानेन स्वाधिकारानवाप्नुयात् । सर्वाः प्रकृतयो नैव विना तेन समाप्नुयुः ॥ १ ॥

२ तथा च भागुरिः—छिन्नमूलेषु वृक्षेषु यथा नो पल्लवादिकम् । तथा स्वामिविहीनानां प्रकृतीनां न वाञ्छितम् ॥ १ ॥

३ तथा च रैभ्यः—कुलशीलोद्भवा ये च गुणा विद्यादयोऽपराः । ते सर्वे नाशमायान्ति ये मिथ्यावचनात्मकाः ॥ १ ॥

४ तथा च भागुरिः—यः पुमान् वंचनासक्तस्तस्य न स्यात् परिग्रहः । न चिरं जीवितं तस्मात् सद्भिस्त्याज्यं हि वंचनम्

स दाता महान् यस्य नास्ति प्रत्याशोपहतं चेतः * ॥ ९ ॥ प्रत्युपकर्तुरुपकारः सवृद्धिकोऽर्थन्यास इव तज्जन्मान्तरेषु च न केषामृणं येषामप्रत्युपकारमनुभवनम् ॥१०॥ किं तया गवा या न क्षरति क्षीरं न गर्भिणी वा ॥ ११ ॥ किं तेन स्वामि-प्रसादेन यो न पूरयत्याशाम् ॥ १२ ॥

अर्थ—जो धन या अभिलषित वस्तु देकर दूसरोंकी भलाई करता है, वही उदार पुरुष लोगोंका प्यारा होता है ॥ ८ ॥

अत्रि[1] विद्वान् ने भी कहा है कि 'जो मनुष्य अपना धन देता है, वह चाण्डाल, पापी, समाज-बहिष्कृत व निर्दयी होनेपर भी जनताका प्रेमपात्र होता है ॥ १ ॥'

संसारमें वही दाता श्रेष्ठ है, जिसका मन पात्र (याचक) से प्रत्युपकार या धनादिक लाभकी इच्छासे दूषित नहीं है; क्योंकि प्रत्युपकारकी इच्छासे पात्र-दान करना वणिक् वृत्ति ही है। सारांश यह है कि आत्महितैषी उदार पुरुष प्रत्युपकारकी कामना-शून्य होकर दान धर्ममें प्रवृत्ति करे ॥ ९ ॥

ऋषिपुत्रक[2] विद्वान्ने भी कहा है कि 'जो व्यक्ति लोकमें दान देकर याचकसे धनादि चाहता है, उसका दान व्यर्थ है ॥ १ ॥'

प्रत्युपकार करनेवालेका उपकार बढ़नेवाली धरोहर समान है। सारांश यह है कि यद्यपि विश्वास-पात्र शिष्ट पुरुषके यहाँ रक्खी हुई धरोहर (सुवर्ण-आदि बढ़ती नहीं है, केवल रखनेवालेको जैसी की तैसी वापिस मिल जाती है परन्तु प्रत्युपकारीके साथ किया हुआ उपकार (अर्थ-दानादि) उपकारीको विशेष फलदायक होनेसे—उसके बदले विशेष धनादि-लाभ होनेके कारण बढ़नेवाली धरोहरके समान समझना चाहिये; अतः प्रत्युपकारीका उपकार विशेष लाभप्रद है। इसीप्रकार जो लोग विना प्रत्युप-

---

* इयमुच्चधियामलौकिकी महती कापि कठोरचित्तता (च), यदुपकृत्य भवन्ति निःस्पृहाः परतः प्रत्युपकारभीरवश्च, इसप्रकारका उक्त सूत्रके पश्चात् मू० प्रतियोंमें अधिक पाठ है, जिसका अर्थ यह है कि उच्च ज्ञानवान् महापुरुषोंकी ऐसी कोई अलौकिक व श्रेष्ठप्रकृति (स्वभाव) और दृढ़ चित्त-वृत्ति होती है, जिससे वे दूसरोंका उपकार करके उनसे निःस्पृहः—कुछ मतलब न रखनेवाले—होते हैं एवं उन्हें इस बातका भय रहता है कि उपकृत पुरुष मेरा कहीं प्रत्युपकार न कर देवे।

१ तथा च अत्रिः—अन्त्यजोऽपि च पापोऽपि लोकबाह्योऽपि निर्दयः। लोकानां वल्लभः सोऽत्र यो ददाति निजं धनम् ॥१॥

२ तथा च ऋषिपुत्रकः—दत्वा दानं पुरुषोऽत्र तस्माल्लाभं प्रवाञ्छति। प्रगृहीतुः सकाशाच्च तद् दानं व्यर्थतां भवेद् ॥१॥

कार किये ही परोपकारका उपभोग करते हैं वे जन्मान्तरमें किन उपकारियों दाताओंके ऋणी नहीं होते ? सभीके होते हैं। निष्कर्ष यह है कि शिष्ट पुरुषको कृतज्ञता-प्रकाश-पूर्वक उपकारीका प्रत्युपकार करना चाहिये ॥ १० ॥

ऋषिपुत्रक[1] विद्वान्‌ने भी इसीप्रकार कहा है ॥ १ ॥

उस गायसे क्या लाभ है, जो कि दूध नहीं देती और न गर्भवती है ? कोई लाभ नहीं। उसी प्रकार उस मनुष्यके उपकार करनेसे क्या लाभ है, जोकि वर्तमान या भविष्यमें प्रत्युकार नहीं कर सकता ? कोई लाभ नहीं ॥ ११ ॥

उस स्वामीकी प्रसन्नतासे क्या लाभ है, जो कि सेवकोंके न्याय-युक्त मनोरथ पूर्ण नहीं कर सकता ? कोई लाभ नहीं। क्योंकि सेवकोंके मनोरथ पूर्ण करनाही स्वामी-प्रसादका फल है ॥ १२ ॥

दुष्ट-अधिकारी-युक्त राजा, कृतघ्नता, मूर्खता, लोभ, आलस्यसे हानि—

क्षुद्रपरिषत्कः सर्पाश्रय इव न कस्यापि सेव्यः ॥ १३ ॥

अकृतज्ञस्य व्यसनेषु न सहन्ते सहायाः ॥१४॥ अविशेषज्ञो विशिष्टैर्नाश्रीयते ॥ १५ ॥

आत्मम्भरिः परित्यज्यते कलत्रेणापि ॥१६॥ अनुत्साहः सर्वव्यसनानामागमनद्वारम् ॥ १७ ॥

अर्थ—जिसकी सभामें अमात्य-आदि प्रकृति दुष्ट होती है, वह राजा सर्प-युक्त गृह समान महा-भयङ्कर होता है, इसलिये वह किसीके द्वारा सेवन करनेके योग्य नहीं ॥ १३ ॥

गुरु[2] विद्वान्‌ने कहा है कि 'यदि राजा हंस समान शुद्धचित्त व सौम्य प्रकृति-युक्त भी हो, परन्तु यदि वह गृद्ध पक्षियोंकी तरह दुष्ट और घातक मंत्री आदि सभासदों से युक्त है, तो सर्प-युक्त गृह समान प्रजा द्वारा सेवन करने योग्य नहीं ॥ १ ॥'

जो कृतघ्न है—दूसरोंकी भलाईको नहीं मानता, उसकी आपत्ति-कालमें सेवक लोग सहायता नहीं करते, अतएव प्रत्येक व्यक्तिको कृतज्ञ होना चाहिये ॥ १४ ॥

जैमिनि[3] विद्वान्‌ने भी कृतघ्नके विषयमें इसी प्रकार कहा है ॥ १ ॥

मूर्ख पुरुष शिष्ट पुरुषों द्वारा सेवन नहीं किया जाता ॥ १५ ॥

---

१ तथा च ऋषिपुत्रकः—उपकारं गृहीत्वा यः प्रकरोति पुनर्न वा । जन्मान्तरेषु तत्तस्य वृद्धिं याति कुसीदवत् ॥ १ ॥

२ तथा च गुरुः—हंसाकारोऽपि चेद्राजा गृध्राकारैः सभासदैः असेव्यः स्यात् स लोकस्य ससर्प इव संश्रयः ॥१॥

३ तथा च जैमिनिः—अकृतज्ञस्य भूपस्य व्यसने समुपस्थिते । साहाय्यं न करोत्येव कश्चिदाप्तोऽपि मानवः ॥ १ ॥

शुक्र[1] विद्वान्ने कहा है कि 'कांचको मणि और मणिको कांच समझनेवाले मूर्ख राजाकी जब साधारण मनुष्य भी सेवा नहीं करता, फिर क्या विद्वान् पुरुष उसकी सेवा कर सकता है ? नहीं कर सकता ॥ १ ॥'

कुटुम्ब-आदिके संरक्षणमें असमर्थ केवल अपनी उदर-पूर्ति करनेवाले अत्यन्त लोभी पुरुषको जब उसकी स्त्री भी छोड़ देती है, फिर दूसरे सेवकों आदि द्वारा छोड़े जानेके विषयमें तो कहना ही क्या है। अर्थात् वे तो उसे अवश्य छोड़ देते हैं ॥ १६ ॥

गुरु[2] विद्वान्ने भी आत्मम्भरि—पेटूके विषयमें इसीप्रकार कहा है ॥ १ ॥

आलस्य सभी आपत्तियोंका द्वार है—आलसी समस्त प्रकारके कष्ट भोगता है ॥ १७ ॥

वादरायण[3] विद्वानने भी कहा है कि आलसीको आपत्तियां कहीं पर भी किसी प्रकार नहीं छोड़तीं ॥ १ ॥

उद्योग, अन्यायी, स्वेच्छाचारी, ऐश्वर्य-फल व राजाज्ञा—

शौर्यममर्षः शीघ्रकारिता सत्कर्मप्रवीणत्वमुत्साहगुणाः ॥ १८ ॥

अन्यायप्रवृत्तस्य न चिरं सम्पदो भवन्ति ॥१९॥ यत्किञ्चनकारी स्वैः परैर्वाभिहन्यते ॥२०

आज्ञाफलमैश्वर्यम् ॥ २१ ॥ राजाज्ञा हि सर्वेषामलंघ्यः प्राकारः ॥२२॥

अर्थ—उत्साही पुरुषमें शूरता, दूसरे व्यक्तियों द्वारा अनिष्ट किये जाने पर क्रुद्ध होना, कर्त्तव्य-शीघ्रता, व प्रशस्त कार्य चतुराई से करना ये गुण होते हैं ॥ १८ ॥

शौकन[4] विद्वान्ने भी उत्साहीके उक्त सभी गुण निर्दिष्ट किये हैं ॥ १ ॥

अन्यायी पुरुषकी सम्पत्तियां चिरकालीन नहीं होतीं—नष्ट होजाती हैं ॥ १९ ॥

अत्रि[5] विद्वान्ने भी अन्यायी सम्पत्तियोंके विषयमें इसीप्रकार कहा है ॥ १ ॥

---

१ तथा च शुक्रः—काचं मणिं मणिं काचं यो वेत्ति पृथिवीपतिः । सामान्योऽपि न तं सेवेत् किं पुनर्विबुधो जनः ॥१॥

२ तथा च गुरुः—उपार्जितं यो नो दद्यात् कस्यचिद्भक्षयेत् स्वयम् । आत्मम्भरिः स विज्ञेयस्त्यज्यते भार्ययापि च ॥१॥

३ तथा च बादरायणः—आलस्योपहतो यस्तु पुरुषः संप्रजायते । व्यसनानि न तं क्वापि संत्यजन्ति कथंचन ॥१॥

४ तथा च शौनकः—शौर्यं कार्यार्थकोपश्च शीघ्रता सर्वकर्मसु । तत्कर्मसु प्रवीणत्वमुत्साहस्य गुणाः स्मृताः ॥१॥

५ तथा च अत्रिः—अन्यायेन प्रवृत्तस्य न चिरं सन्ति सम्पदः । अपि शौर्यसमेतस्य प्रभूतविभवस्य च ॥१॥

स्वेच्छाचारी—अपनी इच्छानुकूल प्रवृत्ति करनेवाला—आत्मीयजनों अथवा शत्रुओं द्वारा मार दिया जाता है ॥ २० ॥

अत्रि[1] विद्वान्ने भी कहा है कि 'ज्ञान-वृद्ध पुरुषोंसे विना पूछे ही अपनी इच्छानुकूल चलनेवाला पुरुष अङ्कुशहीन (मर्यादा-बाह्य) हुआ अपने कुटुम्बियों या शत्रुओं द्वारा वध कर दिया जाता है ॥ १ ॥'

राजकीय ऐश्वर्य—सैन्य-कोश-शक्ति-प्रजा व प्रकृति (अमात्य-प्रभृति) द्वारा आज्ञा-पालन से ही सफल होता है ॥ २१ ॥

वल्लभदेव[2] विद्वान्ने भी कहा है कि 'जिसकी आज्ञा सर्व—मान्य हो, वही राजा कहा जाता है, परन्तु जिसकी आज्ञा नहीं मानी जाती ऐसा कोई भी व्यक्ति, केवल अभिषेक, व्यञ्जन (चमरप्रभृतिसे हवा किया जाना) और पट्टबंधन आदि चिन्होंसे राजा नहीं हो सकता। क्योंकि उक्त अभिषेक आदि कार्य व्रण (फोड़ा) के भी किये जाते हैं। अर्थात् व्रण—फोड़ेका भी अभिषेक (जलसे धोया जाना), व्यञ्जन (पंखोंसे हवा किया जाना) व पट्टबंधन (पट्टी बांधना) होता है ॥ १ ॥

राजकीय आज्ञा समस्त मनुष्योंसे उल्लङ्घन न किये जानेवाले प्राकार (कोट) के समान होती है। अर्थात् जिसप्रकार अत्यन्त विशाल व ऊंचा कोट उल्लङ्घन नहीं किया जा सकता, उसीप्रकार राजकीय आज्ञा भी किसीके द्वारा उल्लङ्घन नहीं की जाती ॥ २२ ॥

गुरु[3] विद्वान्ने भी राजाकीय आज्ञाके विषयमें इसीप्रकार कहा है ॥ १ ॥

राज-कर्त्तव्य (अपराधानुरूप दंड विधान), आज्ञाहीन राजाकी कड़ी आलोचना, सजाके योग्य पुरुष व मनुष्य-कर्त्तव्य—दूसरेका गुप्त रहस्य न कहना—

आज्ञाभङ्गकारिणं पुत्रमपि न सहेत ॥२३॥ कस्तस्य चित्रगतस्य च विशेषो यस्याज्ञा नास्ति ॥२४॥ राजाज्ञावरुद्धस्य तदाज्ञां न भजेत् *॥२५॥

---

१ तथा च अत्रि:—स्वेच्छया वर्तते यस्तु न वृद्धान् परिपृच्छति । स परैर्हन्यते नूनमात्मीयैर्वा निरङ्कुशः ॥१॥

२ तथा च वल्लभदेवः— स एव प्रोच्यते राजा यस्याज्ञा सर्वतः स्थिता । अभिषेको व्रणस्यापि व्यजनं पट्टमेव च ॥१॥

३ तथा च गुरुः—अलङ्घ्यो यो भवेद्राजा प्राकार इव मानवैः । यमादेशमसौ दद्यात् कार्य एव हि स ध्रुवम् ॥१॥

*'राजाज्ञावरुद्धस्य पुनस्तदाज्ञाप्रतिपादनेन उत्तमसाहसो दंडः । सम्बन्धाभावे तद्दातुश्च' इस प्रकारका पाठान्तर मू०प्रतियोंमें वर्तमान है, जिसका अर्थ यह है कि राजकीय आज्ञासे जेलखानेकी सजा पाया हुआ अपराधी यदि फिरसे आज्ञा उल्लङ्घन करे तो उसे उत्तम साहसदंड (पूर्वापेक्षा विशेष कड़ी सजा) दिया जावे, परन्तु दंडदेनेवालेको उसका अपराध मालूम न होने पर भी व उसपर शङ्का होनेसे उसे वही उत्तम साहसदंड दिया जावे।

परमर्माकार्यमश्रद्धेयं च न भाषेत* ॥ २६ ॥

अर्थ—राजा आज्ञा-भंग करनेवाले पुत्रपर भी क्षमा न करे—यथोचित दंड देवे ॥ २३ ॥

नारद[1] विद्वान्ने कहा है कि 'राजाओंको आज्ञा-भङ्ग होनेसे विना शस्त्रके होनेवाला वध समान महाकष्ट होता है, इसलिये प्राण-रक्षाके इच्छुक पुरुषोंको किसी प्रकार भी राजकीय आज्ञा उल्लङ्घन न करनी चाहिये ॥ १ ॥

जिसकी आज्ञा प्रजाजनों द्वारा उल्लङ्घन की जाती है, उसमें और चित्र (फोटो) के राजामें क्या अन्तर है ? कोई अन्तर नहीं। अर्थात् उसे मृत-प्राय समझना चाहिये ॥ २४ ॥

गुरु[2] विद्वान्के उद्धरणका भी यही अभिप्राय है ॥ १ ॥

जिसे राजकीय आज्ञासे जेलखाने आदिकी सजा मिल चुकी है, उस दंडित पुरुषका पक्ष नहीं करना चाहिये। अन्यथा पक्ष करनेवाला सजाका पात्र होता है ॥ २५ ॥

भारद्वाज[3] विद्वान्ने भी सजा पाए हुए की पक्ष करनेवालेके विषयमें इसी प्रकार कहा है ॥ १ ॥

नैतिक पुरुष निरर्थक व विश्वास करनेके अयोग्य दूसरेकी गुप्त बात न कहे ॥ २६ ॥

भागुरि[4] विद्वान्के उद्धरणसे भी यही बात प्रतीत होती है ॥ १ ॥

अज्ञात वेष-आचार, राज-क्रोध व पापी राजासे हानि, राजा द्वारा अपमानित व पूजित पुरुष—

वेषमाचारं वानभिज्ञातं न भजेत्× ॥२७॥ विकारिणि प्रभौ को नाम न विरज्यते ॥२८॥ अधर्मपरे राज्ञि को नाम नाधर्मपरः ॥२९॥ राज्ञावज्ञातो यः स सर्वैरवज्ञायते ॥३०॥ पूजितं पूजयन्ति लोकाः ॥३१॥

---

* 'परमर्मस्पर्शकरमश्रद्धेयमसत्यमतिमात्रं च न भाषेत' इस प्रकारका पाठान्तर मू० प्रतियोंमें है, जिसका अर्थ यह है कि विवेकी मनुष्य दूसरोंके हृदयको चोट पहुँचानेवाले, विश्वासके अयोग्य, अधिक मात्रा-युक्त और झूठे वचन न बोले ।

१ तथा च नारदः—आज्ञाभङ्गो नरेन्द्राणामशस्त्रो वध उच्यते । प्राणार्थिभिर्न कर्तव्यस्तस्मात् सोऽत्र कथंचन ॥१॥

२ तथा च गुरुः—यस्याज्ञां नैव कुर्वन्ति भूमौ भूपस्य मानवाः । आलेख्यगः स मन्तव्यो न मनुष्यः कथंचन ॥१॥

३ तथा च भारद्वाजः—विरुद्धो वर्तते यस्तु भूपतेः सहमानवः । यस्याज्ञां कुरुते यस्तु स दण्ड्यो हि नरेश्वरः ॥१॥

४ तथा च भागुरिः—परमर्म न वक्तव्यं कार्यवाह्यं कथंचन । अश्रद्धेयं च विज्ञेयं च इच्छेद्धितमात्मनः ॥१॥

× 'वेषं समाचारं वाऽनभिजानन्न तं भजेत्' इस प्रकार मू० प्रतियोंमें पाठ है, परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं।

अर्थ—विजिगीषु ऐसे वेष (बहुमूल्य वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत कमनीय कान्ता-आदिके सुन्दर भेष) व व्यवहार—वर्ताव—पर विश्वास न करे और न उन्हें काममें लावे जो कि अज्ञात—विना जाने हुए वा आप्त पुरुषों द्वारा विना परीक्षा किये हुए हों, क्योंकि शत्रु लोग भी नाना प्रकारके छलकपट-पूर्ण वेश्याओं आदिके वेष व मायाचार-युक्त वर्ताव द्वारा विजिगीषुको धोखा देकर भयङ्कर खतरेमें डाल देते हैं॥२७॥ जिस मनुष्यसे राजा कुपित होगया है, उसपर कौन कुपित नहीं होता है ? सभी कुपित होते हैं ॥ २८ ॥

हारीत[1] विद्वान्के उद्धरणका भी यही अभिप्राय है ॥ १ ॥

राजाके पापी होनेसे कौन पुरुष पापमें प्रवृत्त नहीं होता ? सभी होते हैं ॥ २९ ॥

व्यास[2] विद्वान्ने भी कहा है कि 'प्रजा राजाका अनुकरण करती है। अर्थात् जैसा राजा वैसी प्रजा हो जाती है। वह राजाके धर्मात्मा होनेसे धर्मात्मा, पापी होनेसे पापी व दुष्ट होनेसे दुष्ट होजाती है ॥ १ ॥'

जो व्यक्ति राजा द्वारा तिरस्कृत-अपमानित किया जाता है, उसका सभी लोग अपमान करने लगते हैं और राज-सन्मानित पुरुषकी सभी पूजा करते हैं ॥ ३०–३१ ॥

नारद[3] विद्वान्ने भी राजा द्वारा तिरस्कृत व सन्मानितके विषयमें यही कहा है ॥ १ ॥

राज-कर्त्तव्य (प्रजा-कार्यका स्वयं विचार, प्रजासे मिलनेसे लाभ, न मिलने से हानि) व अधिकारियों की अनुचित जीविका—

प्रजाकार्यं स्वयमेव पश्येत् ॥३२॥ यथावसरमसङ्गं द्वारं कारयेत् ॥३३॥

दुर्दर्शो हि राजा कार्याकार्यं विपर्यासमासन्नैः कार्यते द्विषतामतिसन्धानीयश्च भवति ३४

वैद्येषु श्रीमतां व्याधिवर्द्धनादिव नियोगिषु भर्तृव्यसनादपरो नास्ति जीवनोपाय ३५

अर्थः—राजा प्रजा कार्य— शिष्टपालन व दुष्टनिग्रह आदि स्वयं ही विचारे व अमात्य आदिके भरोसे पर न छोड़े, अन्यथा रिश्वतखोरी और पक्षपात वगैरहके कारण प्रजा पीड़ित होती है।३२॥

देवल[4] विद्वान्ने भी प्रजा कार्य को अधिकारियोंके भरोसे पर छोड़ देनेसे प्रजा-पीड़ा-आदि हानि वताई है ॥१॥

---

१ तथा च हारीत:—विकारान् कुरुते योऽत्र प्रकृत्या नैव तिष्ठति। प्रभोस्तस्य विरज्येत निजा अपि च बन्धवः ॥१॥

२ तथा च व्यास:—राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः पापे पापाः खले खलाः। राजानमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजाः ॥१॥

३ तथा च नारद:—अवज्ञातस्तु यो राज्ञा स विद्वानपि मानवैः। अवज्ञायेत मूर्खोऽपि पूज्यते नृपपूजितः ॥१॥

४ तथा च देवल:— ये स्युर्विचारका राज्ञामुत्कोचां प्राप्य तेऽन्यथा । विचारयन्ति कार्याणि तत् पापं नृपतेर्यतः

राजा मौकेपर अपना राज-द्वार खुला रखे, जिससे प्रजा उसका दर्शन सुलभतासे कर सके॥३३॥

गर्ग[1] विद्वान् ने तो कहा है कि केवल एक मौका छोड़कर बाकी समयोंमें राजा अपना द्वार सदा सुरक्षित रखे व अवसर आनेपर भी प्रजाको अपना दर्शन न देवे निश्चयसे प्रजाको दर्शन न देने वाले राजा का कार्य अधिकारी वर्ग स्वार्थ-वश बिगाड़ देते हैं और शत्रुलोग भी उससे बगावत करने तत्पर होजाते हैं, अतः प्रजाको राजकीय दर्शन सरलतासे होना चाहिए ।।३४॥

राजपुत्र[2] और गर्ग[3] विद्वान ने भी क्रमशः कहा है कि जो राजा अपने द्वार पर आए हुए विद्वान् धनाढ्य, दीन (गरीब) साधु व पीड़ित पुरुष की उपेक्षा करता है उसे लक्ष्मी छोड़ देती है ॥१॥ स्त्रियों में आसक्त रहने वाले राजा का कार्य मंत्रियों द्वारा बिगाड़ दिया जाता है और शत्रु भी उससे युद्ध करने तत्पर होजाते हैं ॥२॥

जिस प्रकार धनिकों की बीमारी बढ़ाना छोड़कर वैद्यों की जीविका का कोई दूसरा उपाय नहीं उसी प्रकार राजाको व्यसनों में फंसाने के सिवाय, मंत्री आदि अधिकारियों की जीविका का भी कोई दूसरा उपाय नहीं है सारांश यह है कि अशिष्ट वैद्योंकी तरह अशिष्ट अधिकारी वर्गकी घृणित स्वार्थवश लोक में ऐसी अनुचित प्रवृत्ति देखी जाती है, अतः राजा को उनसे सावधान रहना चाहिये, जिससे वे उसे व्यसनों में फंसकर स्वयं रिश्वतखोर आदि न होने पावें ॥३५॥

रैभ्य[4] विद्वान्ने कहा है कि 'जिस प्रकार धनिकों की बीमारी के इलाज करने से वैद्यों को विशेष सम्पत्ति प्राप्त होती है उसीप्रकार स्वामीको व्यसनमें फंसा देनेसे नौकरोंको सम्पत्ति मिलती है ॥१॥'

राज-कर्त्तव्य (रिश्वतखोरोंसे प्रजा-रक्षा) और रिश्वतसे प्रजा व राजकीय हानिः—

कार्यार्थिनः पुरुषान् लञ्चलुञ्चानिशाचराणां भूतबलीन्न कुर्यात् A ॥ ३६ ॥

लञ्चलुञ्चा हि सर्वपातकानामागमनद्वारम् ॥३७॥

---

१ तथा च गर्गः—मुक्त्वावसरमेकं च द्वारं गुप्तं प्रकारयेत् । प्रस्तावेपि परिज्ञाते न द्रष्टव्यो महीभुजा ॥१॥

२ तथा च राजपुत्रः— ज्ञानिनं धनिनं दीनं योगिनं चार्त्तिसंयुतं । द्वारस्थं य उपपेक्षेत स श्रिया समुपेक्ष्यते ॥१॥

३ तथा च गर्गः—स्त्रीसमासक्तचित्तो यः क्षितिपः संप्रजायते । वामतां सर्वकृत्येषु सचिवैर्नीयतेऽरिभि ॥१॥

४ तथा च रैभ्यः—ईश्वराणां यथा व्याधिर्वैद्यानां निधिरुत्तमः । नियोगिनां तथा ज्ञेयः स्वामिव्यसन सम्भव ॥१॥

A 'कार्यार्थिनः पुरुषान् लञ्चा लुञ्चन्ति, लञ्चचरां भूतबलिं न कुर्यात्' इस प्रकारका पाठान्तर मू० प्रतियोंमें है, परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं ।

मातुः स्तनमपि लुञ्चन्ति लञ्चोपजीविनः ॥३८॥
लञ्चेन कार्यकारिभिरूर्ध्वः स्वामी विक्रीयते[A] ॥३९॥

अर्थ—राजा आये हुए प्रयोजनार्थी पुरुषोंको, बलात्कार-पूर्वक रिश्वत लेनेवाले (रिश्वतखोर) अमात्य-आदि अधिकारियोंके लिये अपने प्राणोंकी बलि देनेवाले (रिश्वत देनेवाले) न बनावे। सारांश यह है कि रिश्वतखोरीसे प्रजा-पीड़ा, अन्याय-वृद्धि व राज-कोश-क्षति होती है, अतः राजाको प्रयोजनार्थी पुरुषोंका रिश्वतखोरोंसे बचाव करना चाहिये ॥३६॥

शुक्र[1] विद्वान्ने भी प्रयोजनार्थियोंका रिश्वतखोरोंसे बचाव न करनेवाले राजाकी आर्थिक-क्षतिका निरूपण किया है ॥ १ ॥

बलात्कार पूर्वक रिश्वत लेना समस्त पापों (हिंसा-आदि) का द्वार है ॥३७॥

वशिष्ट[2] विद्वान्ने भी चापलूस व रिश्वतखोर अधिकारियोंसे युक्त राजाको समस्त पापोंका आश्रय बतलाया है ॥ १ ॥

रिश्वतखोरीसे जीविका करनेवाले अन्यायी रिश्वतखोर अपनी माताका स्तन भी भक्षण कर लेते हैं—अपने हितैषियोंसे भी रिश्वत ले लेते हैं फिर दूसरोंसे रिश्वत लेना तो साधारण बात है ॥३८॥

भारद्वाज[3] विद्वान्ने भी रिश्वतखोरोंकी निर्दयता व विश्वास-घातके विषयमें इसी प्रकार कथन किया है। रिश्वतखोर अपने उन्नतिशील स्वामीको बेच देते हैं। क्योंकि जिस प्रयोजनार्थीसे रिश्वत ली जाती है, उसका अन्याय-युक्त कार्य भी न्याय-युक्त बताकर रिश्वतखोरोंको सिद्ध करना पड़ता है, जिससे स्वामीकी आर्थिक-क्षति होती है यही रिश्वतखोरों द्वारा स्वामीका बेचना—पराधीन करना समझना चाहिये ॥ ३९ ॥

भृगु[4] विद्वान्के उद्धरणका भी यही अभिप्राय है ॥ १ ॥

A 'लञ्चेन कार्याभिरुद्धः स्वामी विक्रीयते' इस प्रकारका पाठ मू० प्रतियोंमें है, जिसमें 'कार्याभिरुद्धः' पदका अर्थ 'कार्योंमें फँसा हुआ' है, शेषार्थ पूर्ववत् है।

१ तथा च शुक्रः—कार्यार्थिनः समायातान् यश्च भूपो न पश्यति। स चाहैं गृंह्यते तेषां द्रव्यं कोशे न जायते ॥१॥

२ तथा च वशिष्ठः—लञ्चलुञ्चानको यस्य चाटुकर्मरतो नरः। तस्मिन् सर्वाणि पापानि संश्रयन्तीह सर्वदा ॥१॥

३ तथा च भारद्वाजः—लञ्चोपजीविनो येऽत्र जनन्या अपि च स्तनम्। भक्षयन्ति सुनिस्त्रिंशा अन्यलोकस्य का कथा ॥१॥

४ तथा च भृगुः—लञ्चेन कर्मणा यत्र कार्यं कुर्वन्ति भूपतेः। विक्रीतमपि चात्मानं नो जानाति स मूढधीः ॥१॥

बलात्कारपूर्वक प्रजासे धन-ग्रहण करनेवाले राजा व प्रजाकी हानि, व राजकीय अन्यायकी दृष्टान्त-माला द्वारा कड़ी आलोचना—

प्रासादध्वंसनेन लोहकीलकलाभ इव लञ्चेन राज्ञोऽर्थलाभः ॥४०॥

राज्ञो लञ्चेन कार्यकरणे कस्य नाम कल्याणम् ॥४१॥

देवतापि यदि चौरेषु मिलति कुतः प्रजानां कुशलम् ॥४२॥

लुञ्चेनार्थोपाश्रयं दर्शयन् देशं कोशं मित्रं तन्त्रं च भक्षयति ॥४३॥

राज्ञोऽन्यायकरणं समुद्रस्य मर्यादालङ्घनमादित्यस्य तमः पोषणमिव मातुश्चापत्य-भक्षणमिव कलिकालविजृम्भितानि ॥४४॥

अर्थ—जो राजा बलात्कारपूर्वक प्रजासे धन ग्रहण करता है, उसका वह अन्याय-पूर्ण आर्थिक लाभ महलको नष्ट करके लोह-कीलेके लाभ समान हानिकारक है। अर्थात् जिस प्रकार जरासे-साधारण लोह-कीलेके लाभार्थ अपने बहुमूल्य प्रासाद (महल) का गिराना स्वार्थ-नाशके कारण महामूर्खता है, उसी प्रकार क्षुद्र स्वार्थके लिये लूट-मार करके प्रजासे धन-ग्रहण करना भी भविष्यमें राज्य-क्षतिका कारण होनेसे राजकीय महामूर्खता है। क्योंकि ऐसा घोर अन्याय करनेसे प्रजा पीड़ित व संत्रस्त होकर बगावत कर देती है, जिसके फल-स्वरूप राज्य-क्षति होती है। अभिप्राय यह है कि राज्य-सत्ता बहुमूल्य प्रासाद-तुल्य है, उसे चोर समान नष्ट करके तुच्छ लञ्च (लूट-मार या रिश्वत) रूप कीलेका ग्रहण करनेवाला राजा हंसी का पात्र होता है, क्योंकि वह ऐसा महाभयङ्कर अन्याय करके अपने पैरोंपर कुल्हाड़ी पटकता है ॥ ४० ॥

गर्ग[1] विद्वान्के उद्धरणका भी यही अभिप्राय है ॥ १ ॥

जो राजा बलात्कार करके प्रजासे धनादिका अपहरण करता है, उसके राज्यमें किसका कल्याण हो सकता है ? किसीका नहीं ॥ ४१ ॥

भागुरि[2] विद्वान्ने भी अन्यायी राजाके विषयमें इसीप्रकार कहा है ॥ १ ॥

क्योंकि यदि देवता भी चोरोंकी सहायता करने लगे, तो फिर किस प्रकार प्रजाका कल्याण हो सकता है ? नहीं हो सकता। उसी प्रकार रक्षक ही जब भक्षक होजाय—राजा ही जब रिश्वतखोरों व लूट-मार करनेवालोंकी सहायता करने लगे, तब प्रजाका कल्याण किसप्रकार हो सकता है? नहीं होसकता ॥४२॥

---

१ तथा च गर्गः—लञ्चद्वारेण यो लाभो भूमिपानां स कीदृशः । लोहकीलकलाभस्तु यथा प्रासादध्वंसने ॥१॥

२ तथा च भागुरिः—लञ्चनद्वारमाश्रित्य यो राजोत्थधनं हरेत् । न तस्य किंचिद् कल्याणं कदाचित् संप्रजायते ॥१॥

अत्रि[1] विद्वान्‌ने भी अन्यायी लूट-मार करनेवाले राजाके विषयमें इसीप्रकार कथन किया है। रिश्वत वा लूट-मार आदि घृणित उपाय द्वारा प्रजाका धन अपहरण करनेवाला राजा अपने देश (राज्य) खजाना, मित्र व सैन्य नष्ट कर देता है ॥ ४३ ॥

भागुरि[2] विद्वान्‌ने भी रिश्वत व लूट-मार करके धन बटोरनेवाले अन्यायी राजाके विषयमें इसी प्रकार कहा है।

राजाका प्रजाके साथ अन्याय (लूट-मार आदि) करना, समुद्रकी मर्यादा उल्लङ्घन, सूर्यको अँधेरा फैलाना व माताको अपने बच्चेका भक्षण करनेके समान किसीके द्वारा निवारण न किया जाने वाला महाभयङ्कर अनर्थ है, जिसे कलिकालका ही प्रभाव समझना चाहिये। सारांश यह है कि जिसप्रकार समुद्र ही अपनी मर्यादा—सीमाका उल्लङ्घन करने लगे और सूर्य अपना प्रकाशधर्म छोड़कर लोकमें अंधकार का प्रसार करने तत्पर होजाय एवं माता भी अपने बच्चेका पालनरूप धर्म छोड़कर यदि उसे भक्षण करने लगजाय, तो इन्हें कौन रोक सकता है? कोई नहीं रोक सकता, उसीप्रकार राजा भी अपना शिष्ट-पालन व दुष्टनिग्रह रूप धर्म छोड़कर प्रजाके साथ अन्याय करनेको तत्पर हो जाय, तो उसे दंड देनेवाला कौन हो सकता है? कोई नहीं हो सकता और इसे कलि-दोष ही समझना चाहिये; अतएव राजाको प्रजाके साथ अन्याय करना उचित नहीं ॥ ४४ ॥

न्यायसे प्रजापालनका परिणाम, न्यायवान् राजाकी प्रशंसा व राजकर्त्तव्य—

न्यायतः परिपालके राज्ञि प्रजानां कामदुघा भवन्ति सर्वा दिशः ॥ ४५ ॥

काले वर्षति मघवान्, सर्वाश्चेतयः प्रशाम्यन्ति, राजानमनुवर्त्तन्ते सर्वेऽपि लोकपालाः

तेन मध्यममप्युत्तमं लोकपालं राजानमाहुः॥ ४७॥

अव्यसनेन क्षीणधनान् मूलधनप्रदानेन सम्भावयेत् ॥ ४८ ॥

राज्ञो हि समुद्रावधिर्मही कुटुम्बं, कलत्राणि च वंशवर्द्धनक्षेत्राणि ॥ ४९ ॥

अर्थ—जब राजा न्यायपूर्वक प्रजा-पालन करता है, तब सभी दिशाएँ प्रजाको अभिलषित वस्तु देनेवाली होती हैं; क्योंकि ललितकला, कृषि वाणिज्य-आदिकी प्रगति न्याय-युक्त शासनके अधीन है ४५

नीतिकारों[3]ने कहा है कि जब राजा प्रजा-पालनमें चिन्तित रहता है तब देशकी स्वार्थ-सिद्धि होती है; क्योंकि न्याय-युक्त शासनमें कृषक क्षेमसे धान्य और धनाढ्य व्यापार द्वारा धन प्राप्त करते हैं ॥ १ ॥'

---

१ तथा च अत्रिः—राज्ञो लुञ्चाप्रवृत्तस्य कीदृक् स्याज्जनतासुखम् । यथा दुर्गाप्रसादेन चौरोपरि कृतेन च ॥१॥

२ तथा च भागुरिः—दर्शनं लुञ्चनार्थस्य यः करोति महीपतिः । स देशकोशमित्राणां तन्त्रस्य च क्षयंकरः ॥१॥

३ तथा चोक्तं—राज्ञा चिन्तापरे देशे स्वार्थसिद्धिः प्रजायते । क्षेमेण कर्षकाः सस्यं प्राप्नुयु र्धनिनो धनम् ॥ १ ॥

न्यायी राजाके प्रभावसे मेघोंसे यथासमय जल-वृष्टि होती है और प्रजाके सभी उपद्रव शान्त होते हैं तथा समस्त लोकपाल राजाका अनुकरण करते हैं—न्याययुक्त कर्त्तव्य पालन करते हैं ॥ ४६ ॥

गुरु[1] विद्वान् ने भी न्याययुक्त शासनकी इसीप्रकार प्रशंसा की है ॥ १ ॥'

इसी कारण विद्वान् पुरुष राजाको मध्यमलोकपाल—मध्यलोकका रक्षक—होनेपर भी उत्तम लोकपाल स्वर्गलोकका रक्षक कहते हैं ॥ ४७ ॥

रैभ्य[2] विद्वान् के उद्धरणका भी यही आशय है ॥ १ ॥

राजा प्रजाके उन कुटुम्बियोंको जो कि द्यूत-क्रीड़न प्रभृति व्यसनोंके विना ही केवल व्यापार-आदिमें नुकसान (घाटा) लगजानेसे दरिद्र हुए है, मूल धन (व्यापारियोंके लिये कर्जमें दिया जाकर उनसे वापिस लिया जानेवाला स्थाई धन) देकर संतुष्ट करे ॥ १ ॥

शुक्र[3] विद्वान् भी कहाहै कि 'राजा जुआ-आदि व्यसनोंके कारण दरिद्र होनेवालोंको छोड़कर दूसरे दरिद्रता वश दुःखी कुटुम्बियोंके लिये सौ सौ रुपये व्याजूना-कर्जा देदेवे ॥ १ ॥'

समुद्रपर्यन्त पृथ्वी (उसमें वर्तमान प्रजा) राजाका कुटुम्ब है और अन्न-प्रदान द्वारा प्रजाका संरक्षण-संवर्द्धन करनेवाले खेत उसकी स्त्रियाँ है। अभिप्राय यह है कि धार्मिक राजाको प्रजाका जीवन-निर्वाह करनेवाली कृषिकी उन्नति करते हुए समस्त प्रजाको अपने कुटुम्ब समान समझ कर पालन करना चाहिये ॥ ४६ ॥

राज-कर्त्तव्य व मनुष्यकर्त्तव्य स्वीकार न करने योग्य भेंट, हंसी-मजाककी सीमा, वाद-विवादका निषेध व निरर्थक आशा न देना—

> अर्थिनामुपायनमप्रतिकुर्वाणो न गृह्णीयात् ॥ ५० ॥ आगन्तुकैरसहनैश्च सह नर्म न कुर्यात् ॥ ५१ ॥ पूज्यैः सह नाधिकं वदेत्[A] ॥ ५२ ॥

---

१ तथा च गुरुः—इन्द्रादिलोकपाला ये पार्थिवे परिपालके। पालयन्ति च तद्राष्ट्रं दाने पानं च कुर्वते ॥ १ ॥

२ तथा च रैभ्यः—[लब्धादिविकलो राजा] मध्यमोऽप्युत्तम मानवैः। श्लाघ्यते यस्तु लोकानां सम्यक् स्यात् परिपालकः [संशोधित व परिवर्तित

३ तथा च शुक्रः—प्रतिकं च शतं वृद्धया देयं राज्ञा कुटुम्बिने। सीदमानाय नो देयं द्यूतादिनिरताय च ॥ १ ॥

A 'पूज्यैः सहाधिकस्य न वदेत्' इस प्रकार मू० प्रतियोंमें पाठ है, जिसका अर्थ है 'शिष्ट पुरुषको आसन वगैरहपर उद्दण्डता पूर्वक बैठकर पूज्य पुरुषोंके साथ बातचीत नहीं करनी चाहिये।'

मत्तु[६]मशक्यप्रयोजनं च जनं नाशया परिक्लेशयेत् A ॥ ५३ ॥

अर्थ—यदि राजा प्रयोजनार्थियोंका इष्ट प्रयोजन सिद्ध न कर सके, तो उसे उनकी भेंट स्वीकार न करनी चाहिये किन्तु वापिस भेज देनी चाहिये। क्योंकि प्रत्युपकार न किये जानेवाले मनुष्यकी भेंट स्वीकार करनेसे लोकमें हँसी व निन्दाके सिवाय कोई लाभ नहीं होता ॥ ५० ॥

नारद[1]विद्वान् ने भी इसीप्रकार कहा है॥ १ ॥

नैतिक मनुष्यको अपरिचित और सहन न करनेवाले व्यक्तियोंसे हँसी-मजाक न करनी चाहिये। क्योंकि इसका परिणाम महाभयङ्कर होता है, पुराण ग्रन्थोंमें लिखा है कि रुक्मीने जुआ खेलते समय वलदेवकी हँसी की थी, परन्तु वे उसे सहन न कर सके; इसलिये उन्होंने क्रुद्ध होकर रुक्मीपर गदा-प्रहार द्वारा घात कर डाला॥ ५१ ॥

शौनक[2]विद्वान्ने भी अपरिचित व सहन करनेमें असमर्थ पुरुषोंके साथ हास्य-क्रीड़ा करनेका निषेध किया है॥ १ ॥

नैतिक व्यक्ति पूज्य पुरुषोंके साथ वाद-विवाद न करे॥ ५२ ॥

शुक्र[3]विद्वान ने भी कहा है कि 'जो मूर्ख व्यक्ति पूज्यपुरुषोंके साथ वाद-विवाद करता है, वह लोकमें निन्दा और परलोकमें नरकके दुःख भोगता है॥ १॥

विवेकी पुरुष ऐसे व्यक्तिको धनादि देनेकी आशासे क्लेशित न करे, जिसका उसके द्वारा भरण-पोषण नहीं किया जा सकता अथवा जिससे उसकी कोई प्रयोजन-सिद्धि नहीं होसकती ॥ ५३ ॥

शुक्र[4]विद्वान् ने भी उक्त वातको इसीप्रकार कहा है॥ १ ॥

A 'भृत्यमशक्यप्रयोजनं नाशया क्लेशयेत्' इसप्रकार मू० प्रतियोंमें पाठ है, जिसका अर्थ यह है कि स्वामीको प्रयोजन सिद्धिमें असमर्थ सेवकको पारितोषिक-आदिका लोभ देकर क्लेशित नहीं करना चाहिये।

१ तथा च नारदः—उपायनं न गृह्णीयाद्यदि कार्यं न साधयेत्। अर्थिनां पृथ्वीपालो नो चेद्याति स वाच्यताम् ॥ १ ॥

२ तथा च शौनकः—हास्यकेलिं न कुर्वीत भूपः सार्द्धं समागतैः। ये चापि न सहन्तेस्म दोषोऽयं यतोऽपरः ॥ १ ॥

३ तथा च शुक्रः—पूज्यैः सह विवादं यः कुरुते मतिवर्जितः। स निन्दां लभते लोके परत्र नरकं व्रजेत् ॥ १ ॥

४ तथा च शुक्रः—पुष्टिं नेतुं न शक्येत यो जनः पृथ्वीभुजा। वृथाशया न संक्लेश्यो विशेषान्निष्प्रयोजनः॥ १ ॥

मनुष्य जिसका सेवक है, दरिद्र व्यक्तिकी लघुता व विद्या माहात्म्य—

पुरुषस्य पुरुषो न दासः किन्तु धनस्य ॥५४॥ को नामधनहीनो न भवेल्लघुः A५५॥ सर्वधनेषु विद्यैव धनं प्रधानमहार्यत्वात् सहानुयायित्वाच्च ॥ ५६ ॥ सरित्समुद्रमिव नीचोपगतापि विद्या दुर्दर्शमपि राजानं संगमयति ॥ ५७ ॥ परन्तु भाग्यानां व्यापारः ॥ ५८ ॥ सा खलु विद्या विदुषां कामधेनुर्यतो भवति समस्त-जगत्स्थितिज्ञानम् ॥ ५९ ॥

अर्थ—लोकमें मनुष्य केवल हाथ-पाँववाले मनुष्यका सेवक नहीं होता, किन्तु उसके धनका सेवक होता है, क्योंकि जीवन-निर्वाह धनाधीन है ॥ ५४ ॥

गुरु[1] विद्वान् ने भी इसीप्रकार कहा है ॥ १ ॥

व्यास[2] विद्वान् ने भी महाभारतके भीष्मपर्वमें लिखा है कि 'महात्मा भीष्मपितामहने युधिष्ठिरसे कहा कि हे महाराज मनुष्य धनका दास है, परन्तु धन किसीका दास नहीं। अतः धनके कारण ही मैं कौरवोंके अधीन हुआ हूँ ॥ १ ॥

लोकमें कौनसा दरिद्र मनुष्य लघु-छोटा-नहीं होता ? सभी होते हैं ॥ ५५ ॥

महाकवि कालिदास[3] ने भी मेघदूत काव्यमें कहा है कि 'लोकमें सभी मनुष्य निर्धनता— दरिद्रतासे छोटे और धनसे बड़े होते हैं ॥ १ ॥'

सुवर्ण-आदि समस्त धनोंमें विद्याही प्रधान धन है, क्योंकि वह चोरों द्वारा चुराई नहीं जाती एवं जन्मान्तरमें भी जीवात्माके साथ जाती है ॥ ५६ ॥

नारद[4] विद्वान् ने भी इसीप्रकार विद्याकी महत्ता निर्देश की है ॥ १ ॥

जिसप्रकार नीचे मार्गसे बहनेवाली नदी अपने प्रवाह-वर्ती पदार्थों—तृणादिकोंको दूरवर्ती समुद्रके

A 'पराधीनेषु नास्ति शर्मसम्पत्तिः' इसप्रकारका विशेषपाठ उक्त (५५वें) सूत्रके पश्चात् मू० सं० टी० पुस्तकमें वर्तमान है, जिसका अर्थ यह है कि पराधीन पुरुषोंको सुख-सम्पत्ति प्राप्त नहीं होती।

1 तथा च गुरुः—पुमान् सामान्यगात्रोऽपि न दासस्य स कर्मकृत्। यत् करोति पुनः कर्म तद्धनस्य कृतस्य च ॥ १ ॥

2 तथा च व्यासः—अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्। इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ॥ १ ॥

3 तथा च महाकविः कालिदासः—रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय ॥ १ ॥

4 तथा च नारदः—धनानामेव सर्वेषां विद्याधनमनुत्तमम्। ह्रियते यन्न केनापि प्रस्थितेन सह व्रजेत् ॥ १ ॥

साथ मिला देती है, उसीप्रकार नीच पुरुषकी विद्या भी उसे बड़ी कठिनाईसे दर्शन होनेयोग्य राजासे मिला देती है ॥ ५७ ॥

गुरु[1] विद्वान् के उद्धरणसे भी यही आशय प्रकट होता है ॥ १ ॥

परन्तु ऐसा होजानेपर भी राजासे अर्थ-लाभादि प्रयोजन सिद्धि उसके भाग्याधीन है, क्योंकि भाग्य के प्रतिकूल होनेपर विद्या-प्रभाव नहीं होसकता ॥ ५८ ॥

गुरु[2] विद्वान् ने भी इसीप्रकार विद्या प्रभाव निर्देश किया है ॥ १ ॥

विद्या निश्चयसे कामधेनु समान विद्वानोंके मनोरथ पूर्ण करनेवाली है, क्योंकि उससे उन्हें समस्त संसारमें प्रतिष्ठा व कर्त्तव्य-बोध प्राप्त होता है ॥ ५९ ॥

शुक्र[3] विद्वान् ने इसीप्रकार कहा है ॥ १ ॥

लोक व्यवहार-निपुण की प्रशंसा, बुद्धि के पारदर्शी व कर्त्तव्यबोधन कराने वालों की आलोचनाः—

लोकव्यवहारज्ञो हि सर्वज्ञोऽन्यस्तु प्राज्ञोऽप्यवज्ञायक एव ॥६०॥

ते खलु प्रज्ञापारमिताः पुरुषा ये कुर्वन्ति परेषां प्रतिबोधनम् ॥६१॥

अनुपयोगिना महतापि किं जलधिजलेन ॥६२॥

अर्थ—निश्चय से लोक व्यवहार जानने वाला मनुष्य सर्वज्ञ समान और लोक व्यवहार-शून्य विद्वान् होकर भी लोक द्वारा तिरस्कृत समझा जाता है ॥६०॥

नारद[4] विद्वान् ने भी व्यवहार-चतुर की इसी प्रकार प्रशंसा की है ॥१॥

जो मनुष्य सदुपदेश आदि द्वारा दूसरों को कर्त्तव्य बोध कराते हैं, वे निश्चयसे ज्ञान-समुद्र के पारदर्शी हैं ॥६१॥

जैमिनि[5] विद्वान् ने भी कहा है कि जो विद्वान् दूसरों को कर्त्तव्य-बोध कराने की कला में प्रवीण है,

---

१ तथा च गुरुः—नीचादपि च यो विद्यां प्राप्नुयाद् बुद्धिमान्नरः । दुर्दर्शमपि राजानं तत्प्रभावात् स पश्यति ॥ १ ॥

२ तथा च गुरुः—दुर्दर्शमपि राजानं विद्या दर्शयति ध्रुवम् । आत्मप्रभावतो लोके तस्य भाग्यानि केवलम् ॥ १ ॥

३ तथा च शुक्रः—विद्या कामदुघा धेनुर्विज्ञानं संप्रजायते । यतस्तस्याः प्रभावेन पूज्याः स्युः सर्वतो दिशः ॥ १ ॥

४ तथा च नारदः—लोकानां व्यवहारं यो विजानाति स पण्डितः । मूर्खोऽपि योऽथवान्यस्तु स विज्ञोऽपि यथा जड़ः ॥१

५ तथा च जैमिनिः—अथ विज्ञाः प्रकुर्वन्ति येऽन्येषां प्रतिबोधनम् । सर्वज्ञास्ते परे मूर्खा यतो स्युर्घटदीपवत् ॥१॥

वे सर्वज्ञ हैं, परन्तु इसके विपरीत—कर्त्तव्यबोध न कराने वाले—घड़े में वर्तमान दीपक की तरह—केवल स्वयं विद्वत्ता-युक्त हैं। वे मूर्ख हैं ॥१॥'

जिस प्रकार उपयोग-शून्य पीने के अयोग्य (खारे) बहुत समुद्रजल से क्या लाभ? कोई लाभ नहीं, उसी प्रकार विद्वान् के कर्त्तव्य-ज्ञान कराने में असमर्थ प्रचुर ज्ञान से भी कोई लाभ नहीं ॥६२॥

शुक्र[1] विद्वान् ने भी इसी प्रकार कहा है ॥१॥

इति स्वामि-समुद्देशः ।

---

१८ अमात्य-समुद्देश

सचिव-(मन्त्री) माहात्म्य, मंत्री के बिना राजकार्य हानि व दृष्टान्तमाला द्वारा समर्थन—

चतुरङ्गेऽस्ति द्यूते नानमात्योऽपि राजा किं पुनरन्यः[A] ॥ १ ॥

नैकस्य कार्यसिद्धिरस्ति ॥ २ ॥ नह्येकं चक्रं परिभ्रमति ॥ ३ ॥

किमवातः सेन्धनोऽपि वह्निर्ज्वलति[B] ॥ ४ ॥

अर्थ—जब शतरञ्ज का बादशाह मन्त्री के बिना चतुरङ्ग सेना (शतरञ्ज के हाथी, प्यादे, आदि) सहित होकर भी उसका बादशाह नहीं हो सकता—अर्थात् उस खेल के बादशाह आदि प्रतिद्वन्द्वियों को परास्त कर विजय-श्री प्राप्त नहीं कर सकता, तब क्या पृथ्वीपति (राजा) हस्ति, अश्व आदि चतुरङ्ग सैन्ययुक्त होकर के भी बिना मन्त्रीके राजा हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता ॥१॥

---

१ तथा च शुक्रः—किं तया विद्यया कार्यं या न बोधयते परान्। प्रभूतस्यापि किं तोयैर्जलधेर्व्यर्थतां गतैः ॥१॥

A 'चतुरङ्गयुतोऽपि नानमात्यो राजास्ति, किं पुनरेकः' इसप्रकारका पाठान्तर मू० प्रतियोंमें वर्तमान है, परन्तु इसमें शतरञ्जके बादशाह रूप दृष्टान्तालङ्कार द्वारा प्रकृतविषयोंका समर्थन नहीं है, शेषार्थ पूर्ववत् है।

B 'प्रवात: सेन्धनोऽपि' इत्यादि पाठान्तर मु० मू० प्रतिमें है, जिसका अर्थ यह है कि जिसप्रकार प्रतिकूल व प्रचण्ड वायु ईंधन युक्त अग्निको बुझा देती है उसीप्रकार प्रतिकूल—विरुद्ध मंत्री भी राज्य-क्षति कर देता है—सम्पादक

गुरु[1] विद्वान् का उद्धरण भी उक्त बातका इसी प्रकार समर्थन करता है ॥१॥

जिसप्रकार रथ आदि का एक पहिया दूसरे पहियेकी सहायताके विना नहीं घूम सकता, उसी प्रकार अकेला राजा भी मंत्री आदि सहायकोंके बिना राजकीय कार्य (सन्धि विग्रह प्रभृति) में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता ॥ २-३ ॥ एवं जिस प्रकार अग्नि ईन्धन युक्त होनेपर भी हवाके विना प्रज्वलित नहीं हो सकती उसीप्रकार बलिष्ट व सुयोग्य राजा भी राज्यशासन करनेमें समर्थ नहीं होसकता ॥ ४ ॥

वल्लभदेव[2] विद्वान्‌के उद्धरणसे भी उक्त बातकी इसी प्रकार पुष्टि होती है ॥ १ ॥

मन्त्री-लक्षण, कर्त्तव्य, व आय-व्ययका दृष्टान्त—

स्वकर्मोत्कर्षापकर्षयोर्दानमानाभ्यां सहोत्पत्तिविपत्ती येषां तेऽमात्याः ॥ ५ ॥

आयो व्ययः स्वामिरक्षा तन्त्रपोषणं चामात्यानामधिकारः ॥ ६ ॥

आयव्ययमुखयोर्मुनिकमण्डलुर्निदर्शनम् ॥ ७ ॥

अर्थः—जो राजा द्वारा दिये हुए, दान-सन्मान प्राप्त कर अपने कर्त्तव्य-पालनमें उत्साह व आलस्य करनेसे क्रमशः राजाके साथ सुखी-दुःखी होते हैं, उन्हें 'अमात्य' कहते हैं ॥ ५ ॥

शुक्र[3] विद्वान्‌ने भी कहा है कि 'जो राजाके सुख-दुःखमें समता-युक्त—सुखी-दुःखी होते हों, उन्हें राज्य-मान्य 'अमात्य' जानना चाहिये ॥ १ ॥'

मन्त्रियोंके निम्न प्रकार चार मुख्य कर्त्तव्य हैं। १ आय—सम्पत्तिको उत्पन्न करनेवाले उपायों (समुचित टेक्स प्रभृति) का प्रयोग, २ व्यय—स्वामीकी आज्ञानुसार आमदनीके अनुकूल प्रजा-संरक्षणार्थ सैनिक विभाग-आदिमें उचित खर्च, ३ स्वामी-रक्षा (राजा व उसके कुटुम्बका संरक्षण), ४ हाथी-घोड़ा प्रभृति चतुरङ्ग सेनाका पालन-पोषण ॥ ६ ॥

शुक्र[4] विद्वान्‌के उद्धरणका भी यही अभिप्राय है ॥ १ ॥

सम्पत्तिकी आमदनी व खर्च करनेमें मुनियोंका कमण्डलु दृष्टान्त समझना चाहिये। अर्थात् जिस प्रकार मुनिराजका कमण्डलु जल-ग्रहण अधिक परिमाणमें व शीघ्रतासे करता है, परन्तु उसका खर्च—

---

१ तथा च गुरुः—चतुरङ्गेऽपि नो धृते मन्त्रिणा परिवर्जितः। स्वराज्यं कर्तुमीशः स्यात् किं पुनः पृथिवीपतिः ॥१॥

२ तथा च वल्लभदेवः—किं करोति समर्थोऽपि राजा मन्त्रिवर्जितः। प्रदीप्तोऽपि यथा वह्निः समीरणविना कृतः ॥१॥

३ तथा च शुक्रः—अप्रसादे प्रसादे च येषां च समतास्थितिः। अमात्यास्ते हि विज्ञेया भूमिपालस्य संमताः ॥ १ ॥

४ तथा च शुक्रः—आगतिर्व्ययसंयुक्ता तथा स्वामीप्ररक्षणम्। तन्त्रस्य पोषणं कार्यं मन्त्रिभिः सर्वदैव हि ॥ १ ॥

जल निष्कासन (निकालना) सूक्ष्म नलीके अग्रभाग द्वारा धीरे २ करता है, उसीप्रकार नैतिक पुरुष व राज-मन्त्रीको क्रमशः व्यापारादि द्वारा और टेक्स द्वारा सम्पत्तिकी आमदनी अधिक परिमाणमें करते हुए अल्प खर्च करना चाहिये ॥ ७ ॥

गुरु[1] विद्वान्ने भी कहा है कि 'मन्त्रियोंको खर्चकी अपेक्षा धनकी आमदनी अधिक परिमाणमें करनी चाहिये, अन्यथा राज्य-क्षति होती है ॥ १ ॥'

आय-व्ययका लक्षण, आमदनीसे अधिक खर्चका निषेध, स्वामी शब्दका अर्थ और तन्त्रका लक्षण

आयो द्रव्यस्योत्पत्तिमुखम् ॥८॥ यथास्वामिशासनमर्थस्य विनियोगो व्ययः॥ ९॥
आयमनालोच्य व्ययमानो वैश्रमणोऽप्यवश्यं श्रमणायते ॥१०॥
राज्ञः शरीरं धर्मः कलत्रं अपत्यानि च स्वामिशब्दार्थः ॥११॥ तन्त्रं चतुरङ्गबलम्॥१२॥

अर्थ—सम्पत्ति उत्पन्न करनेवाले न्यायोचित साधन उपाय कृषि, व्यापार व राज पक्षमें उचित कर—टेक्स लगाना-आदिको 'आय' (आमदनी) कहा है ॥८॥ स्वामीकी आज्ञानुसार धन खर्च करना 'व्यय' है सारांश यह है कि राजनैतिक प्रकरणमें मंत्रीको राजाकी आज्ञापूर्वक राजकोश से सैन्य-रक्षा आदि में धन खर्च करना चाहिए ॥९॥ जो मनुष्य आमदनी को न विचार कर अधिक खर्च करता है, वह कुबेर समान असंख्य धन का स्वामी होकर भी भिक्षुक समान आचरण करता है— दरिद्र होजाता है, फिर अल्पधनी मनुष्य व राजा का दरिद्र होना तो स्वाभाविक ही है ॥१०॥ राजा का शरीर, धर्म, रानियां व राजकुमार इनका स्वामी शब्दसे बोध होता है। सारांश यह है कि मंत्री को इन सबकी रक्षा करनी चाहिये क्योंकि इनमें से किसीके साथ वैर विरोध करनेसे राजा रुष्ट होजाता है ॥११॥ चतुरङ्ग (हाथी, घोड़े अश्वारोही व पैदल इन चारों अङ्गवाली) सेनाको 'तन्त्र' कहा है ॥१२॥

मंत्रीके दोष और उनका विवेचन एवं अपने देशका मंत्री—

तीक्ष्णं बलवत्पक्षमशुचि व्यसनिनमशुद्धाभिजनमशक्यप्रत्यावर्त्तनमतिव्ययशीलमन्य A
देशायातमतिचिक्कणं चामात्यं न कुर्वीत ॥१३॥ तीक्ष्णोऽभियुक्तो म्रियते मारयति वा

---

१ तथा च गुरुः—आयोऽनल्पतरः कार्यो व्ययात्रित्यञ्च मन्त्रिभिः। विपरीतो व्ययो यस्य स राज्यस्य विनाशकः ॥१॥

A इसके पश्चात् 'कल्याण'? पद मू० प्रतियों में है, जिसका अर्थ चोरी आदि करनेवाला है।

स्वामिनम् ॥१४॥बलवत्पक्षो नियोगाभियुक्तः कल्लोलइवAसमूलं नृपांघ्रिपमुन्मूलयति ॥१५॥ अल्पायतिर्महाव्ययो भक्षयति राजार्थम् ॥१६॥ अल्पायमुखो जनपदपरिग्रहौ पीड़यति ॥१७॥ नागन्तुकेष्वर्थाधिकारः प्राणाऽधिकारो वास्ति यतस्ते स्थित्वापि गन्तारो ऽपकर्तारो वा[B] ॥१८॥ स्वदेशजेष्वर्थः कूपपतित इव कालान्तरादपि लब्धुं शक्यते ॥१९॥ चिक्कणादर्थलाभः पाषाणाद्वल्कलोत्पाटनमिव । २०॥

अर्थ—राजा या प्रजा को निम्न प्रकार दोष-दूषित व्यक्ति के लिए मंत्री पद पर नियुक्त नहीं करना चाहिये। १ अत्यंत क्रोधी, २ जिसके पक्षमें बहुतसे शक्तिशाली पुरुष हों, ३ बाह्य-अभ्यन्तर संबंधी मलिनता से दूषित, ४ व्यसनी—द्यूत-क्रीड़न मद्यपान आदि व्यसनोंसे दूषित, ५ नीचकुलवाला, ६ हठी—जो उपदेश द्वारा असत् कार्य करने से न रोका जासके, ७ आमदनी सेभी अधिक खर्च करने वाला, ८ परदेशी और ९ कृपण (लोभी) अभिप्राय यह है कि ये मंत्रीमें वर्तमान दोष राज्य-क्षतिके कारण हैं। क्योंकि क्रोधी पुरुष मंत्री होनेसे जब कभी अपराधवश दण्डित किया जाता है, तो वह अपनी क्रूरप्रकृतिके कारण या तो स्वयं मर जाता है अथवा अपने स्वामी को मार डालता है इसी प्रकार जिसका पक्ष—माता-पिता-आदि बलिष्ठ होता है, वह अपने पक्षकी सहायता से राजा को नष्ट कर देता है। इसी तरह अपवित्र मंत्री प्रभाव-हीन व राजाको अपने स्पर्शसे दूषित करता है। एवं व्यसनी कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यके ज्ञान रहित,नीच कुलका थोड़ासा वैभव पाकर मदोन्मत्त, हठी दुराग्रह-वश हितकारक उपदेशकी अवहेलना करनेवाला, अधिक खर्चीला स्वार्थ-क्षति होनेपर राजकीय सम्पत्ति कोभी हड़प करनेवाला, परदेशी मंत्री प्रजाकी भलाई करने में असमर्थ व स्थिरतासे अपना कर्त्तव्य पालन न करनेवाला एवं लोभी मंत्री भी कर्त्तव्य-पराङ्मुख होता है। अतः उक्त दोष-दूषित पुरुषको मंत्री नहीं बनाना चाहिए ॥१३॥

शुक्र[1] विद्वान्के उद्धरणका भी यही अभिप्राय है ॥१॥

क्रोधीमंत्री होनेसे अपराध-वश दण्डित किए जाने पर अपनी क्रूर प्रकृति-वश विचार-शून्य होकर या तो स्वयं अपना या अपने स्वामीका घात कर डालता है ॥१४॥

प्रबल पक्षवाला व्यक्ति मंत्रीपद पर नियुक्त हुआ महान् नदी-पूर समान राजारूपी वृक्षको जड़से उखाड़ देता है। अर्थात् जिसप्रकार नदीका शक्तिशाली जल-प्रवाह अपने तटवर्ती वृक्षोंको जड़से उखाड़

A इसके पश्चात् 'मत्तगज इव' यह पद मू० प्रतियोंमें है, जिसका अर्थ मदोन्मत्त हाथी आमदनीकेसमान जानना चाहिए शेष पूर्ववत्। B 'यतस्ते' पद से लेकर अखीर तकका पाठ मू० प्रतियों से संकलन किया गया है।

१ तथा च शुक्रः— तीव्रं क्षुद्रं दुराचारमकुलीनं विदेशजम्। एकग्राहं व्ययप्रायं कृपणं मन्त्रिणं त्यजेत् ॥१॥

देता है, उसीप्रकार शक्तिशाली कुटुम्ब-युक्त मंत्रीभी राज-रूपी वृक्षको जड़से उखाड़कर फेंक देता है ॥१५॥

शुक्र[1] विद्वान्‌ने भी बलिष्ठ पक्षवाले मंत्रीके विषयमें इसी प्रकार कहा है ॥१॥

जो मंत्री राज-कोशमें आमदनी कम करता हुआ अधिक खर्च करता है, वह राजकीय मूलधन खा जाता है—नष्ट कर डालता है ॥ १६ ॥

गुरु[2] विद्वान्‌के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

थोड़ी आमदनी करनेवाला मंत्री दरिद्रताके कारण देश व राजकुटुम्ब को पीड़ित करता है ॥१७॥

गर्ग[3] विद्वान्‌के उद्धरणका भी यही अभिप्राय है ॥१॥

राजाका कर्त्तव्य है कि वह विदेशी पुरुषोंको धनके आय व्ययका अधिकार एवं प्राण-रक्षा करनेका अधिकार न देवे। अर्थात् उन्हें अर्थ-सचिव व सेना-सचिवके उत्तर-दायित्व-पूर्ण पदों पर नियुक्त न करे। क्योंकि वे उसके राज्यमें कुछ समय ठहर करके भी अपने देश को प्रस्थान कर जाते हैं एवं मौका पाकर राज-द्रोह करने लगते हैं। अतः अर्थसचिव व सेनासचिव अपने देशका योग्य व्यक्ति होना चाहिए ॥१८॥

शुक्र[4] विद्वान्‌ने भी कहा है कि जो राजा अन्यदेश से आये हुए पुरुषोंको धनके आय व्ययका व शरीर-रक्षा अधिकार देता है वह अपना धन व प्राण खो बैठता है ॥१॥

अपने देशवासी पुरुषोंको अर्थ-सचिव आदि पदोंपर नियुक्त करनेसे उनके द्वारा लोभवश ग्रहण किया हुआ धन कुएंमें गिरी हुई धनादि वस्तुके समान कुछ समयके बाद भी मिल सकता है। अर्थात् जिसप्रकार कुएंमें गिरी हुई धनादि वस्तु कालान्तरमें प्राप्त की जासकती है, उसीप्रकार अपने देशके अधिकारियों—अर्थ-सचिव आदि द्वारा कारणवश ग्रहण किया हुआ धन भी कालान्तरमें मिल सकता है, परन्तु विदेशी अधिकारियों द्वारा गृहीत धन कदापि नहीं मिल सकता, अतः अर्थ-सचिव आदि मंत्री मण्डल अपने देशका ही होना चाहिये ॥ १६ ॥

नारद[5] विद्वान्‌ने भी स्वदेशवासी अर्थ-सचिवके विषयमें इसीप्रकार कहा है ॥ १ ॥

अत्यन्त कृपण मन्त्री जब राजकीय धन ग्रहण कर लेता है, तब उससे पुनः धन वापिस मिलना

---

१ तथा च शुक्रः—बलवत्पक्षभाग्मन्त्री उन्मूलयति पार्थिवम्। कल्लोलो बलवान् यद्वत्तटस्थं च महीरुहम् ॥१॥

२ तथा च गुरुः— मन्त्रिणं कुरुते यस्तु स्वल्पलाभं महाव्ययम्। आत्मवित्तस्य मर्यादां भक्षयति न संशयः ॥१॥

३ तथा च गर्गः—अल्पायमुखसेवाय मन्त्रिणं प्रकरोति यः। तस्य राष्ट्रं एवं याति तथा वंश परिग्रहः ॥१॥

४ तथा च शुक्रः—अन्यदेशागतानां च योऽधिकारं धनोद्भवम्। ददाति मात्ररक्षां वा सोऽर्थप्राणैर्विमुच्यते ॥१॥

५ तथा च नारदः—अर्थाधिकारिणं राजा यः करोति स्वदेशजम्। तेन द्रव्यं गृहीतं यन्नष्टं कूपवद्गतम् ॥१॥

पाषाणसे वक्कल छीलने समान असंभव है। अर्थात् जिसप्रकार पत्थरसे वक्कल निकालना असंभव है, उसीप्रकार अत्यन्त लुब्ध मंत्रीसे गृहीत धनकी प्राप्ति भी असम्भव है, अतः कृपण पुरुषको कदापि अर्थ-मंत्री आदि पदोंपर नियुक्त नहीं करना चाहिये ॥ २० ॥

अत्रि[1] विद्वान्‌के उद्धरणका भी यही अभिप्राय है॥ १ ॥

योग्य-अयोग्य अधिकारी, अयोग्योंसे हानि, बंधु सम्बन्धके भेद व लक्षण—

सोऽधिकारी यः स्वामिना सति दोषे सुखेन निगृहीतुं शक्यते ॥ २१ ॥

ब्राह्मण-क्षत्रिय-सम्बन्धिनो न कुर्यादधिकारिणः ॥ २२ ॥

ब्राह्मणो जातिवशात्सिद्धमप्यर्थं कृच्छ्रेण प्रयच्छति, न प्रयच्छति वा ॥ २३ ॥

क्षत्रियोऽभियुक्तः खड्गं दर्शयति ॥ २४ ॥

सम्बन्धी ज्ञातिभावेनाक्रम्य सामवायिकान् सर्वमप्यर्थं ग्रसते ॥ २५ ॥

सम्बन्धस्त्रिविधः श्रौतो मौख्योA यौनश्च ॥ २६ ॥

सहदीक्षितः सहाध्यायी वा श्रौतःB ॥ २७ ॥ सुखेन परिज्ञातो मौख्यः[C] ॥ २८ ॥

यौनेर्जातो यौनः ॥ २९ ॥ वाचिकसम्बन्धे नास्ति सम्बन्धान्तरानुवृत्तिः ॥ ३० ॥

अर्थ—वही व्यक्ति मन्त्री आदि अधिकारी पदके योग्य है, जो अपराध करनेपर राजा द्वारा सरलतासे दण्डित किया जा सके ॥ २१ ॥

किसी नीतिज्ञ[2] विद्वान्‌के उद्धरणका भी यही अभिप्राय है ॥ १ ॥

राजाके ब्राह्मण, क्षत्रिय व बन्धु आदि सम्बन्धियोंको अमात्य आदि अधिकारी नहीं बनाना

---

१ तथा च अत्रिः—वल्कलं दृषदो यद्वत् कृपणेन हृतं धनम्। यतस्तन्न प्रलभ्येत् तस्मात्तं दूरतस्त्यजेत् ॥ १ ॥

A इसके स्थानमें 'मैत्रौ' ऐसा पाठान्तर मू० प्रतियोंमें वर्तमान है जिसका अर्थ राजाका मित्र रूप अमात्य है।

B 'पितृपैतामहाद्यागतः श्रौतः' इसप्रकारका पाठान्वर मू० प्रतियोंमें है, जिसका अर्थ यह है कि वंश परम्परासे चले आने वाले अमात्यको श्रौत बन्धु कहते हैं

C 'आत्मना प्रतिपन्नो मैत्रः' इसप्रकारका मू० प्रतियोंमें पाठान्तर है, जिसका अर्थ यह है कि जो राजाके पास मैत्रीके लिए आया हो और उसने उसे मित्र मान लिया हो।

२ तथा चोक्तं— सोऽधिकारी सदा शस्यः कृत्वा दोषं महीभुजे। ददाति याचितो वित्तं साम्नाय समवल्गुना ॥१॥

चाहिये ॥ २२ ॥क्योंकि ब्राह्मण अधिकारी होने पर अपनी जाति स्वभावके कारण ग्रहण किया हुआ धन बड़ी कठिनाईसे देता है अथवा नहीं देता ॥२३॥

सारांश यह है कि धन-लम्पटता व कातरता ब्राह्मण जातिका स्वाभाविक दोष है, अतः उससे गृहीत राज-धनकी प्राप्ति दुर्लभ है, इसलिये ब्राह्मण अधिकारी पदके योग्य नहीं ॥ २३ ॥

क्षत्रिय अधिकारी विरुद्ध हुआ तलवार दिखलाता है। सारांश यह है कि क्षत्रिय अधिकारी द्वारा ग्रहण किया हुआ धन शस्त्र-प्रहारके बिना नहीं प्राप्त होसकता, अतएव उसे मंत्री आदि पदपर नियुक्त नहीं करना चाहिये ॥ २४ ॥ जब राजा द्वारा अपना कुटुम्बी या सहपाठी बन्धु आदि मंत्री आदि अधिकारी बनाया जाता है, तो वह 'मैं राजाका बन्धुहूँ' इस गर्वसे दूसरे अधिकारियोंको तुच्छ समझ कर स्वयं समस्त राजकीय धन हड़प कर लेता है। अर्थात् सब अधिकारियोंको तिरस्कृत करके स्वयं अत्यन्त प्रबल शक्तिशाली होजाता है ॥ २५ ॥

बन्धु तीन प्रकारके हैं—(१) श्रौत, (२) मौख्य और (३) यौन ॥ २६ ॥

जो राजाकी राज्य-लक्ष्मी सम्बन्धी दीक्षाके साथ ही अमात्य-पदकी दीक्षासे दीक्षित हुआ हो। अर्थात् जिसप्रकार राजाको राज्य-लक्ष्मी वंशपरम्परासे—पिता व पितामह के राजा होने से प्राप्त हुई है, उसीप्रकार जिसे अमात्य पद भी वंश परम्परासे प्राप्त हुआ हो। अर्थात् जिसके पितामह व पिता भी इसी वंशमें पहले अमात्य पद पर आसीन हो चुके हों, पश्चात् इसे भी कुल क्रम—वंशपरम्परासे अमात्य पदवी प्राप्त हुइ हो, उसे अथवा राजाके सहपाठीको श्रौत बन्धु कहते हैं ॥२७॥ जो मौखिक वार्तालाप व सहवास आदि के कारण राजाका मित्र रह चुकी है, वह 'मौख्य' है॥ २८ ॥ राजाके भाई व चचा वगैरह 'यौन' बन्धु हैं ॥ २९ ॥

वार्तालाप व सहवास आदिके कारण जिसके साथ मित्रता संबंध स्थापित हो चुका है—जो राजाका मित्र बन चुका है—उसे दूसरे अमात्य आदिके पदोंपर नियुक्त नहीं करना चाहिये। क्योंकि ऐसा करनेसे वह राजकीय आज्ञाका उल्लङ्घन करेगा, जिससे राजाके वचनोंको प्रतिष्ठा नहीं रह सकती, अतः मित्रको भी मंत्री पदपर नियुक्त नहीं करना चाहिये ॥ ३० ॥

अधिकारी (अर्थ-सचिव व सेनासचिव -आदि) होनेके अयोग्य व्यक्ति—

न तं कमप्यधिकुर्यात् सत्यपराधे यमुपहत्यानुशयीत ॥ ३१ ॥

मान्योऽधिकारी राजाज्ञामवज्ञाय निरवग्रहश्चरति ॥ ३२ ॥

चिरसेवको नियोगी नापराधेष्वाशङ्कते ॥ ३३ ॥

पाषाणसे वक्कल छीलने समान असंभव है। अर्थात् जिसप्रकार पत्थरसे वक्कल निकालना असंभव है, उसीप्रकार अत्यन्त लुब्ध मंत्रीसे गृहीत धनकी प्राप्ति भी असम्भव है, अतः कृपण पुरुषको कदापि अर्थ-मंत्री आदि पदोंपर नियुक्त नहीं करना चाहिये ॥ २० ॥

अत्रि[1] विद्वान्‌के उद्धरणका भी यही अभिप्राय है ॥ १ ॥

योग्य–अयोग्य अधिकारी, अयोग्योंसे हानि, बंधु सम्बन्धके भेद व लक्षण—

सोऽधिकारी यः स्वामिना सति दोषे सुखेन निगृहीतुं शक्यते ॥ २१ ॥
ब्राह्मण-क्षत्रिय-सम्बन्धिनो न कुर्यादधिकारिणः ॥ २२ ॥
ब्राह्मणो जातिवशात्सिद्धमप्यर्थं कृच्छ्रेण प्रयच्छति, न प्रयच्छति वा ॥ २३ ॥
क्षत्रियोऽभियुक्तः खड्गं दर्शयति ॥ २४ ॥
सम्बन्धी ज्ञातिभावेनाक्रम्य सामवायिकान् सर्वमप्यर्थं ग्रसते ॥ २५ ॥
सम्बन्धस्त्रिविधः श्रौतो मौख्योA यौनश्च ॥ २६ ॥
सहदीक्षितः सहाध्यायी वा श्रौतःB ॥ २७ ॥ मुखेन परिज्ञातो मौख्यःC ॥ २८ ॥
यौनेर्जातो यौनः ॥ २९ ॥ वाचिकसम्बन्धे नास्ति सम्बन्धान्तरानुवृत्तिः ॥ ३० ॥

अर्थ—वही व्यक्ति मन्त्री आदि अधिकारी पदके योग्य है, जो अपराध करनेपर राजा द्वारा सरलतासे दण्डित किया जा सके ॥ २१ ॥

किसी नीतिज्ञ[2] विद्वान्‌के उद्धरणका भी यही अभिप्राय है ॥ १ ॥

राजाके ब्राह्मण, क्षत्रिय व बन्धु आदि सम्बन्धियोंको अमात्य आदि अधिकारी नहीं बनाना

---

१ तथा च अत्रिः—वल्कलं दृषदो यद्वत् कृपणेन हृतं धनम्। यतस्तन्न प्रलभ्येत् तस्मात्तं दूरवस्त्यजेत् ॥ १ ॥

A इसके स्थानमें 'मैत्रो' ऐसा पाठान्तर मू० प्रतियोंमें वर्तमान है जिसका अर्थ राजाका मित्र रूप अमात्य है।

B 'पितृपैतामहाद्यागतः श्रौतः' इसप्रकारका पाठान्तर मू० प्रतियोंमें है, जिसका अर्थ यह है कि वंश परम्परासे चले आने वाले अमात्यको श्रौत बन्धु कहते हैं

C 'आत्मना प्रतिपन्नो मैत्रः' इसप्रकारका मू० प्रतियोंमें पाठान्तर है, जिसका अर्थ यह है कि जो राजाके पास मैत्रीके लिए आया हो और उसने उसे मित्र मान लिया हो।

२ तथा चोक्तं— सोऽधिकारी सदा शस्यः कृत्वा दोषं महीभुजे। ददाति याचितो वित्तं साम्नाय समवल्गुना ॥१॥

चाहिये ॥ २२ ॥क्योंकि ब्राह्मण अधिकारी होने पर अपनी जाति स्वभावके कारण ग्रहण किया हुआ धन बड़ी कठिनाईसे देता है अथवा नहीं देता ॥२३॥

सारांश यह है कि धन-लम्पटता व कातरता ब्राह्मण जातिका स्वाभाविक दोष है, अतः उससे गृहीत राज-धनकी प्राप्ति दुर्लभ है, इसलिये ब्राह्मण अधिकारी पदके योग्य नहीं ॥ २३ ॥

क्षत्रिय अधिकारी विरुद्ध हुआ तलवार दिखलाता है। सारांश यह है कि क्षत्रिय अधिकारी द्वारा ग्रहण किया हुआ धन शस्त्र-प्रहारके विना नहीं प्राप्त होसकता, अतएव उसे मंत्री आदि पदपर नियुक्त नहीं करना चाहिये ॥ २४ ॥ जब राजा द्वारा अपना कुटुम्बी या सहपाठी बन्धु आदि मंत्री आदि अधिकारी बनाया जाता है, तो वह 'मैं राजाका बन्धुहूँ' इस गर्वसे दूसरे अधिकारियोंको तुच्छ समझ कर स्वयं समस्त राजकीय धन हड़प कर लेता है। अर्थात् सब अधिकारियोंको तिरस्कृत करके स्वयं अत्यन्त प्रबल शक्तिशाली होजाता है ॥ २५ ॥

बन्धु तीन प्रकारके हैं—(१) श्रौत, (२) मौख्य और (३) यौन ॥ २६ ॥

जो राजाकी राज्य-लक्ष्मी सम्बन्धी दीक्षाके साथ ही अमात्य-पदकी दीक्षासे दीक्षित हुआ हो। अर्थात् जिसप्रकार राजाका राज्य-लक्ष्मी वंशपरम्परासे—पिता व पितामह के राजा होने से प्राप्त हुई है, उसीप्रकार जिसे अमात्य पद भी वंश परम्परासे प्राप्त हुआ हो। अर्थात् जिसके पितामह व पिता भी इसी वंशमें पहले अमात्य पद पर आसीन हो चुके हों, पश्चात् इसे भी कुल क्रम—वंशपरम्परासे अमात्य पदवी प्राप्त हुइ हो, उसे अथवा राजाके सहपाठीको श्रौत बन्धु कहते हैं ॥२७॥ जो मौखिक वार्तालाप व सहवास आदि के कारण राजाका मित्र रह चुकी है, वह 'मौख्य' है ॥ २८ ॥ राजाके भाई व चचा वगैरह 'यौन' बन्धु हैं ॥ २९ ॥

वार्तालाप व सहवास आदिके कारण जिसके साथ मित्रता संबंध स्थापित हो चुका है—जो राजाका मित्र बन चुका है—उसे दूसरे अमात्य आदिके पदोंपर नियुक्त नहीं करना चाहिये। क्योंकि ऐसा करनेसे वह राजकीय आज्ञाका उल्लङ्घन करेगा, जिससे राजाके वचनोंको प्रतिष्ठा नहीं रह सकती, अतः मित्रको भी मंत्री पदपर नियुक्त नहीं करना चाहिये ॥ ३० ॥

अधिकारी (अर्थ-सचिव व सेनासचिव -आदि) होनेके अयोग्य व्यक्ति—

न तं कमप्यधिकुर्यात् सत्यपराधे यमुपहत्यानुशयीत ॥ ३१ ॥

मान्योऽधिकारी राजाज्ञामवज्ञाय निरवग्रहश्चरति ॥ ३२ ॥

चिरसेवको नियोगी नापराधेष्वाशङ्कते ॥ ३३ ॥

उपकर्त्ताधिकारस्य उपकारमेव ध्वजीकृत्य सर्वमवलुम्पति ॥ ३४ ॥

सहपांशुक्रीड़ितोऽमात्योऽतिपरिचयात् स्वयमेव राजायते ॥ ३५ ॥

अन्तर्दुष्टो नियुक्तः सर्वमनर्थमुत्पादयति ॥ ३६ ॥

शकुनि-शकटालावत्र दृष्टान्तौ ॥ ३७ ॥ सुहृदि नियोगिन्यवश्यं भवति धनमित्रनाशः ॥३८॥

मूर्खस्य नियोगे भर्तुर्धर्मार्थयशसां संदेहो निश्चितौ चानर्थ-नरकपातौ ॥ ३९ ॥

अर्थ—राजा पूर्वोक्त तीनों प्रकारके बन्धुओंमेंसे किसी बन्धुको अथवा ऐसे किसी पुरुषको अर्थ-मंत्री-आदि अधिकारी-पद पर नियुक्त न करे, जिसे अपराध-वश कड़ी सजा देनेपर पश्चात्ताप करना पड़े ॥३१॥

गुरु[1] विद्वान् ने भी अर्थ-सचिवके विषयमें इसीप्रकार कहा है ॥ १ ॥

राजाको पूज्य पुरुषके लिये अधिकारी नहीं बनाना चाहिये, क्योंकि वह अपनेको राजा द्वारा पूज्य समझकर निडर व उच्छृङ्खल होता हुआ राजाकी आज्ञा उल्लङ्घन करता है व राजकीय-धनका अपहरण आदि मनमानी प्रवृत्ति करता है, जिससे राजकीय अर्थ-क्षति होती है ॥ ३२ ॥

नारद[2] विद्वान् ने भी राज-पूज्य पुरुषको अधिकारी बनाने से यही हानि निरूपण की है ॥ १ ॥

चिरकालीन—पुराना-सेवक अधिकारी पदपर नियुक्त हुआ अतिपरिचयके कारण चोरी-आदि अपराध कर लेनेपर भी निडर रहता है; अतः राजा पुराने सेवकको अधिकारी न बनावे ॥ ३३ ॥

देवल[3] विद्वान् ने भी चिरकालीन सेवकको-अर्थ-सचिव बनानेके विषयमें इसीप्रकार निषेध किया है ॥ १ ॥

जो राजा अपने उपकारी पुरुषको अधिकारी पदपर नियुक्त करता है, तो वह (अधिकारी) पूर्व कृत उपकार राजाके समक्ष प्रकट करके समस्त राजकीय धन हड़प कर जाता है, अतः उपकारीको अधिकारी नहीं बनाना चाहिये ॥ ३४ ॥

वसिष्ठ[4] विद्वान् के उद्धरणका भी यही अभिप्राय है ॥ १ ॥

राजा ऐसे बाल मित्र व्यक्तिको अर्थ-सचिव आदि अधिकारी न बनावे, जो कि बाल्यकालमें उसके

---

१ तथा च गुरुः—सम्बन्धिनां त्रयाणां च न चैकमपि योजयेत् । अर्थाधिकारे तं चापि यं हत्वा दुःखमाप्नुयात् ॥ १ ॥

२ तथा च नारदः—मान्योऽधिकारी मान्योऽहमिति मत्वा न शङ्कते । भक्षयन् नृपवित्तानि तस्मात्तं परिवर्जयेत् ॥ १ ॥

३ तथा च देवलः—चिरभृत्यं च यो राजा वित्तकृत्येषु योजयेत् । स वित्तं भक्षयन् शङ्कां न करोति कथंचन ॥ १ ॥

४ तथा च वशिष्ठः—पूर्वोपकारिणं भूपो नाधिकारे नियोजयेत् । स तं कीर्त्तयमानस्तु सर्वं वित्तं प्रभक्षयेत् ॥ १ ॥

साथ धूलिमें खेल चुका हो; क्योंकि वह अति-परिचयके कारण अभिमान-वश अपनेको राजा समान समझता है ॥ ३५ ॥

जैमिनि[1] विद्वान् के संगृहीत श्लोकका भी यही आशय है ॥ १ ॥

क्रूर हृदयवाला पुरुष अधिकारी बनकर समस्त अनर्थ उत्पन्न करता है ॥ ३६ ॥

गर्ग[2] विद्वान ने भी दुष्ट हृदयवाले व्यक्तिको अमात्य बनानेसे राज्य-क्षति होनेका निर्देश किया है १

राज-द्वेषी क्रूर हृदयवाले पुरुषको मंत्री बनानेसे जो हानि होती है उसके समर्थक शकुनि* दुर्योधनका मामा जिसे उसने कौरवोंका राज-मंत्री बनाया था) और शकटाल× (नन्द राजाका मंत्री) ये दो ऐतिहासिक उदाहरण जानने चाहिये। अर्थात् उक्त दोनों दुष्ट हृदयवाले मंत्रियोंने अपने २ स्वामियोंसे द्वेष कर राज्यमें अनेक अनर्थ उत्पन्न किये, जिसके फल स्वरूप राज्य-क्षति हुई ॥ ३७ ॥

मित्रको अमात्य आदि अधिकारी बनानेसे राजकीय-धन व मित्रताकी क्षति होती है। अर्थात् मित्र अधिकारी राजाको अपना मित्र समझकर निर्भयता-पूर्वक उच्छृङ्खल होकर उसका धन खा लेता है, जिससे राजा उसका वध कर डालता है, इस प्रकार मित्रको अधिकारी बनानेसे राजकीय धन व मित्रता दोनोंका नाश होता है, अतः मित्रको अधिकारी नहीं बनाना चाहिये ॥३८॥

रैभ्य[3] विद्वान्ने भी मित्रको अधिकारी बनानेसे यही हानि निर्दिष्ट की है, १॥

मूर्खको मन्त्री-आदिका अधिकार देनेसे स्वामीको धर्म, धन व यश प्राप्ति कठिनाईसे होती है अथवा निश्चित नहीं होती। क्योंकि मूर्ख अधिकारीसे स्वामीको धर्मका निश्चय नहीं होता और न धन प्राप्ति

---

१ तथा च जैमिनिः—बाल्यात्प्रभृति यः सार्द्धं क्रीड़ितो भूभुजा सदा। स च स्यान्मन्त्रिणः स्थाने तन्नूनं पार्थिवायते १

२ तथा च गर्गः—अन्तर्दुष्टममात्यं यः कुरुते पृथिवीपतिः। सोऽनर्थान्नित्यशः कृत्वा सर्वराज्यं विनाशयेत् ॥ १ ॥

* शकुनिका वृत्तान्त—यह गान्धार देशके राजा सुबलका पुत्र व दुर्योधनका मामा था, जोकि कौरव (धृतराष्ट्र) के बड़े पुत्र दुर्योधन द्वारा राज-मंत्री पदपर नियुक्त किया गया था। यह बड़ा क्रूरहृदय था, इसलिये जब पांडवोंके वनवास व अज्ञातवासकी अवधि पूर्ण हुई, तब महात्मा कृष्ण व नीति निपुण विदुरजीने इसे बहुत समझाया कि आप पाण्डवोंका न्याय-प्राप्त राज्य दुर्योधनसे वापिस दिला दो, परन्तु इसने एक न मानी और पाण्डवों से वैर-विरोध रक्खा और दुर्योधनको उस ने सन्धि न करने दी। जिसके फलस्वरूप महाभारत हुआ, जिस में इसने अपने स्वामी दुर्योधनका वध करवाया और स्वयं मारा गया।

× शकटालका वृत्तान्त—यह ई० से ३२० वर्ष पूर्व राजा नन्दका मंत्री था, जोकि बड़ा दुष्ट-हृदय-युक्त था। इसे अपराध-वश जहलखाने की कड़ी सजा दी गई थी। कुछ दिनोंके पश्चात् राजाने इसे जेलखानेसे मुक्त कर पुनः राज-मंत्री पदपर अधिष्ठित किया, परन्तु यह राजासे रुष्ट था, इसलिये यह उसके घातकी प्रतीक्षा कर रहा था, अतः अवसर पाकर यह सम्राट चन्द्रगुप्तके प्रधान-अमात्य चाणिक्यसे मिल गया और उसकी सहायतासे इसने अपने स्वामी राजा नन्दको मरवा डाला।

३ तथा च रैभ्यः—नियोगे संनियुक्तस्तु सुहृद्वित्तं प्रभक्षयेत्। स्नेहाधिक्येन निःशंकस्ततो वधमवाप्नुयात् ॥१॥

होती है। एवं यश-प्राप्तिभी नहीं होती। परन्तु दो बातें निश्चित होती हैं, (१) स्वामीको आपत्तिमें फंसना और (२ उसे नरक लेजाना। अर्थात् मूर्ख अधिकारी ऐसे दुष्कृत्य कर बैठता है, जिससे उसका स्वामी आपद्ग्रस्त हो जाता है एवं ऐसे दुष्कर्म कर डालता है, जिससे प्रजा पीड़ित होती-है, जिसके फलस्वरूप स्वामी नरक जाता है ॥३६॥

नारद[1] विद्वान्ने भी मूर्खको अधिकारी बनानेसे उक्त हानि निरूपण की है ॥१॥

अधिकारियोंकी उन्नति, उनकी निष्फलता, अधिकारी-शून्य राजाकी हानि, स्वेच्छाचारी अधिकारियों का स्वरूप व उनकी देख-रेख रखना—

सोऽधिकारी चिरं नन्दति स्वामिप्रसादो नोत्सेकयति ॥४०॥ किं तेन परिच्छदेन यत्रात्मक्लेशेन कार्यं सुखं वा स्वामिनः ॥४१॥ का नाम निवृत्तिः स्वयमूढतृणभोजिनो गजस्य ॥४२॥ अश्वसधर्माणः पुरुषाः कर्म्मसु नियुक्ता विकुर्वते तस्मादहन्यहनि तान् परीक्षेत् ॥४३॥

अर्थ—जो मन्त्री-आदि अधिकारी स्वामीके प्रसन्न होने परभी किसी प्रकारका अभिमान नहीं करता वही चिरकाल तक उन्नतिशील रहता है। अर्थात् कभी पदच्युत न होकर कार्तिव-अर्थ-लाभ आदि द्वारा उन्नति करता है ॥४०॥

शुक्र[2] विद्वान्ने भी गर्व-शून्य अधिकारीके विषयमें यही कहा है ॥१॥

राजाको उन मन्त्री आदि अधिकारियोंसे क्या लाभ ? कोई लाभ नहीं, जिनके होने परभी उसे स्वयं कष्ट उठाकर अपने-आप राजकीय कार्य करना पड़े। अथवा स्वयं कर्तव्य पूरा करके सुखप्राप्त करना पड़े। सारांश यह है कि मन्त्री-आदि अधिकारियोंका यही गुण है कि वे स्वयं राजकीय कार्य पूर्ण करके दिखाते हैं, जिससे स्वामीको कुछ कष्ट न हो और वह सुखी रहे। अन्यथा उनका होना व्यर्थ है। जिस प्रकार घास का बोझा वहनकर उसका भक्षण करने वाला हाथी सुखी नहीं हो सकता उसी प्रकार मन्त्री आदि सहायकोंके बिना स्वयं राजकीय कार्य-भारको वहन करने वाला राजाभी सुखी नहीं हो सकता। अत एव विजिगीषु राजाको योग्य अधिकारियों व सेवकोंकी सहायतासे राजकीय कार्य सुसम्पन्न करना चाहिये, तभी वह सुखी हो सकता है अन्यथा नहीं ॥४१॥ ॥४२॥

नारद[3] विद्वान्ने भी मन्त्री आदि सहायकोंके बिना स्वयं राजकीय कार्य-भारको वहन करने वाले राजाके विषयमें इसी प्रकार कहा है ॥१॥

क्षुद्र प्रकृति वाले मन्त्री आदि अधिकारी अपने २ अधिकारोंमें नियुक्त किये हुए सैन्धव जातिके घोड़ों के समान विकृत-मदोन्मत्त हो जाते हैं। अर्थात् जिस प्रकार सैन्धव जातिके घोड़े योग्यता प्राप्त कर लेने

---

१ तथा च नारदः—मूर्खे नियोगयुक्ते तु धर्मार्थयशसां सदा। सन्देहोऽत्र पुनर्नूनमनर्थो नरके गतिः ॥१॥

२ तथा च शुक्रः—स्वामिप्रसादमासाद्य न गर्वं कुरुतेऽत्र यः। स नन्दति चिरं कालं भ्रश्यते नाधिकारतः ॥१॥

३ तथा च नारदः—स्वयमाहृत्य भुंजाना बलिनोऽपि स्वभावतः। नरेन्द्राश्च गजेन्द्राश्च प्रायः सीदन्ति केवलाः ॥१॥

पर (चाल आदि सीख लेने पर) दमन करनेसे उन्मत्त होकर सवारको जमीनपर पटकना आदि विकार-युक्त हो जाते हैं, उसी प्रकार अधिकारी गणभी क्षुद्रप्रकृति-वश गर्व-युक्त होकर राज्य क्षति करने तत्पर रहते हैं, अतः राजाको सदा उनकी परीक्षा-जांच करते रहना चाहिये ॥४३॥

वादरायण[1] और भृगु[2] विद्वानोंने भी क्षुद्र प्रकृति-युक्त अधिकारियोंके विषयमें यही कहा है ॥१-२॥

उक्त बातका दृष्टान्त द्वारा समर्थन, अधिकारियोंकी लक्ष्मी, समृद्ध अधिकारी व अमात्य दोष—

मार्जारेषु दुग्धरक्षणमिव नियोगिषु विश्वास-करणम् ॥४४॥ ऋद्धिश्चित्तविकारिणी नियोगिनामिति सिद्धानामादेशः ॥४५॥ सर्वोऽप्यतिसमृद्धोऽधिकारी भवत्यायत्यामसाध्यः कृच्छ्रसाध्यः स्वामिपदाभिलाषी वा ॥४६॥ भक्षणमुपेक्षणं प्रज्ञाहीनत्वमुपरोधः प्राप्तार्थाप्रवेशो द्रव्यविनिमयश्चेत्यमात्यदोषाः ॥४७॥

अर्थ—स्वामीका मन्त्री आदि अधिकारियों पर विश्वास करना दूधकी रक्षार्थ रक्खे हुए बिलावोंके समान है। अर्थात् जिस प्रकार बिलावोंसे दूधकी रक्षा नहीं हो सकती, उसी प्रकार मन्त्री आदि अधिकारियोंसे भी राजकोषकी रक्षा नहीं हो सकती, अतः राजाको उनकी परीक्षा करते रहना चाहिये ॥४७॥

भारद्वाज[3] विद्वानने भी अधिकारियोंके विषयमें इसी प्रकार कहा है ॥१॥

'सम्पत्ति अधिकारियोंका चित्त विकार-युक्त (गर्व युक्त) करती है' यह प्रामाणिक नीतिज्ञ पुरुषोंका वचन है ॥४५॥

नारद[4] विद्वान्ने भी कहा है कि 'पृथ्वीपर कुलीन पुरुषभी धनाढ्य होनेपर गर्व करने लगता है ॥१॥

सभी अधिकारी अत्यन्त धनाढ्य होनेपर भविष्यमें स्वामीके वशवर्ती नहीं होते अथवा कठिनाईसे वशमें होते हैं अथवा उसकी पद-प्राप्तिके इच्छुक होते हैं ॥४६॥

नारद[5] विद्वान्ने भी कहा है कि अत्यन्त धनाढ्य अधिकारीका राजाके वशमें रहना असम्भव है, क्योंकि वह इससे विपरीत राज-पदका इच्छुक हो जाता है ॥१॥

गुरु[6] विद्वानने भी कहा है कि 'जो राज-सेवक कर्त्तव्य-पटु, धनाढ्य व आलसी होते हैं उनका जोंकोंके समान पूर्ण सम्पत्तिशाली होना न्याय-युक्त नहीं। अर्थात् उनका दरिद्र रहना ही उत्तम है।

---

१ तथा च वादरायणः—अश्वा यथा विकुर्वन्ति दान्ता अपि च सैन्धवाः। तथाप्यपुरुषा ज्ञेया येधिकारे नियोजिताः ॥१॥

२ तथा च भृगुः—परीक्षा भूभुजा कार्या नित्यमेवाधिकारिणाम्। यस्मात्ते विकृतिं यान्ति प्राप्य सम्पदमुत्तमाम् ॥१॥

३ तथा च भारद्वाजः—मार्जारेष्विव विश्वासो यथा नो दुग्धरक्षणे। नियोगिनां नियोगेषु तथा कार्यो न भूभुजा ॥१॥

४ तथा च नारदः—तावन्न विकृतिं याति पुरुषोऽपि कुलोद्भवः। यावत्समृद्धिसंयुक्तो न भवेदत्र भूतले ॥१॥

५ तथा च नारदः—अतिसमृद्धिसंयुक्तो नियोगी यस्य जायते। असाध्यो भूपतेः स स्यात्तस्यापि पदवाञ्छकः ॥१॥

६ तथा च गुरुः—प्रेष्याः कर्मसुपटवः पूर्णा अलसा भवन्ति ये भृत्याः। तेषां जलौकसामिव पूर्णा नैवात्र ऋद्धता न्याय्या ॥१॥

सारांश यह है कि जिस प्रकार जोंकें पूर्ण (भरपेट दूषित खून पीने वाली) होने पर फट जाती हैं, उसी प्रकार क्षुद्र प्रकृति वाले सेवकभी अत्यन्त धनाढ्य होनेपर मदोन्मत्त होकर अपने स्वामीका अनर्थ करने तत्पर रहते हैं, अतः उन्हें दरिद्र रखनाही न्याय-युक्त है ॥१॥

जिस सचिव-अमात्यमें निम्न प्रकार छह दोष पाये जावें, उसे अमात्य पदपर नियुक्त नहीं करना चाहिये। १ भक्षण—राजकीय धन खानेवाला, २ उपेक्षण राजकीय सम्पत्ति नष्ट करनेवाला, अथवा धन प्राप्तिमें अनादर करनेवाला ३ प्रज्ञाहीनत्व—जिसकी बुद्धि नष्ट हो गई हो, या जो राजनैतिक ज्ञान-शून्य (मूर्ख) है, ४ उपरोध—प्रभावहीन (उदाहरणार्थ-राजकीय द्रव्य हड़प करनेवाले दूसरे अधिकारियोंको देखते हुये जिसके द्वारा रोके जाने परभी वे लोग अनर्थ करनेसे न चूकें ऐसा प्रभावहीन व्यक्ति) ५ प्राप्तार्था प्रवेश-जो टैक्स आदि उपायों द्वारा प्राप्त हुआ धन राज-कोषमें जमा नहीं करता हो, ६ द्रव्य विनिमय—जो राजकीय वहुमूल्य द्रव्य अल्पमूल्यमें निकाल लेता हो। अर्थात जो वहुमूल्य सिक्कों (असर्फी आदि) को स्वयं ग्रहण करके और उनके वदलेमें अल्प मूल्य वाले सिक्के (रुपये आदि) राजकीय खजानेमें जमा कर देता हो अथवा चलानेमें प्रयत्नशील हो। सारांश यह है कि जो राजा या प्रजा उक्त दोष-युक्त पुरुषको अर्थ-सचिव वनाती है, उसका राज्य नष्ट हो जाता है ॥४७॥

शुक्र[1] विद्वान्ने भी कहा है कि जो अमात्य दुष्ट प्रकृति-वश राजकीय धन अनेक प्रकारसे नष्ट कर डालता हो, वह राजा द्वारा त्यागने योग्य है ॥१॥

राज-तन्त्र, स्वयं देख रेखके योग्य, अधिकार, राज-तन्त्र व नीवी-लक्षण, आयव्यय-शुद्धि और उसके विवादमें राज-कर्त्तव्य—

वहुमुख्यमनित्यं च करणं स्थापयेत् ॥४८॥ स्त्रीष्वर्थेषु च मनागप्यधिकारे न जातिसम्बन्धः ॥४९॥ स्वपरदेशजावनपेक्ष्यानित्यश्चाधिकारः ॥५० ॥ आदायकनिवन्धक प्रतिवन्धकनीवीग्राहक राजाध्यक्षाः करणानि ॥५०॥
आयव्ययविशुद्धं द्रव्यं नीवी ॥५२॥ नीवीनिवन्धकपुस्तकग्रहणपूर्वकमायव्ययौ विशोधयेत् ५३
आयव्ययविप्रतिपत्तौ कुशलकरणकार्यपुरुषेभ्यस्तद्विनिश्चयः ॥५४॥

अर्थ—राजा या प्रजा द्वारा ऐसे राज्यतंत्रकी स्थापना होनी चाहिए, जो वहुतसे शिष्ट अधिकारियों की बुद्धिसे संचालित हो एवं जिसमें अधिकारियों की नियुक्ति स्थायी न हो क्योंकि अकेला अधिकारी स्वेच्छासे अनर्थ भी कर सकता है एवं स्थायी नियुक्तिवाले अधिकारी राज-कोषकी क्षति करने वाले भी होसकते हैं अतः मंत्री सेनाध्यक्ष आदि करण की नियुक्ति अनेक नीतिज्ञ शिष्ट पुरुषों सहित तथा क्रमानुसार वदलनेवाली होनी चाहिये ॥४८॥

गुरु[2] विद्वान् के उद्धरणका भी यही अभिप्राय है ॥१॥

---

१ तथा च शुक्रः—यो ऽमात्यो राजकीयं स्वं वहुधा विप्रकारयेत्। सदैव दुष्टभावेन स त्याज्यो सचिवो नृपैः ॥१॥

२ तथा च गुरुः—अशाश्वतं प्रकर्त्तव्यं करणं क्षितिपालकैः। बहुशिष्टं च यस्मात्तदन्यथा वित्तभक्षकम् ॥१॥

राजा या नैतिक पुरुष अपनी स्त्रियों व धन का रक्षक किसी को न बनाये ॥४०॥

गुरु[1] विद्वान्ने भी स्त्रियों व धन-रक्षा के विषयमें यही कहा है ॥१॥

मंत्री आदि अधिकारियोंकी नियुक्ति स्वदेश व परदेश का विचार न कर अस्थायी रूपसे करनी चाहिए क्योंकि अधिकारियों की स्थायी नियुक्तिका परिणाम हानिकर होता है अर्थात् वे राजकीय धन-अपहरण द्वारा राज्य-क्षति कर डालते हैं। परदेशवासी व्यक्ति जिस अधिकारीके कर्त्तव्य में कुशल हो, उसे उस पद पर अस्थायी तौर पर नियुक्त कर देना चाहिये ॥५०॥

राजाके राज्यतन्त्र संचालनार्थ निम्नप्रकार पांच करण—पंचकुल होते हैं।। १ आदायक—व्यापारी व कृषकों से चुंगी व टैक्स के जरिये द्रव्य वसूल कर राज-कोष में जमा करनेवाला कोषाध्यक्ष २ निबंधक—उक्त उपाय द्वारा प्राप्त द्रव्य व माल का हिसाब वही-आदिमें लिखनेवाला । ३ प्रतिबन्धक चुंगी आदिके मालपर या खजानेमें जमा होनेवाली वस्तुओं पर राजकीय मुहुर लगाने वाला । ४ नीवी-ग्राहक—राजकीय द्रव्यको राज कोषमें जमा करने वाला (खजानची)। ५ राजाध्यक्ष—उक्त चारों अधिकारियों की देख-रेख रखनेवाला प्रधान पुरुष ॥५१॥

आमदनीमेंसे उपयुक्त खर्च करनेके पश्चात् बची हुई और जाँच पड़ताल-पूर्वक खजानेमें जमा की हुई सम्पत्ति को 'नीवी' कहते हैं ॥५२॥

राजा उक्त नीवी ग्राहक—खजानची से उस बही को जिसमें राजकीय द्रव्य के आय-व्यय का हिसाब लिखा है, लेकर अच्छी तरह जांच-पड़ताल करके आय-व्यय को विशुद्ध करे ॥५३॥

किसी नीतिकार[2]ने भी राजकीय सम्पत्ति की आय- व्यय शुद्धिके-विषयमें इसी प्रकार कहा है ॥१॥

जब सम्पत्तिका आय-व्यय करनेवाले अधिकारियों में आमदनी व खर्चके विषयमें विवाद—समान शक्तिवाला विरोध—उपस्थित होजाय तब राजाको जितेन्द्रिय व राजनीतिज्ञ प्रधान पुरुषों मंत्री आदि से विचार-परामर्श करके उसका निश्चय कर लेना चाहिये। अभिप्राय यह है कि किसी अवसर पर कारणवश राज्यमें टेक्स- आदि द्वारा होने वाली सम्पत्ति की आय—आमदनी बिलकुल रुक गई हो और धन का व्यय अधिक होरहा हो, जो कि अवश्य करने योग्य प्रतीत हो जैसे शत्रुकृत हमलेके समय राष्ट्ररक्षार्थ सैनिक शक्ति के बढ़ानेमें अधिक और आवश्यक खर्च । ऐसे अवसर पर यदि अधिकारियों में आय-व्यय संबंधी विवाद उपस्थित होजावे, तो राजाको सदाचारी व राजनीतिज्ञ शिष्ट पुरुषोंका कमीशन वैठाकर उक्त विषयका निश्चय करलेना चाहिये । अर्थात् यदि महान् प्रयोजन-सिद्ध (विजय) होती हो तो आमदनीसे अधिक खर्च करनेका निश्चय करलेना चाहिये अन्यथा नहीं ॥५४॥

शुक्र[3] विद्वान्ने भी सम्पत्तिके आय-व्यय संबंधी विवादके विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

---

१ तथा च गुरुः—स्त्रीष्वर्थेषु च विज्ञेयो नित्योयं जातिसम्भवः ॥१॥

२ तथा च चोक्तः—शुद्धपुस्तक हस्ते यत् पुस्तकं समवस्थितम्। आयव्ययौ च तत्रस्थौ यौ तौ वितरय शुद्धिदौ ॥१॥

३ तथा च शुक्रः—यदा विप्रतिपत्तिश्च करणस्य प्रजायते। [प्रवेशे निश्क्रये वापि] साधुभ्यो निश्चयं क्रियात् ॥१॥
संशोधित व परिवर्तित।

रिश्वतसे संचित धनका उपायपूर्वक ग्रहण व अधिकारियोंको धन व प्रतिष्ठाकी प्राप्ति—

नित्यपरीक्षणं कर्मविपर्ययः प्रतिपत्तिदानं नियोगिष्वर्थोपायाः॥५५॥ नापीड़िता नियोगिनो दुष्टव्रणा इवान्तःसारमुद्वमन्ति ॥५६॥ पुनः पुनरभियोगे नियोगिषु भूपतीनां वसुधाराः॥५७॥ सकृन्निष्पीड़ितं हि स्नानवस्त्रं किं जहाति स्निग्धताम् ॥५८॥ देशमपीड़यन् बुद्धिपुरुषकाराभ्यां पूर्वनिबन्धमधिकं कुर्वन्नर्थमानौ लभते ॥५९॥

अर्थः—राजा अधिकारियोंसे रिश्वत द्वारा संचित धन निम्नप्रकार तीन उपायोंसे प्राप्त करसकता है। १ नित्य परीक्षण—सदा अधिकारियोंकी जांच-पड़ताल करना। अर्थात् गुप्तचरों द्वारा उनके दोष जानकर कड़ी सजा देना। २ कर्म विपर्यय उन्हें उच्च पदोंसे पृथक् कर साधारण पदों पर नियुक्त करना, जिससे वे भयभीत होकर रिश्वत से संचित धन बताने में बाध्य होसकें। ३ प्रतिपत्तिदानं—अधिकारियोंके लिये छत्र-चमर आदि बहुमूल्य वस्तुएं भेंट देना; जिससे वे स्वामी से प्रसन्न होकर रिश्वत द्वारा गृहीत गुप्त धन दे देवें॥५५॥

गुरु विद्वान्[1] ने भी रिश्वत द्वारा गृहीत-धन-प्राप्तिके उपायोंके विषयमें इसी प्रकार कहा है।

अधिकारी लोग दुष्ट व्रण (पके हुए दूषित फोड़े) समान विना ताड़न-बंधन आदि किये गृहमें रक्खा हुआ रिश्वतका धन नहीं बताते अर्थात् जिस प्रकार पके हुए दूषित फोड़े शस्त्रादिद्वारा छेदन भेदन किये विना भीतर का दूषित रक्त नहीं निकालते उसी प्रकार अधिकारी-गणभी कड़ी सजा पाये विना रिश्वतका धन नहीं बताते ॥५६॥

नीतिकार चाणिक्य[2]ने भी अधिकारियोंद्वारा अप हृत धन प्राप्त करनेके विषयमें इसीप्रकार कहा है॥१॥

अधिकारियोंको बार बार ऊंचे पदोंसे पृथक् करके साधारण पदोंमें नियुक्त करनेसे राजाओंको उनके द्वारा गृहीत रिश्वतका प्रचुर धन मिल जाता है। क्योंकि वे पदच्युत आदि होनेके भयसे रिश्वत धन दे देते हैं॥५७॥

केवल एक बार धोया हुआ स्नान-वस्त्र (धोती वगैरह) क्या अपनी मलीनता छोड़ सकता है? नहीं छोड़ सकता। अर्थात् जिस प्रकार नहानेका कपड़ा बार २ पछाड़कर धोनेसे साफ होता है उसी प्रकार अधिकारी वर्गभी बार २ दंडित किये जानेसे संचित रिश्वत आदिका गृहीत धन दे देता है ॥५८॥

शुक्र[3] विद्वान्के उद्धरणका भी यही अभिप्राय है ॥१॥

जो अधिकारी (अमात्य आदि) देशको पीड़ित नहीं करता (अधिक चुंगी व टैक्स द्वारा प्रजाको कष्ट नहीं देता) और अपनी बुद्धि-पटुता व उद्योगशीलता द्वारा राष्ट्रके पूर्व व्यवहारको विशेष उन्नतिशील

---

१ तथा च गुरुः—छिद्रान्वेषणतो लाभो नियोगिजनसम्भवः। अधिकारविपर्यासाद प्रतिपत्तेस्तथापरः॥१॥

२ तथा च चाणक्यः—शान्त्याधिकारिणो वित्तमन्तःसारं वदन्ति नो। निपीड्यन्ते न ते यावद् गाढं दुष्टव्रणा इव॥१॥

३ तथा च शुक्रः—यथाहि स्नानजं वस्त्रं सकृत् प्रक्षालितं न हि। निर्मलं स्यान्नियोगी च सकृद्दण्डे न शुद्धयति॥१॥

बनाता है। अर्थात् राष्ट्र संबंधी कृषि व वाणिज्य आदिकी पूर्वापेक्षा विशेष उन्नति करके दिखाता है उसे स्वामी द्वारा धन व प्रतिष्ठा मिलती है ॥५६॥

शुक्र[1] विद्वान् के संगृहीत श्लोक का भी यही आशय है ॥१॥

योग्यतानुसार नियुक्ति, कार्यसिद्धिमें उपयोगी गुण तथा समर्थन व अधिकारी का कर्तव्य—

यो यत्र कर्मणि कुशलस्तं तत्र विनियोजयेत् ॥६०॥ न खलु स्वामिप्रसादः सेवकेषु कार्यसिद्धिनिबन्धनं किन्तु बुद्धिपुरुषकारावेव ॥६१ शास्त्रविदप्यदृष्टकर्मा कर्मसु विषादं गच्छेत् ॥६२॥ अनिवेद्यभर्तुर्न किंचिदारम्भं कुर्यादन्यत्रापत्प्रतीकारेभ्यः ॥६३॥

अर्थः—जो अधिकारी जिस पदके कर्तव्य पालनमें कुशल हो, उसे उस पद पर नियुक्त कर देना चाहिये ॥६०॥ निश्चयसे स्वामीके प्रसन्न रहनेसे ही सेवक लोग कार्यमें सफलता प्राप्त नहीं कर सकते किन्तु जब उनमें कार्योपयोगी बुद्धि व पुरुषार्थ (उद्योग) गुण होंगे तभी वे कर्तव्यमें सफलता प्राप्त कर सकते हैं ॥६१॥ शास्त्रवेत्ता विद्वान् पुरुष भी जिन कर्तव्योंसे परिचित नहीं है, उनमें मोह (अज्ञान) प्राप्त करता है ॥६२॥

भृगु[2] विद्वान् ने भी कर्तव्य-कुशलतासे शून्य अधिकारीके विषयमें इसी प्रकार कहा है ॥१॥

असह्य संकट दूर करनेके सिवाय दूसरा कोई भी कार्य सेवक को स्वामीसे निवेदन किये विना नहीं करना चाहिये। अर्थात् युद्धकालीन शत्रु-कृत उपद्रवों का नाश सेवकको स्वामीसे विना पूछे कर देना चाहिये इसके सिवाय उसे कोई भी कार्य स्वामी की आज्ञा विना नहीं करना चाहिये ॥६३॥

भागुरि[3] विद्वान् के उद्धरणसे भी इसी प्रकार अधिकारी का कर्तव्य प्रतीत होता है ॥१॥

अचानक धन मिलने पर राज-कर्तव्य अधिक मुनाफाखोर व्यापारियोंके प्रति राजकर्तव्य व अधिकारियों में परास्परिक कलहसे लाभ—

सहसोपचितार्थो मूलधनमात्रेणावशेषयितव्यः ॥६४॥ मूलधनाद् द्विगुणाधिको लाभो भाण्डोत्थो यो भवति स राज्ञः ॥६५॥परस्परकलहो नियोगिषु भूभुजां निधिः ॥६६॥

अथः—राजा अचानक मिला हुआ धन (लावारिस मरे हुए धनाढ्य व्यक्तियोंकी भाग्याधीन मिली हुई सम्पत्ति) खजाने में स्थापित कर उसकी वृद्धि करे ॥६४॥

अत्रि[4] विद्वान् ने भी अधिकारियोंसे प्राप्त हुई भाग्याधीन सम्पत्तिके विषयमें इसी प्रकार कहा है ॥१॥

---

१ तथा च शुक्रः—यो देशं रक्षयन् यत्नात् स्वबुद्ध्या पौरुषेण च। निबन्धान् वर्द्धयेद्राज्ञः सचिरं मानमाप्नुयात् ॥१॥

२ तथा च भृगुः—येन यन्न कृतं कर्म स तस्मिन् योजितो नृपैः। नियोगी मोहमायाति यद्यपि स्याद्विचक्षणः ॥१॥

३ तथा च भागुरिः—न स्वामिवचनाद् बाह्यं कर्म कार्यनियोगिना। अपि स्वल्पतरं यच्च मुक्त्वा शत्रुसमागमम् ॥१॥

४ तथा च अत्रिः—अचिन्तितस्तु लाभो यो नियोगाद्यस्तु जायते। स कोशे संनियोज्यश्च येन तच्चाधिकं भवेत् ॥१॥

जब व्यापारी लोग बर्तनों आदिके व्यापारमें मूलधनसे दूनेसे भी अधिक धन कमाते हों तब राजा को व्यापारियोंके लिये मूल धनसे दूना धन देकर अधिक धन जब्त कर लेना चाहिये। क्योंकि व्यापारी गण इतना अधिक मुनाफा छल-कपट व चोरी आदि कुमार्गका अनुसरण किये बिना नहीं कर सकते ।।६५।।

शुक्र[1] विद्वान् के संगृहीत श्लोक का भी यही अभिप्राय है ।।१।।

अधिकारियोंमें आपसी फूट—लड़ाई झगड़ा होनेसे राजाओं को खजाने के मिलने समान महा लाभ होता है, क्योंकि ऐसा होनेसे अधिकारी वर्ग राजाके समक्ष एक दूसरे का अपराध प्रकट कर देते हैं, जिसके फलस्वरूप दण्डित किये जाने पर वे लोग रिश्वत द्वारा हड़प किया हुआ धन बता देते हैं ।।६६।।

गुरु[2] विद्वान् ने भी अधिकारियोंके पारस्परिक विरोधसे राजाओंको महान आर्थिक लाभ निर्दिष्ट किया है ।।१।।

धनाढ्य अधिकारियोंसे लाभ, संग्रह करने योग्य मुख्य वस्तु धान्य संचयका माहात्म्य व चिर-स्थायी धान्य—

नियोगिषु लक्ष्मीः क्षितीश्वराणां द्वितीयः कोशः ।।६७।। सर्वसंग्रहेषु धान्यसंग्रहो महान्, यत-स्तन्निबन्धनं जीवितं सकलप्रयासश्च ।।६८।। न खलु मुखे प्रक्षिप्तःखरोऽपि द्रम्मः प्राणत्रा-णाय यथा धान्यं ।।६९।। सर्वधान्येषु चिरजीविनः कोद्रवाः ।।७०।।

अर्थः—अधिकारियोंकी सम्पत्ति राजाओंका दूसरा खजाना है क्योंकि उनके ऊपर संकट पड़ने पर अधिकारियोंकी सम्पत्ति उनके काम आजाती है ।।६७।

नारद[3] विद्वान् ने भी इसी प्रकार कहा है ।।१।।

समस्त हाथी-घोड़े-आदिके संग्रह में से अन्न-संग्रह उत्तम माना गया है क्योंकि वह प्राणियोंके जीवन-निर्वाह का साधन है, एवं जिसके कारण मनुष्योंको कृषि आदि जीविकोपयोगी कार्यों में कष्ट उठाना पड़ता है ।।६८।।

भृगु[4] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ।।१।।

जिस प्रकार भक्षण किया हुआ धान्य प्राण-रक्षा कर सकता है, उस प्रकार निश्चय से बहु मूल्य सुवर्णका सिक्का मुखमें रक्खा हुआ प्राणरक्षा नहीं कर सकता ।।६९।।

---

१ तथा च शुक्रः—यदि मूलधनात् कश्चिद् द्विगुणाभ्यधिकं लभेत् । तत्तस्य मूलाद्द्विगुणं दत्वा शेषं नृपस्य हि ।।१।।

२ तथा च गुरुः—नियोगिनां मियो वादो राज्ञां पुण्यैः प्रजायते । यतस्तेषां विवादे च लाभः स्याद्भूपतेर्बहुः ।।१।।

३ तथा च नारदः—यैव भृत्यगता संपत् सैव सपन्महीपतेः । यतः कार्ये समुत्पन्ने निःशेषस्तां समानयेत् ।।१।।

४ तथा च भृगुः—सर्वेषां संग्रहाणां च शस्योऽन्नस्यच संग्रहः । यतः सर्वाणि भूतानि क्लिश्यन्ति च तदर्थतः ।

गर्ग[1] विद्वान् ने भी धान्यके विषयमें इसी प्रकार कहा है ॥१॥

समस्त धान्यों में कोदों चिरस्थायी (घुण न लगने वाले) होते हैं, अतः उनका संग्रह करना चाहिये ॥७०॥

भारद्वाज[2] विद्वान् ने भी छिलकों वाले धान्य व कोदों को चिरस्थायी बताया है ॥१॥

संचित धनका उपयोग, प्रधान व संग्रह करने योग्य रस व लवण का माहात्म्य—

अनवं नवेन वर्द्धयितव्यं व्ययितव्यं च ॥७१॥ लवणसंग्रहः सर्वरसानामुत्तमः ॥७२॥ सर्वरसमयमप्यन्नमलवणं गोमयायते ॥७३॥

अर्थः—पुरानी संचित धान्य व्याजूना (फसलके मौके पर कृषकोंको वाढ़ी में देना) देकर बदलेमें नवीन धान्य के आय द्वारा बढ़ानी चाहिये और व्याज द्वारा प्राप्त हुयी धान्य खर्च करते रहना चाहिये, ताकि मूलधन की हानि न हो सके ॥७१॥

वशिष्ठ[3] विद्वान् ने भी पुरानी संचित धान्यको व्याजूना देनेके विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

समस्त घृत व तेल प्रभृति रसोंके संग्रहमें नमक संग्रह उत्तम है अतःविवेकी पुरुष उसका संग्रह करे क्योंकि नमक के बिना सब रसोंसे युक्त अन्न भी गोबर समान अरुचिकर लगता है ॥७२-७३॥

हारीत[4] विद्वान्के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

इति अमात्य समुद्देश ।

---

१ तथा च गर्गः—प्रभूतैरपि नो द्रव्यैः प्राणत्राणं विधीयते । मुखे क्षिप्ते यथान्नेन स्वल्पेनापि विधीयते ॥१॥

२ तथा च भारद्वाजः—तुषधान्यानि सर्वाणि कोद्रवप्रभृतीनि च । चिरजीवीनि तान्याहुस्तेषां युक्तः सुसंग्रहः ॥१॥

३ तथा च वशिष्ठः—अनवं यद्भवेत् सस्यं तन्नवेन विवर्द्धयेत् । वृद्ध्या प्राप्तो भवेद्यस्तु तस्य कार्यो व्ययो बुधैः ॥१॥

४ तथा च हारीतः—स्याद्रसैः पञ्चभिर्युक्तं लवणेनोज्झितं यदि । जिह्वा तद्गोमयास्वादं [गृहीत्वा रुचिमाप्नुयात्]॥१॥

संशोधित व नवीन रचित—सम्पादक—

१९—जनपद-समुद्देश

देशके नामों— राष्ट्र, देश, विषय, मण्डल, जनपद, दारक व निर्गम शब्दोंकी सार्थक व्याख्या—

पशुधान्यहिरण्यसंपदा राजते इति राष्ट्रम् ॥१॥ भर्त्तुर्दण्डकोशवृद्धिं दिशतीति देशः ॥२॥ विविधवस्तुप्रदानेन स्वामिनः सद्मनि गजान् वाजिनश्च विषिणोति बध्नातीति विषयः ॥३॥ सर्वकामधुक्त्वेन नरपतिहृदयं मण्डयति भूषयतीति मण्डलम् ॥४॥ जनस्य वर्णाश्रमलक्षणस्य द्रव्योत्पत्तेर्वा पदं स्थानमिति जनपदः॥५॥ निजपतेरुत्कर्षजनकत्वेन शत्रुहृदयानि दारयति भिनत्तीति दारकम् ॥६॥ आत्मसमृद्ध्या स्वामिनं सर्वव्यसनेभ्यो निर्गमयतीति निर्गमः ॥७॥

अर्थ—क्योंकि देश गाय भैंस-आदि पशु गेहूँ-चांवल प्रभृति अन्न व सुवर्ण-आदि सम्पत्तिसे शोभायमान होता है, इससे इसकी 'राष्ट्र' संज्ञा है ॥१॥

भागुरि[1] विद्वान् ने भी देश को पशु, धान्य, तांबा-लोहा प्रभृति धातु व वर्तनोंसे सुशोभित होने के कारण 'राष्ट्र' कहा है ॥१॥

यह स्वामी को सैन्य-कोषकी वृद्धि देता है, अतः इसकी 'देश' संज्ञा है ॥२॥

शुक्र[2] विद्वान् ने भी देश शब्दकी यही सार्थक व्याख्या की है ॥१॥

क्योंकि यह नाना प्रकारकी सुवर्ण-धान्यादि वस्तुएं प्रदान कर राज-महल में हाथी घोड़े बांधता है, अतः इसे 'विषय' कहते हैं ॥३॥

शुक्र[3] विद्वान्ने भी 'विषय' शब्दकी यही व्याख्या की है ॥१॥

क्योंकि यह समस्त मनोरथोंकी पूर्ति द्वारा राजाके हृदयको अलंकृत करता है, इसलिये इसे मण्डल कहते हैं ॥४॥

शुक्र[4] विद्वान्के उद्धरणसे भी 'मण्डल' शब्दका यही अर्थ प्रतीत होता है ॥१॥

क्योंकि देश वर्ण (ब्राह्मण,क्षत्रिय,वैश्य व शूद्र) और आश्रमों (ब्रह्मचारी,गृहस्थ,वानप्रस्थ और यति) में वर्तमान प्रजाजनोंका निवास-स्थान अथवा धनका उत्पत्ति-स्थान है अतः इसे 'जनपद' कहते हैं ॥५॥

---

१ तथा च भागुरिः—पशुभिर्विविधैर्धान्यैः कुप्यभाण्डैः पृथग्विधैः । राजते येन लोकेऽत्र तद्राष्ट्रमिति कीर्त्यते ॥१॥

२ तथा च शुक्रः—स्वामिनः कोशवृद्धिं च सैन्यवृद्धिं तथा परम् । यस्माद्दिशति नित्यं स तस्माद्देश उदाहृतः ॥१॥

३ तथा च शुक्रः—विविधान् वाजिनो गाश्च स्वामिसद्मनि नित्यशः । सिनोति च यतस्तस्माद्विषयः प्रोच्यते बुधैः ॥१॥

४ तथा च शुक्रः—सर्वकामसमृद्ध्या च नृपतेर्हृदयं यतः । मण्डनेन समा युक्तं कुरुतेऽनेन मण्डलम् ॥१॥

शुक्र[1] विद्वानने भी 'जनपद' शब्दकी यही व्याख्या की है ॥१॥

क्योंकि देश अपने स्वामी की उन्नति करके शत्रु हृदयोंको विदीर्ण करता है अतः इसे 'दारक' कहा है ॥६॥

जैमिनि[2] विद्वान्ने कहा है कि 'देश बहुतसे ऊंटों द्वारा अपने स्वामीकी उन्नति करके शत्रु हृदयोंको विदीर्ण करता है अतः उसे दारक' कहते हैं ॥१॥

क्योंकि यह अपने धनादि वैभव द्वारा स्वामीको समस्त आपत्तियोंसे छुड़ाता है अतः इसे विद्वानों ने 'निर्गम' कहा है ॥७॥

शुक्र[3] विद्वान्ने भी निर्गम शब्दकी यही सार्थक व्याख्या की है ॥१॥

देशके गुण व दोष—

अन्योऽन्यरक्षकः खन्याकरद्रव्यनागधनवान् नातिवृद्धनातिहीनग्रामो बहुसारविचित्रधान्य-हिरण्यपण्योत्पत्तिरदेवमातृकः पशुमनुष्यहितः श्रेणिशूद्रकर्षकप्राय इति जनपदस्य गुणाः ॥८॥
विषतृणोदकोषरपाषाणकण्टकगिरिगर्त्तगह्वरप्रायभूमिर्भूरिवर्षाजीवनो व्याल-लुब्धकम्लेच्छबहुलः स्वल्पसस्योत्पत्तिस्तरुफलाधार इति देशदोषाः ॥९॥
तत्र सदा दुर्भिक्षमेव, यत्र जलदजालेन सस्योत्पत्तिरकृष्टभूमिश्चारम्भः ॥१०॥

अर्थ—देशके निम्नप्रकार गुण होते हैं। १ परस्परकी रक्षा करने वाला—जहांपर राजा देशकी और देश राजाकी रक्षा करता हो।, २ जो सुवर्ण, रत्न चांदी, तांबा, व लोहा-आदि धातुओंकी तथा गन्धक-नमक-आदि खनिज द्रव्योंकी खानियोंसे युक्त एवं रुपया असर्फी-आदि धन और हाथी-रूप धन से परिपूर्ण हो।, ३ जिसके ग्रामोंकी जन संख्या न बहुत बढ़ी हुई और न बहुत कम हो।, ४ जहांपर बहुतसे उत्तम पदार्थ, नाना भांतिके अन्न, सुवर्ण, और व्यापारियोंके खरीदने व बेचने योग्य वस्तुएं पाई जाती हों।, ५ जो मेघ जलकी अपेक्षा से रहित हो—जहां रहट व चरसोंके जलसे खेती होती हो।, ६ जो मनुष्य व पशुओंको सुख देने वाला हो।

७ जहांपर बढ़ई जुलाहा, नाई धोबी, व चमार- आदि शिल्प-शूद्र तथा किसान बहुलतासे वर्तमान हों सारांश यह है कि जिस देशमें उक्त गुण पाए जाते हैं, वह सुखी रहता है ॥८॥

देशके निम्न प्रकार दोष होते हैं जिनसे वह निंदनीय समझा जाता है। १ जिसका घास पानी रोग-जनक होनेसे विष समान हानिकारक हो, २ जहाँकी जमीन ऊषर—घास अन्नकी उपजसे शून्य हो, ३ जहां की जमीन विशेष पथरीली, अधिक कंटकाकीर्ण तथा बहुत पहाड़, गड्ढे और गुफाओंसे व्याप्त हो ४ जहां

१ तथा च शुक्रः—वर्णाश्रमाणां सर्वेषां द्रव्योत्पत्तेश्च वा पुनः। यस्मात् स्थानं भवेत् सोऽत्र तस्माज्जनपदः स्मृतः ॥१॥

२ तथा च जैमिनिः—भर्तुरुत्कर्षदानेन शत्रूणां हृदयं यतः। दारका दारयन्तिस्म प्रभूता दारकं ततः ॥१॥

३ तथा च शुक्रः—मोचापयति यो वित्तैर्निजैः स्वामिनमात्मनः। व्यसनेभ्यः प्रभूतेभ्यो निर्गमः स इहोच्यते ॥१॥

पर बहुतसी जल-वृष्टि द्वारा प्रजाजनोंका जीवन (धान्यकी उपज) होता हो ५ जहाँपर बहुलतासे सर्प, भील और म्लेच्छों का निवास हो।, ६ जिसमें थोड़ीसी धान्य (अन्न) उत्पन्न होती हो।, ७ जहांके लोग धान्य की उपज कम होनेके कारण वृक्षोंके फलों द्वारा अपना जीवन-निर्वाह करते हों ॥१६॥

जिस देशमें मेघोंके जल द्वारा धान्य उत्पन्न होती है और खेती कर्षण-क्रियाके विना होती है, अर्थात् जहां कछवारोंकी पथरीली जमीनमें विना हल जोते हो बीज बखेर दिये जाते हैं, वहां सदा अकाल रहता है। क्योंकि मेघों द्वारा जल वृष्टिका यथासमय व उचित परिमाणमें होना निश्चित नहीं रहता एवं कर्षण क्रियाकी अपेक्षा शून्य पथरीली जमीनभी ऊपर जमीन समान उपज-शून्य अथवा बिलकुल कम उपजाऊ होती है, अतः ऐसे देशमें सदा अकाल होना निश्चित ही है ॥१॥

गुरु[1] विद्वान्के उद्धरणका भी यही अभिप्राय है ॥१॥

क्षत्रिय व ब्राह्मणोंकी अधिक संख्या-युक्त ग्रामोंसे हानि व परदेश-प्राप्त स्वदेशवासी के प्रति राज-कर्तव्य—

क्षत्रियप्राया हि ग्रामाः स्वल्पास्वपि बाधासु प्रतियुद्ध्यन्ते ॥११॥ म्रियमाणोऽपि द्विजलोको न खलु सान्त्वेन सिद्धमप्यर्थं प्रयच्छति ॥१२॥ स्वभूमिकं भुक्तपूर्वमभुक्तं वा जनपदं स्वदेशाभिमुखं दानमानाभ्यां परदेशादावहेत् वासयेच्च* ॥१३॥

अर्थ—जिन ग्रामोंमें क्षत्रिय शूरवीर पुरुष अधिक संख्यामें निवास करते हैं वहांपर वे लोग थोड़ी सी पीड़ाओं—आपसी तिरस्कार आदिसे होने वाले कष्टोंके होने पर आपसमें लड़ मरते हैं—अनर्थ कर बैठते हैं ॥११॥

शुक्र[2] विद्वान्ने भी क्षत्रियोंकी बाहुल्यता-युक्त ग्रामोंके विषयमें इसी प्रकार कहा है ॥१॥

ब्राह्मण लोग अधिक कृपण—लोभी होनेके कारण राजाके लिये देनेयोग्य टेक्स आदिका धन प्राण जाने परभी विना दण्डके शान्तिसे नहीं देते ॥१२॥

शुक्र[3] विद्वान्के उद्धरणका भी यही अभिप्राय है ॥१॥

राजाका कर्तव्य है कि वह परदेशमें प्राप्त हुए अपने देशवासी मनुष्यको, जिससे कि इसने पूर्वमें कर—टेक्स ग्रहण किया हो अथवा न भी किया हो, दान सन्मानसे वशमें करे और अपने देशके प्रति

---

१ तथा च गुरुः—मेघजेनाम्भसा यत्र सस्यं च न प्रैष्मिकम् । सदैव तत्र दुर्भिक्षं कृष्यारम्भो न यत्र च ॥१॥

*'भूमिकं भुक्तपूर्वं वा जनपदं स्वदेशाभिमुख्यं दानमानाभ्यां परदेशोपवाहनेन वा वासयेत्' इस प्रकारका पाठान्तर मू० प्रतियोंमें वर्तमान है, जिसका अर्थ यह है कि राजा परदेशवासी व उपद्रवकारी मनुष्यको जो कि इसके देशमें रहना चाहता है, दानमान पूर्वक दूसरे देशमें भेज देवें। क्योंकि ऐसा करनेसे प्रजा परदेशवासी प्रजाके उपद्रवोंसे सुरक्षित रहती है।

२ तथा च शुक्रः—वसन्ति क्षत्रिया येषु ग्रामेष्वतिनिरर्गलाः । स्वल्पापराधतोऽप्येव तेषु युद्धं न शाम्यति ॥१॥

३ तथा च शुक्रः—ब्राह्मणैर्भक्षितो योऽर्थो न स सान्त्वेन लभ्यते । यावन्न दंडपारुष्यं तेषां च क्रियते नृपैः ॥१॥

अनुरागी बनाकर उसे वहांसे लाकर अपने देशमें वसावे। सारांश यह है कि अपने देशवासी, शिष्ट व उद्योगशील पुरुषको परदेशसे लाकर वसानेसे राष्ट्रकी जन-संख्या-वृद्धि, व्यापारिक उन्नति, राजकोषकी वृद्धि एवं गुप्त रहस्य-संरक्षण आदि अनेक लाभ होते हैं, जिसके फल स्वरूप राज्यकी श्रीवृद्धि होती है ॥१३॥

शुक्र[1] विद्वान्‌ने भी परदेशमें प्राप्त हुए स्वदेशवासी मनुष्यके विषयमें इसीप्रकार कहा है ॥१॥

शुल्कस्थानवर्ती अन्यायसे हानि, कच्ची धान्य फसल कटाने व पकी हुई धान्यमेंसे सेना निकालनेका परिणाम—

स्वल्पोऽप्यादायेषु प्रजोपद्रवो महान्तमर्थं नाशयति※ ॥१४॥ क्षीरिषु कणिशेषु सिद्धादायो जनपदमुद्वासयति ॥१५॥ लवनकाले सेनाप्रचारो दुर्भिक्षमावहति ॥१६॥

अर्थ—जो राजा धनकी आमदनीके स्थानों (चुंगीघर आदि) में व्यापारियोंसे थोड़ासा भी अन्याय का धन ग्रहण करता है—अधिक टैक्स लेता है उसे महान आर्थिक हानि होती है, क्योंकि व्यापारियोंके क्रय-विक्रयके माल पर अधिक टैक्स लगानेसे वे लोग उसके भयसे क्षुब्ध होकर व्यापार वंद कर देते हैं या छल-कपट पूर्ण वर्ताव करते हैं जिसके फलस्वरूप राजाकी अधिक हानि होती है ॥१४॥

गुरु[2] विद्वान्‌ने भी शुल्कस्थानोंमें प्रवृत्त होनेवाली अन्याय-प्रवृत्ति के विषयमें इसी प्रकार कहा है ॥१॥

जो राजा लगान न देने कारण किसानों की अपरिपक्व (विना पकी हुई) धान्य मञ्जरी—गेहूँ चांवल आदि की कच्ची फसल—कटाकर ग्रहण कर लेता है, वह उन्हें दूसरे देशमें भगा देता है, जिससे राजा व कृषक आर्थिक संकट भोगते हैं, अतः राजाको कृषकोंके प्रति ऐसा अन्याय करना उचित नहीं है ॥१५॥

शुक्र[3] विद्वान्‌के संगृहीत श्लोकका भी यही अभिप्राय है ॥१॥

जो राजा पकी हुई धान्यकी फसल काटते समय अपने राष्ट्रके खेतोंमें से हाथी घोड़े आदिकी सेना निकालता है उसका देश अकाल-पीड़ित हो जाता है। क्योंकि सेना धान्य—फसलका सत्यानाश कर डालती है, जिससे अन्नके अभावसे देशमें अकाल हो जाता है ॥१६॥

---

१ तथा च शुक्रः—परदेशगतं लोकं निजदेशे समानयेत्। भुक्तपूर्वमभुक्तं वा सर्वदैव महीपतिः ॥१॥

※'स्वल्पोऽपि राष्ट्रेषु परप्रजोपद्रवो महान्तमर्थं नाशयति' ऐसा पाठान्तर मू० प्रतियोंमें वर्तमान है, जो कि पूर्वोक्त १३ वें सूत्रके पाठान्तरका समर्थक है, जिसका अर्थ यह है कि जिन देशोंकी प्रजा परदेशकी दुष्ट प्रजा द्वारा जरासी भी पीड़ित की जाती है, वहां पर राजाको महान् आर्थिक-हानि होती है, क्योंकि परदेशी आततायियों दुष्टों द्वारा सताई हुई प्रजा राजासे एकदम असंतुष्ट व क्षुब्ध हो जाती है, जिससे राजकीय आर्थिक क्षति अधिक होती है।

२ तथा च गुरुः—शुल्कस्थानेषु योऽन्यायः स्वल्पोऽपि च प्रवर्तते। तत्र नागच्छते कश्चिद्व्यवहारी कथंचन ॥१॥

३ तथा च शुक्रः—क्षीरयुक्तानि धान्यानि यो गृह्णाति महीपतिः। कर्षकाणां करोत्यत्र विदेशगमनं हि सः ॥१॥

जैमिनि[4] विद्वानके उद्धरणका भी यही अभिप्राय है ॥१॥

प्रजाको पीड़ित करनेसे हानि, पहिलेसे टेक्ससे मुक्त मनुष्योंके प्रति राजकर्तव्य, मर्यादा उल्लंघन से हानि, प्रजाकी रक्षाके उपाय व न्यायसे सुरक्षित राष्ट्रके शुल्कस्थानोंसे लाभ—

सर्वबाधा प्रजानां कोशं पीडयति※ ॥१७॥ दत्तपरिहारमनुगृह्णीयात् ॥१८॥ मर्यादातिक्रमेण फलवत्यपि भूमिर्भवत्यरण्यानी ॥१९॥ क्षीणजनसम्भावनं तृणशलाकाया अपि स्वयमग्रहः ÷ कदाचित्किंचिदुपजीवनमिति परमः प्रजानां वर्धनोपायः ॥२०॥ न्यायेन रक्षिता पण्यपुटभेदिनी पिष्ठा राज्ञां कामधेनुः × ॥२१॥

अर्थ—जो राजा अपनी प्रजाको समस्त प्रकारके कष्ट देता है—अधिक टेक्स आदि लगाकर प्रजाको पीड़ित करता है, उसका खजाना नष्ट हो जाता है। क्योंकि पीड़ित प्रजा असंतुष्ट होकर एकदम राजासे बगावत कर देती है जिसके फलस्वरूप राजकीय खजाना खाली हो जाता है ॥१७॥

गर्ग[1] विद्वान्ने भी टेक्स द्वारा प्रजाको पीड़ित करनेवाले, राजाकी इसीप्रकार हानि निर्दिष्ट की है ।१

राजाने जिनको पूर्वमें टेक्स लेनेसे मुक्त कर दिया है, उनसे वह फिरसे टेक्स न लेकर उनका अनुग्रह करे, क्योंकि इससे उसकी वचन-प्रतिष्ठा व कीर्ति होती है ॥१८॥

नारद[2] विद्वान्के उद्धरणका भी यही अभिप्राय है ॥१॥

मर्यादा—लोकव्यवहार—का उल्लंघन करनेसे धन-धान्यादिसे समृद्धिशाली भूमिभी जंगल समान फल-शून्य हो जाती है, अतः विवेकी मनुष्य व राजाको मर्यादा (नैतिक प्रवृत्ति) का उल्लंघन नहीं करना चाहिये ॥१९॥

---

१ तथा च जैमिनिः—सस्यानां परिपक्वानां समये यो महीपतिः। सैन्यं प्रचारयेत्तच्च दुर्भिक्षं प्रकरोति सः ॥१॥

※'सर्वा बाधाः प्रजानां कोशं कर्षयन्ति' ऐसा पाठान्तर मू० प्रतियोंमें है, जिसका अर्थ यह है कि पूर्वमें कही हुई (कृषकोंके खेतोंमेंसे सेना निकालना-आदि) व न कही हुई बाधाओं—प्रजाको दी गई पीड़ाओं—से प्रजाकी सम्पत्ति नष्ट होती है ॥१७॥

÷'स्वयं संग्रहः' ऐसा पद मू० प्रतियोंमें है जिससे उक्त सूत्रका यह अर्थ होता है, कि जिस प्रकार तृणसंग्रह भी कभी उपयोगी होता है, उसी प्रकार दरिद्र व्यक्ति भी कभी उपयोगी होता है, अतएव राजाको दरिद्र (निर्धन) प्रजाकी धनसे सहायता करनी चाहिये, शेषार्थ पूर्ववत् समझना चाहिये।

×'न्यायेन रक्षिता पण्यपुटभेदिनी राज्ञां कामधेनुः' इस प्रकारका पाठ मू० प्रतियोंमें है, जिसका अर्थ यह है कि न्याय सुरक्षित जहां योग्य टेक्स-आदि लिया जाता है और व्यापारियोंके क्रय-विक्रय योग्य वस्तुओंसे व्याप्त नगरी कामधेनु समान राजाओंके मनोरथ पूर्ण करती है ॥२१॥

२ तथा च गर्गः—प्रजानां पीडनाद्वित्तं न प्रभूतं प्रजायते। भूपतीनां ततो ग्राह्यं प्रभूतं येन तद्भवेत् ॥१॥

२ तथा च नारदः—अकरा ये कृताः पूर्वं तेषां ग्राह्यः करो न हि। निजवाक्यप्रतिष्ठार्थं भूभुजा कीर्तिमिच्छता ॥१॥

गुरु[1] विद्वान्‌ने भी मर्यादा उल्लंघन न करनेवाले राजाके विषमें इसीप्रकार कहा है ॥१॥

प्रजाकी रक्षा करनेके निम्न प्रकार हैं। (१) धन नष्ट हो जानेसे विपत्तिमें फंसे हुये (दरिद्र) कुटुम्बी-जनोंकी द्रव्यसे सहायता करना। (२) प्रजासे अन्याय पूर्वक तृणमात्रभी अधिक टेक्स वसूल न करना—न्यायपूर्वक उचित टेक्स लेना अथवा दरिद्रतावश—आपत्तिमें फसी हुई प्रजासे तृणमात्रभी टेक्स न लेना। (३) किसी समय (अपराध करने पर)-अपराधानुकूल दंड-विधान करना ॥२०॥

नारद[2] विद्वान्‌ने भी लोक-रक्षाके विषयमें इसी प्रकार कहा है ॥१॥

राष्ट्रके शुल्क-स्थान (प्रधान शहर और बड़े २ कृषिप्रधान ग्राम), जो कि न्यायसे सुरक्षित होते हैं (जहांपर अधिक टेक्स न लेकर न्यायोचित टेक्स लिया जाता हो तथा चोरों-आदि द्वारा चुराई हुई प्रजाकी धनादि वस्तु वापिस दे दी जाती हो) और जहांपर व्यापारियोंकी खरीदने और बेचने योग्य वस्तुओं (केसर, हींग वस्त्रादि) की अधिक संख्यामें दुकानें हों, वे राजाओंको कामधेनु समान अभिलषित वस्तु देने वाले होते हैं। क्योंकि शुल्कस्थानोंसे राजा टेक्सके जरिये प्रचुरसम्पत्ति संचय कर शिष्ट-पालन व दुष्टनिग्रहमें उपयोगी सैनिक-विभाग, शिक्षा वि..ग व स्वास्थ्य-विभाग आदिकी उन्नति करनेमें समर्थ होता है, एवं राष्ट्रको शत्रु-कृत उपद्रवोंसे सुरक्षित हुआ खजानेकी वृद्धि करता है। परन्तु शुल्कस्थान न्यायसे सुरक्षित होने चाहिये, अन्यथा प्रजा असंतुष्ट और क्षुब्ध हो जाती है, जिसका परिणाम भयङ्कर होता है—आयके द्वार रुक जानेसे कोष-क्षति व शत्रुकृत उपद्रवों द्वारा राज्य नष्ट होता है ॥२१॥

शुक्र[3] विद्वान्‌ने भी शुल्कस्थानोंको न्यायसे सुरक्षित रखनेके विषयमें इसी प्रकार कहा है ॥१॥

सेना व राजकोषकी वृद्धिके कारण, विद्वान् व ब्राह्मणोंको देने योग्य भूमि, भूमि-दान व तालाब दान आदिमें विशेषता अथवा वादविवादके उपरान्त न्यायोचित निर्णय—

राज्ञां चतुरंगबलाभिवृद्धये भूयांसो भक्ताग्रामाः ॥२२॥ सुमहच्च गोमण्डलं हिरण्याय युक्तं शुल्कं कोशवृद्धिहेतुः ॥२३॥ देवद्विजप्रदेया गोरुतप्रमाणा भूमिर्दातुरादातुश्च सुखनिर्वाहा ॥२४॥ क्षेत्रवप्रखण्डधर्मायतनानामुत्तरः पूर्वं बाधते न पुनरुत्तरं पूर्वः* ॥२५॥

---

१ तथा च गुरुः—मर्यादातिक्रमो यस्यां भूमौ राज्ञः प्रजायते। समृद्धापि च सा द्रव्यैर्जायतेऽरण्यसन्निभा ॥२॥

२ तथा च नारदः—[चिन्तनं क्षीण वित्तानां] स्वग्राहस्य विवर्जम्। युक्तदंडं च लोकानां परमं वृद्धिकारणम् ॥१॥
सशो० परि०।

३ तथा च शुक्रः—ग्राह्यं नैवाधिकं शुल्कं चौरैर्यच्चाहृतं भवेत्। पिण्डारं भूभुजा देयं वणिजां तत् स्वकोशतः ॥१॥

* इसके पश्चात् मू० प्रतियोंमें 'नामुद्रहस्तो०' 'श्रूयते हि किल०' व 'खेटकखड्ग०' इन तीनों सूत्रोंका उल्लेख है, जो कि सं० टी० पुस्तकके दुर्ग-समुद्देशमें वर्तमान है, उनका अनुवाद वहां किया जायेगा। इनके सिवाय मू० प्रतियोंमें 'न हि भर्तुरभियोगात् परः सर्वजनविशुद्धिहेतुरस्ति' इस प्रकारका अधिक पाठ वर्तमान है; जिसका अर्थ यह है कि राजा द्वारा दिये जाने वाले अपराधानुकूल दंड-विधान रूप न्यायसे राष्ट्रकी समस्त प्रजा विशुद्ध रहती है—नीति मार्ग पर आरूढ़ रहती है, इसके सिवाय प्रजाकी विशुद्धिका दूसरा कोई उपाय नहीं।

अर्थात्:—राजा ज्यादा धान्यकी उपजवाले बहुतसे ग्राम जो कि उसकी चतुरंग सेना (हाथी, घोड़ा, रथ और पैदल) की वृद्धिके कारण हैं, उन्हें किसी को न देवे ॥२२॥

शुक्र[1] विद्वान्के उद्धरणका भी यही अभिप्राय है ॥१॥

बहुतसा गोमण्डल—गाय-बैलोंका समूह, सुवर्ण और चुंगी-टैक्स (लगान) आदि द्वारा प्राप्त हुआ धन राज-कोषकी वृद्धिका कारण है ॥२३॥

गुरु[2] विद्वान्ने भी राजकोषकी वृद्धिके उक्त कारण निरूपण किये हैं ॥१॥

राजा द्वारा विद्वान् और ब्राह्मणोंके लिये इतनी थोड़ी भूमि दानमें दी जानी चाहिये, जिसमें गायके रम्हानेका शब्द सुनाई पड़े; क्योंकि इतनी थोड़ी भूमि देनेसे दाता और पात्र (ग्रहण करने वाला) को सुख मिलता है। अर्थात दाता भी दरिद्र नहीं होने पाता एवं कोई राजकीय अधिकारी उतनी थोड़ीसी जमीन पर कब्जा नहीं कर सकता ॥२४॥

गौतम[3] विद्वान्के उद्धरणका भी यही अभिप्राय है ॥१॥

क्षेत्र, तालाब, कोट, गृह और मन्दिरका दान इन पांच चीजोंके दानोंमें आगे आगेकी चीजोंका-दान पूर्वके दानको बाधित कर देता है। अर्थात हीन-(गौण) समझा जाता है। परन्तु पहिली वस्तुका दान आगेकी वस्तुके दानको हीन नहीं करता। अर्थात् क्षेत्र(खेत) के दानकी अपेक्षा तालाबका दान उत्तम है, इसी प्रकार तालाब-दानसे कोट-दान, कोट-दानसे गृह-दान और गृह-दानसे मन्दिर-दान उत्तम और मुख्य है। परन्तु आगेकी वस्तुओंके दानकी अपेक्षा पूर्व वस्तुका दान उत्तम या मुख्य नहीं है; क्योंकि आगे २ वस्तुओंका दान विशेष पुण्यबंधका कारण है।

(२)अर्थ—विशाल खाली पड़ी हुई किसी जमीन पर भिन्न २ पुरुषोंने भिन्न २ समयोंमें, खेत, कोट, घर और मन्दिर बनवाये पश्चात् उनमें अपने स्वामित्वके विषयमें वाद-विवाद उपस्थित हो गया। उनमेंसे धर्माध्यक्ष (न्यायाधीश) किसको अधिकारी (स्वामी) निश्चित करे? अर्थात् सबसे प्रथम किसी एक पुरुषने किसी स्थानकी भूमिको खाली पड़ी हुई देखकर वहां खेत बना लिये। पश्चात् दूसरेने उस पर कोट खड़ा कर दिया और तीसरेने उस पर मकान बनवा लिया, और चौथेने मन्दिर निर्माण करा दिया तत्पश्चात् उन सबका आपसमें वाद-विवाद प्रारम्भ हो गया। ऐसे अवसर पर आगे २ की वस्तु बनाने वाले मनुष्य न्यायोचित मुख्य अधिकारी समझे जांवेगे। अर्थात् खेत बनाने वालेकी अपेक्षा कोट बनाने वाला, कोट बनाने वालेकी अपेक्षा गृह बनाने लाला, और गृह बनाने वालेकी अपेक्षा मन्दिर बनाने वाला बलवान और प्रधान अधिकारी समझा जावेगा। परन्तु पूर्व २ की चीजें बनाने वाला नहीं

भावार्थ:—उनमेंसे मन्दिर बनाने वाला व्यक्तिका उस जमीन पर पूर्ण अधिकार समझा जावेगा। पूर्व वस्तु बनाने वालेका नहीं ॥२५॥

इति जनपद समुद्देश।

---

१ तथा च शुक्रः—चतुरंगवलं येषु भक्तग्रामेषु तृप्यति। वृद्धिं याति न देयास्ते कस्यचित् सस्यदा यतः ॥१॥

२ तथा च गुरुः—प्रभूता धेनुवो यस्य राष्ट्रे भूपस्य सर्वदा। हिरण्याय तथा च शुल्कं युक्तं कोशाभिवृद्धये ॥१॥

३ तथा च गौतमः—देवद्विजप्रदत्ता भूः प्रदत्ता लोपं नाप्नुयात्। दातुश्च ब्राह्मणस्यापि शुभा गोशब्द मात्रका ॥१॥

२० दुर्ग-समुद्देश

दुर्ग शब्दार्थ व उसके भेद—

यस्याभियोगात्परे दुःखं गच्छन्ति दुर्जनोद्योगविषया वा स्वस्यापदो गमयतीति दुर्गम् ॥१॥

तद्द्विविधं स्वाभाविकमाहार्यं च ॥२॥

अर्थः—क्योंकि जिसके पास प्राप्त होकर या जिसके सामने युद्ध के लिये बुलाये गये शत्रु लोग, दुःख अनुभव करते हैं। अथवा यह दुष्टों के उद्योग द्वारा उत्पन्न होने वाली विजिगीषु की आपत्तियां नष्ट करता है, इसलिये इसे "दुर्ग" कहते हैं। सारांश यह है कि जब विजिगीषु राजा अपने राज्य में शत्रु द्वारा हमला होने के अयोग्य विकट स्थान (किला, खाई आदि) बनवाता है, तब शत्रु लोग उन विकट स्थानों से दुःखी होते हैं, क्योंकि उनके हमले सफल नहीं हो पाते एवं दुष्टों द्वारा होने वाले आक्रमण संबन्धी विजिगीषु के कष्ट-नाशक होने से भी इसे "दुर्ग" कहते हैं ॥१॥

शुक्र[1] विद्वान् ने कहा है कि जिसके समीप प्राप्त होकर शत्रु दुःखी होते हैं व जो संकट पड़ने पर अपने स्वामी की रक्षा करता है, उसे 'दुर्ग' कहते हैं जिस प्रकार दंत-शून्य सर्प, मद-शून्य हाथी वश कर लिया जाता है, उसी प्रकार दुर्ग-शून्य राजा भी शत्रुओं द्वारा हमला करके वश कर लिया जाता है ॥२॥

जो दुर्ग देश के मध्य की सीमाओं पर बनाया जाता है उसकी विद्वान् लोग प्रशंसा करते हैं। परन्तु देश के प्रान्त भाग में बना हुआ दुर्ग अच्छा नहीं कहा जाता, क्योंकि वह मनुष्यों द्वारा पूर्णरूप से सुरक्षित नहीं होता ॥१॥

अर्थः—दुर्ग दो तरह के होते हैं—(१) स्वाभाविक (२) आहार्य।

स्वाभाविक दुर्ग—स्वयं उत्पन्न हुए, युद्धोपयोगी व शत्रुओं द्वारा आक्रमण करने के अयोग्य पर्वत-खाई आदि विकट स्थानों को स्वाभाविक दुर्ग कहते हैं।

अर्थशास्त्र-वेत्ता विद्वान् चाणक्य[2] ने इसके चार भेद निरूपण किये हैं।

(१) औदक—जलदुर्ग, (२) पार्वत—पर्वतदुर्ग, (३) धान्वन (४) वनदुर्ग—स्थलदुर्ग।

---

१ तथा च शुक्रः—यस्य दुर्गस्य संप्राप्तेः शत्रवो दुःखमाप्नुयुः। स्वामिनं रक्षयत्येव व्यसने दुर्गमेव तत् ॥१॥
दंष्ट्राविरहितः सर्पो यथा नागो मदच्युतः। दुर्गेण रहितो राजा तथा गम्यो भवेद्रिपोः ॥२॥
देशगर्भे तु यद्दुर्गं तद्दुर्गं शस्यते बुधैः। देशप्रान्तगतं दुर्गं न सर्वं रक्षितो जनैः ॥३॥

२ तथा च चाणक्यः—'अन्तर्द्वीपं स्थलं वा निम्नावरुद्धमौदकं, प्रस्तरं गुहां वा पार्वतं, निरुदकस्तम्बमिरिणं वा धान्वनं, खञ्जनोदकं स्तम्बगहनं वा वनदुर्गम्। कौटिलीय अर्थशास्त्र प्र० २१, सूत्र २।
'तेषां नदीपर्वतदुर्गं जनपदारक्षस्थानं धान्वनवनदुर्गमटवीस्थानं, आपद्यपसारो वा। कौटि० अर्थ २१ प्र० सूत्र ३।

औदक—चारों ओर नदियों से वेष्टित व मध्य में टापू समान विकट स्थान अथवा बड़े बड़े तालावों से वेष्टित मध्य स्थान को 'औदक' कहते हैं।

पार्वतः—वड़े २ पत्थरों या महान चट्टानों से घिरे हुए अथवा स्वयं गुफाओं के आकार बने हुए विकट स्थान 'पार्वत दुर्ग' हैं।

धान्वनः—जल व घास-शून्य भूमि या ऊपर जमीन में बने हुए विकट स्थान को 'धान्वन दुर्ग' कहते हैं।

वन दुर्गः—चारों ओर घनी कीचड़ से अथवा कांटेदार झाड़ियों से घिरे हुये स्थान को 'वनदुर्ग' कहते हैं।

जल-दुर्ग और पर्वत-दुर्ग देश रक्षा के एवं धान्वन और वन-दुर्ग आटविकों की रक्षा के स्थान हैं और राजा भी शत्रुकृत हमलों आदि आपत्ति के समय भागकर इन दुर्गों में आश्रय ले सकता है।

(२) आहार्यदुर्ग—कृत्रिम उपायों द्वारा बनाये हुए शत्रुओं द्वारा आक्रमण न किये जाने वाले, युद्धोपयोगी खाई-कोट आदि विकट स्थानों को 'आहार्य दुर्ग' कहते हैं।

दुर्ग-विभूति व दुर्ग-शून्य देश तथा राजा की हानि—

वैषम्यं पर्याप्तावकाशो यवसेन्धनोदकभूयस्त्वं स्वस्य परेषामभावो बहुधान्यरससंग्रहः प्रवेशापसारौ* वीरपुरुषा इति × दुर्गसम्पत् अन्यद्बन्दिशालावत् ॥३॥ अदुर्गो देशः कस्य नाम न परिभवास्पदं ॥४॥ अदुर्गस्य राज्ञः पयोधिमध्ये पोतच्युतपक्षिवदापदि नास्त्याश्रयः ॥५॥

अर्थः—निम्नप्रकार दुर्ग की विभूति—गुण है जिससे विजिगीषु शत्रुकृत उपद्रवों से अपना राष्ट्र सुरक्षित कर विजयश्री प्राप्त कर सकता है।

१—दुर्ग की जमीन—पर्वत आदि के कारण विषम—ऊंची-नीची व विस्तीर्ण (विस्तार युक्त) हो। २—जहांपर अपने स्वामी के लिये ही घास, ईंधन और जल वहुतायतसे प्राप्त हो सकें; परन्तु हमला करने वाले शत्रुओं के लिये नहीं। ३—जहां पर गेहूँ-चावल-आदि अन्न व नमक; तेल व घी वगैरह रसों का प्रचुर संग्रह हो। ४—जिसके पहिले दरवाजे से प्रचुर धान्य और रसों का प्रवेश एवं दूसरे से निकासी होती हो। ५—जहां पर बहादुर सैनिकों का पहरा हो। यह दुर्ग की सम्पत्ति जाननी चाहिये, जहां पर उक्त सम्पत्ति नहीं है, उसे दुर्ग न समझ कर जेलखाने का सामान अपने स्वामी का घातक समझना चाहिये ॥३॥

---

* प्रवेशापसारो' इसप्रकार मू० प्रतियोंमें पाठ है जिसका अर्थ यह है कि दुर्ग इतना मजबूत-दृढ़ व सैनिकों से व्याप्त हो जिसमें शत्रुओं का प्रवेश न हो सके।

× इसके पश्चात् 'प्रत्येकं प्राकारगिरिकुलबन्धनं दुर्गवर्यस्येति' इतना विशेष पाठ मू०प्रतियों में वर्तमान है, जिसका अर्थ यह है कि दुर्ग के प्रत्येक परकोटा में उक्त चीजें वर्तमान हों एवं वह ऊंचे २ पहाड़ों की शिखरों से व्याप्त होना चाहिये।

शुक्र[1] विद्वान् ने कहा है कि जिसमें एक द्वार से वस्तु-प्रवेश और दूसरे से निकासी न हो, वह दुर्ग नहीं जेलखाना है ॥१॥

दुर्गविहीन देश किसके पराजय का स्थान नहीं ? सभी के पराजय का स्थान है ॥४॥ आपत्तिकाल-में—शत्रुकृत आक्रमणों के समय दुर्ग शून्य राजाका समुद्र के मध्य में नौका से गिरे हुए पक्षीके समान कोई रक्षक नहीं। अर्थात् जिस प्रकार नौका से समुद्र में गिरे हुए पक्षी का कोई रक्षक नहीं, उसी प्रकार शत्रु-कृत आक्रमण द्वारा संकट में फंसे हुए दुर्ग-शून्य राजा का भी कोई रक्षक नहीं है ॥५॥

शुक्र[2] विद्वान् ने भी दुर्ग-शून्य राजा के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

शत्रु के दुर्ग को नष्ट करने का उपाय, दुर्ग के विषय में राज कर्तव्य व ऐतिहासिक दृष्टान्त—

उपायतोऽधिगमनमुपजापश्चिरानुवन्धोऽवस्कन्दतीक्ष्णपुरुषोपयोगश्चेति परदुर्गलंभोपायाः॥६॥ नामुद्रहस्तोऽशोधितो वा दुर्गमध्ये कश्चित् प्रविशेन्निर्गच्छेद्वा ॥७॥ श्रूयते किल हूणाधिपतिः पण्यपुटवाहिभिः सुभटैः चित्रकूटं जग्राह ॥८॥ खेटखड्गधरैः सेवार्थं शत्रुणा भद्राख्यं कांचीपतिमिति* ॥६॥

अर्थ—विजिगीषु को शत्रु दुर्ग का नाश या उसपर अपना अधिकार करने के लिये निम्नप्रकार उपाय काम में लाने चाहिये।

१—अधिगमन-सामादि उपायपूर्वक शत्रुदुर्ग पर शस्त्रादि से सुसज्जित सैन्य प्रविष्ट करना। २—उपजाप–विविध उपाय (सामादि) द्वारा शत्रु के अमात्य-आदि अधिकारियों में भेद करके शत्रु के प्रतिद्वन्दी बनाना। ३—चिरानुवन्ध–शत्रु के दुर्ग पर सैनिकों का चिरकालतक घेरा डालना। ४—अवस्कन्द—शत्रु दुर्ग के अधिकारियों को प्रचुर सम्पत्ति और मान देकर वश करना। ५—तीक्ष्णपुरुषप्रयोग–घातक गुप्तचरों को, शत्रु राजा के पास भेजना ॥६॥

शुक्र[3] विद्वान् ने कहा है कि विजिगीषु शत्रु दुर्ग को केवल युद्ध द्वारा ही नष्ट नहीं कर सकता, अतएव उसे उसके अधिकारियों में भेद आदि उपायों का प्रयोग करना चाहिये ॥१॥ दुर्ग में स्थित केवल एक धनुधारी सैकड़ों शक्तिशाली शत्रुओं को अपने वाणों का निशान बना सकता है, इसलिये दुर्ग में रहकर युद्ध किया जाता है ॥२॥

---

१ तथा च शुक्रः—न निर्गमः प्रवेशश्च यत्र दुर्गे प्रविद्यते। अन्यद्वारेण वस्तूनां न दुर्गं तद्धि गुप्तिदं ॥१॥

२ तथा च शुक्रः—दुर्गेण रहितो राजा पोतभ्रष्टो यथा खगः। समुद्रमध्ये स्थानं न लभते तद्वदेव सः ॥१॥

* 'खेटक-खड्गसहायश्च भद्रः कांचीपतिमिति' इसप्रकार का पाठान्तर मू० प्रतियों में वर्तमान है, जिसका अर्थ यह है, कि भद्र नामक राजा ने खड्गधारी सैनिकोंको शिकारियों के वेष में काञ्ची देश के दुर्ग में प्रविष्ट कराकर वहां के नरेश को मार डाला।

३ तथा च शुक्रः— न युद्धेन प्रशक्यं स्यात् परदुर्गं कथंचन। मुक्त्वा भेदाद्युपायांश्च तस्मात्तान् विनियोजयेत् ॥१॥
शतमेकोऽपि सन्धत्ते प्राकारस्थो धनुर्धरः। परेषामपि वीर्याढ्यं तस्माद् दुर्गेण युध्यते ॥२॥

विजिगीषु को, जिसके हाथ में राजमुद्रा नहीं दी गई हो ऐसे अज्ञात वा अपरीक्षित (जिसके निवास व गन्तव्य स्थान एवं उद्देश्य आदि की जांच पड़ताल नहीं की गई हो) व्यक्ति को अपने दुर्ग में प्रविष्ट नहीं होने देना चाहिये और न दुर्ग से वाहिर निकलने देना चाहिये ॥७॥

शुक्र[1] विद्वान् ने भी कहा है कि 'जिसके शासनकाल में दुर्ग में राजमुद्रा-विहीन व अपरीक्षित पुरुष प्रविष्ट हो जाते हैं अथवा वहां से वाहिर निकल आते हैं, उसका दुर्ग नष्ट हो जाता है ॥१॥"

इतिहास में लिखा है कि हूण देश के नरेश ने अपने सैनिकों को विक्रय योग्य वस्तुओं को धारण करने वाले व्यापारियों के वेश में दुर्ग में प्रविष्ट कराया और उनके द्वारा दुर्ग के स्वामी को मरवाकर चित्रकूट देशपर अपना अधिकार करलिया ॥८॥

इतिहास वताता है कि किसी शत्रु राजा ने कांची नरेश की सेवा के वहाने भेजे हुए शिकार खेलने में प्रवीण होने से खड्ग-धारण में अभ्यस्त सैनिकों को उसके देश में भेजा; जिन्होंने दुर्ग में प्रविष्ट होकर भद्रनाम के राजा को मारकर अपने स्वामी को कांची देश का अधिपति वनाया ॥६॥

जैमिनि[2] विद्वान् ने कहा है कि 'जो राजा अपने देश में प्रविष्ट हुए सेवकों पर विश्वास करता है, वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ॥१॥'

इति दुर्गसमुद्देश।

---

२१ कोश–समुद्देश

कोष शब्द की व्याख्या, उस के गुण व उसके विषय में राजकर्तव्य—

यो विपदि सम्पदि च स्वामिनस्तंत्राभ्युदयं कोशयतीति कोशः ॥१॥ सातिशयहिरण्यरजतप्रायो व्यावहारिकनाणकवहुलो महापदि व्ययसहश्चेति कोशगुणाः ॥२॥ कोशं वर्धयन्नुत्पन्नमर्थमुपयुञ्जीत ॥३॥

अर्थ— जो विपत्ति और संपत्ति के समय राजा के तंत्र (हाथी, घोड़े, रथ और प्यादे रूप चतुरङ्ग सेना), की वृद्धि करता है एवं उस को सुसंगठित करने के लिये धन-वृद्धि करता है; उसे कोश (खजाना) कहते हैं ॥१॥

शुक्र[3] विद्वान् ने भी कोश शब्द की यही व्याख्या की है ॥१॥

---

१ तथाच शुक्रः—प्रविशन्ति नरा यत्र दुर्गे मुद्राविवर्जिताः। अशुद्धा निःसरन्ति स्म तद्दुर्गं तस्य नश्यति ॥१॥
२ तथा च जैमिनिः—स्वदेशजेषु भृत्येषु विश्वासं यो नृपो व्रजेत्। स द्रुतं नाशमाप्नोति जैमिनिरित्थमब्रवीत् ॥१॥
३ तथा च शुक्रः— आपत्काले च सम्प्राप्ते सम्पत्काले विशेषतः। तन्त्रं विवर्धयते राज्ञां स कोशः परिकीर्तितः ॥१॥

अधिक तादाद में सोना व चांदी से युक्त जिसमें व्यवहार में चलने वाले रुपयों और अर्फियों-आदि सिक्कों का आधिक संग्रह पाया जावे और जो संकट समय, अधिक खर्च करनेमें समर्थ हो, ये कोषके गुण हैं। अर्थात् ऐसे खजानेसे राजा व राष्ट्र दोनोंका कल्याण होता है ॥२॥

गुरु[1] विद्वान् ने भी इसी प्रकार कोश-गुण निरूपण किये हैं ॥१॥

नीतिकार कामन्दक[2] ने भी कहा है, कि 'जो मोती सुवर्ण और रत्नों से भरपूर, पिता व पितामह से चला आने वाला न्याय से संचय किया हुआ व पुष्कल खर्च सहन करने वाला हो, उसे सम्पत्ति शास्त्र के विद्वानों ने 'कोश' कहा है ॥१॥ कोषवान्—धनाढ्य पुरुष को धर्म और धन की रक्षा के निमित्त एवं भृत्योंके भरण पोषणार्थ तथा आपत्तिसे बचाव करनेके लिये सदा कोश की रक्षा करनी चाहिये ॥२॥'

राजा अपना कोश बढाता हुआ टेक्स-आदि न्यायोचित उपायों द्वारा प्राप्त किये हुए धन में से कुछ धन उपयोग में लावे ॥३॥

वशिष्ठ[3] विद्वान् ने कहा है कि बुद्धिमान नरेशों को आपत्तिकाल को छोडकर राज्य रक्षक कोष की सदा वृद्धि करनी चाहिये, न कि हानि ॥१॥

कोशवृद्धि न करने वाले राजा का भविष्य, कोश का माहात्म्य व कोशविहीन राजा के दुष्कृत्य व विजयलक्ष्मी का स्वामी—

कुतस्तस्यायत्यां श्रेयांसि यः प्रत्यहं काकिण्यापि कोशं न वर्धयति ॥४॥ कोशो हि भूपतीनां जीवनं न प्राणाः ॥५॥ क्षीणकोशो हि राजा पौरजनपदानन्यायेन ग्रसते ततो राष्ट्रशून्यता स्यात् ॥६॥ कोशो राजेत्युच्यते न भूपतीनां शरीरं ॥७॥ यस्य हस्ते द्रव्यं स जयति ॥८॥

अर्थः— जो राजा सदा कौड़ी कौड़ी जोड़ कर भी, अपने कोश की वृद्धि नहीं करता, उसका भविष्य में किस प्रकार कल्याण हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता ॥४॥

गुरु[4] विद्वान्ने भी कोषवृद्धिके विषयमें इसी प्रकार कहा है ॥१॥

निश्चयसे कोषही राजाओंका जीवन—प्राण-रक्षाका साधन है; प्राण नहीं। सारांश यह है कि राज-तन्त्र कोषाश्रित है, इसके बिना वह नष्ट हो जाता है ॥५॥

---

१ तथा च गुरुः— आपत्काले तु सम्प्राप्ते बहुव्ययसहक्षमः। हिरण्यादिभिः संयुक्तः स कोशो गुणवान् स्मृतः ॥१॥

२ तथा च कामन्दकः— मुक्ताकनकरत्नाढ्यः पितृपैतामहोचितः। धर्मार्जितो व्ययसहः कोषः कोषज्ञसम्मतः ॥१॥
धर्महेतोस्तथार्थाय भृत्यानां भरणाय च। आपदर्थञ्च संरक्ष्यः कोषः कोषवता सदा ॥२॥

३ तथा च वशिष्ठः— कोशवृद्धिः सदा कार्या नैव हानिः कथंचन। आपत्कालादृते प्राज्ञैर्यत्कोशो राज्यरक्षकः ॥१॥

४ तथा च गुरुः—काकिण्यापि न वृद्धिं यः कोशं नयति भूमिपः। आपत्काले तु सम्प्राप्ते शत्रुभिः पीड्यते हि सः ॥१॥

भागुरि[1] विद्वानने लिखा है कि जिस प्रकार पक्षीगण कुलीन (पृथ्वीमें लीन) और ऊंचेभी पेड़को सूखा—फल-पुष्प विहीन देखकर दूसरे फल-पुष्पयुक्त पेड़ पर चले जाते हैं, उसी प्रकार राजकीय सेवक लोग—पदाधिकारी कुलीन और उन्नतिशील राजाको छोड़कर दूसरे (धनाढ्य) की सेवा करने लगते हैं ॥१॥

कोषविहीन राजा देशवासियोंके निर्दोष होने पर भी उन्हें अन्यायसे दण्डित कर जुर्माना आदि द्वारा उनसे प्रचुर धनराशि ग्रहण करनेको सतत प्रयत्नशील रहता है। जिसके फलस्वरूप अन्यायसे पीड़ित प्रजा वहांसे भग जाती है, जिससे राष्ट्रमें शून्यताहो जाती है। सारांश यह है कि राजाको न्यायोचित उपायों से कोष वृद्धि करते रहना चाहिये ॥६॥

गौतम[2] विद्वान्ने भी उपरोक्त कथनकी पुष्टि की है ॥१॥

नीतिज्ञ पुरुष राज-कोशको ही राजा मानते हैं, न कि उसके शरीरको। क्योंकि कोश-शून्य होनेसे वह शत्रुओं द्वारा पीड़ित किया जाता है ॥७॥

रैभ्य[3] विद्वान्ने भी इसी प्रकार कहा है ॥१॥

जिसके पास धन-राशि है वही विजयलक्ष्मी प्राप्त करता है ॥८॥

निर्धनकी कड़ी आलोचना, कुलीन होने पर भी सेवाके योग्य न माने जाने वाले राजाका वर्णन, धनका माहात्म्य, और मनुष्यकी कुलीनता और बड़प्पन व्यर्थ होनेके कारण—

धनहीनः कलत्रेणापि परित्यज्यते किं पुनर्नान्यैः॥६॥ न खलु कुलाचाराभ्यां पुरुषः सर्वोऽपि सेव्यतामेति किन्तु वित्तेनैव ॥१०॥ स खलु महान् कुलीनश्च यस्यास्ति धनमनूनं ॥११॥ किं तया कुलीनतया महत्तया वा या न सन्तर्पयति परान् ॥१२

अर्थ—निर्धनको, जबकि उसे स्वयं उसकी पत्नी भी छोड़ देती है, तो फिर सेवकों द्वारा उसे छोड़े जानेमें विशेषता ही क्या है ? सारांश यह है कि संकट पड़ने पर निर्धनकी कोई सहायता नहीं करता। अतः विवेकी पुरुषको न्यायोचित उपायों द्वारा धन-संचय करनेमें प्रयत्नशील रहना चाहिये ॥६॥

सेवक लोग कुलीन और सदाचारी होनेसे ही मनुष्यको श्रेष्ठ या सेवा-योग्य नहीं समझते बल्कि धनाढ्य होनेसे ही उसे श्रेष्ठ मानते हैं। संसारमें दरिद्र व्यक्तिके कितनेही कुलीन और सदाचारी होने पर उसकी सेवार्थ कोई प्रस्तुत नहीं होता, क्योंकि वहां जीविकोपार्जनका साधन (धन) नहीं है, जबकि नीच-कुलमें उत्पन्न और चारित्रभ्रष्ट होनेपर भी धनाढ्य व्यक्तिकी जीविका हेतु सभी लोग सेवा करते हैं। निष्कर्ष यह है कि कुलीन और सदाचारी होने पर भी राजाके लिये राज-तन्त्रको नियमित व व्यवस्थित रूपसे चलानेके लिये न्यायोचित उपायों द्वारा धन संग्रह कर कोष-वृद्धि करते रहना चाहिये ॥१०॥

---

१ तथा च भागुरिः—कोशहीनं नृपं भृत्या कुलीनमपि चोन्नतं। संत्यज्यान्यत्र गच्छन्ति शुष्कं वृक्षमिवाण्डजाः ॥१॥

२ तथा च गौतमः—कोशहीनो नृपो लोकान् निर्दोषानपि पीडयेत्। तेऽन्यदेशं ततो यान्ति ततः कोशं प्रकारयेत् ॥१॥

३ तथा च रैभ्यः—राजा शब्दोऽत्र कोशस्य न शरीरे नृपस्य च। कोशहीनो नृपो यस्माच्छत्रुभिः परिपीड्यते ॥१॥

व्यास[1] विद्वान्ने लिखा है कि संसारमें मनुष्य धनका नौकर है, धन किसीका नहीं। क्योंकि धनार्थ कुलीन व्यक्तिभी धनाढ्यकी सेवा करते हैं ॥१॥

जिसके पास प्रचुर धन विद्यमान है, वही महान् और कुलीन कहलाता है ॥११॥

जैमिनि[2] विद्वान्ने लिखा है कि संसारमें उच्च होनेपर भी धनहीन नीचकुलमें, और धनवान् नीच-कुलका होने परभी उच्चकुलमें गिना जाता है ॥१॥

जो आश्रितोंको सन्तुष्ट नहीं करपाता, उसकी निरर्थक कुलीनता और बड़प्पनसे कोई लाभ नहीं है। निष्कर्ष यह है कि पुरुष लोकमें अपनी कुलीनता व बड़प्पन धन द्वारा आश्रितों की रक्षा करनेके उपरान्तही कायम रख सकता है, अतएव धन-संग्रह अनिवार्य है। धनाढ्य पर कंजूस मनुष्यका बड़प्पन व्यर्थ है क्यों-कि उसके आश्रित उससे संतुष्ट नहीं रह पाते ॥१२॥

गर्ग[3] विद्वान्ने भी कृपणके विषयमें इसी प्रकार कहा है ॥१॥

उक्त बातका दृष्टान्त द्वारा समर्थन, व खाली खजानेकी वृद्धिका उपाय—

तस्य किं सरसो महत्वेन यत्र न जलानि ॥ १३ ॥ देवद्विजवणिजां धर्माध्वरपरिजनानुपयो-गिद्रव्यभागैराढ्यविधवानियोगिग्रामकूटगणिकासंघपाखण्डिविभवप्रत्यादानैः समृद्धपौरजानपदद्रविण संविभागप्रार्थनैरनुपक्षयश्रीकामंत्रिपुरोहितसामन्तभूपालानुनयग्रहागमनाभ्यां क्षीणकोशः कोशं कुर्यात् ॥ १४ ॥

अर्थ—उस तालावके विस्तीर्ण होनेसे क्या लाभ है ? जिसमें पर्याप्त जल नहीं परन्तु जलसे परि-पूर्ण छोटा तालाव भी इससे कहीं अधिक प्रशंसनीय है। उसी प्रकार मनुष्य कुलीनता आदि से बड़ा होने पर भी यदि दरिद्र है तो उसका वड़प्पन व्यर्थ है। अतः न्यायोचित साधनों द्वारा धन-संचय महत्वपूर्ण होता है ॥ १३ ॥

खाली खजानेको भरनेके लिये राजा निम्नलिखित चार उपाय उपयोगमें लावे—

(१) विद्वान् ब्राह्मण और व्यापारियोंसे उनके द्वारा संचित किये हुए धनमें से क्रमशः धर्मानुष्ठान यज्ञानुष्ठान और कौटुम्बिक-पालनके अतिरिक्त जो धन-राशि शेष बचे, उसे लेकर अपनी कोष-वृद्धि करे।

(२) धनाढ्यपुरुष, सन्तान-हीन धनाढ्य, विधवायें, धर्माध्यक्ष आदि ग्रामीण अधिकारीवर्ग, वेश्या-ओंका समूह और कापालिक आदि पाखंडी लोगोंके धनपर टेक्स लगाकर उनकी सम्पत्तिका कुछ अंश लेकर अपने कोशकी वृद्धि करे।

---

१ तथा च व्यासः—अर्थस्य पुरुषो दासो नार्थो दासोऽत्र कस्यचित्। अर्थार्थं येन सेव्यन्ते नीचा अपि कुलोद्भवैः ॥१॥

२ तथा च जैमिनिः—कुलीनोऽपि सुनीचोऽत्र यस्य नो विद्यते धनम्। अकुलीनोऽपि सद्वंश्यो यस्य सन्ति कपर्दिकाः ॥१॥

३ तथा च गर्गः—वृथा वद्धनिनां वित्तं यन्न पुष्टिं नयेत्परान्। कुलीनोऽपि हि किं तेन कृपणेन स्वभावतः ॥१॥

(३) सम्पत्तिशाली देशवासियोंकी प्रचुर धन-राशिका विभाजन करके उनके भली भांति निर्वाह योग्य छोड़कर, अवशिष्ट धनको उनसे प्रार्थना पूर्वक शान्तिके साथ लेकर अपने कोषकी वृद्धि करे।

(४) अचल सम्पत्तिशाली, मंत्री, पुरोहित और अधीनस्थ राजा लोगोंका अनुनय और विनय करके उनके घर जाकर उनसे धन-याचना करे और उस धनसे अपनी कोष-वृद्धि करे ॥ १४ ॥

शुक्र[1] विद्वान्ने भी राजकीय कोष-वृद्धिके विषयमें इसीप्रकार कहा है ॥ १ ॥

इति कोश-समुद्देश।

---

२२ बल-समुद्देश

बल शब्द की व्याख्या, प्रधान सैन्य, हस्तियों का माहात्म्य व उनकी युद्धोपयोगी प्रधान शक्ति—

द्रविणदानप्रियभाषणाभ्यामरातिनिवारणेन यद्धि हितं स्वामिनं सर्वावस्थासु बलते संवृणोतीति बलम् ॥१॥ बलेषु हस्तिनः प्रधानमंगं स्वैरवयवैरष्टायुधा हस्तिनो भवन्ति ॥२॥ हस्तिप्रधानो विजयो राज्ञां यदेकोऽपि हस्ती सहस्रं योधयति न सीदति प्रहारसहस्रेणापि ॥३॥ जातिः कुलं वनं प्रचारश्च न हस्तिनां प्रधानं किन्तु शरीरं बलं शौर्यं शिक्षा च तदुचिता च सामग्री सम्पत्तिः ॥ ४ ॥

अर्थ—जो शत्रुओंका निवारण करके धन-दान व मधुरभाषण द्वारा अपने स्वामी के सभी प्रयोजन सिद्ध करके उसका कल्याण करता है एवं उसे आपत्तियोंसे सुरक्षित रखकर शक्तिप्रदान करता है अतः उसे बल—सैन्य (हाथी, घोडे, रथ, पैदल रूप चतुरङ्ग सेना) कहते हैं ॥१॥

शुक्र[2] विद्वान् ने भी 'बल' शब्दकी यही व्याख्या की है ॥१॥

चतुरङ्ग सेनामें हाथी प्रधान माने जाते हैं, क्योंकि वे अष्टायुध हैं। अर्थात् वे अपने चारों पैरों, दो दाँत, पूंछ और सूंड रूप शस्त्रोंसे युद्ध में शत्रुओं का विनाश करते हुए विजय-श्री प्राप्त करते हैं। जबकि अन्य पैदल आदि सैनिक दूसरे खड्ग आदि हथियारोंके धारण करनेसे आयुधवान् (शस्त्रधारी) कहे जाते हैं।

पालकि[3] विद्वान् ने भी अष्टायुध हाथियों की प्रशंसा की है ॥१॥

---

१ देखो नीति० सं० टी० पृ० २०६।

२ तथा च शुक्रः—धनेन प्रियसंभाषैतश्चैवं पुराजितम्। आपद्भ्यः स्वामिनं रक्षेत्ततो बलमिति स्मृतम् ॥१॥

३ तथा च पालकिः—अष्टायुधो भवेद्दन्ती दन्ताभ्यां चरणैरपि। तथा च पुच्छशुण्डाभ्यां संख्ये तेन स शस्यते ॥१॥

राजाओंकी विजयके प्रधान कारण हाथीही होते हैं; क्योंकि युद्धभूमिमें वह शत्रुकृत हजारों प्रहारों से ताड़ित किये जाने परभी व्यथित न होकर अकेलाही हजारों सैनिकोंसे युद्ध करता रहता है ॥३॥

शुक्र[1] विद्वान्ने युद्धमें विजय-प्राप्तिका कारण हाथीही माना है ॥१॥

हाथी जाति, कुल, वन और प्रचारकेही कारण प्रधान नहीं माने जाते परन्तु निम्नलिखित चार गुणों से मुख्य माने जाते हैं—

(१) उनका शरीर हृष्ट-पुष्ट व शक्तिशाली होना चाहिये; क्योंकि यदि वे बलिष्ठ नहीं हैं और उनमें अन्य मन्द व मृग-आदि जाति, ऐरावत-आदि कुल, प्राच्य-आदि वन, पर्वत व नदी-आदि प्रचार के पाये जाने परभी वे युद्ध-भूमिमें विजयी नहीं होसकते। (२) शौर्य, पराक्रम—हाथियोंका पराक्रमी होना आत्यावश्यक है क्योंकि इसके विना आलसी हाथी अपने ऊपर आरूढ़ महावतके साथ २ युद्धभूमि में शत्रुओं द्वारा मारडाले जातेहैं। (३) उनमें युद्धोपयोगी शिक्षाका होनाभी अनिवार्य है, क्योंकि शिक्षित हाथी युद्धमें विजयी होतेहैं, जबकि अशिक्षित अपने साथ २ महावतको भी ले डूबता है और विगड़जाने पर उलटकर अपने स्वामीकी सेना कोभी रौंद डालता है। (४) युद्धोपयोगी कारण सामग्री रूप लक्ष्मी:—हाथियोंमें युद्धोपयोगी कर्तव्यशीलता आदि सामग्री (कठिन स्थानोंमें गमन करना, शत्रुसेना का उन्मूलन करना आदि) का होनाभी प्रधान है; क्योंकि इसके विना वे विजयश्री प्राप्त करानेमें असमर्थ होते हैं ॥४॥

वल्लभदेव[2] विद्वान् नेभी हाथीके शक्तिशाली होनेके विषयमें इसी प्रकार कहा है।

अशिक्षित हाथी व उनके गुण—

अशिक्षिता हस्तिनः केवलमर्थप्राणहराः ॥५॥ सुखेन यानमात्मरक्षा परपुरावमर्दनमरिव्यूह-विघातो जलेषु सेतुबन्धो वचनादन्यत्र सर्वविनोदहेतवश्चेति हस्तिगुणाः ॥६॥

अर्थ—युद्धोपयोगी शिक्षा-शून्य हाथी केवल अपने स्वामीका धन व महावत आदिके प्राण नष्ट कर देते हैं। क्योंकि उनके द्वारा विजय-लाभ रूप प्रयोजन-सिद्धि नहीं होतो, इससे वे निरर्थक घास व अन्न-आदि भक्षण द्वारा अपने स्वामीकी आर्थिक-क्षति करके अपने ऊपर आरूढ़ महावतके भी प्राण ले लेते हैं एवं विगड़ जाने पर उलट कर अपने स्वामीकी सेनाको भी रौंद डालते हैं ॥५॥

नारद[3] विद्वान्ने भी अशिक्षित हाथियोंके विषयमें इसी प्रकार कहा है ॥१॥

हाथियोंमें निम्न प्रकार गुण होते हैं। १ कठिन मार्गको सरलता पूर्वक पार कर जाना। २—शत्रु-कृत प्रहारोंसे अपनी तथा महावतकी रक्षा करना। ३—शत्रु-नगरका कोट व प्रवेश द्वार भङ्ग कर उसमें प्रविष्ट

---

१ तथा च शुक्रः—सहस्रं योधयत्येको यतो याति न च व्यथां। प्रहारैर्बहुभिर्लग्नैस्तस्माद्धस्तिमुखो जयः ॥१॥
२ तथा च वल्लभदेवः—जातिवंशवनभ्रान्तैर्बलैरेतैश्चतुर्विधैः। युक्तोऽपि बलहीनः स यदि पुष्टो भवेन्न च ॥१॥
३ तथा च नारदः—शिक्षाहीना गजा यस्य प्रभवन्ति महीभृतः। कुर्वन्ति धननाशं ते केवलं धनसंक्षयम् ॥१॥

होकर नेस्तनाबूद करना। ४-शत्रु के सैन्य-समूहको कुचलकर नष्ट करना। ५-नदीके जलमें एकसाथ कतार-वार खड़ेहोकर पुल बांधना। ६-केवल वचनालाप—बोलना छोड़कर अपने स्वामीके लिये सभी प्रकारके आनन्द उत्पन्न करना ॥६॥

भागुरि[1] विद्वान्ने भी हाथियोंके उक्त गुण निरूपण किये हैं ॥१॥

घोड़ोंकी सेना, उसका माहात्म्य व जात्यश्वका माहात्म्य—

अश्वबलं सैन्यस्य जंगमं प्रकारः ॥७॥ अश्वबलप्रधानस्य हि राज्ञः कदनकन्दुकक्रीड़ाः प्रसीदन्ति श्रियः, भवन्ति दूरस्था अपि शत्रवः करस्थाः। आपत्सु सर्वमनोरथ—सिद्धिस्तुरंगे एव, सरणमपसरणमवस्कन्दः परानीकभेदनं च तुरङ्गमसाध्यमेतत् ॥८॥ जात्यारूढो विजिगीषुः शत्रोर्भवति तत्तस्य गमनं नारातिर्ददाति ॥९॥ तर्जिका, (स्व) स्थलाणा करोखरा गाजिगाणा केकाणा पुष्टाहारा गव्हारा सादुयारा सिन्धुपारा जात्याश्वानां नवोत्पत्तिस्थानानि ॥१०॥

अर्थ—घोड़ोंकी सेना चतुरङ्ग सेनाका चलता फिरता भेद है, क्योंकि वे अत्यन्त चपल व वेगसे गमन करने वाले होते हैं ॥७॥

नारद[2] विद्वान्ने भी अश्व-सैन्यके विषयमें इसी प्रकार कहा है ॥१॥

जिस राजाके पास अश्व-सेना प्रधानतासे विद्यमान है, उस पर युद्ध रूपी गेंदसे क्रीड़ा करने वाली लक्ष्मी-विजयश्री प्रसन्न होती है जिसके फलस्वरूप उसे प्रचुर सम्पत्ति मिलती है। और दूरवर्ती शत्रु लोग भी निकटवर्ती हो जाते हैं। इसके द्वारा विजिगीषु आपत्तिकालमें अभिलषित पदार्थ प्राप्त करता है। शत्रुओं के सामने जाना और मौका पाकर वहांसे भाग जाना, छलसे उन पर हमला करना व शत्रु-सेनाको छिन्न-भिन्न कर देना, ये कार्य अश्व-सेना द्वाराही सिद्ध होते हैं रथादिसे नहीं ॥८॥

शुक्र[3] विद्वान्ने भी कहा है कि 'राजा लोग अश्व-सैन्य द्वारा देखने वालोंके समक्ष शत्रुओं पर हमला करने प्रस्थान कर दूरवर्ती शत्रुको मार डालते हैं ॥१॥

जो विजिगीषु जात्यश्व पर आरूढ़ होकर शत्रु पर हमला करता है, इससे उसकी विजय होती है और शत्रु विजयगीषु पर प्रहार नहीं कर सकता ॥९॥

जाति-अश्वके ९ उत्पत्ति स्थान—जातियां—हैं। १ तार्जिका, २ स्वस्थलाणा, ३ करोखरा, ४ गाजिगाणा, ५ केकाणा, ६ पुष्टाहारा, ७ गाव्हारा, सादुयारा व ९ सिन्धुपारा ॥१०॥

---

१ तथा च भागुरिः—सुखयानं सुरक्षा च शत्रोः पुरविभेदनम्। शत्रुव्यूहविघातश्च सेतुबन्धो गजैःस्मृतः॥१॥
२ तथा च नारदः—तुरंगमबलं यच्च तत्प्रकारो बलं स्मृतं। सैन्यस्य भूभुजा कार्य तस्मात्तद्वेगवत्तरम् ॥१॥
३ तथा च शुक्रः—प्रेक्षतामपि शत्रूणां यतो यान्ति तुरंगमैः। भूपाला येन निघ्नन्ति शत्रुं दूरेऽपि संस्थितम् ॥१॥

शालिहोत्र[1] विद्वान्ने भी अश्वोंकी ६ उक्त जातियोंका उल्लेख किया है ॥१॥

रथ-सैन्यका माहात्म्य, व सप्तम-उत्साहोसेना एवं उसके गुण—

समा भूमिधनुर्वेदविदो रथारूढ़ाः प्रहर्तारो यदा तदा किमसाध्यं नाम नृपाणाम् ॥११॥

रथैरवमर्दितं परबलं सुखेन जीयते मौल-भृत्यकभृत्यश्रेणी मित्राटविकेषु पूर्वं पूर्वं बलं यतेत १२

अथान्यत्सप्तममौत्साहिकं बलं यद्विजिगीषोर्विजययात्राकाले परराष्ट्रविलोडनार्थमेव मिलति क्षत्रसारत्वं शस्त्रज्ञत्वं शौर्यसारत्वमनुरक्तत्वं चेत्यौत्साहिकस्य गुणाः ॥१३॥

अर्थ—जब धनुर्विद्यामें प्रवीण धनुर्धारी योद्धागण रथारूढ़ होकर समतल युद्धभूमिमें शत्रुओं पर प्रहार करते हैं, तब विजिगीषु राजाओंको कोई भी चीज—विजय-लाभादि—असाध्य नहीं। सारांश यह है, कि समतलभूमि—गर्त-पाषाणादिरहित जमीन व प्रवीण योद्धाओंके होनेसे ही युद्धमें विजिगीषुको विजय श्री प्राप्त होती है। क्योंकि ऊबड़-खाबड़ भूमि और अकुशल योद्धाओंके कारण रथ-संचालन व युद्धादि भली भांति न होनेसे निश्चय ही हार होती है ॥१॥

शुक्र[2] विद्वान्के उद्धरणका भी यही आशय है ॥१॥

विजिगीषुके रथों द्वारा नष्ट-भ्रष्ट हुई शत्रुसेना आसानीसे जीती जाती है, परन्तु उसे मौल (वंशपरम्परा से चली आई, प्रामाणिक विश्वास-पात्र व युद्ध विद्या-विशारद पैदल सेना,) अधिकारी सैन्य, सामान्यसेवक, श्रेणी सेना, मित्र सेना व आटविकसैन्य इन छह प्रकारकी सेनामेंसे सबसे पहिले सारभूत सैन्य को युद्धमें सुसज्जित करनेका प्रयत्न करना चाहिये। क्योंकि फल्गुसैन्य (कमजोर, अविश्वासी, व युद्ध करनेमें अकुशल निस्सार सैन्य) द्वारा हार होना निश्चित रहता है ॥१२॥

विमर्श—नीतिकार चाणक्य[3] ने कहा है कि 'वंशपरम्परासे चली आने वाली, नित्य वशमें रहने वाली प्रामाणिक व विश्वास-पात्र पैदल सेना को 'सारबल' कहते हैं एवं गुणनिष्पन्न हाथियों व घोड़ोंकी सेना भी 'सारभूत सैन्य' है। अर्थात् कुल, जाति, धीरता, कार्य करने योग्य आयु, शारीरिक बल, आवश्यक ऊंचाई-चौड़ाई आदि, वेग, पराक्रम, युद्धोपयोगी शिक्षा, स्थिरता, सदा ऊपर मुंह उठाकर रहना, सवारकी आज्ञामें रहना व अन्य शुभलक्षण और शुभ चेष्टाएं, इत्यादि गुण-युक्त हाथी व घोड़ा का सैन्य भी 'सारबल' है। अतः विजिगीषु उक्त सारभूत सैन्य द्वारा शत्रुओंको सुखपूर्वक आसानीसे नष्ट करे।

---

१ तथा च शालिहोत्रम्:— तर्जिका स्वस्थलाणा सुलोखरास्थोत्तमा हयाः। गाजिगाणा सकेकाणाः पुष्टाहाराच मध्यमाः॥१
गान्धारा सादुयाराश्च सिन्धुपारा कनीयस्थाः। अश्वानां शलिहोत्रेण जातयो नव कीर्तिताः ॥२॥

२ तथा च शुक्रः—रथारूढाः सुधानुष्का भूमिभागे समे स्थिताः। युद्ध्यन्ते यस्य भूपस्य तस्यासाध्यं न किंचन ॥१॥

३ तथा च चाणिक्यः—दंडसंपत्सारबलं पुंसाम्। हस्त्यश्वयोर्विशेषः—कुलं जातिः सत्वं वयस्तथा प्राणोवर्ष्म जवस्तेजः शिल्पं स्थैर्यमुदग्रता। विधेयत्वं सुव्यञ्जनाचारतेति। कौटिलीये अर्थशास्त्र सांग्रामिक प्रक० ४ ४८६

नारद[1] विद्वान्ने भी सारभूत सेना को ही युद्धमें विजय प्राप्त करने का कारण माना है ॥१॥

उक्त छह प्रकारकी सेनाओंके सिवाय एक सातवीं उत्साही सेनाभी होती है। जब विजिगीषु शत्रु को जीतनेके लिये उसपर चतुरङ्ग सेना द्वारा प्रबल आक्रमण करता है, तब वह शत्रु-राष्ट्रको नष्ट-भ्रष्ट नेस्तनाबूद—करने व धन लूटनेके लिये इसकी सेनामें मिल जाती है। इसमें क्षात्र तेज-युक्त शस्त्र-विद्या-प्रवीण व इसमें अनुराग युक्त क्षत्रिय वीर पुरुष सैनिक होते हैं ॥१३॥

नारद विद्वान्ने भी उक्त गुणसम्पन्न सैन्य को सेना कहा है ॥१॥

औत्साहिक सैन्यके प्रति राज-कर्त्तव्य, प्रधान सेनाका माहात्म्य व स्वामि द्वारा सेवकोंको दिये हुये सम्मानका प्रभाव—

मौलबलाविरोधेनान्यद्बलमर्थमानाभ्यामनुगृह्णीयात् ॥१४॥ मौलाख्यमापद्यनुगच्छति दण्डितमपि न द्रुह्यति भवति चापरेषामभेद्यम् ॥१५॥ न तथार्थः पुरुषान् योधयति यथा स्वामिसम्मानः ॥१६॥

अर्थ—राजा अपने मौल सैन्य—प्रधान सैना—का अपमान न करके-धन-मानादि द्वारा अनुरक्त करके-उसके साथ २ उत्साही सैन्य (शत्रु पर आक्रमणार्थ अपनी ओर प्रविष्ट हुई अन्य राजकीयसेना) को भी धन व मान देकर प्रसन्न रक्खे ॥१४॥

वादरायण[2] विद्वान्ने भी मौल व औत्साहिक सैन्यको सन्तुष्ट रखनेके लिये इसी प्रकार कहा है ॥१॥

विजिगीषुका मौलसैन्य आपत्ति कालमें भी उसका साथ देता है और दण्डित किये जाने पर भी द्रोह नहीं करता, एवं शत्रुओं द्वारा फोड़ा नहीं जाता। अतः विजिगीषु उसे धन-मानादि देकर सदा सन्तुष्ट रक्खे ॥१५॥

वशिष्ठ[3] विद्वान्ने भी मौल सैन्य की यही विशेषता बताई है ॥१॥

जिस प्रकार राजासे दिया गया सन्मान सैनिकोंको युद्ध करनेमें प्रेरित करता है उस प्रकार दिया हुआ धन प्रेरित नहीं करता। अर्थात् सैनिकोंके लिये धन देनेकी अपेक्षा सन्मान देना कहीं ज्यादा श्रेयस्कर है ॥१६॥

नारायण[4] विद्वान्ने भी सैनिकोंको अनुरक्त रखनेका यही उपाय बताया है ॥१॥

---

१ तथा च नारदः—रथैरश्वमर्दितं पूर्वं परसैन्यं जयेन्नृपः। षड्भिर्बलैः समादिष्टैर्मौलाद्यैः सहसैन च ॥१॥

२ तथा च वादरायणः—अन्यद्बलं समायातमौत्सुक्यात् परनाशनं। दानमानेन तत्तोष्यं मौलसैन्याविरोधतः ॥१॥

३ तथा च वशिष्ठः—न दण्डितमपि स्वल्पं द्रोहं कुर्यात् कथंचन। मौलं बलं न भेद्यं च शत्रुवर्गेण जायते ॥१॥

४ तथा च नारायणः—न तथा पुरुषानर्थः प्रभूतोऽपि महाहवं। कारापयति योद्धृणां स्वामिसंभावना यथा ॥१॥

सेना के राज-विरुद्ध होने के कारण, स्वयं सैन्य की देखरेख न करने से हानि और दूसरों के द्वारा न कराने योग्य कार्य—

स्वयमनवेक्षणं देयांशहरणं कालयापना व्यसनाप्रतीकारो विशेषविधावसंभावनं च तंत्रस्य विरक्तिकारणानि ॥१७॥ स्वयमवेक्षणीयसैन्यं परैरवेक्षयन्नर्थतंत्राभ्यां परिहीयते ॥१८॥ आश्रितभरणे स्वामिसेवायां धर्मानुष्ठाने पुत्रोत्पादने च खलु न सन्ति प्रतिहस्ताः ॥१९॥

अर्थ—राजा के निम्न लिखित कार्यों से, उसकी सेना उसके विरुद्ध हो जाती है।

स्वयं अपनी सेनाकी देख रेख न करना, उनके देने योग्य वेतन मेंसे कुछ भाग हड़प कर लेना, आजीविका के योग्य वेतन को यथासमय ने देकर विलम्ब से देना, उन्हें विपत्तिग्रस्त देखकर भी सहायता न करना और विशेष अवसरों (पुत्रोत्पत्ति, विवाह व त्यौहार आदि खुशी के मौकों) पर उन्हें धनादि से सम्मानित न करना ॥१७॥ इसलिये राजा को समस्त प्रयत्नों से अपनी सेना को सन्तुष्ट रखना चाहिये।

भारद्वाज[1] विद्वान् ने भी राजा से सेना के विरुद्ध होने के उपरोक्त कारण बताये हैं ॥१॥

जो राजा आलस्यवश स्वयं अपने सैन्य की देखरेख न करके दूसरे धूर्तों से कराता है, वह निःसंदेह धन और सैन्य से रहित हो जाता है ॥१८॥

जैमिनि[2] विद्वान का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

नैतिक व्यक्ति को निश्चय से सेवकों का भरणपोषण, स्वामी की सेवा, धार्मिक कार्यों का अनुष्ठान और पुत्रों को उत्पन्न करना, ये चार बातें किसी दूसरे पुरुष से न कराकर स्वयं करना चाहिये ॥१९॥

शुक्र[3] विद्वान ने भी उपरोक्त कार्य दूसरों से न कराने के लिये लिखा है ॥१॥

सेवकों के लिये देने योग्य धन, वेतन प्राप्त न होने पर भी सेवकों का कर्तव्य और उक्त बात का दृष्टान्त द्वारा समर्थन :—

तावद्देयं यावदाश्रिताः सम्पूर्णतामाप्नुवन्ति ॥२०॥ न हि स्वं द्रव्यमव्ययमानो राजा दण्डनीयः ॥२१॥ को नाम सचेताः स्वगुडं चौर्यात्खादेत् ॥२२॥

अर्थ—स्वामीको अपने अधीन सेवकों के लिये इतना पर्याप्त धन देना चाहिये; जिससे वे सन्तुष्ट हो सकें ॥२०॥

शुक्र[4] विद्वान् ने भी सेवकों को आर्थिक कष्ट देने से राजा की हानि बताई है ॥१॥

१—देखिये नीतिवाक्यामृत पृ० २१३. श्लोक १ से ३ तक ;

२—तथा च जैमिनिः—स्वयं नालोकयेत्तंत्रं प्रमादाद्यो महीपतिः। तदन्यैःप्रेक्षितं धूर्तैर्विनश्यति न संशयः ॥१॥

३—तथा च शुक्रः—भृत्यानां पोषणं हस्ते स्वामिसेवाप्रयोजनम्। धर्मकृत्यं सुतोत्पत्तिं परपार्श्वान्न कारयेत् ॥१॥

४ तथा च शुक्रः—आश्रितायस्य सीदन्ते शत्रुस्तस्य महीपतेः। स सर्वैर्वञ्च्यते लोकैः कार्पण्याच्च सुदुःस्थितः ॥१॥

राजा, यदि सेवकों को अपना धन (वेतन आदि) नहीं देता, तोभी उन्हें उससे झगड़ा नहीं करना चाहिये ॥२०॥

शुक्र[1] विद्वान् काभी यही अभिप्राय है ॥१॥

जिस प्रकार स्वाभिमानी पुरुष अपने गुड़ को चोरी से नहीं खाता उसी प्रकार वह राजासे क्रोधित होकर अपनी हानि भी नहीं करवाना चाहता ॥२०॥

कृपण राजाके विषयमें दृष्टान्त, कड़ी आलोचना योग्य स्वामी और योग्यअयोग्यके विचारसे शून्य राजा की हानि—

किं तेन जलदेन यः काले न वर्षति ॥२३॥ स किं स्वामी य आश्रितेषु व्यसने न प्रविधत्ते ॥२४॥ अविशेषज्ञे राज्ञि को नाम तस्यार्थे प्राणव्यये नोत्सहेत ॥१५॥

अर्थ—उस मेघसे क्या लाभ है ? जो समय पर पानी नहीं वर्षाता उसी प्रकार जो समय पर अपने सेवकोंकी सहायता नहीं करता, वह स्वामी भी व्यर्थ है ॥२३॥

जो स्वामी संकटकालीन समयमें अपने आधीन सेवकोंकी सहायता नहीं करता वह निंद्य है ॥२४॥

जो राजा सेवकोंके गुणों और दोषोंको परखने में शून्य है, अर्थात् जो विश्वासी और अविश्वासी (मणि और कांच) में फर्क न जान कर दोनों के साथ समान व्यवहार करता है, उसके लिये कौन सेवक प्राणों का बलिदान करने के लिये युद्धभूमि में शत्रु से लड़ेगा ? अर्थात् कोई नहीं ॥२५॥

आंगिर[2] विद्वान्ने भी मणि और कांचमें फर्क न जानने वाले राजाकी उपरोक्त हानि निर्दिष्ट की है।

इति बलसमुद्देशः।

२३ मित्र-समुद्देश

मित्र का लक्षण व उसके भेद—

यः सम्पदीव विपद्यपि मेद्यति तन्मित्रम् ॥१॥ यः कारणमन्तरेण रक्ष्यो रक्षको वा भवति तन्नित्यं मित्रम् ॥२॥ तत्सहजं मित्रं यत्पूर्वपुरुषपरम्परायातः सम्बन्धः ॥३॥ यद्वृत्तिजीवितहेतोराश्रितं तत्कृत्रिमं मित्रम् ॥४॥

---

१ तथा च शुक्रः—वृत्यर्थं कलहः कार्यो न भृत्यैर्भूभुजा समं । यदि यच्छतिनो वृत्तिं नमस्कृत्य परित्यजेत् ॥१॥

२ तथा आंगिरः—काचो मणिर्मणिः काचो यस्य सम्भावनेदृशी । कस्तस्य भूपतेरग्रे संग्रामे निधनं व्रजेत् ॥१॥

अर्थ—जो पुरुष सम्पत्तिकालकी तरह विपत्तिकालमें भी स्नेह करता है उसे 'मित्र' कहते हैं। सारांश यह हैकि जो लोग सम्पत्तिकालमें स्वार्थ-वश स्नेह करते हैं और विपत्तिकालमें धोखा देते हैं वे मित्र नहीं किन्तु शत्रु हैं ॥१॥

जैमिनि[1] विद्वान्ने भी सम्पत्ति व विपत्तिकालमें स्नेह करनेवाले व्यक्तिको 'मित्र' कहा है ॥१॥

वे दोनों व्यक्ति परस्परमें नित्यमित्र होसकते हैं; जो शत्रुकृत-पीड़ा-आदि आपत्तिकालमें परस्पर एक दूसरेके द्वारा बचाये जाते हैं या बचाने वाले हैं ॥२॥

नारद[2] विद्वान्ने भी नित्यमित्रका यही लक्षण बताया है ॥१॥

वंशपरम्पराके सम्बन्धसे युक्त, भाई-आदि सहज मित्र हैं ॥३॥

भागुरि[3] विद्वान्ने भी सहजमित्रका यही लक्षण किया है ॥१॥

जो व्यक्ति अपनी उदरपूर्ति और प्राणरक्षाके लिये अपने स्वामीसे वेतनआदि लेकर स्नेह करता है, वह 'कृत्रिम मित्र' है। क्योंकि वह स्वार्थ-सिद्धिवश मित्रता करता है और जीविकोपयोगी वेतन न मिलने पर अपने स्वामीसे मित्रता करना छोड़ देता है ॥४॥

भारद्वाज[4] विद्वान्ने भी 'कृत्रिम मित्र' का यही लक्षण किया है ॥१॥

मित्र के गुण व उसके दोष, मित्रता-नाशक कार्य व निष्कपट मैत्रीका उज्ज्वल दृष्टान्त—

व्यसनेषूपस्थानमर्थेष्वविकल्पः स्त्रीषु परमं शौचं कोपप्रसादविषये वाप्रतिपत्तत्वमिति मित्र-गुणाः ॥५॥ दानेन प्रणयः स्वार्थपरत्वं विपद्युपेक्षणमहितसम्प्रयोगो विप्रलम्भनगर्भप्रश्र-यश्चेति मित्रदोषाः ॥६॥ स्त्रीसंगतिर्विवादोऽभीक्ष्णयाचनमप्रदानमर्थसम्बन्धः परोक्षदोषग्रहणं पैशून्याकर्णनं च मैत्रीभेदकारणानि ॥७॥ न क्षीरात् परं महदस्ति यत्संगतिमात्रेण करोति नीरमात्मसमं ॥८॥

मित्र के निम्नप्रकार गुण हैं—

अर्थ—जो संकट पड़ने पर मित्रके रक्षार्थ विना बुलाये उपस्थित होता हो, जो मित्रसे स्वार्थ-सिद्धि न चाहताहो अथवा जो उसके धनको छल-कपटसे हड़प करनेवाला न हो, जिसकी मित्रकी स्त्रीके प्रति दुर्भावना न हो, और मित्रके क्रुद्ध व प्रसन्न होने पर भी उससे ईर्ष्या न रखे ॥१॥

---

१ तथा च जैमिनिः—यत्समृद्धौ क्रियास्स्नेहं यद्वत्तद्वत्तथापदि। तन्मित्रं प्रोच्यते सद्भिर्वैपरीत्येन वैरिणः ॥१॥

२ तथा च नारदः—रक्ष्यते बध्यमानस्तु अन्यैर्निष्कारणं नरः। रक्षेद्वा बध्यमानं यत्तन्नित्यं मित्रमुच्यते ॥१॥

३ तथा च भागुरिः—सम्बन्धः पूर्वजानां यस्तेन योऽत्र समाययौ। मित्रत्वं कथितं तच्च सहजं मित्रमेव हि ॥१॥

४ तथा च भारद्वाजः—वृत्तिं गृह्णाति यः स्नेहं नरस्य कुरुते नरः। तन्मित्रं कृत्रिमं प्राहुर्नीतिशारदविदो जनाः ॥१॥

नारद[1] विद्वान्ने भी संकटमें सहायता करना-आदि मित्रके गुण बताये हैं ॥१॥

मित्र-द्वारा धनादि प्राप्त होने पर स्नेह करना, स्वार्थ-सिद्धिमें लीन रहना, विपत्तिकालमें सहायता न करना, मित्रके शत्रुओंसे जा मिलना, छल-कपट और धोखेबाजी से युक्त ऊपरी नम्रता प्रदर्शित करना और मित्रके गुणोंकी प्रशंसा न करना, ये मित्रके दोष हैं ॥६॥

रैभ्य[2] विद्वान्ने भी इसी प्रकार मित्रके दोष प्रगट किये हैं ॥१॥

मित्रकी स्त्री पर कुदृष्टि रखना, मित्रसे वाद-विवाद करना, सदा उससे धनादि मांगना, पर अपना कभी न देना, आपसमें लेन-देनका सम्बन्ध रखना, मित्रकी निन्दा व चुगली करना, इन बातोंसे मित्रता भंग (नष्ट) होजाती है ॥७॥

शुक्र[3] विद्वानने भी मित्रता-नाशक यही कार्य बताये हैं ॥१॥

पानीका, दूधको छोड़कर दूसरा कोई पदार्थ उत्तम मित्र नहीं, क्योंकि वह अपनी संगतिमात्रसे पानीको अपने समान गुण-युक्त बना देता है। उसी प्रकार मनुष्यको ऐसे उत्तम पुरुषकी संगति करनी चाहिये जो उसे अपने समान गुणयुक्त बना सके ॥८॥

गौतम[4] विद्वान्का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

मैत्रीकी आदर्श परीक्षा, प्रत्युपकारकी दुर्लभता व दृष्टान्त द्वारा समर्थन—

न नीरात्परं महदस्ति यन्मिलितमेव संवर्धयति रक्षति च स्वक्षयेण क्षीरम् ॥९॥ येन केनाप्युपकारेण तिर्यंचोऽपि प्रत्युपकारिणोऽव्यभिचारिणश्च न पुनः प्रायेण मनुष्याः ॥१०॥ तथा चोपाख्यानकं—अटव्यां किलान्धकूपे पतितेषु कपिसर्पसिंहाक्षशालिकसौवर्णिकेषु कृतोपकारः कंकायननामा कश्चित्पान्थो विशालायां पुरि तस्मादक्षशालिकाद्व्यापादनमवाप नाडीजंघश्च गोतमादिति ॥११॥

अर्थ—पानीको छोड़कर दूसरा कोई पदार्थ दूधका सच्चा मित्र नहीं, जो मिलने मात्र सेही उसकी वृद्धि कर देता है और अग्निपरीक्षाके समय अपना नाश करके भी दूधकी रक्षा करता है ॥९॥

भागुरि विद्वान्ने भी पानीको दूधका सच्चा मित्र बताया है ॥१॥

संसारमें पशुगणभी उपकारीके प्रति कृतज्ञ व विरुद्ध न चलनेवाले होते हैं, न कि कृतघ्न पर

---

१ तथा च नारदः—आपत्काले च सम्प्राप्ते कार्ये च महति स्थिते। कोपे प्रसादनं नेच्छेन्मित्रस्येति गुणाः स्मृताः ॥१॥

२ तथा च रैभ्यः—दानस्नेहो निजार्थत्वमुपेक्षा व्यसनेषु च। वैरिसंगो प्रशंसा च मित्रदोषाः प्रकीर्तिताः ॥१॥

३ तथा च शुक्रः—स्त्रीसंगतिर्विवादोऽथ सदार्थित्वमदानता। स्वसम्बन्धस्तथा निन्दा पैशून्यं मित्रवैरिता ॥१॥

४ तथा च गौतमः—गुणहीनोऽपि चेत्संगं करोति गुणिभिः सह। गुणवान् मन्यते लोकैर्दुग्धाढ्यं कं यथा पयः ॥२॥

मनुष्य प्रायः इसके विपरीत चलनेवाले भी देखे जाते हैं—वे उपकारीके प्रति भी कभी-कभी कृतघ्नता कर डालते हैं ॥१०॥

इतिहास बताता है कि एक समय किसी अटवी (वनी) के घास वगैरहसे आच्छादित अन्धकूपमें भाग्यसे प्रेरितहुए बन्दर, सर्प और शेर ये तीनों जीवजन्तु व आक्षशालिक—एक जुआरी व सुनार ये दोनों पुरुष गिर पड़े। पश्चात् किसी कांकायन नामके पान्थने उन्हें उस अन्धकूपसे बाहिर निकाला। उपकृत हुए उन पाचोंमें से वन्दर, सर्प, शेर व सुनार उसका अनिष्ट न कर उसकी आज्ञोपरान्त अपने २ निर्दिष्ट स्थानको चले गए। जुआरी कृतघ्नी होनेके कारण उस पान्थसे कपटपूर्ण व्यवहारोंसे मित्रता कर उसके धनको हरण करनेकी इच्छासे उसके साथ हो लिया और अनेक ग्रामों व नगरोंमें भ्रमण करता रहा। पश्चात् एक समय विशाला नामकी नगरीके शून्य मन्दिरमें जबकि पान्थ सो रहा था, तब इस जुआरीने मौका पाकर उसके धनको हरण कर लिया। इससे सिद्ध होता है कि तिर्यंच भी कृतज्ञ होते हैं पर मनुष्य कभी २ इसके विपरीत कृतघ्नी भी होते देखे गये हैं।

इसी प्रकार गौतम नामके किसी तपस्वी ने नाड़ीजंघ नामके उपकारीको स्वार्थवश मार डाला। (यह कथानक अन्य ग्रन्थों से जान लेना चाहिये) ॥११॥

इति मित्रसमुद्देश।

---

२४ राजरक्षा-समुद्देश
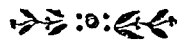
राजा की रक्षा, उसका उपाय, अपनी रक्षार्थ पासमें रखने के योग्य व अयोग्य पुरुष—

राज्ञि रक्षिते सर्वं रक्षितं भवत्यतःस्वेभ्यः परेभ्यश्च नित्यं राजा रक्षितव्यः ॥१॥ अतएवोक्तं नयविद्भिः—पितृपैतामहं महासम्बन्धानुबद्धं शिक्षितमनुरक्तं कृतकर्मणं च जनं आसन्नं कुर्वीत ॥२॥ अन्यदेशीयमकृतार्थमानं स्वदेशीयं चापकृत्योपगृहीतमासन्नं न कुर्वीत ॥३॥ चित्तविकृतेर्नास्त्यविषयः किन्न भवति मातापि राक्षसी ॥४॥

अर्थ—राजा की रक्षा होनेसे समस्त राष्ट्र सुरक्षित रहता है, इसलिये उसे अपने कुटुम्बियों तथा शत्रुओं से सदा अपनी रक्षा करनी चाहिये ॥१॥

रैभ्य[1] विद्वान् ने भी राज-रक्षा के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

इसलिये नीतिज्ञोंने कहा है कि राजा अपनी रक्षार्थ ऐसे पुरुषको नियुक्त करे, जो उसके वंशका

---

१ तथा च रैभ्यः—रक्षिते भूमिनाथे तु आत्मीयेभ्यः सदैव हि। परेभ्यश्च ततस्तस्य रक्षा देशस्य जायते ॥१॥

(भाई-वगैरह) हो अथवा वैवाहिक सम्वन्धसे वंधा हुआ—साला वगैरह हो, और वह नीतिशास्त्र का वेत्ता राजा से अनुराग रखनेवाला और राजकीय कर्तव्योंमें कुशल हो ॥२॥

गुरु[१] विद्वानने भी राजाकी शरीर रक्षार्थ यही कहा है ॥१॥

राजा, विदेशी पुरुष को, जिसे धन व मान देकर सन्मानित न किया गया हो और पूर्व में सजा पाये हुए स्वदेशवासी व्यक्तिको जो कि वाद में अधिकारी वनाया गया हो, अपनी रक्षार्थ नियुक्त न करे; क्योंकि असन्मानित व दण्डित व्यक्ति द्वेषयुक्त होकर उससे वदला लेनेकी कुचेष्टा करेगा ॥३॥

शुक्र[२] विद्वान्के संगृहीत श्लोकोंका भी यही अभिप्राय है ॥१—२॥

विकृत—दुष्ट—चित्तवाला पापीपुरुष कौन २ से अनर्थों में प्रवृत्ति नहीं करता ? अर्थात् सभी में प्रवृत्ति करता है, अत्यन्त स्नेहमयी माता भी विकृत—द्वेष युक्त हो जाने पर क्या राक्षसी (हत्यारी) नहीं होती ? अवश्य होती है ॥४॥

शुक्र[३] विद्वान् ने भी विकृत चित्त वाले पुरुषके विषय में इसीप्रकार कहा है ॥१॥

स्वामीसे रहित अमात्य-आदिकी हानि, आयु-शून्य पुरुष, राज-कर्तव्य (आत्मरक्षा) व, स्त्री-सुखार्थ प्रवृत्ति व जिसका धन-संग्रह निष्फल है:—

अस्वामिकाः प्रकृतयः समृद्धा अपि निस्तरीतुं न शक्नुवन्ति ॥५॥ देहिनि गतायुषि सकलांगे किं करोति धन्वन्तरिरपि वैद्यः ॥६॥ राज्ञस्तावदासन्ना स्त्रिय आसन्नतरा दायादा आसन्नतमाश्च पुत्रास्ततो राज्ञः प्रथमं स्त्रीभ्यो रक्षणं ततो दायादेभ्यस्ततः पुत्रेभ्यः ॥७॥ आवष्ठादाचक्रवर्तिनः सर्वोऽपि स्त्रीसुखाय क्लिश्यति ॥८॥ निवृत्तस्त्रीसंगस्य धनपरिग्रहो मृतमण्डनमिव ॥९॥

अर्थः—प्रकृतिवर्ग (मंत्री व सेनापति-आदि राजकर्मचारी) समृद्धिशाली होकरके भी जव राजा से रहित होते हैं, तव आपत्ति को पार नहीं कर सकते—शत्रुओं द्वारा होनेवाले संकटोंसे राष्ट्र का वचाव नहीं कर सकते ॥५॥

वशिष्ठ[४] विद्वान्ने भी उक्त वात का समर्थन किया है ॥१॥

जिसकी आयु वाकी नहीं है, वह सकल अङ्गोपांगों, या ७२ कलाओं से युक्त होने पर भी धन्व-

---

१ तथा च गुरुः—वंशजं च सुसम्वन्ध शिक्षितं राजसंयुतं । कृतकर्म जनं पार्श्वे रक्षार्थं धारयेन्नृपः ॥१॥

२ तथा च शुक्रः—नियोगिनं, समीपस्थं दंडयित्वा न धारयेत् । दण्डको यो न वित्तस्य वाधा चित्तस्य जायते ॥१॥
अन्यदेशोद्भवं लोकं समीपस्थं न धारयेत् । अपूजितं स्वदेशीयं वा विरुद्ध्य प्रपूजितं ॥२॥

३ तथा च शुक्रः—यस्य चित्ते विकारः स्यात् सर्वं पापं करोति सः । जातं हन्ति सुखं माता शाकिनीं मार्गमाश्रिता ॥१॥

४ तथा च वशिष्ठः—राजप्रकृतयो नैव स्वामिना रहिताः सदा । गन्तुं निर्वाहणं यद्वत् स्त्रियः कान्तविवर्जिताः ॥१॥

न्तरि समान अति निपुण वैद्य के द्वारा भी नहीं बचाया जा सकता। सारांश यह है कि जिसप्रकार जीवन रक्षामें आयु मुख्य है, उसीप्रकार राष्ट्रके सात अंगों (स्वामी, मंत्री, राज्य, किला, खजाना, सेना व मित्र-वर्गमें राजाकी प्रधानता है, अतः सबसे प्रथम उसे अपनी रक्षा करनी चाहिये ॥६॥

व्यास[1] ने भी कहा है कि 'काल-पीड़ित पुरुष मंत्र, तप, दान, वैद्य व औषधि द्वारा नहीं बचाया जासकता ॥१॥

राजाके पास रहनेवाली स्त्रियां होती हैं और विशेष तौर से पास रहनेवाले कुटुम्बीजन व पुत्र होते हैं; इसलिये उसे सबसे पहिले स्त्रियोंसे पश्चात् कुटुम्बियों और पुत्रोंसे अपनी रक्षा करनी चाहिये ॥७॥

संसार में निकृष्ट—लकड़हारा-आदि जघन्य—पुरुषसे लेकर चक्रवर्ती पर्यन्त सभी मनुष्य स्त्री-सुख प्राप्त करनेके लिये, कृषि व व्यापार आदि जीविकोपयोगी कार्य करके क्लेश उठाते हैं, पश्चात् धन-संचय द्वारा स्त्री-सुख प्राप्त करते हैं ॥८॥

गर्ग [2] विद्वान् का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

जिस प्रकार मुर्देको वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत करना व्यर्थ है, उसीप्रकार स्त्री-रहित पुरुषका धन-संचय करना व्यर्थ है ॥६॥

वल्लभदेव [3] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

स्त्रियोंकी प्रकृति वा स्वरूपः—

सर्वाः स्त्रियः क्षीरोदवेला इव विषामृतस्थानम् ॥१०॥ मकरदंष्ट्रा इव स्त्रियः स्वभावादेव वक्रशीलाः ॥११॥ स्त्रीणां वशोपायो देवानामपि दुर्लभः ॥१२॥ कलत्रं रूपवत्सुभगमनवद्याचारमपत्यवदिति महतः पुण्यस्य फलम् ॥१३॥ कामदेवोत्संगस्थापि स्त्री पुरुषान्तरमभिलषति च ॥१४॥ न मोहो लज्जा भयं स्त्रीणां रक्षणं किन्तु परपुरुषादर्शनं संभोगः सर्वसाधारणताच ॥१५॥

अर्थ—जिस प्रकार क्षीर समुद्रकी लहरोंमें विष व अमृत दोनों पाये जाते हैं उसी प्रकार स्त्रियों में भी विष (दुःख देना) और अमृत (सुख देना) या क्रूरता एवं मृदुता ये दोनों दोष व गुण पाये जाते हैं; क्योंकि प्रतिकूल स्त्री हानिकारक एवं अनुकूल सुख देने वाली होती है ॥१०॥

वल्लभदेव[4] ने भी स्त्रियों को इसीप्रकार विष व अमृत-तुल्य बताया है ॥१॥

---

१ तथा च व्यासः—न मंत्रा न तपो दानं न वैद्यो न च भेषजं। शक्नुवन्ति परित्रातुं नरं कालेन पीडितम् ॥१॥

२ तथा च गर्गः—कृषिं सेवां विदेशं च युद्धं वाणिज्यमेव च। सर्वं स्त्रीणां सुखार्थाय स सर्वो कुरुते जनः ॥१॥

३ तथा च वल्लभदेवः—प्रभूतमपि चेद्वित्तं पुरुषस्य स्त्रियं विना। मृतस्य मण्डनं यद्वत् तत्तस्य व्यर्थमेव हि ॥१॥

४ तथा च वल्लभदेवः—नामृतं न विषं किंचिदेकां मुक्त्वा नितम्बिनीम्। विरक्ता मारयेदस्मात्सुखायत्यनुरागिणी ॥१॥

जिसप्रकार मगरकी डाढें स्वभावतः कुटिल होती हैं; उसीप्रकार स्त्रियां भी स्वभावतः कुटिल होती हैं ॥११॥

वल्लभदेव[1] विद्वान्ने भी स्त्रियोंको स्वभावतः कुटिल व भयंकर बताया है ॥१॥

विरुद्ध हुई स्त्रियों को वशीभूत करनेका उपाय देवता भी नहीं जानते ॥१२॥

वल्लभदेव[2] विद्वानने भी इसीप्रकार कहा है ॥१॥

रूपवती, सौभाग्यवती, पतिव्रता, सदाचारिणी एवं पुत्रवती स्त्री पूर्वजन्म-कृत महान पुण्य से प्राप्त होती है ॥१३॥

चारायण[3] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

चंचल प्रकृति वाली स्त्री कामदेवके समान सुन्दर पतिके पास रहकर भी दूसरे पुरुषकी कामना करती है ॥१४॥

नारद[4] विद्वान्ने भी चंचल प्रकृति वाली स्त्री को कुपथगामिनी बताया है।

पर-पुरुषसे सम्पर्क न रखने वाली, पतिद्वारा काम सेवन-सुख व अभिलषित वस्तुएं प्राप्त करने-वाली और ईर्ष्याहीन पतिवाली स्त्री सदाचारिणी (पतिव्रता) रह सकती है, पर स्नेह, लज्जा और डर रखने वाली नहीं ॥१५॥

जैमिनि[5] विद्वान् का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

स्त्रियोंको अनुकूल रखनेका उपाय, विवाहित व कुरूप स्त्रियों के साथ पति-कर्तव्य, स्त्रीसेवन का निश्चित समय, ऋतु कालमें स्त्रियों की उपेक्षासे हानि, व स्त्री रक्षा—

दानदर्शनाभ्यां समवृत्तौ हि पुंसि नापराध्यन्ते स्त्रियः ॥१६॥ परिगृहीतासु स्त्रीषु प्रियाप्रियत्वं न मन्येत ॥१७॥ कारणवशान्निम्बोऽप्यनुभूयते एव ॥१८॥ चतुर्थदिवसस्नाता स्त्री तीर्थं तीर्थोपराधो महानधर्मानुबन्धः ॥१९॥ ऋतावपि स्त्रियमुपेक्षमाणः पितॄणामृणभाजनं ॥२०॥ अवरुद्धाः स्त्रियः स्वयं नश्यन्ति स्वामिनं वा नाशयन्ति ॥२१॥ न स्त्रीणामकर्तव्ये मर्यादास्ति वरमविवाहो नोढोपेक्षणं ॥२२॥ अकृतरक्षस्य किं कलत्रेणाकृषतः किं क्षेत्रेण ॥२३॥

अर्थ—जिन स्त्रियों का पति दान (वस्त्राभूषण-आदि का देना) व दर्शन—प्रेम पूर्ण दृष्टि द्वारा

---

१ तथा च वल्लभदेवः—स्त्रियोऽतिवक्रतायुक्ता यथा दंष्ट्रा झषोद्भवाः। ऋजुत्वं नाधिगच्छन्ति तीक्ष्णत्वादति भीषणाः ॥१॥

२ तथा च वल्लभदेवः—चतुरः सृजता पूर्वमुपायांस्तेन वेधसा। न सृष्टःपंचमः कोऽपि गृह्यन्ते येन योषितः ॥१॥

३ तथा च चारायणः—सुरूपं सुभगं यद्वा सुचरित्रं सुतान्वितं। यस्येदृशं कलत्रं स्यात्पूर्वपुण्यफलं हि तत् ॥१॥

४ तथा च नारदः—कामदेवोपमं त्यक्त्वा मुखप्रेक्ष्यं निजं पतिं। चापल्याद्वाञ्छते नारी विरूपांगमपीतरम् ॥१॥

५ तथा च जैमिनिः—अन्यस्यादर्शनं कोपात् प्रसादःकामसंभवः। सर्वासामेव नारीणामेतद्रक्षात्रयं मतम् ॥१॥

सबके साथ पक्षपात-रहित एकसा बर्ताव करता है, उससे वे वैर-विरोध नहीं करतीं—उसके वशमें रहती हैं ॥१६॥

नारद[1] विद्वान्‌ने भी स्त्रियोंको अनुकूल रखनेके यही उपाय बताये हैं ॥१॥

नैतिक पुरुष अपनी विवाहित सुन्दर पत्नियों से प्रेम व कुरूप स्त्रियों से ईर्ष्या न करे—पक्षपात-रहित एक सा व्यवहार रक्खे, अन्यथा कुरूप स्त्रियां विरुद्ध होकर उसका अनिष्ट-चिन्तवन करने लगती हैं ॥१७॥

भागुरि[2] विद्वान् ने भी विवाहित स्त्रियोंके साथ पक्षपात-रहित (एकसा) बर्ताव करने के लिये लिखा है ॥१॥

जिसप्रकार रोग-निवृत्तिके लिये कडुवो नीम औषधिके रूपमें सेवन की जाती है, उसी प्रकार अपनी रक्षा-आदि प्रयोजनवश कुरूप स्त्री भी उपभोग की जाती है ॥१८॥

भारद्वाज[3] विद्वान्‌का भी इस विषय में यही मत है ॥१॥

रजःस्रावके पश्चात् चौथे दिन स्नान की हुई स्त्री तीर्थ—शुद्ध (उपभोग करने योग्य) मानी गई है, उस समय जो व्यक्ति उसका त्याग कर देता है—सेवन नहीं करता वह अधर्मी है। क्योंकि उसने गर्भधारणमें बाधा उपस्थित कर धर्मपरम्पराको अक्षुण्ण चलानेवाली एवं वंश—वृद्धिमें सहायक सज्जाति (कुलीन) संतानोत्पत्तिमें बाधा उपस्थित की, अतएव चौथे दिन स्नान की हुई स्त्री की उपेक्षा न करनी चाहिये ॥१६॥

ऋतु-स्नात—चौथे दिन स्नान हुई अपनी स्त्रीकी उपेक्षा करने वाला व्यक्ति सन्तानोत्पत्ति में बाधक होने से अपने पूर्वजों का ऋणी है ॥२०॥

ऋतुकालमें भी सेवन न की जाने वाली स्त्रियां अपना वा अपने पतिका अनिष्ट कर बैठती हैं ॥२१

गर्ग[4] विद्वान् ने भी यही कहा है ॥१॥

विरुद्ध स्त्रियां अपनी मर्यादा का उल्लंघन कर अनर्थ कर बैठती हैं, अतएव ऋतुकालमें विवाहित स्त्रियोंका त्याग करने की अपेक्षा उनसे विवाह न करना ही कहीं अधिक श्रेष्ठ है ॥२२॥

भार्गव[5] विद्वान् के संगृहीत श्लोकका भी यही अभिप्राय है ॥१॥

जिसप्रकार बिना जोतने-बोनेवाले कृषक के लिये खेत व्यर्थ है, उसी प्रकार ऋतुकालमें स्त्रीका

---

१ तथा च नारदः—दानदर्शनसंभोगं समं स्त्रीषु करोति यः। प्रसादेन विशेषं च न विरुध्यन्ति तस्य ताः ॥१॥

२ तथा च भागुरिः—समत्वेनैव दृष्टव्या याः स्त्रियोऽत्र विवाहिताः। विशेषो नैव कर्तव्यो नरेण श्रियमिच्छता ॥१॥

३ तथा च भारद्वाजः—दुर्भगापि विरूपापि सेव्या कान्तेन कामिनी। यथौषधकृते निंबः कटुकोऽपि प्रदीयते ॥१॥

४ तथा च गर्गः—ऋतुकाले च सम्प्राप्ते न भजेद्यस्तु कामिनीं। तद् :खात्सा प्रणश्येत स्वयं वा नाशयेत्पतिम् ॥१॥

५ तथा च भार्गवः—नाकृत्यं विद्यते स्त्रीणामपमाने कृते सति। अविवाहो वरस्तस्मान्न तूढानां विवर्जनम् ॥१॥

उपभोग न करने वाले मनुष्य के लिये भी स्त्री निरर्थक है, क्योंकि उससे उसका कोई इष्टप्रयोजन (धार्मिक सन्तान-आदि) सिद्ध नहीं होता ॥२३॥

स्त्रियोंके प्रतिकूल होनेके कारण, उनकी प्रकृति, दूतीपन व रक्षाका उद्देश्य—

सपत्नीविधानं पत्युरसमंजसं च विमाननमपत्याभावश्च चिरविरहश्च स्त्रीणां विरक्तकारणानि ॥२४॥ न स्त्रीणां सहजो गुणो दोषो वास्ति किंतु नद्यः समुद्रमिव यादृशं पतिमाप्नुवन्ति तादृश्यो भवन्ति स्त्रियः ॥२५॥ स्त्रीणां दौत्यं स्त्रिय एव कुर्युस्तैरश्चोऽपि पुंयोगः स्त्रियं दूषयति किं पुनर्मानुष्यः ॥२६॥ वंशविशुद्ध्यर्थमनर्थपरिहारार्थं स्त्रियो रक्ष्यन्ते न भोगार्थं ॥२७॥

अर्थ—निम्नलिखित बातोंसे स्त्रियाँ अपने पतिसे विरक्त (प्रतिकूल) होजाती हैं—

सपत्नीविधान (पतिद्वारा सौतका रखना), पतिका मनोमालिन्य (ईर्ष्या व द्वेष-आदि) अपमान, अपत्याभाव (सन्तान का अभाव) व चिरविरह (पति का चिरकाल तक विदेश में रहना) अतः नैतिक पुरुष स्त्रियोंको अनुकूल रखनेके लिये उक्त पांचों बातोंका त्याग करे ॥२४॥

जैमिनि[1] विद्वानने भी स्त्रियोंकी प्रतिकूलता के विषय में यही कहा है ॥१॥

स्त्रियोंमें स्वाभाविक गुण या दोष नहीं होते। किंतु उनमें समुद्रमें प्रविष्ट हुए नदी के समान पतिके गुणोंसे गुण या दोषोंसे दोष उत्पन्न हो जाते हैं। जिस प्रकार नदियां समुद्रमें मिलनेसे खारी होजाती हैं, उसी प्रकार स्त्रियाँ पतिके गुणोंसे गुणवती और दोषोंसे दोष-युक्त होजाती हैं ॥२५॥

शुक्र [2] विद्वान्ने भी स्त्रियोंके गुण व दोषके विषयमें इसीप्रकार कहा है ॥१॥

स्त्रियोंको सन्देश लेजानेका कार्य दूसरी स्त्रियों द्वारा ही करना चाहिये, पुरुषोंसे नहीं, क्योंकि जब पशुजातिका पुरुष भी उन्हें दूषित कर देता है तब फिर मनुष्योंसे दूषित होनेमें कोई विशेषता नहीं ॥२६॥

गुरु[3] विद्वान्ने भी स्त्रियोंके दूतीपन के विषयमें इसी प्रकार कहा है ॥१॥

नैतिक मनुष्य अपनी वंश-विशुद्धि और अनर्थोंसे बचनेके लिये स्त्रियोंकी रक्षा करते हैं, केवल विषय-वासना की तृप्तिके लिये नहीं ॥२७॥

गुरु [4] विद्वान् का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

---

१ तथा च जैमिनिः—सपत्नी वा समानत्वमपमानमनपत्यता। देशान्तरगतिः पत्युः स्त्रीणां रागं हरन्त्यमी ॥१॥

२ तथा च शुक्रः—गुणो वा यदि वा दोषो न स्त्रीणां सहजो भवेत्। भर्तुः सदृशतां यांति समुद्रस्यापगा यथा ॥१॥

३ तथा च गुरुः—स्त्रीणां दौत्यं नरेन्द्रेण प्रेष्या नार्यो नरो न वा। तिर्यंचोऽपि च पुंयोगो दृष्टो दूषयति स्त्रियम् ॥१॥

४ तथा च गुरुः—वंशस्य च विशुद्ध्यर्थं तथानर्थक्षयाय च। रक्षितव्याः स्त्रियो विज्ञैर्न भोगाय च केवलम् ॥१॥

वेश्या-सेवनका त्याग, स्त्रियोंके गृहमें प्रविष्ट होने का निषेध व उनके विषयमें राज-कर्तव्य—

भोजनवत्सर्वसमानाः पण्याङ्गनाः कस्तासु हर्षामर्षयोरवसरः ॥२८॥ यथाकामं कामिनीनां संग्रहः परमनीर्ष्यावानकल्याणावहः प्रक्रमोऽदौवारिके द्वारि को नाम न प्रविशति ॥२९॥ मातृव्यंजनविशुद्धा राजवसत्युपरिस्थायिन्यः स्त्रियः संभक्तव्याः ॥३०॥ दर्दुरस्य सर्पगृह-प्रवेश इव स्त्रीगृहप्रवेशो राज्ञः ॥३१॥ न हि स्त्री गृहादायातं किंचित्स्वयमनुभव-नीयम् ॥३२॥ नापि स्वयमनुभवनीयेषु स्त्रियो नियोक्तव्याः ॥३३॥

अर्थ—वेश्याएं बाजारके भोजन की तरह सर्वसाधारण होती हैं, इसलिये कौन नैतिक पुरुष उन्हें देखकर सन्तुष्ट होगा ? कोई नहीं ॥२८॥ विजिगीषु राजा अभिलषित स्वार्थसिद्धि (शत्रुओंसे विजय-आदि) के लिये वेश्याओंका संग्रह करता है, परन्तु उसका ये कार्य निरर्थक और कल्याणनाशक है। क्योंकि जिसप्रकार द्वारपाल-शून्य दरवाजेमें सभी प्रविष्ट होते हैं, उसीप्रकार सर्वसाधारणद्वारा भोगी जाने वाली वेश्याओंके यहां भी सभी प्रविष्ट होते हैं, इसलिये वे शत्रुपक्ष में मिलकर विजिगीषुको मार डालती हैं। अतएव शत्रु-विजय अन्य उपाय (सामादि) द्वारा करनी चाहिए; न कि वेश्याओंके द्वारा ॥२९॥ विजिगीषु शत्रु-विजय-आदि आवश्यक प्रयोजनवश मातृपक्षसे विशुद्ध (व्यभिचार शून्य) व राजद्वार पर निवास करने वाली वेश्याओंका संग्रह करे ॥३०॥ जिसप्रकार साँपकी वामीमें प्रविष्ट हुआ मेंढक नष्ट होजाता है; उसीप्रकार जो राजा लोग स्त्रियोंके गृहमें प्रविष्ट होते हैं, वे अपने प्राणोंको खो बैठते हैं, क्योंकि स्त्रियाँ चंचल प्रकृति वश शत्रु-पक्षसे मिलकर इसे मार डालती हैं या मरवा देती हैं ॥३१॥

गौतम[1] विद्वान्ने भी राजाको स्त्री-गृहमें प्रविष्ट होनेका निषेध किया है ॥१॥

राजा अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये स्त्रियोंके गृहसे आई हुई कोई भी वस्तु भक्षण न करे ॥३२॥

वादरायण[2] ने भी इसी वातकी पुष्टि की है ॥१॥

राजा स्वयं भक्षण करने योग्य भोजनादि के कार्य में स्त्रियोंको नियुक्त न करे, क्योंकि वे चंचलता वश अनर्थ कर डालती हैं ॥३३॥

भृगु[3] विद्वान् का भी इस विषय में यही अभिप्राय है ॥३३॥

स्वेच्छाचारिणी स्त्रियोंके अनर्थ, दुष्ट स्त्रियोंका घृणित इतिहास, व स्त्रियोंका माहात्म्य—

संवननं स्वातंत्र्यं चाभिलषन्त्यः स्त्रियः किं नाम न कुर्वन्ति ॥३४॥ श्रूयते हि किल-आत्मनः स्वच्छन्दवृत्तिमिच्छन्ती विषविदूषितगण्डूषेण मणिकुण्डला महादेवी यवनेषु

---

१ तथा च गौतमः—प्रविष्टो हि यथा भेको बिलं सर्पस्य मृत्युभाक्। तथा संजायते राजा प्रविष्टो वेश्मनि स्त्रियः ॥१॥

२ तथा च वादरायणः—स्त्रीणां गृहात् समायातं भक्षणीयं न भूभुजा। किंचित्स्वल्पमपि प्राणान् रक्षितुं योऽभिवाञ्छति ॥१॥

३ तथा च भृगुः—भोजनादिषु सर्वेषु नात्मीयेषु नियोजयेत्। स्त्रियो भूमिपतिः क्वापि मारयन्ति यतश्च ताः ॥१॥

निजतनुजराज्यार्थं जघान राजानमङ्गराजम् ॥३५॥ विषालक्तकदिग्धेनाधरेण वसन्तमतिः शूरसेनेषु सुरतविलासं, विषोपलिप्तेन मेखलामणिना वृकोदरी दशार्णेषु मदनार्णवं, निशित-नेमिना मुकुरेण मदराक्षी मगधेषु मन्मथविनोदं, कबरीनिगूढेनासिपत्रेण चन्द्ररसा पाण्ड्येषु पुण्डरीकमिति ॥३६॥ अमृतरसवाप्य इव श्रीजसुखोपकरणं स्त्रियः ॥३७॥ कस्तासां कार्याकार्यविलोकनेऽधिकारः ॥३८॥

अर्थ—वशीकरण, उच्चाटन और स्वेच्छाचार चाहने वाली स्त्रियां कौन २ से अनर्थ नहीं करतीं ? सभी अनर्थ कर डालती हैं ॥३४॥ भारद्वाज[1] विद्वान ने भी स्त्रियों पर विश्वास न करने के लिये लिखा है ॥१॥ इतिहास बताता है; कि यवनदेशमें स्वच्छन्द वृत्ति चाहनेवाली मणिकुण्डला नामकी पट्टरानीने अपने पुत्रके राज्यार्थ अपने पति अङ्गराज नामके राजाको विष-दूषित शराब के कुरलेसे मार डाला ॥३५॥ इसीप्रकार शूरसेन (मथुरा) में वसन्तमति नामकी स्त्रीने विषके आलतेसे रंगे हुए अधरोंसे सुरतविलास नामके राजाको, वृकोदरीने दशार्ण (भेलसा) में विषलिप्त करधनीके मणि द्वारा मदनार्णव राजाको, मदिराक्षीने मगधदेशमें तीखे दर्पणसे मन्मथविनोदको और पांड्यदेश में चण्डरसा रानीने कवरी (केश-पाश) में छिपी हुई छुरीसे पुण्डरीक नामके राजाको मार डाला ॥३६॥

स्त्रियां लक्ष्मीसे उत्पन्न होनेवाले सुखकी स्थान (आधार) हैं। अर्थात् जिसप्रकार लक्ष्मीके समागमसे मनुष्योंको विशेष सुख प्राप्त होता है; उसीप्रकार स्त्रियोंके समागमसे भी विशेष सुख मिलता है एवं अमृत रससे भरी हुई वावड़ियों के समान, मनुष्यों के चित्तमें आनन्द उत्पन्न करती हैं। अर्थात् जिसप्रकार अमृत-रस से भरीहुई वावड़ियां दर्शनमात्रसे मनुष्योंके चित्तमें विशेष आनन्द उत्पन्न कर देती हैं; उसीप्रकार स्त्रियांभी दर्शनादि से मनुष्योंके चित्तमें विशेष आनन्द उत्पन्न कर देती हैं ॥३७॥

शुक्र[2] विद्वान् ने भी इसीप्रकार स्त्रियोंका माहात्म्य बताया है ॥१॥

मनुष्योंको उनके कर्तव्य व अकर्तव्य देखने से क्या प्रयोजन ? अर्थात् कोई प्रयोजन नहीं। सारांश यह है कि स्त्रियां स्वाभाविक कोमल व सरलहृदय होती हैं, अतः बुद्धिमान् मनुष्योंको उनके साधारण दोषोंपर दृष्टिपात न करते हुए उन्हें नैतिक शिक्षा द्वारा सन्मार्ग में प्रवृत्त करना चाहिये ॥३८॥

स्त्रियोंकी सीमित स्वाधीनता, उनमें अत्यंत आसक्त पुरुष, उनके अधीन रहने वाले की हानि पतिव्रताका माहात्म्य व उनके प्रति पुरुष का कर्तव्य—

अपत्यपोषणे गृहकर्मणि शरीरसंस्कारे शयनावसरे स्त्रीणां स्वातंत्र्यं नान्यत्र ॥३९॥ अतिप्र-सक्तः स्त्रीषु स्वातंत्र्यं करपत्रमिव पत्युर्नाविदार्य हृदयं विश्राम्यति ॥४०॥ स्त्रीवशपुरुषो नदी-प्रवाहपतितपादप इव न चिरं नन्दति ॥४१॥ पुरुषमुष्टिस्था स्त्री खड्गयष्टिरिव कमुत्सवं न

---

१ तथा च भारद्वाजः—कार्मणं स्वेच्छयाचारं सदा वाञ्छन्ति योषितः। तस्मात्तासु न विश्वासः प्रकर्तव्यः कथंचन ॥१॥

२ तथा च शुक्रः—लक्ष्मीसंभवसौख्यस्य कथिता वामलोचनाः। यथा पीयूषवाप्यश्च मनआल्हाददा सदा ॥१॥

जनयति ॥४२॥ नातीव स्त्रियो व्युत्पादनीयाः स्वभावसुभगोऽपि शास्त्रोपदेशः स्त्रीषु, शस्त्रीषु पयोलव इव विषमतां प्रतिपद्यते ॥४३॥

अर्थ—स्त्रियोंको सन्तान-पालन, गृहकार्य, शरीर-संस्कार और पतिके साथ शयन इन चार बातों में स्वतन्त्रता देनी चाहिये, दूसरे कार्यों में नहीं ॥३९॥

भागुरि[1] विद्वान् ने भी उक्त चार बातोंमें स्त्रियोंको स्वतन्त्र रखने को कहा है ॥३९॥

जबकि कामी लोग स्त्रियोंमें अत्यधिक आसक्त होनेके कारण उन्हें सभी कार्योंमें स्वतन्त्रता दे देते हैं, तो वे स्वच्छन्द होकर पतिके हृदयको उसी प्रकार कष्टोंसे विदीर्ण किये बिना नहीं रहतीं जैसे कि हृदयमें प्रविष्ट हुई तलवार उसे वेध करही बाहर निकला करती है ॥४०॥ जिसप्रकार नदीके प्रवाह में पड़ा हुआ वृक्ष चिरकाल तक अपनी वृद्धि नहीं कर पाता, बल्कि नष्ट हो जाता है, इसीप्रकार स्त्रीके वशमें रहनेवाला पुरुष भी आर्थिक क्षति द्वारा नष्ट होजाता है, अतः स्त्रियोंके अधीन नहीं रहना चाहिये ॥४१॥

शुक्र[2] विद्वान् ने भी स्त्रियोंके अधीन रहने का निषेध किया है ॥१॥

जिसप्रकार मुट्ठीमें धारण की हुई खड्गयष्टि—तलवार—विजिगीषुका मनोरथ (विजय-लाभादि) पूर्ण करती है, इसीप्रकार पुरुषकी आज्ञानुकूल चलने वाली (पतिव्रता) स्त्री भी अपने पतिका मनोरथ पूर्ण करती है ॥४२॥

किसी[3] विद्वान् ने भी पतिव्रता स्त्रीको पतिका मनोरथ पूर्ण करने वाली कहा है ॥१॥

नैतिक पुरुष स्त्रियोंको कामशास्त्रकी शिक्षामें प्रवीण न बनावे, क्योंकि स्वभाव से उत्तम कामशास्त्रका ज्ञान स्त्रियोंको छुरीमें पड़े हुए पानीकी बूंद समान नष्ट कर देता है। अर्थात् जिसप्रकार पानी की बूंद छुरी पर पड़नेसे एकदम नष्ट होजाती है, उसीप्रकार कामशास्त्र की शिक्षा भी स्त्रियों को कुल—धर्म—चारित्रधर्म से गिराकर नष्ट भ्रष्ट कर देती है, अतः स्त्रियों को कामशास्त्र की शिक्षा छोड़कर अन्य लौकिक व धार्मिक शिक्षाएं देनी चाहिये ॥४३॥

भारद्वाज[4] विद्वान् ने भी स्त्रियोंको कामशास्त्रकी शिक्षा देनेका निषेध किया है ॥१॥

वेश्यागमन के दुष्परिणाम—

अभ्रवेणाधिकेनाप्यर्थेन वेश्यामनुभवन्पुरुषो न चिरमनुभवति सुखम् ॥४४॥ विसर्जनाकारणाभ्यां तदनुभवे महाननर्थः ॥४५॥ वेश्यासक्तिः प्राणार्थहानिं कस्य न करोति ॥४६॥

---

१ तथा भागुरिः—स्वातंत्र्यं नास्ति नारीणां मुक्त्वा कर्मचतुष्टयम्। बालानां पोषणं कृत्यं शयनं चाङ्गभूषणं ॥१॥

२ तथा च शुक्रः—न चिरं वृद्धिमाप्नोति यः स्त्रीणां वशगो भवेत्। नदीप्रवाहपतितो यथा भूमिसमुद्भवः ॥१॥

३ तथा चोक्तं—या नारी वशगा पत्युः पतिव्रतपरायणा। सा स्वपत्युः करोत्येव मनोराज्यं हृदि स्थितम् ॥१॥

४ तथा च भारद्वाजः—न कामशास्त्रतत्त्वज्ञाः स्त्रियः कार्याः कुलोद्भवाः। यतो वैरूप्यमायान्ति यथा शाल्यं दुःसंगमः ॥१॥

धनमनुभवन्ति वेश्या न पुरुषं ॥४७॥ धनहीने कामदेवेऽपि न प्रीतिं बध्नन्ति वेश्याः ॥४८॥ स पुमान् न भवति सुखी, यस्यातिशयं वेश्यासु दानं ॥४९॥ स पशोरपि पशुः यः स्वधनेन परेषामर्थवन्तीं करोति वेश्यां ॥५०॥ आचित्तविश्रान्ते वेश्यापरिग्रहः श्रेयान् ॥५१॥ सुरक्षितापि वेश्या न स्वां प्रकृतिं परपुरुषसेवनलक्षणां त्यजति ॥५२॥

अर्थ—जब विवेक-हीन पुरुष वेश्याओंको प्रचुर धन देकर भी उनका उपभोग करता हुआ अधिक समय तक सुखी नहीं होपाता, तब थोड़ासा धन देनेवाला कैसे सुखी होसकता है ? नहीं होसकता। बिना कारण छोड़ी हुई वेश्याओंके यहाँ पुनः जानेसे वे व्यसनीका महान् अनर्थ (प्राणघात) कर डालती हैं वेश्यागामी पुरुष अपने प्राण-धन और मानमर्यादाको खोबैठते हैं ॥४४-४६॥

नारद[1] ने भी वेश्यासक्तको अपने प्राण व धनका नाशक कहा है ॥१॥

वेश्याएं केवल व्यसनी पुरुष द्वारा दिये हुए धनका ही उपभोग करती हैं, पुरुषका नहीं; क्योंकि निर्धन व्यक्ति ६४ कलाओंका पारगामी (महाविद्वान्) व कामदेव सदृश अत्यन्त रूपवान भी क्यों न हो, उसे वे तत्काल ठुकरा देती हैं; जबकि कुष्ठ—आदि भयानक व्याधियोंसे पीडित व कुरूप धनाढ्य व्यक्तिसे अनुराग करती हैं ॥४७॥

भारद्वाज[2] विद्वानके उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

वेश्याएं कामदेव समान अत्यन्त रूपवान् पर दरिद्र व्यक्ति से कभी भी अनुराग नहीं करतीं तो फिर भला कुरूप व दरिद्र व्यक्तिसे कैसे प्रेम कर सकती हैं ? नहीं कर सकतीं ॥४८॥

भागुरि[3] विद्वान्ने भी वेश्याओं के विषयमें इसी प्रकार कहा है ॥१॥

वेश्याओंमें आसक्त पुरुष उन्हें प्रचुर धन देने पर भी कभी सुखी नहीं हो सकता जो मूर्ख वेश्याको अपना प्रचुर धन देता है वह दूसरोंको भी धन देनेके लिये प्रोत्साहित कर उसे और भी धनाढ्य बनाता है, वह पशुसे भी बढकर पशु है, क्योंकि वह अपने साथ साथ दूसरोंकी भी आर्थिक क्षति करता है ॥४९-५०॥

बल्लभदेव[4] विद्वान्ने भी वेश्यासक्तकी इसी प्रकार कड़ी आलोचना की है ॥१॥

विजिगीषु अपने चित्त की शान्ति पर्यन्त (शत्रु-विजय पर्यन्त) गुप्तचर-आदिके कार्यार्थ वेश्या-संग्रह करे, इससे वह शत्रुकृत उपद्रवोंसे देश को सुरक्षित करता है ॥५१॥

---

१ तथा च नारदः—प्राणार्थहानिरेव स्याद्वेश्यायां सक्तितो नृणाम् । यस्मात्तस्मात्परित्याज्या वेश्या पुंभिर्धनार्थिभिः ॥१॥

२ तथा च भारद्वाजः—न सेवन्ते नरं वेश्याः सेवन्ते केवलं धनम् । धनहीनं यतो मर्त्यं संत्यजन्ति च तत्क्षणात् ॥१॥

३ तथा च भागुरिः—न सेव्यते धनैर्हीनः कामदेवोऽपि चेत्स्वयं । वेश्याभिर्धनलुब्धाभिः कुष्ठी चापि निषेव्यते ॥१॥

४ तथा च बल्लभदेवः—आत्मवित्तेन यो वेश्यां महार्घां कुरुते कुधीः । अन्येषां वित्तनाशाय पशूनां पशुः सर्वतः ॥१॥

अच्छी तरह रखवाली की हुई वेश्या दूसरे पुरुषका उपभोग करने रूप अपना स्वभाव नहीं छोड़ती ॥५२॥

गुरु[1] विद्वान्‌ने भी इसी प्रकार कहा है ॥१॥

प्रकृति-निर्देश—

या यस्य प्रकृतिः सा तस्य दैवेनापि नापनेतुं शक्येत ॥५३॥ सुभोजितोऽपि श्वा किमशुचीन्यस्थीनि परिहरति ॥५४॥ न खलु कपिः शिक्षाशतेनापि चापल्यं परिहरति ॥५५॥ इक्षुरसेनापि सिक्तो निम्बः कटुरेव ॥५६॥

अर्थ—जिसकी जैसी प्रकृति होती है उसे विधाता भी दूर करने में असमर्थ है ॥५३॥

नारद[2] ने भी व्याघ्र-आदि की प्रकृति का निर्देश किया है ॥१॥

अच्छी तरह भोजनादि द्वारा तृप्त हुआ भी कुत्ता क्या हड्डियां चबाना छोड़ सकता है ? नहीं छोड़ सकता ॥५४॥

भृगु[3] विद्वान्‌ने भी प्रकृति न बदलने के विषय में यही कहा है ॥१॥

धैर्य-धारण की सैकड़ों शिक्षाओं द्वारा समझाया गया भी बंदर क्या कभी अपनी चंचल प्रकृति छोड़ सकता है ? नहीं छोड़ सकता ॥५५॥

अत्रि[4] विद्वान्‌ने भी बंदर की चंचल प्रकृति न बदलनेके विषयमें कहा है ॥१॥

गन्नेके मीठे रससे सींचा गया नीमका पेड़ कडुआ ही रहता है ॥५६॥

गर्ग[5] विद्वान्‌ने भी दुष्ट व शिष्टकी प्रकृति के विषयमें लिखा है ॥१॥

प्रकृति, कृतघ्न कुटुम्बियोंका पोषण व उनके विकृति होनेका कारण, शारिरिक सौन्दर्य व कुटुम्बियोंका संरक्षण—

क्षीराश्रितशर्करापानभोजितश्चाहिर्न कदाचित् परित्यजति विषम्[A] ॥५७॥ सन्मानदिवसादायुः कुल्यानामपग्रहहेतुः ॥५८॥ तंत्रकोशवर्धिनी वृत्तिर्दायादान् विकारयति ॥५९॥ तारुण्य-

---

१ तथा च गुरुः—यद्वेश्या लोभसंयुक्ता स्वीकृतापि नरोत्तमैः । सेवयेत्पुरुषानन्यान् स्वभावो दुस्त्यजो यतः ॥१॥

२ तथा च नारदः—व्याघ्रः सेवति काननं सुगहनं सिंहो गुहां सेवते । हंसः सेवति पद्मिनीं कुसुमितां गृध्रः श्मशानस्थलीं ॥ साधुः सेवति साधुमेव सततं नीचोऽपि नीचं जनं । या यस्य प्रकृतिः स्वभावजनिता दुःखेन सा त्यज्यते ॥१॥

३ तथा च भृगुः—स्वभावो नान्यथाकर्तुं शक्यः केनापि कुत्रचित् । श्वेव सर्वरसान् भुक्त्वा विना मेध्यान्न तृप्यति ॥१॥

४ तथा च अत्रिः—प्रोक्तः शिक्षाशतेनापि न चापल्यं त्यजेत्कपिः । स्वभावो नोपदेशेन शक्यते कर्तुमयन्था ॥१॥

५ तथा च गर्गः—पिशुनं दानमाधुर्यं संप्रयाति कथंचन । सिक्तश्चेक्षुरसेनापि दुस्त्यजा प्रकृतिर्निजा ॥१॥

A—उक्त सूत्र मु.म. पुस्तक से संकलन किया गया है, सं. टी. पु. में नहीं है ।

मधिकृत्यसंस्कारसाराहितोपयोगाच्च शरीरस्य रमणीयत्वं न पुनः स्वभावः[B] ॥६०॥ भक्ति-विश्रम्भादव्यभिचारिणं कुल्यं पुत्रं वा संवर्धयेत् ॥६१॥ विनियुञ्जीत उचितेषु कर्मसु ॥६२॥

अर्थः—जिसप्रकार सांपको मीठा दूध पिलाने पर भी वह अपनी विषैली प्रकृति नहीं छोड़सकता उसीप्रकार जिसकी जैसी प्रकृति होती है, उसे वह कदापि नहीं छोड़ सकता। सारांश यह है कि इसी तरह वेश्याएं भी व्यभिचार-प्रकृतिको धनलोभसे नहीं छोड़ सकतीं, इसलिये नैतिक विचारवान् मनुष्यको शारीरिक भयंकर बीमारियों (गर्मी-सुजाक-आदि) को उत्पन्न करनेवाली एवं धन, धर्म, प्राण व मानमर्यादा नष्ट करनेवाली वेश्याओंसे सदा दूर रहना चाहिये ॥५७॥

जब राजा अपने निकटवर्ती कुटुम्बीजनोंको उच्च अधिकारी पदों पर नियुक्त करके जीवनपर्यन्त प्रचुर धन-आदि देकर उनका संरक्षण करता है, तब वे अभिमान-वश राज्यलोभसे राजा के घातक हो जाते हैं ॥५८॥

शुक्र[1] विद्वानने भी निकटवर्ती कुटुम्बीजनोंका संरक्षण राजाके विनाशका कारण बताया है ॥१॥

राजा द्वारा जब सजातीय कुटुम्बियोंके लिये सैन्य व कोश बढानेवाली जीविका दीजाती है, तब वे विकार-युक्त—अभिमानी होजाते हैं, जिसका परिणाम महाभयंकर होता है— वे शक्ति सम्पन्न होकर अभिमान व राज्य-लोभ-वश राजाका वध-बंधनादि चिन्तवन करने लगते हैं, अतः उन्हें ऐसी जीविका न देनी चाहिये ॥५६॥

गुरु[2] विद्वानने भी सजातीय कुटुम्बियोंके लिये सैन्य व कोश बढानेवाली जीविका देनेका निषेध किया है ॥१॥

शरीर में कृत्रिम (बनावटी) सौन्दर्य होता है, न कि स्वाभाविक, क्योंकि युवावस्था को प्राप्त होकर उत्तम वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत होने के कारण वह सुन्दर प्रतीत होता है ॥६०॥

राजाको अपने पर श्रद्धा (भक्ति) रखनेवाले, भक्ति के बहाने से कभी विरुद्ध न होनेवाले नम्र, विश्वसनीय व आज्ञाकारी सजातीय कुटुम्बी व पुत्रों का संरक्षण करते हुए उन्हें योग्य पदों पर नियुक्त करना चाहिये ॥६१-६२॥

नारद[3] वल्लभदेव[4] विद्वानने भी इसीप्रकार कहा है ॥१॥

B— उक्त सूत्र मु. मू. पुस्तक से संकलन किया गया है सं. टी. पु. में नहीं है।

१ तथा च शुक्रः—कुल्यानां पोषणं यच्च क्रियते मूढपार्थिवैः। आत्मनाशाय तज्ज्ञेयं तस्मात्त्याज्यं सुदूरतः ॥१॥

२ तथा च गुरुः—वृत्तिः कार्या न कुल्यानां यथा सैन्यं विवर्धते। सैन्यवृद्ध्या तु ते घ्नन्ति स्वामिनं राज्यलोभतः ॥१॥

३ तथा च नारदः—वर्धनीयोऽपि दायादः पुत्रो वा भक्तिभाग्यदि। न विकारं करोति स्म ज्ञात्वा साधुस्ततः परं ॥१॥

४ तथा च वल्लभदेवः—स्थानेष्वेव नियोज्यन्ते भृत्या आभरणानि च। न हि चूडामणिः पादे प्रभवामीति बध्यते ॥१॥

स्वामीका आज्ञापालन, शक्तिशाली व वैर-विरोध करनेवाले पुत्रों व कुटुम्बियोंका वशीकरण, कृतज्ञके साथ कृतघ्नता करनेका दुष्परिणाम व अकुलीन माता-पिताका सन्तान पर कुप्रभाव—

भर्तुरादेशं न विकल्पयेत् ॥६३॥ अन्यत्र प्राणबाधाबहुजनविरोधपातकेभ्यः ॥६४॥ बलवत्पक्षपरिग्रहेषु दायिष्वाप्तपुरुषपुरःसरो विश्वासो वशीकरणं गूढपुरुषनिक्षेपः प्रणिधिर्वा ॥६५॥ दुर्बोधे सुते दायादे वा सम्यग्युक्तिभिदुरभिनिवेशमवतारयेत् ॥६६॥ साधुषूपचर्यमाणेषु विकृतिभजनं स्वहस्ताङ्गाराकर्षणमिव ॥६७॥ क्षेत्रबीजयोर्वैकृत्यमपत्यानि विकारयति ॥६८॥

अर्थ—सेवककी प्राणनाशिनी तथा लोगोंसे वैर-विरोध उत्पन्न कराने वाली एवं पापमें प्रवृत्ति करानेवाली स्वामीकी आज्ञाको छोड़कर (उसे उल्लंघन करते हुए) दूसरे सभी स्थानोंमें सेवकको अपने स्वामीकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं करना चाहिये ॥६३-६४॥

जब राजाके सजातीय कुटुम्बी लोग तन्त्र (सैन्य) व कोशशक्तिसे बलिष्ठ होजावें, उस समय उनके वश करनेका पहला उपाय यह है कि वह अपने शुभचिन्तक व प्रामाणिक पुरुषोंको अग्रेसर नियुक्त कर उनके द्वारा कुटुम्बियोंको अपनेमें विश्वास उत्पन्न करावे और दूसरा उपाय यह है कि उनके पास गुप्तचरोंको नियुक्त करे, ताकि उनके समस्त अभिप्राय राजाको विदित होसकें। सारांश यह है कि उक्त उपायों द्वारा उनकी सारी चेष्टाएं विदित होने पर उनके वशीकरणार्थ प्रयोगकी हुई साम-दान-आदि उपायोंकी योजनाएं सफल होंगी ॥६५॥

शुक्र[1] विद्वान् ने भी शक्तिशाली कुटुम्बियोंको अधीन करने के लिये उक्त दोनों उपाय बताये हैं ॥१॥

नैतिक मनुष्यको पुत्र व भार्या वगैरह कुटुम्बी जनोंका मूर्खता-पूर्ण दुराग्रह अच्छी युक्तियों (युक्ति-युक्त वचनों) द्वारा नष्ट करदेना चाहिये ॥६६॥

रैभ्य[2] विद्वान् ने भी इसी प्रकार कहा है ॥१॥

उपकार करनेवाले शिष्ट पुरुषोंके साथ अन्यायका बर्ताव करनेवाला अपने हाथोंसे अंगारे खींचने समान अपनी हानि करता है। अर्थात् जिसप्रकार अपने हाथोंसे अग्निके अंगारों को खींचने से जल जाते हैं, उसीप्रकार उपकार करनेवाले शिष्ट पुरुषोंके साथ अन्याय करनेसे अधिक हानि (आर्थिक-क्षति-आदि) होती है ॥६७॥

भागुरि[3] विद्वानके उद्धरणका भी यही अभिप्राय है ॥१॥

---

१ तथा च शुक्रः—बलवत्पक्षदायादा आप्तद्वारेण वश्यगाः। भवन्ति चातिगुप्तैश्च चरैः सम्यग्विशोधिताः ॥१॥

२ तथा च रैभ्यः—पुत्रो वा बान्धवो वापि विरुद्धो जायते यदा। तदा सन्तोषयुक्तस्तु सत्कार्यो नृतिमिच्छता ॥१॥

३ तथा च भागुरिः—साधूनां विनयाढ्यानां विरुद्धानि करोति यः। स करोति न सन्देहः स्वहस्तेनाग्निकर्षणम् ॥१॥

मधिकृत्यसंस्कारसाराहितोपयोगाच्च शरीरस्य रमणीयत्वं न पुनः स्वभावःB ॥६०॥ **भक्ति-विश्रम्भादव्यभिचारिणं कुल्यं पुत्रं वा संवर्धयेत्** ॥६१॥ **विनियुञ्जीत उचितेषु कर्मसु** ॥६२॥

अर्थः—जिसप्रकार सांपको मीठा दूध पिलाने पर भी वह अपनी विषैली प्रकृति नहीं छोड़सकता उसीप्रकार जिसकी जैसी प्रकृति होती है, उसे वह कदापि नहीं छोड़ सकता। सारांश यह है कि इसी तरह वेश्याएं भी व्यभिचार-प्रकृतिको धनलोभसे नहीं छोड़ सकतीं, इसलिये नैतिक विचारवान् मनुष्यको शारीरिक भयंकर बीमारियों (गर्मी-सुजाक-आदि) को उत्पन्न करनेवाली एवं धन, धर्म, प्राण व मानमर्यादा नष्ट करनेवाली वेश्याओंसे सदा दूर रहना चाहिये ॥५७॥

जब राजा अपने निकटवर्ती कुटुम्बीजनोंको उच्च अधिकारी पदों पर नियुक्त करके जीवनपर्यन्त प्रचुर धन-आदि देकर उनका संरक्षण करता है, तब वे अभिमान-वश राज्यलोभसे राजा के घातक हो जाते हैं ॥५८॥

शुक्र[1] विद्वानने भी निकटवर्ती कुटुम्बीजनोंका संरक्षण राजाके विनाशका कारण बताया है ॥१॥

राजा द्वारा जब सजातीय कुटुम्बियोंके लिये सैन्य व कोश बढानेवाली जीविका दीजाती है, तब वे विकार-युक्त—अभिमानी होजाते हैं, जिसका परिणाम महाभयंकर होता है— वे शक्ति सम्पन्न होकर अभिमान व राज्य-लोभ-वश राजाका वध-बंधनादि चिन्तवन करने लगते हैं, अतः उन्हें ऐसी जीविका न देनी चाहिये ॥५९॥

गुरु[2] विद्वानने भी सजातीय कुटुम्बियोंके लिये सैन्य व कोश बढानेवाली जीविका देनेका निषेध किया है ॥१॥

शरीर में कृत्रिम (बनावटी) सौन्दर्य होता है, न कि स्वाभाविक, क्योंकि युवावस्था को प्राप्त होकर उत्तम वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत होने के कारण वह सुन्दर प्रतीत होता है ॥६०॥

राजाको अपने पर श्रद्धा (भक्ति) रखनेवाले, भक्ति के बहाने से कभी विरुद्ध न होनेवाले नम्र, विश्वसनीय व आज्ञाकारी सजातीय कुटुम्बी व पुत्रों का संरक्षण करते हुए उन्हें योग्य पदों पर नियुक्त करना चाहिये ॥६१-६२॥

नारद[3] वल्लभदेव[4] विद्वान्‌ने भी इसीप्रकार कहा है ॥१॥

B— उक्त सूत्र मु. मू. पुस्तक से संकलन किया गया है सं. टी. पु. में नहीं है।

१ तथा च शुक्रः—कुल्यानां पोषणं यच्च क्रियते नृपपार्थिवैः। आत्मनाशाय तज्ज्ञेयं तस्मात्याज्यं सुदूरतः ॥१॥

२ तथा च गुरुः—वृत्तिः कार्या न कुल्यानां यथा सैन्यं विवर्धते। सैन्यवृद्ध्या तु ते घ्नन्ति स्वामिनं राज्यलोभतः ॥१॥

३ तथा च नारदः—वर्धनीयोऽपि दायादः पुत्रो वा भक्तिमार्यादि। न विकारं करोति स्म ज्ञात्वा साधुस्ततः परं ॥१॥

४ तथा च वल्लभदेवः—स्थानेष्वेव नियोक्तव्या भृत्या आभरणानि च। न हि चूडामणिः पादे प्रभवामीति बध्यते ॥१॥

स्वामीका आज्ञापालन, शक्तिशाली व वैर-विरोध करनेवाले पुत्रों व कुटुम्बियोंका वशीकरण, कृतज्ञके साथ कृतघ्नता करनेका दुष्परिणाम व अकुलीन माता-पिताका सन्तान पर कुप्रभाव—

भर्तुरादेशं न विकल्पयेत् ॥६३॥ अन्यत्र प्राणबाधाबहुजनविरोधपातकेभ्यः ॥६४॥ बलवत्पक्षपरिग्रहेषु दायिष्वाप्तपुरुषपुरःसरो विश्वासो वशीकरणं गूढपुरुषनिक्षेपः प्रणिधिर्वा ॥६५॥ दुर्बोधे सुते दायादे वा सम्यग्युक्तिभिर्दुरभिनिवेशमवतारयेत् ॥६६॥ साधुषूपचर्यमाणेषु विकृतिभजनं स्वहस्ताङ्गाराकर्षणमिव ॥६७॥ क्षेत्रबीजयोर्वैकृत्यमपत्यानि विकारयति ॥६८॥

अर्थ—सेवककी प्राणनाशिनी तथा लोगोंसे वैर-विरोध उत्पन्न कराने वाली एवं पापमें प्रवृत्ति करानेवाली स्वामीकी आज्ञाको छोड़कर (उसे उल्लंघन करते हुए) दूसरे सभी स्थानोंमें सेवकको अपने स्वामीकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं करना चाहिये ॥६३-६४॥

जब राजाके सजातीय कुटुम्बी लोग तन्त्र (सैन्य) व कोशशक्तिसे बलिष्ठ होजावें, उस समय उनके वश करनेका पहला उपाय यह है कि वह अपने शुभचिन्तक व प्रामाणिक पुरुषोंको अग्रेसर नियुक्त कर उनके द्वारा कुटुम्बियोंको अपनेमें विश्वास उत्पन्न करावे और दूसरा उपाय यह है कि उनके पास गुप्तचरोंको नियुक्त करे, ताकि उनके समस्त अभिप्राय राजाको विदित होसकें। सारांश यह है कि उक्त उपायों द्वारा उनकी सारी चेष्टाएं विदित होने पर उनके वशीकरणार्थ प्रयोगकी हुई साम-दान-आदि उपायोंकी योजनाएं सफल होंगी ॥६५॥

शुक्र[1] विद्वान् ने भी शक्तिशाली कुटुम्बियोंको अधीन करने के लिये उक्त दोनों उपाय बताये हैं ॥१॥

नैतिक मनुष्यको पुत्र व भार्या वगैरह कुटुम्बी जनोंका मूर्खता-पूर्ण दुराग्रह अच्छी युक्तियों (युक्ति-युक्त वचनों) द्वारा नष्ट करदेना चाहिये ॥६६॥

रैभ्य[2] विद्वान् ने भी इसी प्रकार कहा है ॥१॥

उपकार करनेवाले शिष्ट पुरुषोंके साथ अन्यायका बर्ताव करनेवाला अपने हाथोंसे अंगारे खींचने के समान अपनी हानि करता है। अर्थात् जिसप्रकार अपने हाथोंसे अग्निके अंगारों को खींचने से जल जाते हैं, उसीप्रकार उपकार करनेवाले शिष्ट पुरुषोंके साथ अन्याय करनेसे अधिक हानि (आर्थिक-क्षति-आदि) होती है ॥६७॥

भागुरि[3] विद्वानके उद्धरणका भी यही अभिप्राय है ॥१॥

---

१ तथा च शुक्रः—बलवत्पक्षदायादा आप्तद्वारेण वश्यगाः। भवन्ति चातिगुप्तैश्च चरैः सम्यग्विशोधिताः ॥१॥

२ तथा च रैभ्यः—पुत्रो वा बान्धवो वापि विरुद्धो जायते यदा। तदा सन्तोषयुक्तस्तु सत्कार्यो भूतिमिच्छता ॥१॥

३ तथा च भागुरिः—साधूनां विनयाढ्यानां विरुद्धानि करोति यः। स करोति न सन्देहः स्वहस्तेनाग्निकर्षणम् ॥१॥

माता पिता की अकुलीनता उनके पुत्रों को विकार-युक्त-नीचकुलका-बना देती है एवं सन्तानके जघन्य आचरणसे माता पिताकी अकुलीनता जानी जाती है ॥६८॥

उत्तम पुत्रकी उत्पत्तिका उपाय—

कुलविशुद्धिरुभयतः प्रीतिर्मनःप्रसादोऽनुपहतकालसमयश्च श्रीसरस्वत्यावाहनमंत्रपूतपरमान्नोपयोगश्च गर्भाधाने पुरुषोत्तममवतारयति ॥६९॥

अर्थ—दम्पति निम्नप्रकार कारण-सामग्रीसे उत्तम, कुलीन व भाग्यशाली पुत्र उत्पन्न करते हैं।

१—कुलविशुद्धि—दम्पतिके माता पिताका वंश, परम्परा से चली आने वाली पिंड-शुद्धि से शुद्ध (सज्जाति) वंश होना चाहिये।

भगवज्जिनसेनाचार्य[1] ने भी कहा है कि वंश-परम्परासे चली आई पिता की वंश-शुद्धि 'कुल' और माता की वंश शुद्धि 'जाति' है एवं दोनों (कुल व जाति) की शुद्धिको 'सज्जाति' कहते हैं। अभिप्राय यह है कि जिन दम्पतियों के बीज-वृक्ष समान परम्परासे चले आये हुए वंशमें समान गोत्रमें विवाह आदि द्वारा पिंडमें अशुद्धि न हुई हो, किंतु एक जाति में भिन्न गोत्रज कन्या के साथ विवाहसंस्कार द्वारा प्रवाह रूप से चला आया हुआ वंश विशुद्ध हो, उसे 'सज्जाति' कहते हैं। उसकी प्राप्ति होने से कुलीन पुरुष को विना प्रयत्न किये प्राप्त होने वाले सद्गुणों (शिक्षा व सदाचार-आदि) के साथ साथ मोक्षके कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र रूप रत्नत्रय की प्राप्ति सुलभता से होजाती है।

उक्त सज्जाति का सुरक्षार्थ आचार्य श्रीने गर्भाधानादि संस्कारों से उत्पन्न होने वाली दूसरी सज्जाति का निरूपण किया है, जिसके द्वारा कुलीन भव्य पुरुष द्विजन्मा—दो जन्म वाला (१ शरीर जन्म २ संस्कारों से होने वाला आत्म-जन्म) कहा जाता है, जिसके फल स्वरूप उसमें नैतिक व धार्मिक सत्कर्त्तव्य-पालन की योग्यता उत्पन्न होती है। जिसप्रकार विशुद्ध खानिसे उत्पन्न हुई मणि संस्कार से अत्यन्त उज्ज्वल हो जाती है, उसी प्रकार यह आत्मा भी क्रिया (गर्भाधानादि) व मंत्रोंके संस्कार से अत्यन्त निर्मल—विशुद्ध होजाती है एवं जिसप्रकार सुवर्णपाषाण उत्तम संस्कार क्रिया (छेदन, भेदन व अग्निपुट-पाक आदि) से शुद्ध होजाता है, उसीप्रकार भव्य पुरुष भी उत्तम क्रियाओं (संस्कारों) को प्राप्त हुआ विशुद्ध हो जाता है।

वह संस्कार धार्मिक ज्ञानसे उत्पन्न होता है, और सम्यग्ज्ञान सर्वोत्तम है, इसलिये जब यह पुण्यवान् पुरुष साक्षात् सर्वज्ञदेवके मुखचन्द्र से सम्यग्ज्ञानामृत पान करता है तब वह सम्यग्ज्ञानरूपगर्भसे

---

१ तथा च भगवज्जिनसेनाचार्यः—पितुरन्वयशुद्धिर्या तत् कुलं परिभाष्यते। मातुरन्वयशुद्धिस्तु जातिरित्यभिलप्यते ॥१॥
विशुद्धिरुभयस्यास्य सज्जातिरनुवर्णिता। यत्प्राप्तौ सुलभा बोधिरयत्नोपनतैर्गुणैः ॥२॥
संस्कारजन्मना चान्या सज्जातिरनुकीर्त्यते। यामासाद्य द्विजन्मत्वं भव्यात्मा समुपाश्नुते ॥३॥
विशुद्धाकरसंभूतो मणिः संस्कारयोगतः। यात्युत्कर्षं यथात्मैवं क्रियामन्त्रैः सुसंस्कृतः ॥४॥
सुवर्णधातुरथवा शुद्धचेदासाद्य संस्क्रियां। यथा तथैव भव्यात्मा शुद्धयत्यासादितक्रियः ॥५॥
ज्ञानजः स तु संस्कारः सम्यग्ज्ञानमनुत्तरं। यदाथ लभते साक्षात् सर्वविन्मुखतः कृती ॥६॥
तदैष परमज्ञानगर्भात् संस्कारजन्मना। जातो भवेद्द्विजन्मेति व्रतैः शीलैश्च भूषितः ॥७॥ आदि पुराण से।

संस्काररूप जन्ममे उत्पन्न होकर पांच अणुव्रतों (अहिंसाणुव्रत सत्याणुव्रत-आदि) तथा ७ शीलों (दिग्व्रत आदि) से विभूषित होकर 'द्विजन्मा' कहलाता है ॥ १—७ ॥ सारांश यह है कि कुलीन दम्पति की संतान कुलीन होती है और गर्भाधान-आदि संस्कारों से संस्कृत होने पर उसमें मोक्ष-साधन सम्यग्दर्शनादि प्राप्त करनेकी योग्यता होती है।

२—दम्पतियों का पारस्परिक प्रेम ३—मनः प्रसाद (दम्पतियों के हृदय कमल का विकास—प्रसन्न चित्त रहना) ४-चन्द्रग्रहण आदि दोष रहित गर्भाधान वेला (समय), ५—लक्ष्मी (अनन्त दर्शन, अनंतज्ञान, अनंत सुख व अनंतवीर्य रूप अन्तरङ्ग लक्ष्मी व समवसरण विभूति रूप वहिरङ्ग लक्ष्मी) और सरस्वती (द्वादशाङ्ग श्रुतज्ञान) का आवाहन करने वाले मन्त्रों (पीठिका मंत्रादि) से पवित्र किये हुए (यथाविधि हवन पूर्वक) उत्कृष्ट—आचार शास्त्र व प्रकृति ऋतुके अनुकूल—अन्न का भक्षण ॥६६॥

निरोगी व दीर्घजीवी संतान होनेका कारण, राज्य व दीक्षाके अयोग्य पुरुष, अङ्गहीनोंको राज्याधिकारकी सीमा, विनयका प्रभाव, व अभिमानी राजकुमारोंकी हानि—

गर्भशर्मजन्मकर्मापत्येषु देहलाभात्मलाभयोः कारणं परमम् ॥७०॥ स्वजातियोग्यसंस्कारहीनानां राज्ये प्रव्रज्यायां च नास्त्यधिकारः ॥७१॥ असति योग्येऽन्यस्मिन्नङ्गविहीनोऽपि पितृपदमर्हत्यापुत्रोत्पत्तेः ॥७२॥ साधुसम्पादितो हि राजपुत्राणां विनयोऽन्वयमभ्युदयं न च दूषयति ॥७३॥ घुणजग्धं काष्ठमिवाविनीतं राजपुत्रं राजकुलमभियुक्तमात्रं भज्येत् ॥७४॥

अर्थ—जो स्त्री गर्भवती अवस्थामें निरोगी व सुखी रहती है, उसकी संतान भी सुखी होती है एवं जिस बच्चेका जन्म शुभग्रहोंमें होता है, वह दीर्घजीवी (चिरायु) होता है ॥७०॥

गुरु[1] विद्वान्ने भी संतानके निरोगी और दीर्घजीवी होनेके विषयमें इसी प्रकार कहा है ॥१॥

अपनी जातिके योग्य गर्भाधान-आदि संस्कारोंसे हीन पुरुषोंको राज्य-प्राप्ति व दीक्षा-धारण करनेका अधिकार नहीं है ॥७१॥ राजाके कालकवलित होजाने पर उसका अङ्गहीन पुत्रभी उस समय तक अपने पिताका पद (राज्याधिकार) प्राप्त कर सकता है, जबतक कि उस (अङ्गहीन) की कोई दूसरी योग्य सन्तान न होजावे ॥७२॥

शुक्र[2] विद्वान् का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

जिन राजकुमारोंको शिष्ट पुरुषों द्वारा विनय-सदाचार-आदि की नैतिक शिक्षा दीगई है—उनका वंश व वृद्धिगत राज्य दूषित नहीं होता ॥७३॥

वादरायण[3] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

जिसप्रकार घुण—कीड़ोंसे खाईहुई लकड़ी नष्ट होजाती है, उसीप्रकार दुराचारी व उद्दण्ड

---

१ तथा च गुरुः—गर्भस्थानमपत्यानां यदि सौख्यं प्रजायते । तद्भवेद्धि शुभो देहो जीवितव्यं च जन्मनि ॥१॥

२ तथा च शुक्रः—राजाभावे तु संजाते योग्यः पुत्रो न चेद्भवेत् । तदा व्यंगोऽपि संस्थाप्यो यावत्पुत्रसमुद्भवः ॥१॥

३ तथा च वादरायणः—विनयः साधुभिर्दत्तो राजन्यानां भवेद्धि यः । न दूषयति वंशं तु न राज्यं न च सम्पदम् ॥१॥

राजकुमारका वंश नष्ट होजाता है; इसलिये दुराचारी व उद्दण्ड व्यक्ति को राज्यपदपर नियुक्त नहीं करना चाहिये ॥७४॥

भागुरि[1] विद्वान् ने भी दुराचारी व्यक्तिको राज्यपद पर नियुक्त करनेका निषेध किया है ॥१॥

पितासे द्रोह न करनेवाले राजकुमार, उनके माता-पिता, उनसे लाभ, माता-पिताके अनादरसे हानि, उससे प्राप्त राज्यकी निरर्थकता व पुत्रकर्तव्य—

आप्तविद्यावृद्धोपरुद्धाः सुखोपरुद्धाश्च राजपुत्राः पितरं नाभिद्रुह्यन्ति ॥७५॥ मातृपितरौ राजपुत्राणां परमं दैवं ॥७६॥ यत्प्रसादादात्मलाभो राज्यलाभश्च ॥७७॥ मातृपितृभ्यां मनसाप्यपमानेष्वभिमुखा अपि श्रियो विमुखा भवन्ति ॥७८॥ किं तेन राज्येन यत्र दुरपवादोपहतं जन्म ॥७९॥ क्वचिदपि कर्मणि पितुराज्ञां नो लंघयेत् ॥८०॥

अर्थ—जो राजकुमार वंशपरम्परासे चले आये निजी विद्वानों द्वारा विनय व सदाचार-आदि की नैतिक शिक्षासे सुशिक्षित और सुसंस्कृत किये जाकर बढ़ाये गये हैं व जिनका लालन-पालन सुखपूर्वक कियागया है, वे कभी भी अपने पितासे द्रोह नहीं करते (उसका अनिष्ट चिंतवन नहीं करते) ॥७५॥

गौतम[2] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

उत्तम माता-पिता का मिलना राजकुमारों के उत्तम भाग्यका द्योतक है। अर्थात् यदि उन्होंने पूर्व जन्ममें पुण्य-संचय किया है तो वे माता-पिता द्वारा राज्यश्री प्राप्त करते हैं, अन्यथा नहीं ॥७६॥

गर्ग[3] विद्वान् ने भी राजकुमारोंके अनुकूल व प्रतिकूल भाग्यसे उन्हें इष्ट अनिष्ट फल देनेवाले माता-पिता की प्राप्तिका निर्देश किया है ॥१॥

माता-पिताकी प्रसन्नतासे ही राजकुमारोंको शरीर व राज्य-लक्ष्मी प्राप्ति होती है। सारांश यह है कि माता-पिताका पुत्रोंके प्रति अनन्त उपकार है, इसलिये सुखाभिलाषी पुत्रोंको उनकी तन, मन और धनसे सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिये ॥७७॥

रैभ्य[4] विद्वान् के संगृहीत श्लोक का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

जो पुत्र माता-पिताका मनसे भी तिरस्कार-अनादर करते हैं, उनके पाससे प्रसन्न होकर समीपमें आनेवाली लक्ष्मी भी रुष्ट होकर दूर भाग जाती है। अभिप्राय यह है कि सुख-सम्पत्तिके इच्छुक पुत्रोंको अपने माता-पिताका मनसे भी तिरस्कार नहीं करना चाहिये। फिर प्रवृत्ति रूपसे तिरस्कार करना तो महाअनर्थ का कारण है ॥७८॥

वादरायण[5] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

---

१ तथा च भागुरिः—राजपुत्रो दुराचारो यदि राज्ये नियोजितः। तद्राज्यं नाशमायाति घुणजग्धं च दारुवत् ॥१॥

२ तथा च गौतमः—आप्तैर्विद्याधिकैर्येऽत्र राजपुत्राः सुरक्षिताः। वृद्धिं गताश्च सौख्येन जनकं न द्रुह्यन्ति ते ॥१॥

३ तथा च गर्गः—जननीजनकावेतौ प्राक्तनं कर्मविश्रुतौ। सर्वेषां राजपुत्राणां शुभाशुभप्रदौ हि तौ ॥१॥

४ तथा च रैभ्यः—अतएव हि विज्ञेयौ जननीजनकावुभौ। दैवं याभ्यां प्रसादेन शरीरं राज्यमाप्यते ॥१॥

५ तथा च वादरायणः—मनसाप्यपमानं यो राजपुत्रः समाचरेत्। सदा मातृपितृभ्यां च तस्य श्रीः स्याद् पराङ्मुखा ॥१॥

उस निरर्थक राज्यसे क्या लाभ है ? जिसकी प्राप्तिसे मानवजीवन अत्यन्त लोकनिन्दासे दूषित होता हो ॥७९॥

शुक्र[1] विद्वान् ने भी लोकनिन्दायुक्त राज्य-प्राप्ति को निरर्थक बताया है ॥१॥

पुत्रको किसीभी कार्यमें पिताकी आज्ञा उल्लंघन नहीं करनी चाहिये ।८०॥

लोक-प्रसिद्ध दृष्टान्त द्वारा उक्त बातका समर्थन, पुत्रके प्रति पिताका कर्तव्य और अशुभकर्म करनेसे हानि—

किन्तु खलु रामः क्रमेण विक्रमेण वा हीनो यः पितुराज्ञया वनमाविवेश ॥८१॥ यः खलु पुत्रो मनसितपरम्परया लभ्यते स कथमपकर्तव्यः ॥८२॥ कर्तव्यमेवाशुभं कर्म यदि हन्यमानस्य विपद्विधानमात्मनो न भवेत् ॥८३॥

अर्थ—क्या निश्चयसे महात्मा रामचन्द्र राजनैतिक-ज्ञान अथवा अधिकारीक्रम तथा शूरवीरतासे हीन थे ? जिन्होंने अपने पिता (राजा दशरथ) की आज्ञानुसार वनवास को प्रस्थान किया। सारांश यह है कि लोकमें वह राजपुत्र अपनी पैतृक राज-गद्दीका अधिकारी नहीं समझाजाता जोकि क्रम (राजनैतिक-ज्ञान, सदाचार व लोक-व्यवहार पटुता-आदि) एवं शूरवीरतासे हीन हो अथवा उक्त गुण होने पर भी ज्येष्ठ न हो, परन्तु राजा दशरथके ज्येष्ठ पुत्र महात्मा रामचन्द्रमें पैतृक राज्यश्रीकी प्राप्तिके लिये यथेष्ट राजनैतिक-ज्ञान. लोकव्यवहार-पटुता राज्य-शासन-प्रवीणता एवं लोकप्रियता-आदि सद्गुण थे। वे पराक्रमशाली थे और ज्येष्ठ होने के नाते कानूनन राजगद्दी के अधिकारी थे। यदि वे चाहते तो अपने पराक्रमी भाई लक्ष्मणकी सहायतासे अपनी सौतेली मा (कैकयी) को कैदकरके व उसके फंदे में फँसे हुए अपने पिताको नीचा दिखाकर स्वयं राजगद्दी पर बैठ जाते। परन्तु उन्होंने ऐसा अनर्थ नहीं किया और अपने पिताकी कठोरतम आज्ञा का पालन कर १४ वर्ष तक वनवास के कष्ट सहे। अतएव सम्यक्त्व और सदाचारको सुरक्षित रखते हुए पुत्रोंको अपने पिताकी कठोरतम भी आज्ञाका पालन करना चाहिये ॥८१॥

जो पुत्र माता-पिता द्वारा अनेक प्रकारके मनोरथों या ईश्वर-आदिसे की हुई याचनाओं द्वारा बड़ी कठिनाई से मिलता है, ऐसे दुर्लभ पुत्रके विषयमें उसके माता-पिता किसप्रकार अनिष्ट चिन्तवन कर सकते हैं ? नहीं सकते ॥८२॥

गुरु[2] विद्वान् के उद्धरणका भी पुत्र-रक्षा के विषय में यही अभिप्राय है ॥१॥

क्योंकि निरपराध मारे जानेवाले पुरुषके वध-बंधनादि कष्ट स्वयं हिंसकको भोगने पड़ते हैं, इसलिये क्या बुद्धिमान पुरुषोंको ऐसा अनिष्ट खोटा-कार्य करना चाहिये ? नहीं करना चाहिये ॥८३॥

---

१ तथा च शुक्रः—जनापवादसहितं यद्राज्यमिह कीर्त्यते । प्रभूतमपि तन्मिथ्या तत्रापाय राजसंस्थिते ॥१॥

२ तथा च गुरुः—उपयाचितसंघातैर्यः कृच्छ्रेण प्रलभ्यते । तस्मादात्मजस्य नो पापं चिन्तनीयं कथंचन ॥१॥

गर्ग[1] विद्वान् ने भी उक्त दुष्कृत्य (निरपराधी का वध) करनेका निषेध किया है ॥१॥

राजपुत्रोंके सुखीहोनेका कारण, दूषित राज-लक्ष्मी, निष्प्रयोजन कार्यसे हानि व उसका दृष्टान्त द्वारा समर्थन, राज्य के योग्य उत्तराधिकारी व अपराधीकी पहिचान—

ते खलु राजपुत्राः सुखिनो येषां पितरि राजभारः ॥८४॥ अलं तया श्रिया या किमपि सुखं जनयन्ती व्यासंगपरंपराभिः शतशो दुःखमनुभावयति ॥८५॥ निष्फलो ह्यारम्भः कस्य नामोदर्केण सुखावहः ॥८६॥ परक्षेत्रं स्वयं कृषतः कर्षापयतो वा फलं पुनस्तस्यैव यस्य तत्क्षेत्रम् ॥८७॥ सुतसोदरसपत्नपितृव्यकुल्यदौहित्रागन्तुकेषु पूर्वपूर्वाभावे भवत्युत्तरस्य राज्यपदावाप्तिः[A] ॥८८॥ शुष्कश्यामसुखता वाक्स्तम्भः स्वेदो विजृम्भणमतिमात्रं वेपथुः प्रस्खलनमास्यप्रेक्षणमावेगः कर्मणि भूमौ वानवस्थानमिति दुष्कृतं कृतः करिष्यतो वा लिंगानि ॥८९॥

अर्थ—वे राजपुत्र निश्चयसे सुखी माने गये हैं, जिनके पिता राज्यकी बागडोर अपने हाथमें लिये हों; क्योंकि वे (राजपुत्र) राज्य-शासन के कठिन कार्यभारको संभालने आदिसे निश्चिन्त रहते हैं ॥८४॥

अत्रि[2] विद्वानके श्लोक का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

राजाको उस राजलक्ष्मीसे कोई लाभ नहीं, जो उसे थोड़ासा सुखी करनेके उपरान्त अनेक चिन्ताओं द्वारा सैकड़ों कष्टोंको उत्पन्न कर देती हो ॥८५॥

कौशिक[3] विद्वानने भी सुखकी अपेक्षा अधिक कष्ट देने वाली राजलक्ष्मीको व्यर्थ बताया है ॥१॥

फलशून्य—निष्प्रयोजन (उद्देश्य व लक्ष्य-हीन) कार्य का आरम्भ भविष्यमें किसे सुखी बना सकता है? किसी को नहीं। अतएव विवेकी मनुष्यको सोच-समझकर कार्य करना चाहिये ताकि भविष्यमें वह उससे सुखी होसके ॥८६॥ जो मनुष्य दूसरेके खेतको स्वयं जोतता है या अन्य किसीसे जुतवाता है, उसका परिश्रम व्यर्थ है, क्योंकि ऐसा करने से उसे कुछभी लाभ नहीं होता, क्योंकि उसमें जो कुछभी धान्य-आदि की उपज होगी; वह इसे न मिलकर उस खेतके स्वामीको ही मिलेगी ॥८७॥

कौशिक[4] विद्वानके उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

१—राजपुत्र, २—राजाका भाई, ३—पटरानीको छोड़कर दूसरी रानीका पुत्र, ४—राजाका चाचा ५—राजाके वंशका पुत्र, ६—राजकुमारीका पुत्र और ७—बाहरसे आकर राजाके पास रहनेवाला—दत्तक

---

१ तथा च गर्गः—अनिष्टमपि कर्तव्यं कर्म पुंभिर्विचक्षणैः। तस्य भेदन्यमानस्य यज्जातं तत्स्वयं भवेत् ॥१॥

A 'सुत-सोदर-सापत्न-पितृव्य-कुल्य-दौहित्रागन्तुकेषु पूर्वपूर्वाभावे ह्युत्तरोत्तरस्य दायव्याप्तिः' इस प्रकार का पाठान्तर मू० प्रतियोंमें है, जिसका अर्थ यह है कि उक्त सात व्यक्ति क्रमशः दायभागके अधिकारी हैं।

२ तथा च अत्रिः—येषां पिता वहेदत्र राज्यभारं सुदुर्वहम्। राजपुत्रा सुखाढ्याश्च ते भवन्ति सदैव हि ॥१॥

३ तथा च कौशिकः—अल्पसौख्यकरा या च बहुक्लेशप्रदा भवेत्। वृथा सात्र परिज्ञेया लक्ष्म्याः सौख्यफलं यतः ॥१॥

४ तथा च कौशिकः—परक्षेत्रे तु यो बीजं परिक्षिपति मन्दधीः। परिक्षेपयतो वापि तत्फलं क्षेत्रपस्य हि ॥१॥

पुत्र-आदि इन सात प्रकारके राज्याधिकारियों मेंसे सबसे पहिले राजपुत्रको और उसके न रहने पर भाई-आदिको यथाक्रमसे राजा बनाना चाहिये ॥८८॥

शुक्र[1] विद्वान्का भी राजाके बाद राज्यके उत्तराधिकारी बनाने के विषय में यही मत है ॥१॥

जो पुरुष पूर्वमें पाप कर चुका हो, वर्तमानमें कर रहा हो और भविष्य में करेगा, उसके निम्न-प्रकारके लक्षणोंको देखकर न्यायाधीशों को उसके पापी (अपराधी) होनेके विषयमें पहिचान करनी चाहिये।

१—जिसका चेहरा उदास (म्लान) और काला दिखाई पड़ता हो, २—जिसके मुखसे स्पष्ट वचन न निकलते हों—न्यायालय में प्रश्न पूछे जाने पर जो उत्तर देनेमें असमर्थ हो, ३—जिसे लोगोंके समक्ष पसीना आता हो, ४—जो बार-बार जंभाई लेता हो, ५—जो अत्यन्त कांप रहा हो ६—जो लड़खडाते पैरों से चलता हो, ७—जो दूसरोंके मुखोंकी ओर बारबार देखता हो ८—जो अत्यन्त जल्दबाज हो और ९ जो स्थिरतासे कार्य न करता हो वा जो स्थिर भावसे जमीन पर या एक स्थान पर न बैठता हो ॥८९॥

शुक्र[2] विद्वान् का भी अपराधी-पुरुषोंकी पहिचानके विषय में यही मत है ॥१॥

इति राजरक्षा समुद्देश।

---

२५ दिवसानुष्ठान-समुद्देश।

नित्यकर्तव्य, सुखपूर्वक निद्रासे लाभ, सूर्योदय व सूर्यास्त की वेला में शयनसे हानि-आदि—

ब्राह्मे मुहूर्ते उत्थायेति कर्तव्यतायां समाधिमुपेयात् ॥१॥ सुखनिद्राप्रसन्ने हि मनसि प्रतिफलन्ति यथार्थग्राहिका बुद्धयः ॥२॥ उदयास्तमनशायिषु धर्मकालातिक्रमः ॥३॥ आत्मवक्त्रमाज्ये दर्पणे वा निरीक्षेत ॥४॥ न प्रातर्वर्षधरं विकलाङ्गं वा पश्येत् ॥५॥ सन्ध्यासु धौतमुखं जप्त्वा देवतोऽनुगृह्णाति[A] ॥६॥ नित्यमदन्तधावनस्य नास्ति मुखशुद्धिः ॥७॥ न कार्यव्यासङ्गेन शारीरं कर्मोपहन्यात् ॥८॥ न खलु युगैरपि तरङ्गविगमात् सागरे स्नानं ॥९॥ वेग-व्यायाम-स्वाप-स्नान-भोजन स्वच्छन्दवृत्तिं कालान्नोपरुन्ध्यात् ॥१०॥

अर्थ—मनुष्यको ब्राह्ममुहूर्त में उठकर स्थिर चित्तसे इस समुद्देश में कहे जानेवाले सत्यकर्तव्यों का पालन करना चाहिये ॥१॥ जिस मनुष्यका चित्त सुखपूर्वक गाढ़ निद्रा लेनेसे स्वस्थ रहता है, उसमें

१ तथा च शुक्रः—सुतः सोदरसापत्नपितृव्या गोत्रिणस्तथा। दौहित्रागन्तुका योग्या पदे राज्ञो यथाक्रमम् ॥१॥

२ तथा च शुक्रः—आयाति स्खलितैः पादैः सभायां पापकर्मकृत्। प्रस्वेदनेन संयुक्तो ह्यधोदृष्टिः सुदुर्मनाः ? ॥१॥

३ मु. मू. प्रति में इसके पश्चात् 'रजस्वलां' ऐसा अधिक पाठ है, जिसका अर्थ यह कि मनुष्य प्रातःकाल रजस्वला स्त्री को भी न देखे।

A उक्त पाठ मु. मू. प्रतिसे संकलन किया गया है।

समस्त बुद्धियां यथार्थ होकर प्रतिबिम्बित होजाती हैं ॥२॥ सूर्योदय व सूर्यास्तके समय सोनेवाले पुरुष सामायिक-आदि धार्मिक अनुष्ठान नहीं कर पाते; अतएव उन्हें यह समय सोने में खराब नहीं करना चाहिये ॥३॥ प्रातःकाल उठकर मनुष्यको अपना मुख घृत अथवा शीशा—दर्पणमें देखना चाहिये ॥४॥ मनुष्य सुवह नपुंसक व अंगोपांग-हीन (लूले-लंगड़े-आदि) को न देखे ॥५॥

तीनों सन्ध्याओं में मुख शुद्ध करके जप करनेवाले व्यक्तिका ऋषभादि तीर्थंकर देव अनुग्रह करते हैं ॥६॥

जो पुरुष हमेशा दांतोन नहीं करता—उसकी मुख-शुद्धि नहीं हो पाती। अतः सुन्दर स्वास्थ्य की कामना करनेवाले मनुष्य को सुबह-शाम विधिपूर्वक दांतोन करते हुए इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि मसूड़ों को तकलीफ न हो और दांतोन भी नीम जैसी तिक्तरसवाली हो। ऐसा करनेसे कफादिक से उत्पन्नहुई मुखकी दुर्गन्धि नष्ट होजाती है और दांत भी सुन्दर व चमकीले दिखाई पड़ने लगते हैं ॥७॥

मनुष्यको किसी कार्यमें आसक्त होकर शारीरिक क्रियाओं (मल-मूत्रादि का यथासमय क्षेपण-आदि) को न रोकना चाहिये ॥८॥ नैतिक मनुष्यको कदापि समुद्रमें स्नान नहीं करना चाहिये, चाहे समुद्रमें चिरकालसे तरंगों का उठना बन्द हो गया हो ॥९॥ शारीरिक स्वास्थ्यके इच्छुक व्यक्तिको मल-मूत्रादिका वेग, कसरत, नींद, स्नान, भोजन और ताजी हवा में घूमना-आदि की यथासमय प्रवृत्ति नहीं रोकनी चाहिये। अर्थात् उक्त कार्य यथासमय करने चाहिये ॥१०॥

वीर्य व मल-मूत्रादिके वेगोंको रोकने से हानि, शौच तथा गृह-प्रवेशकी विधि व व्यायाम—

शुक्रमलमूत्रमरुद्वेगसंरोधोऽश्मरीभगन्दर-गुल्मार्शसां हेतुः ॥११॥ गन्धलेपावसानं शौचमाचरेत् ॥१२॥ बहिरागतो नानाचाम्य गृहं प्रविशेत् ॥१३॥ गोसर्गे व्यायामो रसायनमन्यत्र क्षीणा-जीर्णवृद्धवातकिरूक्षभोजिभ्यः ॥१४॥ शरीरायासजननी क्रिया व्यायामः ॥१५॥ शस्त्रवाहनाभ्यासेन व्यायामं सफलयेत् ॥१६॥ आदेहस्वेदं व्यायामकालमुशन्त्याचार्याः ॥१७॥ बलातिक्रमेण व्यायामः कां नाम नापदं जनयति ॥१८॥ अव्यायामशीलेषु कुतो-ऽग्निदीपनमुत्साहो देहदार्ढ्यं च ॥१९॥

अर्थ—जो व्यक्ति अपने वीर्य, मल, मूत्र और वायुके वेगोंको रोकता है उसे पथरी, भगंदर, गुल्म व बवासीर-आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

चरक[1] विद्वान् ने लिखाहै कि बुद्धिमान् पुरुषको मल-मूत्र, वीर्य वायु, वमन, छींक, उद्गार

---

१ तथा च चरकः—न वेगान् धारयेद्धीमान्जातान् मूत्रपुरीषयोः। न रेतसो न वातस्य न छर्द्याः क्षवथोर्न च ॥१॥ नोद्गारस्य न जृम्भाया न वेगान् क्षुत्पिपासयोः। न वाष्पस्य न निद्राया निःश्वासस्य श्रमेण च ॥२॥ बस्तिमेहनयोः शूलं मूत्रकृच्छ्रं शिरोरुजा। विनामो वङ्क्षणानाहः स्याल्लिङ्गमूत्रनिग्रहे ॥३॥ पक्वाशयशिरःशूलं वातवर्चोऽ-प्रवर्तनम्। पिण्डिकोद्वेष्टनाध्मानं पुरीषे स्याद्विधारिते ॥४॥ मेढ्रे वृषणयोः शूलमङ्गमर्दो हृदि व्यथा। भवेत् प्रतिहते शुक्रे विबद्धं मूत्रमेव च ॥५॥

जंभाई, भूख प्यास, वाष्प, नींद और परिश्रमसे होनेवाले श्वासोच्छ्वासके वेगों को नहीं रोकना चाहिये। क्योंकि मूत्रका वेग रोकने से गुदा और जननेन्द्रियमें पीड़ा, पेशाब करनेमें कष्ट व शरीरमें पीड़ा होती है एवं शरीर झुक जाता है तथा अंडकोषोंकी वृद्धि होजाती है। मलका वेग रोकने से पक्वाशय और शिरमें पीड़ा-आदि होते हैं। वीर्यके वेगको रोकनेसे जननेन्द्रिय व अण्डकोषों में पीड़ा और पेशाबका रुकजाना-आदि उपद्रव होजाते हैं—इत्यादि। अतः स्वास्थ्य चाहनेवालेको उक्त वेग नहीं रोकना चाहिये ॥११॥

शौचके पश्चात् गुदा और हस्त-पाद आदिकी शुद्धि मुल्तानी मिट्टी और जलसे करनी चाहिये व अन्तमें उन अंगोंमें सुगन्धित द्रव्य का लेप करना चाहिये, ताकि दुर्गन्धि नष्ट होकर चित्त प्रसन्न रहे ॥१२॥ बाहरसे आया हुआ व्यक्ति आचमन (कुरला) किये बिना अपने गृहमें प्रवेश न करे ॥१३॥

जिनकी शारीरिक शक्ति क्षीण होगई हो—जिनके शरीरमें खून की कमी हो, ऐसे दुर्बल मनुष्य अजीर्ण रोग-युक्त, शरीरसे वृद्ध, लकवा-आदि वात-रोगी और रूक्ष-भोगी मनुष्योंको छोड़कर दूसरे स्वस्थ बालक और नवयुवकोंके लिये प्रातःकाल व्यायाम करना रसायन के समान लाभदायक है ॥१४॥

चरक[1] विद्वान् ने भी उक्त बात का समर्थन किया है ॥१॥

शरीरमें परिश्रम उत्पन्न करनेवाली क्रिया (दंड, बैठक व ड्रिल आदि) को 'व्यायाम' कहते हैं ॥१५॥

चरक[2] विद्वान् ने भी कहा है कि शरीरको स्थिर रखनेवाली शक्तिवर्धिनी व मनको प्रिय लगनेवाली शस्त्र संचालन-आदि शारीरिक क्रिया को व्यायाम कहते हैं, इसे उचित मात्रामें करना चाहिये ॥१॥

खड्ग आदि शस्त्र-संचालन तथा हाथी और घोड़े आदिकी सवारीसे व्यायामको सफल बनाना चाहिये ॥१६॥

आयुर्वेदके विद्वान् आचार्य शरीरमें पसीना आने तक व्यायाम का समय मानते हैं ॥१७॥

चरक[3] विद्वान्ने भी अति मात्रामें व्यायाम करनेसे अत्यन्त थकावट, मनमें ग्लानि व ज्वर-आदि अनेक रोगोंके होनेका निर्देश किया है ॥१॥

जो मनुष्य शारीरिक शक्तिको उल्लंघन कर अधिक मात्रामें व्यायाम करता है, उसे कौन-कौन सी शारीरिक व्याधियां नहीं होतीं ? सभी होती हैं ॥१८॥

जो लोग व्यायाम नहीं करते उनको जठराग्निका दीपन, शरीर में उत्साह और दृढ़ता किसप्रकार प्राप्त हो सकती है ? नहीं हो सकती ॥१९॥

---

१ तथा च चरकः—बालवृद्धप्रवाताश्च ये चोच्चैर्बहुभाषकाः। ते वर्जयेयुर्व्यायामं क्षुधितास्तृषिताश्च ये ॥१॥

२ तथा च चरकः—शरीरचेष्टा या चेष्टा स्थैर्यार्था बलवर्द्धिनी। देहव्यायामसंख्याता मात्रया तां समाचरेत् ॥१॥

३ तथा च चरकः—श्रमः क्लमः क्षयस्तृष्णा रक्तपित्तं प्रतामकः। अतिव्यायामतः कासो ज्वरश्छर्दिश्च जायते ॥१॥

चरक[1] विद्वान् ने भी कहा है कि व्यायाम करनेसे शारीरिक लघुता, कर्तव्य करनेमें उत्साह, शारीरिक दृढ़ता, दुःखोंको सहन करने की शक्ति, वात व पित्त आदि दोषोंका क्षय व जठराग्नि प्रदीप्त होती है ॥१॥

निद्राका लक्षण उससे लाभ, दृष्टान्तद्वारा समर्थन, आयु-रक्षक कार्य, स्नानका उद्देश्य व लाभ, स्नानकी निरर्थकता, स्नान-विधि व निषिद्ध स्नान—

इन्द्रियात्ममनोमरुतां सूक्ष्मावस्था स्वापः ॥२०॥ यथासात्म्यं स्वपाद्भुक्तान्नपाको भवति प्रसीदन्ति चेन्द्रियाणि ॥२१॥ सुघटितमपि हितं च भाजनं साधयत्यन्नानि[A] ॥२२॥ नित्यस्नानं द्वितीयमुत्सादनं तृतीयकमायुष्यं चतुर्थकं प्रत्यायुष्यमित्यहीनं सेवेत ॥२३॥ धर्मार्थकामशुद्धिदुर्जनस्पर्शाः स्नानस्य कारणानि ॥२४॥ श्रमस्वेदालस्यविगमः स्नानस्य फलम् ॥२५॥ जलचरस्येव तत्स्नानं यत्र न सन्ति देवगुरुधर्मोपासनानि ॥२६॥ प्रादुर्भवत्क्षुत्पिपासोऽभ्यङ्गस्नानं कुर्यात् ॥२७॥ आतपसंतप्तस्य जलावगाहो दृग्मान्द्यं शिरोव्यथां च करोति ॥२८॥

अर्थ—स्पर्शन, रसना आदि इन्द्रियां, आत्मा, मन और श्वासोच्छ्वासकी सूक्ष्मावस्था 'निद्रा' है ॥२०॥ प्रकृति के अनुकूल यथेष्ट निद्रा लेनेसे खाये हुए भोजन का परिपाक होजाता है और समस्त इन्द्रियां प्रसन्न रहती हैं ॥२१॥ जिसप्रकार साबित व खुला हुआ बर्तन अन्न पकाने में समर्थ होता है; इसीप्रकार यथेष्ट निद्रासे स्वस्थ शरीर भी कर्तव्य-पालनमें समर्थ होता है ॥२२॥

नित्यस्नान, स्निग्ध पदार्थोंसे उबटन करना, आयुरक्षक प्रकृति-ऋतुके अनुकूल आहार-विहार प्रत्यायुष्य (शरीर और इन्द्रियोंको सुरक्षित और शक्तिशाली बनाने वाले कार्य—पूर्वोक्त मल-मूत्रादिके वेगों को न रोकना, व्यायाम व मालिश-आदि) कार्य करनेमें न्यूनता (कमी) न करनी चाहिये। अर्थात् उक्त कार्यों को यथाविधि यथाप्रकृति सम्पन्न करना चाहिये ॥२३॥

मनुष्यको धर्म, अर्थ और काम-शुद्धि रखनेके लिये एवं दुष्टोंका स्पर्श होजाने पर स्नान करना चाहिये ॥२४॥ स्नान करनेसे शरीरकी थकावट आलस्य और पसीना नष्ट होजाते हैं ॥२५॥

---

१ तथा च चरकः—लाघवं कर्मसामर्थ्यं स्थैर्यं दुःखसहिष्णुता। दोषक्षयोऽग्निवृद्धिश्च व्यायामादुपजायते ॥१॥

A उक्त सूत्र मु० मू० प्रतिसे संकलन किया गया है, सं० टी० पुस्तक में 'अघटितमपि हितं च भाजनं न साधयत्यन्नानि' ऐसा पाठ है, परन्तु विशेष अर्थ-भेद नहीं। इसके पश्चात् 'हस्तपादमर्दनमुत्साहवर्द्धनमायुष्यं त्रिगुह्यं रक्तकर्म कृत्या (?) पुण्यं स्त्री गुह्यं रोमावहरणं दशमेऽह्नि नित्यं स्नानम्' ऐसा पाठ अधिक है परन्तु अशुद्ध होनेसे ठीक अर्थ प्रतीत नहीं होता। किन्तु प्रकरणानुसार अर्थ यह है कि हाथों और पैरोंका मर्दन कराना, उत्साहवर्द्धक व आयुरक्षक है तथा रजस्वला स्त्रीका सेवन नहीं करना चाहिये एवं प्रसूता स्त्रीको दसवें दिन स्नान करना चाहिये परन्तु डेढ़ माहके पश्चात् ही उसका उपभोग करना चाहिये।

चरक[1] विद्वान् ने भी कहा है कि स्नान शरीरको पवित्र करनेवाला, कामोद्दीपक, आयुवर्द्धक, परिश्रम, पसीना व शरीरके मलको दूर करनेवाला, शारीरिक शक्ति वर्द्धक और शरीरको तेजस्वी बनाने वाला है ॥१॥

जो व्यक्ति देव, गुरु और धर्मकी उपासनाके उद्देश्य से स्नान नहीं करता उसका स्नान पक्षियों की तरह निरर्थक है ॥२६॥ भूखे और प्यासे मनुष्यको मालिश करने के बाद स्नान करना चाहिये ॥२७॥ जो व्यक्ति सूर्य-आदि की गर्मी से संतप्त होकर जलमें प्रविष्ट होता है (स्नान करता है), उसके नेत्रोंको रोशनी मंद पड़ जाती है और शिरमें पीड़ा होजाती है, अतः गर्मी से पीड़ित व्यक्ति तत्काल स्नान न करे ॥२८॥

आहार सम्बन्धी स्वास्थ्योपयोगी सिद्धान्त—

बुभुक्षाकालो भोजनकालः ॥२६॥ अक्षुधितेनामृतमप्युपभुक्तं च भवति विषं ॥३०॥ जठराग्निं वज्राग्निं कुर्वन्नाहारादौ सदैव वज्रकं वलयेत् ॥३१॥ निरन्नस्य सर्वं द्रवद्रव्यमग्निं नाशयति ॥३२॥ अतिश्रमपिपासोपशान्तौ पेयायाः परं कारणमस्ति ॥३३॥ घृताधरोत्तरभुञ्जानोऽग्निं दृष्टिं च लभते ॥३४॥ सकृद्भूरि नीरोपयोगो वन्हिमवसादयति ॥३५॥ क्षुत्कालातिक्रमादन्नद्वेषो देहसादश्च भवति ॥३६॥ विध्याते वन्हौ किं नामेन्धनं कुर्यात् ॥३७॥ यो मितं भुंक्ते स बहु भुंक्ते ॥३८॥ अप्रमितमसुखं विरुद्धमपरीक्षितमसाधुपाकमतीतरसमकालं चान्नं नानुभवेत् ॥३९॥ फल्गुभुजमननुकूलं क्षुधितमतिक्रूरं च न भुक्तिसमये सन्निधापयेत् ॥४०॥ गृहीतग्रासेषु सहभोजिष्वात्मनः परिवेषयेत् ॥४१॥ तथा भुञ्जीत यथासायमन्येद्युश्च न विपद्यते वन्हिः ॥४२॥ न भुक्तिपरिमाणे सिद्धान्तोऽस्ति ॥४३॥ वन्ह्यभिलापायत्तं हि भोजनं ॥४४॥ अतिमात्रभोजी देहमग्निं च विधुरयति ॥४५॥ दीप्तो वन्हिर्लघुभोजानाद्बलं क्षपयति ॥४६॥ अत्यशितुर्दुःखेनान्नपरिणामः ॥४७॥ श्रमार्तस्य पानं भोजनं च ज्वराय छर्दये वा ॥४८॥ न जिहत्सुर्न प्रस्रोतुमिच्छुर्नासमञ्जसमनाश्च नानपनीय पिपासोद्रेकमश्नीयात् ॥४९॥ भुक्त्वा व्यायामव्यवायौ सद्यो व्यापत्तिकारणं ॥५०॥ आजन्मसात्म्यं विषमपि पथ्यं ॥५१॥ असात्म्यमपि पथ्यं सेवेत न पुनः सात्म्यमप्यपथ्यं ॥५२॥ सर्वं बलवतः पथ्यमिति न कालकूटं सेवेत ॥५३॥ सुशिक्षितोऽपि विषतंत्रज्ञो म्रियत एव कदाचिद्विषात् ॥५४॥ संविभज्यातिथिष्वाश्रितेषु च स्वयमाहरेत् ॥५५॥

अर्थ—भूख लगने का समय ही भोजन का समय है। सारांश यह है कि विवेकी पुरुष अहिंसाधर्म की रक्षार्थ रात्रि-भोजन का त्यागकर दिनमें भूख लगने पर प्रकृति-ऋतु के अनुकूल भोजन करे, विना भूख कदापि भोजन न करे ॥२६॥

---

१ तथा च चरकः—पवित्रं वृष्यमायुष्यं श्रमस्वेदमलापहम्। शरीरबलसन्धानं स्नानमोजस्करं परम् ॥१॥

चरक[1] विद्वान् ने भी देश, काल, अग्नि, मात्रा, प्रकृति, संस्कार, वीर्य कोष्ठ, अवस्था व क्रम-आदि से विरुद्ध आहार को अहितकारक—अनेक रोग पैदा करनेवाला—कहा है। उसमें जो व्यक्ति भूखा न होने पर भी किसी कार्य विशेषसे मल-मूत्र का वेग रोककर आहार करता है, उसके आहार को क्रम-विरुद्ध कहा है। अज्ञानवश ऐसा (क्रम-विरुद्ध) आहार—करनेवाला अनेक रोगोंसे पीड़ित होजाता है, अतः भूख लगनेपर ही भोजन करना चाहिये।

क्योंकि विना भूख के खाया हुआ अमृत भी विष होजाता है, अतः क्षुधा (भूख) लगने परही भोजन करना चाहिये ॥३०॥ जो मनुष्य सदा आहार के आरम्भ में अपनी जठराग्नि को वज्रकी अग्नि समान प्रदीप्त करता है, वह वज्रके समान शक्तिशाली होजाता है ॥३१॥ बुभुक्षित—भूखा मनुष्य यदि अन्न न खाकर केवल घी-दूध-आदि तरल पदार्थ पीता रहे, तो वह अपनी जठराग्निको नष्ट कर डालता है, अतः तरल पदार्थों के साथ २ अन्न-भक्षण भी करना चाहिये ॥३२॥ अत्यंत थकावट के कारण उत्पन्न हुई प्यासको शान्त करने में दूध सहायक होता है ॥३३॥ घृत–पान पूर्वक भोजन करनेवाले मनुष्यकी जठराग्नि प्रदीप्त होती है और नेत्रोंकी रोशनी भी बढ़ जाती है ॥३४॥ जो एकबार में अधिक परिमाणमें पानी पीता है, उसकी जठराग्नि मन्द होजाती है ॥३५॥ भूख का समय उल्लङ्घन करनेसे अन्न में अरुचि व शरीर में कृशता–कमजोरी होजाती है। अतः भूखके समयका उल्लङ्घन नहीं करना चाहिये ॥३६॥

जिसप्रकार अग्निके बुझ जानेपर उसमें ईंधन डालनेसे कोई लाभ नहीं, उसीप्रकार बुभुक्षा-काल के उल्लङ्घन करनेसे जठराग्निके बुझजाने पर भोजन करनेसे भी कोई लाभ लाभ नहीं। अतः उसके प्रदीप्त होनेपर भोजन करना चाहिये ॥३७॥ जठराग्नि के अनुकूल खानेवाला ही स्वस्थता के कारण अधिक खाता है ॥३८॥ स्वास्थ्य-रक्षा चाहने वाले को अज्ञान व लोभ-वश जठराग्निसे अधिक, अहितकर (दुःखदेनेवाला), अपरीक्षित भलीभांति परिपाक न होनेवाला, रसहीन व भूखका समय उल्लङ्घन करके किया हुआ भोजन नहीं खाना चाहिये। अर्थात्–स्वास्थ्य चाहनेवाला व्यक्ति हंसी-मजाक न करता हुआ मौनपूर्वक उष्ण, स्निग्ध, जठराग्निके अनुकूल, पूर्व भोजनके पचजानेपर किया हुआ, इष्टदेशमें वर्तमान व काम-क्रोधादि दुर्भावों को उत्पन्न न करनेवाला आहार न अत्यंत शीघ्रता से और न अत्यंत विलम्ब से करे। चरक विद्वान् ने इस विषय की विशद व्याख्या की है, परन्तु विस्तार के भयसे हम लिखना नहीं चाहते ॥३९॥

नैतिक पुरुष आहारकी वेलामें अल्प-भोजन करनेवाला, अपने से वैर-विरोध रखनेवाला, बुभुक्षित व दुष्ट व्यक्ति को अपने पास न बैठावे; क्योंकि इनकी उपस्थिति भोजन को अरुचिकर बना देती

---

१ तथा च चरकः—आहारजातं तत् सर्वमहितायोपदिश्यते। १/२
यच्चापि देशकालाग्निमात्रासात्म्यानिलादिभिरित्यादि।
यच्चानुत्सृज्य विण्मूत्रं भुङ्क्ते यश्चाबुभुक्षितः। १/२
'तच्च क्रमविरुद्धं स्यात्। चरकसंहिता सूत्रस्थान अ० २६।

है ॥४०॥ भोजन करने वाला व्यक्ति आहारकी बेला (समय) में अपनी थाली भोजन करनेवाले सह-भोजियोंसे वेष्ठित रक्खे ॥४१॥ मनुष्य इसप्रकार—अपनी जठराग्निकी शक्तिके अनुकूल—भोजन करे जिससे उसकी अग्नि शामको वा दूसरे दिन भी मन्द न होने पावे ॥४२॥

भोजन की मात्रा—परिमाण के विषय में कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं है ॥४३॥

निश्चय से मनुष्य जठराग्निकी उत्कृष्ट, मध्यम व अल्प शक्तिके अनुकूल उत्कृष्ट, मध्यम व अल्प-भोजन करे। अर्थात् भूखके अनुसार भोजन करे।

चरक संहिता में भी आहारकी मात्राके विषयमें लिखा है कि 'आहारमात्रा पुनरग्निबलापेक्षिणी' अर्थात् आहारकी मात्रा मनुष्यकी जठराग्निकी उत्कृष्ट, मध्यम व अल्प शक्तिकी अपेक्षा करती है (उसके अनुकूल होती है), अतः जठराग्नि की शक्तिके अनुकूल आहार करना चाहिये ॥४४॥

भूखसे अधिक खानेवाला व्यक्ति अपना शरीर व जठराग्निको क्षीण करता है ॥४५। प्रदीप्त हुई जठराग्नि भूखसे थोड़ा भोजन करने से शारीरिक शक्ति नष्ट कर देती है ॥४६॥ भूखसे अधिक खानेवाले के अन्नका परिपाक बड़ी कठिनाई से होता है ॥४७॥

परिश्रम से पीड़ित व्यक्ति द्वारा तत्काल पिया हुआ जल व भक्षण किया हुआ अन्न ज्वर वा वमन पैदा करता है ॥४८॥

मल-मूत्रका वेग व प्यासको रोकनेवाले व अस्वस्थ चित्तवाले व्यक्ति को उस समय भोजन नहीं करना चाहिये क्योंकि इससे अनेक रोग उत्पन्न होजाते हैं; अतः शौचादिसे निवृत्त होकर स्वस्थचित्तसे भोजन करे ॥४९॥ भोजन करके तत्काल व्यायाम अथवा मैथुन करना आपत्तिजनक है ॥५०॥ जीवन के शुरूसे सेवन किया जानेसे प्रकृति के अनुकूल हुआ विष भी सेवन करने पर पथ्य माना गया है ॥५१ मनुष्यको पूर्वकालीन अभ्यास न होनेपर भी पथ्य—हितकारक—वस्तु का सेवन करना चाहिये, परन्तु पूर्वका अभ्यासी होने पर भी अपथ्य वस्तु का सेवन नहीं करना चाहिये ॥५२॥ बलवान मनुष्य ऐसी समझकर कि मुझे सभी वस्तुएं पथ्य हैं, विष का कदापि सेवन न करे ॥५३॥

क्योंकि विष की शोधनादि विधिको जाननेवाला सुशिक्षित मनुष्य भी विषभक्षणसे मर ही जाता है; इसलिये कदापि विषभक्षण न करे ॥५४॥

मनुष्यको अपने यहां आये हुए अतिथियों और नौकरों के लिये आहार देकर स्वयं भोजन करना चाहिये ॥५५॥

सुख-प्राप्तिका उपाय, इन्द्रियोंको शक्तिहीन करने वाला कार्य, ताजी हवामें घूमना व समर्थन, सदा सेवन-योग्य वस्तु, बैठने के विषय में, शोकसे हानि, शरीर-गृहकी शोभा, अविश्वसनीय व्यक्ति, ईश्वर-स्वरूप व उसकी नाममाला—

देवान् गुरून् धर्मं चोपचरन्न व्याकुलमतिः स्यात् ॥५६॥ व्याक्षेपभूमनोनिरोधो मन्दयति सर्वाण्यपीन्द्रियाणि ॥५७॥ स्वच्छन्दवृत्तिः पुरुषाणां परमं रसायनम् ॥५८॥ यथाकामसमी-

हानाः किल काननेषु करिणो न भवन्त्यास्पदं व्याधीनाम् ॥५९॥ सततं सेव्यमाने द्वे एव वस्तुनी सुखाय, सरसः स्वैरालापः ताम्बूलभक्षणं चेति ॥६०॥ चिरायोर्ध्वजानुर्जडयति रसवाहिनी र्नसाः ॥६१॥ सततमुपविष्टो जठरमाध्मापयति प्रतिपद्यते च तुन्दिलतां वाचि मनसि शरीरे च ॥६२॥ अतिमात्रं खेदः पुरुषमकालेऽपि जरया योजयति ॥६३॥ नादेवं देहप्रासादं कुर्यात् ॥६४॥ देवगुरुधर्मरहिते पुंसि नास्ति सम्प्रत्ययः ॥६५॥ क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषो देवः ॥६६॥ तस्यैवैतानि खलु विशेषनामान्यर्हन्नजोऽनन्तः शंभुर्बुद्धस्तमोऽन्तक इति ॥६७॥

अर्थ—देव, गुरु व धर्मकी भक्ति करनेवाला कभी भ्रान्तबुद्धि (कर्त्तव्य-पक्षसे विचलित करने वाली बुद्धि-युक्त) नहीं होता ॥५६॥ तिरस्कार कराने वाली भूमिमें स्थित होकर मानसिक-निरोध (ध्यान) करनेसे समस्त इन्द्रियां शिथिल हो जाती हैं, अतः विवेकी पुरुष ऐसी जगह बैठकर धर्मध्यान न करे, जहां उसका अनादर होता हो ॥५७॥ जिसप्रकार उत्तम रसायनके सेवनसे शरीर निरोगी व बलिष्ट होता है, उसीप्रकार शीतल, मंद, सुगंध वायु से संचार करने (घूमने) से भी मनुष्योंका शरीर निरोगी व बलशाली होजाता है ॥५८॥ निश्चयसे वनोंमें अपनी इच्छानुकूल भ्रमण करने वाले हाथी कभी बीमार नहीं होते ॥५९॥ हितैषी आत्मीय शिष्ट पुरुषों के साथ सरस (मधुर) वार्तालाप व पानका भक्षण इन दोनों वस्तुओंका मनुष्यको निरन्तर सेवन करना चाहिये, क्योंकि इनसे सुख प्राप्त होता है ॥६०॥

जो मनुष्य चिरकालतक ऊंचे घुटनोंके बल बैठा रहता है, उसकी रस धारण करने वाली नसें कमजोर पड़जाती हैं ॥६१॥ निरन्तर बैठे रहनेसे मनुष्यकी जठराग्नि मन्द, शरीर स्थूल, आवाज मोटी व मानसिक विचार-शक्ति स्थूल होजाती है ॥६२॥ अत्यन्त शोक करनेसे भी जवानी में भी मनुष्यका शरीर व इन्द्रियां निर्बल व शिथिल हो जाती हैं अतः शोक करना उचित नहीं ॥६३॥ मनुष्य अपने शरीर रूप गृह को ईश्वर-शून्य न करे—उसमें ईश्वरको स्थापित करे ॥६४॥ ईश्वर, गुरू व अहिंसाधर्मकी अवहेलना करनेवाले व्यक्तिके नैतिक और सदाचारी होनेमें किसीको विश्वास नहीं होता, अतः विवेकी पुरुषको शाश्वत कल्याण व लोकमें विश्वासपात्र होने के लिये वीतराग, सर्वज्ञ व हितोपदेशी ऋषभादि तीर्थङ्कर व निर्ग्रन्थ गुरू तथा अहिंसाधर्मका श्रद्धालु होना चाहिये ॥६५॥ ऐसे पुरुष श्रेष्ठको ईश्वर कहते हैं, जोकि जन्म, जरा व मरण-आदि दुःख, ज्ञानावरण दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिया कर्म तथा इनके उदयसे होने वाले राग, द्वेष व मोह-आदि भावकर्म एवं पापकर्म रूपकालिमासे रहित हो—जो वीतराग सर्वज्ञ व हितोपदेशी हो ॥६६॥

यशस्तिलकमें भी आचार्यश्रीने[1] सर्वज्ञ सबलोकका ईश्वर—संसारका दुःख-समुद्रसे उद्धार करने वाले, क्षुधादि १८ दोषोंसे रहित व समस्त प्राणियोंको मोक्षमार्गका प्रत्यक्ष उपदेश करने वाले ऋषभादि तीर्थङ्करों को सत्यार्थ ईश्वर कहा है ॥१॥

---

१ यथा च यशस्तिलके सोमदेवसूरिः—सर्वज्ञं सर्वलोकेशं सर्वदोषविवर्जितं । सर्वसत्वहितं प्राहुराप्तमाप्तमतोचिताः ॥१॥

इसी ईश्वरके अर्हन, अज, अनन्त शंभु, बुद्ध व तमोऽन्तक ये विशेष नाम हैं। सारांश यह है कि उसे त्रिलोक पूज्यतासे 'अर्हन्' जन्मरहित होनेसे 'अज' मृत्यु-शून्यतासे 'अनन्त' आत्मिक सुख-शान्तिको प्राप्त होनेसे 'शंभु' केवल ज्ञानीके कारण 'बुद्ध' अज्ञानांधकार का विध्वंसक होनेसे 'तमोऽन्तक' कहा गया है ॥६७॥

कर्तव्य-पालन, अनियमित समयका कार्य, कर्तव्यमें विलम्ब करनेसे हानि, आत्मरक्षा राज-कर्तव्य, राज-सभामें प्रवेशके अयोग्य, विनय, स्वयं देखरेख करने योग्य कार्य, कुसंगति का त्याग, हिंसा-प्रधान कामक्रीड़ाका निषेध—

आत्मसुखानवरोधेन कार्याय नक्तमहश्च विभजेत् ॥६८॥ कालानियमेन कार्यानुष्ठानं हि मरणसमं ॥६९॥ आत्यन्तिके कार्ये नास्त्यवसरः[A] ॥७०॥ अवश्यं कर्तव्ये कालं न यापयेत् ॥७१॥ आत्मरक्षायां कदाचिदपि न प्रमाद्येत ॥७२॥ सवत्सां धेनुं प्रदक्षिणीकृत्य धर्मासनं यायात् [B] ॥७३॥ अनधिकृतोऽनभिमतश्च न राजसभां प्रविशेत् ॥७४। आराध्य-मुत्थायाभिवादयेत् ॥७५॥ देवगुरुधर्मकार्याणि स्वयं पश्येत् ॥७६॥ कुहकाभिचारकर्मकारिभिः सह न सङ्गच्छेत् ॥७७॥ प्राण्युपघातेन कामक्रीड़ां न प्रवर्तयेत् ॥७८॥

अर्थ—प्रत्येक व्यक्ति शारीरिक-सुखमें बाधा न डालता हुआ दिनरात कर्तव्यपालन करता रहे ॥६८॥ निश्चित समयके उपरान्त किया हुआ कार्य मृत्युके समान हानिकारक है, अतएव नैतिक व्यक्ति-को अपने कार्य निश्चित समय पर ही करने चाहिये, अन्यथा समय ही उसके फलको पी लेता है ॥६९॥

वादीभसिंह[1] आचार्यने भी कहा है कि जिसप्रकार फल लगने पर अनार-आदिके वृक्षोंमें से उन के पुष्प तोड़नेकी अभिलाषा करना व्यर्थ है, उसी प्रकार समय चूकनेपर कार्य करनेसे सफलता-प्राप्ति की आशा व्यर्थ है ॥१॥

नैतिक व्यक्ति शाश्वत् कल्याण करनेवाले सत्कर्तव्योंके पालन में मौका न चूके ॥७०॥ मनुष्यको नैतिक, धार्मिक और आर्थिक-लाभ-आदिके कारण अवश्य करने योग्य कार्योंमें विलम्ब नहीं करना चाहिये, अन्यथा उसका कोई इष्ट प्रयोजन सिद्ध नहीं होपाता ॥७१॥ मनुष्यको शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक कष्टोंको दूर कर अपनी रक्षा करनेमें आलस्य नहीं करना चाहिये ॥७२॥ राजा को बछड़े सहित गायकी प्रद-

---

A 'आत्यन्तिके कार्ये नास्त्यपरो धर्मस्य' ऐसा मु० मू. पुस्तक में पाठान्तर है, जिसका अर्थ यह है कि आत्मकल्याण करने वाले सत्कर्तव्योंमें धर्म मुख्य है, अन्य नहीं, क्योंकि वह नित्य है।

B उक्त सूत्र मु. मू. पुस्तकसे संकलन किया गया है। सं. टी. पुस्तकमें 'सवत्सां धेनुं प्रदक्षिणीकृत्य धर्मोपासनं यायात्' ऐसा पाठ है, जिसका अर्थ यह है कि राजा बछड़े सहित गायकी प्रदक्षिणा देकर धर्मकी उपासना करे।

१ तथा च वादीभसिंहसूरिः—न ह्यकालकृता वाञ्छा संपुष्णाति समीहितं। किं पुष्पावचयः शक्यः फलकाले समागते ॥१॥

क्षत्रचूडामणि १ ला लम्ब।

शिक्षा देकर न्याययुक्त राज्य-सिंहासन पर बैठना चाहिये ॥७३॥ राजकीय अधिकारोंसे हीन व राजा द्वारा न बुलाये गये व्यक्तियोंको राज-सभामें प्रविष्ट नहीं होना चाहिये ॥७४॥ मनुष्यको अपने पूज्य माता, पिता और गुरूजनोंको खड़े होकर नमस्कार करना चाहिये ॥७५॥

मनुष्योंको देवकार्य—देवस्थान (मन्दिर आदि), गुरू कार्य व धर्म-कार्यकी स्वयं देखरेख करनी चाहिये ॥७६॥ विवेकी मनुष्यको कपटी, जारण-मारण व उच्चाटन-आदि करने वाले दुष्ट पुरुषोंकी संगति नहीं करनी चाहिये ॥७७॥

मनुष्यको ऐसे अन्यायके भोगोंमें प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिये, जहाँ पर प्राणियोंका घात हो ॥७८॥

परस्त्री के साथ मातृ-भगिनी भाव, पूज्योंके प्रति कर्तव्य, शत्रुके स्थान में प्रविष्ट होनेका निषेध, रथ-आदि सवारी, अपरीक्षित स्थान-आदि में जानेका निषेध, अगन्तव्य स्थान, उपासना के अयोग्य पदार्थ, कंठस्थ न करने लायक विद्या, राजकीय प्रस्थान, भोजन व वस्त्रादिकी परीक्षाविधि, कर्त्तव्य-काल भोजन-आदिका समय, प्रिय लगने वाले व्यक्तिका विशेष गुण, भविष्य कार्य-सिद्धिके प्रतीक, गमन व प्रस्थानके विषयमें, ईश्वरोपासना का समय व राजाका जाप्य मन्त्र—

जनन्यापि परस्त्रिया सह रहसि न तिष्ठेत् ॥७९॥ नातिक्रुद्धोऽपि मान्यमतिक्रामेदवमन्येत वा ॥८०॥ नाप्ताशोधितपरस्थानमुपेयात् ॥८१॥ नाप्तजनैरनारूढं वाहनमध्यासीत् ॥८२॥ न स्वैरपरीक्षितं तीर्थं सार्थं तपस्विनं वाभिगच्छेत् ॥८३॥ न याष्टिकैरविविक्तं मार्गं भजेत् ॥८४॥ न विषापहारौषधिमणीन् क्षणमप्युपासीत ॥८५॥ सदैव जाङ्गलिकीं विद्यां कण्ठे न धारयेत् ॥८६॥ मंत्रिभिषग्नैमित्तिकरहितः कदाचिदपि न प्रतिष्ठेत् ॥८७॥ वह्नावन्यचक्षुषि च भोज्यमुपभोग्यं च परीक्षेत ॥८८॥ अमृते मरुति प्रविशति सर्वदा चेष्टेत ॥८९॥ भक्तिसुरतसमरार्थी दक्षिणे मरुति स्यात् ॥९०॥ परमात्मना समीकुर्वन् न कस्यापि भवति द्वेष्यः ॥९१॥ मनःपरिजनशकुनपवनानुलोम्यं भविष्यतः कार्यस्य सिद्धेर्लिङ्गम् ॥९२॥ नैकोनक्तं दिवं वा हिंडेत ॥९३॥ नियमितमनोवाक्कायः प्रतिष्ठेत ॥९४॥ अहनि संध्यामुपासीताऽनक्षत्रदर्शनात् ॥९५॥ चतुःपयोधिपयोधरां धर्मवत्सवतीमुत्साहवालधिं वर्णाश्रमखुरां कामार्थश्रवणां नयप्रतापविषाणां सत्यशौचचक्षुषं न्यायमुखीमिमां गां गोपयामि, अतस्तमहं मनसापि न सहे योऽपराध्येत्तस्यै, इतीमं मंत्रं समाधिस्थो जपेत् ॥९६॥

अर्थ—नैतिक पुरुष दूसरेकी स्त्रीके साथ एकान्त में न बैठे, चाहे वह उसकी माता भी क्यों न हो। क्योंकि इन्द्रियों को कावूमें रखना निश्चित नहीं, इसलिये वे विद्वान् को भी अनीतिके मार्गकी ओर आकृष्ट कर देती हैं ॥७९॥ मनुष्यको अत्यंत कुपित होनेपर भी अपने माननीय—माता-पिता-आदि हितैषी पुरुषोंके साथ अशिष्ट व्यवहार व अनादर नहीं करना चाहिये ॥८०॥

मनुष्यको अपने हितैषी पुरुषों द्वारा अपरीक्षित शत्रुके स्थानमें न प्रविष्ट होना चाहिये और न जाना चाहिये, क्योंकि उपद्रव-युक्त स्थान में जाने से संकटोंका सामना करना पड़ता है ॥८१॥ इसीप्रकार अपने विश्वासपात्र व हितैषी पुरुषों द्वारा बिना सवारी किये हुए घोड़े व रथ-आदि वाहनों पर सवारी नहीं करनी चाहिये ॥८२॥

मनुष्य ऐसे तालाब-आदि जलाशय, व्यापारी व तपस्वी के पास न जावे, जो कि उसके आप्त पुरुषों द्वारा परीक्षित न हों ॥८३॥ राजाको पुलिस द्वारा संशोधन न किये हुए मार्गपर नहीं चलना चाहिये, क्योंकि संशोधित मार्गमें कोई खतरा नहीं रहता ॥८४॥ विवेकी पुरुष विषको दूर करनेवाली औषधि व मणिकी क्षण भर भी उपासना न करे ॥८५॥ इसीप्रकार जहर उतारने की विद्या का अभ्यास करे, परन्तु उसे कंठस्थ न करे ॥८६॥ राजाको मंत्री, वैद्य व ज्योतिषी के बिना कभी भी दूसरी जगह प्रस्थान नहीं करना चाहिये ॥८७॥ राजा या विवेकी पुरुषका कर्त्तव्य हैकि वह अपनी भोजन सामग्री को भक्षण करने से पूर्व अग्निमें डालकर परीक्षा करले और यह देखले कि कहीं अग्नि में से नीले रंगकी लपटें न निकलने लगी हों, अगर ऐसा हो, तो समझ लेना चाहिये, कि यह सामग्री जहर-मिश्रित—भक्षणके अयोग्य है। इसीप्रकार वस्त्रादिक की जांच भी अपने आप्त पुरुषों से कराते रहना चाहिये, ताकि उसको सदैव इन विघ्नबाधाओं से रक्षा हो ॥८८॥ मनुष्यको अमृतसिद्धि के योगमें सदा समस्त कार्य करना चाहिये, इससे कार्य-सिद्धि होती है ॥८९॥

जब दक्षिण दिशा की ओर अनुकूल वायुका संचार हो रहा हो, उस समय मनुष्यको भोजन मैथुन व युद्धमें प्रवृत्ति करनी चाहिये, ऐसा करने से उसे उक्त कार्यों में सफलता मिलती है ॥९०॥ ईश्वर से अनुराग करनेवाला अथवा दूसरे को अपने समान समझनेवाला व्यक्ति किसीका द्वेष-पात्र नहीं होता ॥९१॥ मन, सेवक, शकुन व वायुकी अनुकूलता भविष्यमें किये जानेवाले कार्यकी सफलता के ज्ञापक चिन्ह हैं। अर्थात्—हृदय प्रफुल्लित होना, सेवकोंका प्रसन्न रहना व दाहिनी आंख फड़कना—आदि शुभ शकुन इस बात के प्रतीक हैं, कि भविष्यमें उस मनुष्यको सफलता मिलेगी ॥९२॥ अकेला व्यक्ति दिन व रात्रि में गमन न करे ॥९३॥ मनुष्यको अपना मन, वचन व शरीर काबू में रखते हुए—जितेन्द्रिय होकर प्रस्थान करना चाहिये ॥९४॥

प्रत्येक व्यक्ति दिनमें सुबह दुपहर और शाम—तीनों संध्याओं—में नक्षत्र देखने तक ईश्वरकी उपासना करे ॥९५॥ राजाको ध्यानमें स्थित होकर निम्न प्रकार के मंत्रका जाप करना चाहिये कि 'मैं इस पृथिवी रूपी गायकी रक्षा करता हूँ, जिसके चार समुद्र ही थन हैं, धर्म (शिष्ट-पालन व दुष्टनिग्रह) ही जिसका बछड़ाहै, जो उत्साह रूप पूंछवाली है, वर्ण (ब्राह्मण-आदि) व आश्रम (ब्रह्मचारी-आदि) ही जिसके खुर हैं जो काम और अर्थ रूप कानों वाली है, नय व प्रताप ही जिसके सींग हैं, जो सत्य व शौच रूप नेत्रों से युक्त हैं एवं जो न्याय रूप मुख से युक्त है।

इसप्रकार की मेरी पृथिवी रूपी गाय का जो अपराध करेगा (जो इसपर आक्रमण-आदि करेगा) उसे मैं मनसे भी सहन नहीं करूंगा ॥९६॥

भोजनका समय, शक्तिहीन के योग्य आहार, त्याज्य स्त्री, यथाप्रकृतिवाले दम्पति, प्रसन्नचित्त, वशीकरण, मल-मूत्रादि वेगोंको रोकने से हानि, विषय भोगके अयोग्य काल व क्षेत्र, परस्त्री त्याग, नैतिक वेषभूषा व आचरण, आयात और निर्यात व दृष्टान्त द्वारा समर्थन, अविश्वाससे हानि—

कोकवद्दिवाकामो निशि स्निग्धं भुञ्जीत ॥९७। चकोरवन्नक्तंकामो दिवा च । ९८॥ पारावतकामो वृष्यान्नयोगान् चरेत् ॥९९॥ बष्कयणीनां सुरभीणां पयःसिद्धं मापदलपरमान्नं परो योगः स्मरसंवर्द्धने ॥१००॥ नावृपस्यन्तीं स्त्रीमभियायात् ॥१०१॥ उत्तरः प्रवर्षवान् देशः परमरहस्यमनुरागे प्रथम-प्रकृतीनाम् ॥१०२॥ द्वितीयप्रकृतिः सशाद्वलमृदूपवनप्रदेशः ॥१०३। तृतीयप्रकृतिः सुरतोत्सवाय स्यात् ॥१०४॥ धर्मार्थस्थाने लिङ्गोत्सवं लभते ॥१०५॥ स्त्रीपुंसयोर्न समसमायोगात्परं वशीकरणमस्ति ॥१०६॥ प्रकृतिरुपदेशः स्वाभाविकं च प्रयोगवैदग्ध्यमिति समसमायोगकारणानि ॥१०७॥ क्षुत्तर्षपुरीषाभिष्यन्दार्तस्याभिगमो नापत्यमनवद्यं करोति ॥१०८॥ न सन्ध्यासु न दिवा नाप्सु न देवायतने मैथुनं कुर्वीत ॥१०९॥ पर्वणि पर्वणि संधौ उपहते वाह्नि कुलस्त्रियं न गच्छेत ॥११०॥ न तद्गृहाभिगमने कामपि स्त्रियमधिशयीत ॥१११॥ वंशवयोवृत्तविद्याविभवानुरूपो वेषः समाचारो वा कं न विडम्बयति ॥११२॥ अपरीक्षितमशोधितं च राजकुले न किंचित्प्रवेशयेन्निष्कासयेद्वा ॥११३॥ श्रूयते हि स्त्रीवेषधारी कुन्तलनरेन्द्रप्रयुक्तो गूढपुरुषः कर्णनिहितेनासिपत्रेण पल्हवनरेन्द्रं हयपतिश्च मेषविषाणनिहितेन विषेण कुशस्थलेश्वरं जघानेति ॥११४॥ सर्वत्राविश्वासे नास्ति काचित्क्रिया ॥११५॥

अर्थ—चकवा-चकवीके समान दिनमें मैथुन करनेवाला रात्रिमें सचिक्कण वस्तुका भक्षण करे और चकोर पक्षीकी तरह रात्रिमें मैथुन करने वाला दिन में भोजन करे। सारांश यह है कि मनुष्य भी पक्षीकी तरह रात्रिमें मैथुन—कामसेवन करते हैं, अतः उन्हें दिनमें ही भोजन करना चाहिये, इससे अहिंसाधर्म व स्वास्थ्य सुरक्षित रहता है ॥९७-९८॥

—जो कबूतरकी तरह हीनशक्ति होनेपर भी काम-सेवन में प्रवृत्त होते हैं, उन्हें वीर्य-वर्द्धक अन्न—घृत-शर्करा-मिश्रित मालपुआ-आदि-भक्षण करना चाहिये ॥९९॥ एक बार ब्याई हुई गायके दूधसे सिद्ध की हुई उड़दकी खीर खानेसे विशेष कामोद्दीपन होता है ॥१००॥

विषय-भोगसे पराङ्मुख—विरक्त-स्त्रीसे काम-सेवन नहीं करना चाहिये ॥१०१॥ जल-वृष्टिवाले उत्तर देशमें रहनेवाला व वृष प्रकृतिवाला पुरुष पद्मिनी स्त्रियों द्वारा विशेष प्यार किया जाता है। सारांश यह है कि कामशास्त्रमें वृष, शश व अश्व इस प्रकार तीन प्रकृतिवाले पुरुष एवं पद्मिनी शंखिनी और हस्तिनी इस प्रकार तीन प्रकृतिवाली ललनाओंका उल्लेख है, इनमें प्रथमप्रकृतिवाले (वृष) पुरुषसे प्रथम प्रकृतिवाली (पद्मिनी) विशेष अनुराग करती है एवं द्वितीय प्रकृतिवाली शंखिनी स्त्रियां उसी प्रकृतिवाले—

शशप्रकृति—पुरुषको हरी दूब युक्त व कोमल बगीचेके रमणीक प्रदेशकी तरह सुखपूर्वक सेवन करती है। तीसरी अश्वप्रकृति पुरुष अत्यंत वीर्ययुक्त होनेसे मैथुनके समय स्त्रियोंको विशेष संतोष देनेवाला होता है ॥१०२-१०४॥

धर्मस्थान—जिनमन्दिर आदि और अर्थस्थानों (व्यापार-आदि की जगहों) में मनुष्यकी इन्द्रियाँ प्रसन्न रहती हैं ॥१०५॥ स्त्री व पुरुषोंके समसमायोग (एकान्त स्थान में मिलना जुलना. वार्तालाप-आदि) को छोड़कर दूसरा कोई वशीकरण नहीं है ॥१०६॥

निम्न चार उपायोंसे स्त्री पुरुषोंका एकान्त स्थानमें मिलना रूप वशीकरण सफल होता है। १—प्रकृति (स्वभाव) अर्थात् एकान्त में उचित वार्तालाप-आदि द्वारा परस्परके स्वभावका ज्ञान करना, २—उपदेश—अनुकूल करने वाली समुचित शिक्षा, ३—प्रयोग वैदग्ध्य—एकान्तमें की जाने वाली प्रयोग की चतुराई—हंसी-मजाक-आदि ॥१०७॥

भूख, प्यास व मल-मूत्रादिके वेगको रोकनेसे पीड़ित हुआ मनुष्य जब स्त्री-सेवन करता है, तो उससे निर्दोष (निरोग) संतान उत्पन्न नहीं होती ॥१०८॥

विवेकी मनुष्यको प्रातः काल, मध्यान्हकाल व सायंकाल संबंधी तीनों संध्याओंमें, दिनमें, पानीमें और मन्दिरमें मैथुन नहीं करना चाहिये ॥१०९॥ मनुष्यको पर्व (दशलक्षण-आदि) के दिनोंमें, तीनों संध्याओंमें, सूर्य-ग्रहण-आदि भयङ्कर उपद्रवोंसे व्याप्त दिनोंमें अपनी कुलवधू (धर्मपत्नी) का सेवन नहीं करना चाहिये ॥११०॥ किसी स्त्रीके गृह जाकर उसके साथ शयन न करे ॥१११॥ कुटुम्ब, उम्र, सदाचार-कुल-धर्म-आदि—विद्या और धनादि ऐश्वर्यके अनुकूल कीजाने-वाली वेषभूषा और आचरण किसीकोभी दुःखी नहीं बनाता—सभीको सुखी बनाता है। क्योंकि उक्त कुटुम्ब-आदि के अनुकूल वेष व नैतिक प्रवृत्ति करने वालेकी समाज व राष्ट्र में बड़ाई होती है और वह सबका प्रेमपात्र बन जाता है ॥११२॥ राजाको अपने महलोंमें ऐसी वस्तु प्रविष्ट नहीं होने देनी चाहिये और न वहांसे बाहर निकलने देनी चाहिये, जोकि उसके प्रामाणिक हितैषी पुरुषों द्वारा परीक्षित और निर्दोष साबित की हुई न हो ॥११३॥

इतिहासप्रमाण साक्षी है कि कुन्तल देशके राजाद्वारा भेजे हुए स्त्री-भेषधारी गुप्तचरने अपने कानोंके पास छिपाये हुए खड्ग द्वारा पल्लव या पल्हव नरेशको मार डाला। इसी प्रकार हय देशके राजा द्वारा भेजे हुए गूढ़ पुरुषने मेढ़ेके सींगमें रक्खे हुए विष द्वारा कुशस्थल—देशविशेष—के नरेश को मार डाला। अतः अपरीक्षित व असंशोधित वस्तु राज-गृह में प्रविष्ट न होनी चाहिये और न वहांसे बाहिर निकालनी चाहिये ॥११४॥

लोकमें सभी पर विश्वास न करनेवाले व्यक्तिका कोई भी कार्य सिद्ध नहीं हो पाता ॥११५॥

इति दिवसानुष्ठान समुद्देश।

---

२६ सदाचार-समुद्देश।

अत्यधिक लोभ आलस्य व विश्वाससे हानि, बलिष्ट शत्रु-कृत आक्रमण से बचाव परदेशके दोष, पापप्रवृत्तिके कारण प्रतिष्ठा-शून्यकी हानि, व्याधि-पीड़ित व्यक्तिका कार्य, धार्मिक व्यक्तिका महत्व, बीमारकी औषधि व भाग्यशाली पुरुष—

लोभप्रमादविश्वासैर्बृहस्पतिरपि पुरुषो वध्यते वञ्चयते वा ॥१॥ बलवताधिष्ठितस्य गमनं तदनुप्रवेशो वा श्रेयानन्यथा नास्ति क्षेमोपायः ॥२॥ विदेशवासोपहतस्य पुरुषकारः विदेशको नाम येनाविज्ञातस्वरूपः पुमान् स तस्य महानपि लघुरेव ॥३॥ अलब्धप्रतिष्ठस्य निजान्वयेनाहङ्कारः कस्य न लाघवं करोति ॥४॥ आर्तः सर्वोऽपि भवति धर्मबुद्धिः ॥५॥ स नीरोगो यः स्वयं धर्माय समीहते ॥६॥ व्याधिग्रस्तस्य ऋते धैर्यान्न परमौषधमस्ति ॥७॥ स महाभागो यस्य न दुरपवादोपहतं जन्म ॥८॥

अर्थ—बृहस्पतिके समान बुद्धिमान पुरुष भी अधिक लोभ, आलस्य व विश्वास करने से मारा जाता है अथवा ठगा जाता है ॥१॥ बलिष्ट शत्रु द्वारा आक्रमण किये जाने पर मनुष्यको या तो अन्यत्र चले जाना चाहिये अथवा उससे सन्धि कर लेनी चाहिये, अन्यथा उसकी रक्षाका कोई उपाय नहीं ॥२॥

शुक्र[1] विद्वान्ने भी बलिष्ट शत्रु कृत आक्रमण से बचने के विषय में इसीप्रकार कहा है ॥१॥

परदेश-गमनसे दूषित व्यक्तिका अपनी विद्वत्ता-आदिके परिचय करानेका पुरुषार्थ (वक्तृत्वकला आदि) व्यर्थ है, क्योंकि जिसके द्वारा उसका स्वरूप (विद्वत्ता-आदि) नहीं जाना गया है, वह पुरुष उसके महान् होने पर भी उसे छोटा समझ लेता है ॥३॥

अत्रि[2] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

जो पाप-वश समाज व राष्ट्र द्वारा प्रतिष्ठा नहीं पासका और केवल अपने वंशका अभिमान करता है, ऐसे अभिमानीको लोकमें कौन लघु नहीं मानता? सभी लघु मानते हैं ॥४॥ सभी पुरुष व्याधिसे पीड़ित होनेपर मृत्यु के भयसे अपनी बुद्धि धर्ममें लगाते हैं, निरोगी अवस्थामें नहीं ॥५॥

शौनक[3] ने भी व्याधि-पीड़ित मजबूर व्यक्ति को मृत्युके भय से धर्मानुरक्त बताया है ॥१॥

जो मनुष्य स्वयं—बिना किसीकी प्रेरणाके—धर्म करनेकी चेष्टा करता है, वह निरोगी समझा जाता है व पापी निरोगी होने पर भी बीमार माना गया है ॥६॥

हारीत[4] विद्वान्ने भी इसी प्रकार कहा है ॥१॥

---

१ तथा च शुक्रः—बलवान् स्याद्यदा शंसस्तदा देशं परित्यजेत् । तेनैव सह सन्धिं वा कुर्यान्न स्थीयते ऽन्यथा ॥१॥
२ तथा च अत्रिः—महानपि विदेशस्थः स परैः परिभूयते । अज्ञायमानैस्तद्देशमाहात्म्यं तस्य पूर्वकं ॥१॥
३ तथा च शौनकः—व्याधिग्रस्तस्य बुद्धिः स्याद्धर्मस्योपरि सर्वतः । भयेन धर्मराजस्य न स्वभावात् कथंचन ॥१॥
४ तथा च हारीतः—नीरोगः सपरिज्ञेयो यः स्वयं धर्मवाञ्छकः । व्याधिग्रस्तोऽपि पापात्मा नीरोगोऽपि स रोगवान् ॥१॥

धैर्यको छोड़कर रोग-पीड़ित मनुष्यकी दूसरी कोई उत्तम औषधि नहीं है, क्योंकि सैकड़ों मूल्यवान् औषधियोंका सेवन भी उस समय तक बीमारको निरोग नहीं बना सकता, जब तक कि वह धैर्य धारण न करे ॥७॥

धन्वन्तरि[1] विद्वान्ने भी व्याधि-पीड़ित पुरुषके विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

जिस मनुष्यका जीवन कुत्सित (निन्द्य) दोषों (हिंसा, झूठ चोरी, कुशील व परिग्रह-आदि) से नष्ट नहीं हुआ उसे महा भाग्यशाली' कहा जाता है।

गर्ग[2] विद्वानने भी यावज्जीवन निन्दित न होनेवाले व्यक्ति को महा भाग्यशाली कहा है ॥१॥

मूर्खता, भयकालीन कर्तव्य, धनुर्धारी व तपस्वीका कर्तव्य, कृतघ्नतासे हानि, हितकारक वचन, दुर्जन व सज्जनोंके वचन, लक्ष्मीसे विमुख व वंश-वृद्धिमें असमर्थ पुरुष—

पराधीनेष्वर्थेषु स्वोत्कर्षसंभावनं मन्दमतीनाम् ॥९॥ न भयेषु विषादः प्रतीकारः किंतु धैर्यावलम्बनं ॥१०॥ स किं धन्वी तपस्वी वा यो रणे मरणे शरसन्धाने मनः—समाधाने च मुह्यति ॥११। कृते प्रतिकृतमकुर्वतो नैहिकफलमस्ति नामुत्रिकं च ॥१२॥ शत्रुणापि सूक्तमुक्तं न दूषयितव्यम् ॥१३॥ कलहजननमप्रीत्युत्पादनं च दुर्जनानां धर्मः न सज्जनानाम् ॥१४॥ श्रीर्न तस्याभिमुखी यो लब्धार्थमात्रेण सन्तुष्टः ॥१५॥ तस्य कुतो वंशवृद्धिर्यो न प्रशमयति वैरानुबन्धम् ॥१६॥

अर्थ—मूर्ख लोग पराधीन (दूसरोंके द्वाराकी गई) इष्ट प्रयोजन-सिद्धिको स्वतः की हुई समझकर आनन्द प्रगट किया करते हैं ॥९॥

कौशिक[3] विद्वान्ने भी मूर्खोंके विषय में यही लिखा है ॥१॥

मनुष्यको भयके स्थानोंमें घबड़ाना उपकारक नहीं, किन्तु धैर्य-धारण करना ही उपकारक है ॥१०॥

भृगु[4] विद्वान्ने भी भयस्थानोंमें धैर्य रखना लाभ-दायक बताया है ॥१॥

वह धनुर्धारी निन्द्य है, जो युद्धभूमिमें कमान पर तीर चढ़ाकर एकाग्रचित्तसे लक्ष्यभेद करनेमें अज्ञान करता है इसीप्रकार वह तपस्वी भी निन्द्य है, जिसकी चित्तवृत्ति मृत्युके समय आत्मदर्शन, श्रवण, मनन व निदिध्यासन (ध्यान में प्रवृत्त न होकर जीवन, आरोग्य व इन्द्रियोंके भोगोपभोगों में अग्रेसर होती है ॥११॥

---

१ तथा च धन्वन्तरिः—व्याधिग्रस्तस्य यद्धैर्यं तदेव परमौषधं । नरस्य धैर्यहीनस्य किमौषधशतैरपि ॥१॥

२ तथा च गर्गः—आजन्ममरणान्तं च वाच्यं यस्य न जायते । सुसूक्ष्मं स महाभागो विज्ञेयः क्षितिमण्डले ॥१॥

३ तथा च कौशिकः—कार्येषु सिद्ध्यमानेषु परस्य वशगेषु च । आत्मीयेष्विव तेष्वेव तुष्टिं याति स मन्दधीः ॥१॥

४ तथा च भृगुः—भयस्थाने विषादं यः कुरुते स विनश्यति । [तस्मै तज्जयदं ज्ञेयं] यच्च धैर्यावलम्बनं ॥१॥

—संशोधित व परिवर्तित, सम्पादक ।

नारद[1] विद्वान्‌के उद्धरणका भी यही आशय है ॥१॥

उपकार करनेवालेके साथ प्रत्युपकार न करनेसे एवं किसीके द्वारा अपकृत होने पर अपकार द्वारा उसका प्रतीकार (शोधन) न करने से ऐहिक व पारलौकिक इष्टफल नहीं मिलता ॥१२॥

हारीत[2] विद्वान्‌ने भी कृतघ्नके विषयमें इसी प्रकार कहा है ॥१॥

नैतिक पुरुष शत्रु द्वारा भी कहे हुए न्याय-युक्त व हितकारक वचनों को दोष-युक्त न बतावे और उनपर सदा अमल करता रहे ॥१३॥

नारद[3] के उद्धरणका भी यही अभिप्राय है ॥१॥

दुष्टोंके वचन कलह (वैर-विरोध) व द्वेष उत्पन्न करने वाले होते हैं जब कि सज्जन महापुरुषोंके वचन ऐसे नहीं होते किंतु कल्याणकारक होते हैं ॥१४॥

भारवि[4] विद्वान के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

जो मनुष्य प्राप्त किये हुए साधारण धन से ही संतुष्ट रहता है, उसके पास लक्ष्मी नहीं जाती, अतः न्यायोचित साधनों द्वारा धन-संचय करनेमें प्रयत्नशील रहना चाहिये ॥१५॥

भागुरि[5] विद्वान्‌ने भी लक्ष्मी के विमुख रहने का यही कारण बताया है ॥१॥

जो पुरुष शत्रुओं द्वारा की जाने वाली वैर-विरोध की परम्परा को साम, दान, दंड व भेद-आदि नैतिक उपायोंसे नष्ट नहीं करता उसकी वंश-वृद्धि किस प्रकार हो सकती है ? नहीं होसकती ॥१६॥

शुक्र[6] विद्वान्‌ने भी शक्तिशाली वंश के ह्रासके विषयमें यही कहा है ॥१॥

उत्तमदान, उत्साह से लाभ, सेवक के पाप कर्मका फल, दुःखका कारण, कुसंग का त्याग, क्षणिकचित्त वालेका प्रेम, उतावले का पराक्रम व शत्रु-निग्रह का उपाय—

भीतेष्वभयदानात्परं न दानमस्ति ॥१७॥ स्वस्यासंपत्तौ न चिन्ता किंचित्कांक्षितमर्थं [प्रसूते] दुग्धे किन्तूत्साहः ॥१८॥ स खलु स्वस्यैवापुण्योदयोऽपराधो वा सर्वेषु कल्प-फलप्रदोऽपि स्वामी भवत्यात्मनि वन्ध्यः ॥१९॥ स सदैव दुःखितो यो मूलधनमसंवर्धयन्न-नुभवति ॥२०॥ मूर्खदुर्जनचाण्डालपतितैः सह संगतिं न कुर्यात् ॥२१॥ किं तेन तुष्टेन

---

१ तथा च नारदः—व्यर्था यान्ति शरा यस्य युद्धे स स्यान्न चापधृक् । योगिनोऽत्यन्तकालेन स्मृति (?) न च योगवान् ॥१॥

२ तथा च हारीतः—कृते प्रतिकृतं नैव शुभं वा यदि वाशुभं । यः करोति च मूढात्मा तस्य लोकद्वयं न हि ॥१॥

३ तथा च नारदः—शत्रुणापि हि यत् प्रोक्तं सालङ्कारं सुभाषितं । न तद्दोषेण संयोज्यं ग्राह्यं बुद्धिमता सदा ॥१॥

४ तथा च भारविः—खलो वदति यद्वाक्यं कलहः संप्रजायते । सज्जनो धर्ममाचष्टे तच्छ्रोतव्यं क्रिया तथा ॥१॥

५ तथा च भागुरिः—अल्पेनापि प्रलब्धेन यो द्रव्येण प्रतुष्यति । पराङ्मुखी भवेत्तस्य लक्ष्मीर्नैवात्र संशयः ॥१॥

६ तथा च शुक्रः—सामादिभिरुपायैर्यो वैरं नैव प्रशामयेत् । बलवानपि तद्वंशो नाशं याति शनैः शनैः ॥१॥

यस्य हरिद्राराग इव चित्तानुरागः ॥२२॥ स्वात्मानमविज्ञाय पराक्रमः कस्य न परिभवं करोति ॥२३॥ नाक्रान्तिः पराभियोगस्योत्तरं किन्तु युक्तेरुपन्यासः ॥२४॥ राज्ञोऽस्थाने कुपितस्य कुतः परिजनः ॥२५॥

अर्थ—भूख, प्यास और शत्रुकृत उपद्रव-आदि से व्याकुल हुए प्राणियोंको अभयदान (उनकी रक्षा) देनेके सिवाय संसारमें कोई उत्तम दान नहीं है ॥१॥

जैमिनि[1] विद्वान्ने भी सभी दानोंसे अभयदान को ही उत्तम बताया है ॥१॥

धन न होनेपर उसकी प्राप्तिके लिये मनुष्यों द्वारा कीहुई चिन्ता अभिलषित और अपूर्व धन उत्पन्न नहीं करती, किन्तु उत्साह (उद्योग) ही मनुष्योंके लिये इच्छित और पुष्कल धन पैदा करता है ॥१८॥

शुक्र[2] विद्वान्ने भी उद्योग करनेके लिये प्रेरित किया है ॥१॥

जो स्वामी किसी एक सेवकको छोड़कर अन्य सभी सेवकों के कल्पवृक्ष समान मनोरथ पूर्ण करता है किन्तु उसी अकेलेको धन नहीं देता, इससे समझना चाहिये कि उसके पापकर्मका उदय है या उसके अपराधी होनेके कारण स्वामी उससे रुष्ट है ॥१९॥

भागुरि[3] विद्वान् ने भी सेवकका मनोरथ पूर्ण न होनेके विषय में यही कहा है ॥१॥

जो मनुष्य अपने मूलधन (पैतृक या पूर्व-संचित धन) की व्यापार-आदि द्वारा वृद्धि नहीं करता और उसे खर्च करता रहता है, वह सदा दरिद्रता-वश दुःखी रहता है, इसलिये बुद्धिमान् मनुष्य को अपना मूलधन बढ़ाते हुए आयानुकूल खर्च करना चाहिये, ताकि भविष्यमें दरिद्रता-वश उसे कष्ट न होने पावे ॥२०॥

गौतम[4] विद्वान् ने भी अपना मूलधन भक्षण करनेवाले को दुःखी बताया है ॥१॥

बुद्धिमान् मनुष्यको मूर्ख, दुष्ट, चाण्डाल व पतित (जाति और धर्म से च्युत) मनुष्योंके साथ मित्रता नहीं करनी चाहिये ॥२१॥

किसी[5] विद्वान् के उद्धरण का भी यही आशय है ॥१॥

जिसके चित्तका प्रेम हल्दीके रंगकी तरह क्षणिक होता है; उसके प्रसन्न होनेसे क्या लाभ है ? कोई लाभ नहीं ॥२२॥

---

१ तथा च जैमिनिः—भयभीतेषु यद्दानं तद्दानं परमं मतं । स्वात्मकं किमन्यैरत्र दानैर्गजरथादिभिः ॥१॥

२ तथा च शुक्रः—उत्साहिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीर्दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति ।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः ॥१॥

३ तथा च भागुरिः—यस्मै यच्छति न स्वामी सेवितोऽप्यल्पकं फलं । कल्पवृक्षोपमोऽन्येषां तत्फलं पूर्वकर्मणः ॥१॥

४ तथा च गौतमः—न वृद्धिं यो नयेद्वित्तं पितृपैतामहं कुधीः । केवलं भक्षयत्येव स सदा दुःखितो भवेत् ॥१॥

५ तथा च श्लोकः—मूर्खदुर्जनचाण्डालैः संगतिं कुरुतेऽत्र यः । स्वप्नेऽपि न सुखं तस्य कथंचिदपि जायते ॥१॥

जैमिनि[1] विद्वान्ने भी इसी प्रकार कहा है ॥१॥

अपनी शक्ति को बिना सोचे समझे पराक्रम करनेसे किसकी हार नहीं होती ? सभीकी होती है ॥२३॥

वल्लभदेव[2] विद्वान्ने भी सैन्य व कोषहीन राजाके पराक्रमको पराजयका कारण बताया है ॥१॥

शत्रु पर आक्रमण करने से ही उसका निग्रह नहीं होता, किन्तु युक्तियों—साम-दान-आदि—के प्रयोग द्वारा ही वह वशमें किया जासकता है ॥२४॥

गर्ग[3] विद्वान् के संगृहीत श्लोक का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

निष्कारण आगबबूला (कुपित) होनेवाले राजाके पास सेवक लोग नहीं ठहरते, अतः अपने सेवकोंके साथ स्वामीको प्रेमका बर्ताव करना चाहिये ॥२५॥

रुदन व शोक से हानि, निन्द्य पुरुष, स्वर्ग-च्युतका प्रतीक, जीवित पुरुष, पृथ्वीतलका भार-रूप, सुख-प्राप्तिका उपाय, (परोपकार) शरणागत के प्रति कर्तव्य व स्वार्थ-युक्त परोपकारका दुष्परिणाम—

न मृतेषु रोदितव्यमश्रुपातसमा हि किल पतन्ति तेषां हृदयेष्वङ्गाराः ॥२६॥ अतीते च वस्तुनि शोकः श्रेयानेव यद्यस्ति तत्समागमः ॥२७॥ शोकमात्मनि चिरमनुवासयंस्त्रिवर्गमिनुशोषयति ॥२८॥ स किं पुरुषो योऽकिंचनः सन् करोति विषयाभिलाषं ॥२९॥ अपूर्वेषु प्रियपूर्वं सम्भाषणं स्वर्गच्युतानां लिङ्गम् ॥३०॥ न ते मृता येषामिहास्ति शाश्वती कीर्तिः ॥३१॥ स केवलं भूभाराय जातो येन न यशोभिर्धवलितानि भुवनानि ॥३२॥ परोपकारो योगिनां महान् भवति श्रेयोबन्ध इति ॥३३॥ का नाम शरणागतानां परीक्षा ॥३४॥ अभिभवनमंत्रेण परोपकारो महापातकिनां न महासत्वानाम् ॥३५॥

अर्थ—बन्धुओंके स्वर्गवास होने पर विवेकी मनुष्यको रुदन छोड़कर सबसे पहले उनका दैहिक संस्कार करना चाहिये, इसके विपरीत जो रोते हैं, वे उनके अग्नि-संस्कार में विलम्ब करने से उल्टा उन्हें कष्ट पहुँचाते हैं। अतः रोनेवालोंके नेत्रसे निकलने वाला अश्रु-प्रवाह मानों मृत-पुरुषोंके हृदयपर गिरने वाले अङ्गारे ही हैं ॥२६॥

गर्ग[4] विद्वान्ने भी मृतबन्धुओंके अग्निसंस्कार करने का विधान व रोनेका निषेध किया है ॥१॥

यदि शोक करने से मरा हुआ व्यक्ति या नष्ट हुई इष्टवस्तु पुनः प्राप्त हो सकती हो, तब उसके विषयमें शोक करना उचित है अन्यथा व्यर्थ है ॥२७॥

---

१ तथा च जैमिनिः—आजन्ममरणान्ते यः स्नेहः स स्नेह उच्यते। साधूनां यः खलानां च हरिद्रारागसन्निभः ॥१॥

२ तथा च वल्लभदेवः—यः परं केवलो याति प्रोन्नतं मदमाश्रितः। विमदः स निवर्तेत शीर्णदन्तो गजो यथा ॥१॥

३ तथा च गर्गः—नाक्रान्त्या गृह्यते शत्रुर्यद्यपि स्यात् सुदुर्लभः। युक्तिद्वारेण संग्राह्यो यद्यपि स्याद्बलोत्कटः ॥१॥

४ तथा च गर्गः—श्लेष्मास्तु बान्धवैर्मुक्तं प्रेतो भुङ्क्ते यतो वशः। तस्मान्न रोदितव्यं स्यात् क्रिया कार्या प्रयत्नतः ॥१॥

भारद्वाज[1] ने भी शोकको शरीर-शोषण करनेवाला बताया है ॥१॥

चिरकाल पर्यन्त शोक करनेवाला व्यक्ति अपने धर्म, अर्थ व काम पुरुषार्थों को नष्ट कर देता है, अतः इष्ट वस्तु के वियोगमें कदापि शोक नहीं करना चाहिये ॥२८॥

कौशिक[2] ने भी शोकको धर्म-आदि त्रिवर्ग का नाशक बताया है ॥१॥

जो पुरुष दरिद्र होकरके भी इन्द्रिय-जन्य सुखों की कामना करता है, वह निन्द्य व पशु-तुल्य है ॥ २९॥

नारद[3] ने भी विषय-लम्पटी दरिद्र पुरुष का जन्म निरर्थक बताया है ॥१॥

अपरिचित व्यक्तियोंसे प्रेमपूर्वक मधुर भाषण करना स्वर्गसे आये हुए सज्जन पुरुषोंका प्रतीक है ॥३०॥

गुरु[4] विद्वान् ने भी मधुरभाषी पुरुषको देवता बताया है ॥१॥

जिन पुरुषोंकी लोकमें परोपकार-आदि द्वारा स्थायी कीर्ति व्याप्त है उनके स्वर्गारोहण होजानेपर भी उन्हें जीवित समझना चाहिये ॥३१॥

नारद[5] विद्वान् ने भी कीर्तिशाली दिवंगत पुरुषोंको जीवित बताया है ॥१॥

जिस पुरुषने, शूरता, विद्वत्ता व परोपकार-आदि द्वारा उत्पन्न होनेवाली कीर्तिसे समस्त पृथिवी तलको शुभ्र नहीं किया, उसका जन्म पृथिवी में भाररूप ही है ॥३२॥

गौतम[6] ने भी यश-शून्य व्यक्ति को पृथिवीतलका भार बताया है ॥१॥

लोकमें शिष्ट पुरुषों द्वारा किया हुआ उपकार उनके महाकल्याण का कारण है ॥३३॥

जैमिनि[7] विद्वान्के उद्धरणका भी यही अभिप्राय है ॥१॥

अपनी रक्षा करानेकेलिये शरणमें आये हुए (शरणार्थी) पुरुषोंकी परीक्षा (सज्जनता व दुर्जनता की जाँच) करना व्यर्थ है। अर्थात् उनकी परीक्षाके प्रपंच में न पड़कर सहृदयता से उनकी सेवा करनी चाहिये ॥३४॥

जो लोग स्वार्थ-सिद्धि-वश दूसरोंकी भलाई करते हैं, वे महापापी हैं, महापुरुष नहीं ॥३५॥

---

१ तथा च भारद्वाजः—मृतं वा यदि वा नष्टं यदि शोकेन लभ्यते। तत्कार्यैर्णान्यथा कार्यः केवलं कायशोषकृत् ॥१॥

२ तथा च कौशिकः—यः शोकं धारयेद्देहे त्रिवर्गं नाशयेद्धि सः। क्रियमाणं चिरं कालं तस्मात्तं दूरतस्त्यजेत् ॥१॥

३ तथा च नारदः—दरिद्रो यो भवेन्मर्त्यो हीनो विषयसेवने। तस्य जन्म भवेद्व्यर्थं प्राहेदं नारदः स्वयं ॥१॥

४ तथा च गुरुः—अपूर्वमपि यो दृष्ट्वा संभाषयति वल्गु च। स ज्ञेयः पुरुषस्तज्ज्ञैर्यतोऽसावागतो दिवः ॥१॥

५ तथा च नारदः—मृता अपि परिज्ञेया जीवन्तस्तेऽत्र भूतले। येषां सन्दृश्यते कीर्तिस्तडागाकरपूर्विका ॥१॥

६ तथा च गौतमः—भुवनानि यशोभिर्नो यस्य शुक्लीकृतानि च। भूमिभाराय संजातः स पुमानिह केवलम् ॥१॥

७ तथा च जैमिनिः—उपकारो भवेद्योऽत्र पुरुषाणां महात्मनां। कल्याणाय प्रभूताय स तेषां जायते ध्रुवम् ॥१॥

शुक्र[1] ने भी स्वार्थ-वश परोपकार करनेवालोंकी कड़ी आलोचना की है ॥१॥

[मु० मू० पुस्तकमें 'अभिचारेण परोपघातो' इत्यादि पाठान्तर है, जिसका अर्थ यह है कि जो लोग धोखा देकर दूसरोंका घात करते हैं, वे महापापी हैं, शूर-वीर नहीं]

गुणगान-शून्य नरेश, कुटुम्ब-संरक्षण, परस्त्री व पर-द्रव्यके संरक्षणका दुष्परिणाम, अनुरक्त सेवकके प्रति स्वामी-कर्त्तव्य, त्याज्यसेवक, न्यायोचित दंड-विधान व राज-कर्त्तव्य—

तस्य भूपतेः कुतोऽभ्युदयो जयो वा यस्य द्विषत्सभासु नास्ति गुणग्रहणप्रागल्भ्यं ॥३६॥ तस्य गृहे कुटुम्बं धरणीयं यत्र न भवति परेषामिषम् ।३७॥ परस्त्रीद्रव्यरक्षणेन नात्मनः किमपि फलं विप्लवेन महाननर्थसम्बन्धः ॥३८॥ आत्मानुरक्तं कथमपि न त्यजेत् यद्यस्ति तदन्ते तस्य सन्तोषः ॥३९॥ आत्मसंभावितः परेषां भृत्यानामसहमानश्च भृत्यो हि बहु-परिजनमपि करोत्येकाकिनं स्वामिनं ॥४०॥ अपराधानुरूपो दण्डः पुत्रेऽपि प्रणेतव्यः ॥४१॥ देशानुरूपः करो ग्राह्यः ॥४२॥

अर्थ—जिस राजाका गुण-गान शत्रुओंकी सभामें विशेषतासे नहीं किया जाता, उसकी उन्नति या विजय किसप्रकार होसकती है ? नहीं हो सकती । अतः विजिगीषु को शूरवीरता व नीतिमत्ता-आदि सद्गुणोंसे अलंकृत होना चाहिये ॥३६॥

शुक्र[2] ने भी कीर्तिगान-शून्य राजा के विषय में इसीप्रकार कहा है ॥१॥

मनुष्यको अपना कुटुम्ब ऐसे व्यक्तिके मकान पर रखना चाहिये, जहांपर वह शत्रु-कृत उपद्रवों द्वारा नष्ट न होसके ॥३७॥

जैमिनि[3] ने भी कुटुम्ब-संरक्षण का यही उपाय बताया है ॥१॥

मनुष्य को दूसरे की स्त्री व धन के संरक्षण से कोई लाभ नहीं, क्योंकि कभी २ उसका परिणाम भयङ्कर होता है अर्थात् यदि दुर्भाग्य-वश उसके शत्रु आदि द्वारा अपहरण या नष्ट किये जाने पर उल्टा उसका स्वामी संरक्षण करने वाले से वैर-विरोध करने लगता है ॥३८॥

अत्रि[4] विद्वान् ने भी पर-स्त्री व परधन की रक्षा करनेका यही दुष्परिणाम बताया है ॥१॥

स्वामीको अपनी दरिद्रावस्था में भी ऐसे सेवकको नहीं छोड़ना चाहिये जो उसपर अनुरक्त व संतुष्ट रहता है ॥३९॥

---

१ तथा च शुक्रः—महापातकयुक्ताः स्युस्ते नियोन्ति परं बलात् । अभिसवनमंत्र न सद्भावं कथंचन ॥१॥

२ तथा च शुक्रः—कथं स्याद्विजयस्तस्य तथैवाभ्युदयः पुनः । भूपतेर्यस्य नो कीर्तिः कीर्त्यतेऽरिसभासु च ॥१॥

३ तथा च जैमिनिः—नामिषं मन्दिरे यस्य विप्लवं वा प्रपद्यते । कुटुम्बं धारयेत्तत्र य इच्छेच्छ्रेयमात्मनः ॥१॥

४ तथा च अत्रिः—परार्थं परनारीं वा रक्षार्थं योऽत्र गृह्णाति । विप्लवं याति चेद्दैवं तत्फलं वैरसम्भवं ॥१॥

गुरु[1] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

अभिमानी सेवक ईर्ष्या-वश दूसरे सेवकोंको उन्नति सहन नहीं करता, इसलिये वे लोग स्वामी से रुष्ट होकर उसे छोड़देते हैं। इसप्रकार घमंडी सेवक अन्य सेवकों के रहनेपर भी अपने स्वामीको अकेला कर देता है, अतः अभिमानी सेवक नहीं रखना चाहिये ॥४०॥

राजपुत्र[2] ने भी दुष्टबुद्धि व अभिमानी सेवक से इसीप्रकार हानि बताई है ॥१॥

राजाको अपने पुत्रके लिये भी अपराधानुकूल दंड देना चाहिये फिर प्रजा-पीड़क अन्यायियोंको दंड देना तो न्याय-संगत ही है ॥४१॥

शुक्र[3] ने भी अपराधानुकूल दंडविधान को न्याय-संगत बताया है ॥१॥

राजा प्रजा से अपने देशानुकूल कर (टेक्स) वसूल करे। अन्यथा अच्छी फसल-आदि न होनेके कारण एवं अधिक कर-टेक्स-से दबी हुई प्रजा राजा से विद्रोह करने तत्पर होजाती है ॥४२॥

वक्ताके वचन, व्यय, वेष-भूषा, त्याग, कार्यका आरम्भ, सुख, अधम पुरुष, मर्यादा-पालन, दुराचार से हानि, सदाचारसे लाभ, संदिग्ध, उत्तम भोज्य रसायन, पापियों की वृत्ति, पराधीन भोजन व निवास-योग्य देश—

प्रतिपाद्यानुरूपं वचनमुदाहर्तव्यं ॥४३॥ आयानुरूपो व्ययः कार्यः ॥४४॥ ऐश्वर्यानुरूपो-विलासो विधातव्यः ॥४५॥ धनश्रद्धानुरूपस्त्यागोऽनुसर्तव्यः^A ॥४६॥ सहायानुरूपं कर्म आरब्धव्यम्^B ॥४७॥ स पुमान् सुखी यस्यास्ति सन्तोषः ॥४८॥ रजस्वलाभिगामी चाण्डालादप्यधमः ॥४९॥ सलज्जं निर्लज्जं न कुर्यात् ॥५०॥ स पुमान् पटावृतोऽपि नग्न एव यस्य नास्ति सच्चारित्रमावरणम् ॥५१॥ स नग्नोऽप्यनग्न एव यो भूषितः सच्चरित्रेण ॥५२॥ सर्वत्र संशयानेषु नास्ति कार्यसिद्धिः ॥५३॥ न क्षीरघृताभ्यामन्यत् परं रसायनमस्ति ॥५४॥ परोपघातेन वृत्तिर्निर्भाग्यानाम् ॥५५॥ वरमुपवासो, न पुनः पराधीनं भोजनम् ॥५६॥ स देशोऽनुसर्तव्यो यत्र नास्ति वर्णसङ्करः ॥५७॥

अर्थ—वक्ता श्रोताके अनुकूल वचन बोले ॥४३॥ मनुष्यको अपनी आमदनीके अनुकूल खर्च करना चाहिये क्योंकि बिना सोचे-समझे अधिक खर्च करनेवाला कुबेरके समान धनाढ्य होने पर भी दरिद्र हो जाता है ॥४४॥ अपने धनादि वैभवके अनुकूल विलास—वेश-भूषा करना चाहिये ॥४५॥ धन और श्रद्धानुकूल पात्रदान करना चाहिये, ऐसा करनेसे उसे आर्थिक कष्ट नहीं होपाते ॥४६॥

---

१ तथा च गुरुः—अभियुक्तजनं यश्च न त्याज्यं तद्विवेकिना। पोषणीयं प्रयत्नेन यदि तस्य शुभार्थता ॥१॥

२ तथा च राजपुत्रः—प्रसादादृयो भवेद् भृत्यः स्वामिनो यस्य दुष्टधीः। स त्यज्यतेऽन्यभृत्यैस्तु [शुष्कोवृक्षोऽण्डजैर्यथा] ॥१॥ सं० प०

३ तथा च शुक्रः—अपराधानुरूपोऽत्र दण्डः कार्यो महीभुजा। पुत्रस्यापि किमन्येषां ये स्युः पापपरायणाः ॥१॥

बुद्धिमान् पुरुष सहायकोंके अनुकूल कार्य आरम्भ करे क्योंकि उनकी अनुकूलताके विना कार्य-सिद्धि संदिग्ध रहती है ॥४७॥ वही मनुष्य सुखी है, जो संतोषी है, क्योंकि तीन लोककी सम्पत्ति मिल जाने पर भी तृष्णा नष्ट नहीं होती, अतः उसके त्याग करनेसे ही सुख प्राप्त हो सकता है; अन्यथा नहीं ॥४८॥

रजःस्वला स्त्रीको सेवन करनेवाला चाण्डालसे भी अधिक नीच है ॥४९॥ नैतिक पुरुष लज्जा-शील व्यक्तिको निर्लज्ज न बनावे। सारांश यह है कि कुसंस्कार-वश नीति-विरुद्ध प्रवृत्ति करनेवाला लज्जा-वश हितैषियोंके भयसे अनर्थ नहीं करता, परन्तु उसके कार्यको स्वयं देखकर उसे निर्लज्ज बनानेसे वह उनके समक्ष अनर्गल प्रवृत्ति करनेसे नहीं चूकता ॥५०॥ जो सदाचाररूप वस्त्रसे अलंकृत नहीं है, वह सुन्दर वस्त्रों से वेष्टित होने पर भी नग्न ही है ॥५१॥ सदाचारसे विभूषित शिष्ट पुरुष नग्न होने पर भी नग्न नहीं गिने जाते, अतएव लोकप्रिय होनेके लिये आचरण विशुद्ध रखना चाहिये ॥५२॥ सभी स्थानोंमें सन्देह करने वालोंके कार्य सिद्ध नहीं होते ॥५३॥ दूध और घी से बढ़कर दूसरी कोई उत्तम रसायन (आयु व शक्तिवर्धक) नहीं है ॥५४॥

दूसरे प्राणियोंको पीड़ित करके जीविका करना पापियों का कार्य है, अतएव नैतिक पुरुष न्यायोचित साधनों द्वारा जीवननिर्वाह करे ॥५५॥ पराधीन भोजनकी अपेक्षा उपवास करना अच्छा है, क्योंकि पराश्रित भोजन अनिश्चित व अनियमित होनेसे विशेष कष्टदायक होता है ॥५६॥ उस देशमें निवास करना चाहिये जिसमें वर्णसंकर लोग नहीं हैं ॥५७॥

जन्मान्ध, ब्राह्मण, निःस्पृह, दुःखका कारण, उच्चपदकी प्राप्ति, सच्चा आभूषण, राजाकी मित्रता, दुष्ट व याचकके प्रति कर्त्तव्य, निरर्थक स्वामी, सार्थक यज्ञ व सैन्य-शक्ति का उपयोग—

स जात्यन्धो यः परलोकं न पश्यति ॥५८॥ व्रतं विद्या सत्यमानृशंस्यमलौल्यता च ब्राह्मण्यं न पुनर्जातिमात्रं ॥५९॥ निःस्पृहानां का नाम परापेक्षा ॥६०॥ कं पुरुषमाशा न क्लेशयति ॥६१॥ संयमी गृहाश्रमी वा यस्याविद्यातृष्णाभ्यामनुपहतं चेतः ॥६२॥ शीलमलङ्कारः पुरुषाणां न देहखेदावहो बहिराकल्पः ॥६३॥ कस्य नाम नृपतिर्मित्रं ॥६४॥ अप्रियकर्तुर्न प्रियकरणात्परममाचरणं ॥६५॥ अप्रयच्छन्नर्थिनो न परुषं ब्रूयात ॥६६॥ स स्वामी मरुभूमिर्यत्रार्थिनो न भवन्तीष्टकामाश्च ॥६७॥ प्रजापालनं हि राज्ञो यज्ञो न पुनर्भूतानामालम्भः ॥६८॥ प्रभूतमपि नानपराधसत्वव्यापत्तये नृपाणां बलं धनुर्वा किन्तु शरणागतरक्षणाय ॥६९॥

अर्थ—जो व्यक्ति अपने सत्कर्तव्यों द्वारा परलोक सुधारने में प्रयत्नशील नहीं रहता, वही जन्मान्ध है ॥५८॥ मनुष्य केवल ब्राह्मण कुलमें जन्म लेनेसे ही ब्राह्मण नहीं गिना जाता, परन्तु व्रतों (अहिंसा, सत्य, अचौर्य-आदि) का पालन, ज्ञानाभ्यास, सत्यभाषण, क्रूरताका त्याग व संतोष-आदि सद्गुणोंको धारण करनेसे वास्तविक ब्राह्मण माना गया है ॥५९॥

A, B, मु. मू. प्रति से संकलित।

भगवज्जिनसेनाचार्य[1] ने भी तप, आगमज्ञान और ब्राह्मण कुलमें जन्मधारण करने वालेको सच्चा ब्राह्मण एवं तप और आगमज्ञानसे शून्यको जाति ब्राह्मण कहा है ॥१॥

निःस्पृह (धनादिकी लालसा-रहित) व्यक्ति परमुखापेक्षी नहीं होते ॥६०॥ तृष्णासे कौन मनुष्य दुःखी नहीं होता ? सभी होते हैं ॥६१॥

सुन्दर[2] कविने भी तृष्णाको दुःखका और संतोषको सुखका कारण बताया है ॥१॥

लोकमें वही बुद्धिमान् मनुष्य, चाहे वह यति-आश्रम वा गृहस्थ आश्रम में प्रविष्ट हो, तभी उच्च पद प्राप्त कर सकता है; जब उसका चित्त अज्ञान और तृष्णासे दूषित न हो ॥६२॥ शील (नैतिक-प्रवृत्ति) ही पुरुषोंका आभूषण है, ऊपरी कटक-कुण्डलादि शरीरको कष्ट पहुंचाने वाले हैं; अतः ये वास्तविक आभूषण नहीं ॥६३॥

नीतिकार भर्तृहरिने[3] भी कहा है कि कानोंकी शोभा शास्त्र सुननेसे है, न कि कुण्डल पहननेसे, हाथोंको शोभा पात्रदानसे है, न कि कंकण धारण करनेसे एवं दयालु पुरुषोंके शरीरकी शोभा परोपकारसे है, न कि चन्दनादिके लेप से ॥१॥ राजा किसका मित्र होता है ? किसीका नहीं, क्योंकि अपराध करने पर वह मित्रको भी दण्ड देनेसे नहीं चूकता ॥६४॥ दुर्जनके साथ भी सज्जनताका बर्ताव करना चाहिये, इसको छोड़कर उसके प्रति और कोई कर्त्तव्य नहीं; क्योंकि भलाई का बर्ताव करनेसे प्रायः वे अपनी दुष्टता छोड़ देते हैं ॥६५॥ किसी कारणवश याचक को कुछ देने में असमर्थ होने पर भी मनुष्यका कर्तव्य है कि वह उसके साथ कठोर वचन कभी न बोले, क्योंकि इनका प्रयोग उसकी प्रतिष्ठा व मर्यादा को नष्ट करनेके साथ २ उस याचक को भी असंतुष्ट कर डालता है, जिसके फलस्वरूप वह उसका अनिष्ट चिन्तवन करने लगता है ॥६६॥ उस स्वामीको याचक लोग मरुभूमिके समान निष्फल समझते हैं, जिसके पास आकर वे लोग इच्छित वस्तु प्राप्त कर अपना मनोरथ पूर्ण नहीं कर पाते ॥६७॥ प्राणियोंकी रक्षा करनाही राजाका यज्ञ (पूजन) है, न कि प्राणियोंकी बलि देना ॥६८॥ राजाको अपनी प्रचुर तीरन्दाज व सैनिक शक्ति का उपयोग शरणागतोंकी रक्षार्थ करना चाहिये न कि निरपराध प्राणियोंकी हत्यामें ।

इति सदाचार-समुद्देश ।

---

१ तथा च भगवज्जिनसेनाचार्यः—तपः श्रुतं च जातिश्च त्रयं ब्राह्मणकारणं ।
तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः ॥१॥ आदिपुराण ।

२ तथा च सुन्दरः कविः—जो दस बीस पचास भये शत लक्ष करोर की चाह जगेगी, अरब खरब लौं द्रव्य भयो तो धरापति होने को चाह जगेगी । उदय अस्त तक राज्य भयो पर तृष्णा और ही और बढ़ेगी, सुन्दर एक संतोष बिना नर तेरी तो भूख कभी न मिटेगी ॥१॥

३ तथा च भर्तृहरिः—श्रोत्रं श्रुतेनैव न कुण्डलेन, दानेन पाणिर्न तु कङ्कणेन ।
विभाति कायः करुणाकुलानां, परोपकारेण न तु चन्दनेन ॥१॥

२७—व्यवहार समुद्देश।

मनुष्योंका दृढ़ बन्धन, अनिवार्य पालन-पोषण, तीर्थ सेवाका फल, तीर्थस्थानों में रहनेवालों की प्रकृति, निंद्य स्वामी, सेवक, मित्र, स्त्री व देश—

कलत्रं नाम नराणामनिगड़मपि दृढं बन्धनमाहुः ॥१॥ त्रीण्यवश्यं भर्तव्यानि माता कलत्रमप्राप्तव्यवहाराणि चापत्यानि[A] ॥२॥ दानं तपः प्रायोपवेशनं तीर्थोपासनफलम् ॥३॥ तीर्थोपवासिषु देवस्वापरिहरणं क्रव्यादेषु कारुण्यमिव, स्वाचारच्युतेषु पापभीरुत्वमिव प्राहुरधार्मिकत्वमतिनिष्ठुरत्वं वञ्चकत्वं प्रायेण तीर्थवासिनां प्रकृतिः[B] ॥४॥ स किं प्रभुर्यः कार्यकाले एव न सम्भावयति भृत्यान् ॥५॥ स किं भृत्यः सखा वा यः कार्यमुद्दिश्यार्थं याचते ॥६॥ यार्थेनप्रणयिनी करोति चाङ्गाकृष्टिं सा किं भार्या ॥७॥ स किं देशो यत्र नास्त्यात्मनो वृत्तिः ॥८॥

अर्थ — विद्वानों ने कहा है, कि पुरुषों को स्त्री रूप बन्धन सांकलोंका न होकरके भी उससे कहीं अधिक दृढ़ (मजबूत) है क्योंकि स्त्रीके प्रेम-पाशमें फंसे हुए मनुष्यका उससे छुटकारा पाना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है और इसीकारण वह आत्म-कल्याण के उपयोगी नैतिक व धार्मिक सत्कर्त्तव्यों से विमुख रहता है ॥ १॥

शुक[1] विद्वान ने भी स्त्रीको दृढ़ बन्धन स्वीकार किया है ॥ १॥ मनुष्यको माता, स्त्री और प्रौढ़ न होने से जीवन-निर्वाह करने में असमर्थ पुत्रोंका पालन-पोषण अवश्य करना चाहिए ॥ २॥

गुरु[2] विद्वान ने भी उक्त माता आदि का आवश्यकीय संरक्षण बताया है ॥ १ ॥

पात्र-दान, तप व अनशन (उपवास) अथवा जीवन पर्यन्त तीर्थ भूमिमें रहने का दृढ़ संकल्प करना, या प्रायोपगमन सन्यास धारण यह तीर्थ स्थान की सेवा का फल है। अर्थात्—विवेकी पुरुष इन सत्कर्त्तव्यों के अनुष्ठान से तीर्थ सेवा का फल (स्थायी आत्मिक सुख) प्राप्त कर सकता है। और

A मु० मू० प्रति में 'इतरेषां पद विशेष है, जिसका अर्थ यह है कि नैतिक पुरुष दूसरोंके बच्चोंका भी जो जीविकायोग्य नहीं हैं, पालन पोषण करे।

B उक्त सूत्र मु० मू० प्रति से संकलन किया गया है क्योंकि सं० टी० पु० का पाठ अशुद्ध था। —सम्पादक

१ तथा च शुक्रः— न कलत्रात् परं किंचिद्बन्धनं विद्यते नृणां। यस्मात्तत्स्नेहनिर्बद्धो न करोति शुभानि यत् ॥१॥

२ तथा च गुरुः—मातरं च कलत्रं च गर्भरूपाणि यानि च। अप्राप्तव्यवहाराणि सदा पुष्टिं नयेद् बुधः ॥१॥

इसके विपरीत नीति-विरुद्ध असत् प्रवृत्ति करने वाला पापी है, उसकी तीर्थ-सेवा हाथी के स्नान की तरह निष्फल है ।। ३ ।।

गर्ग[1] विद्वान के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ।। १ ।।

जिस प्रकार व्याघ्रादि हिंसक जन्तुओं में दयालुता और आचार-भ्रष्ट (पापी) पुरुषों में पाप से डरना आश्चर्यकारक होता है, उसी प्रकार तीर्थस्थानों में रहने वाले ब्राह्मणों में भी देवता पर चढ़ाई हुई द्रव्यका त्याग करना आश्चर्यकारक होता है। विद्वानोंने कहा है कि तीर्थस्थानों में रहने वाले मनुष्यों की प्रकृति अधार्मिक, निर्दयी (क्रूर) और छल कपटपूर्ण होती है ।। ४ ।।

जो स्वामी अपनी प्रयोजनसिद्धि हो जानेपर सेवकोंको नियुक्त नहीं करता अथवा नियुक्त कर प्रयोजन सिद्ध होने पर भी उन्हें वेतन नहीं देता वह निन्द्य है ।। ५ ।।

भृगुने[2] भी प्रयोजन सिद्ध होजाने पर सेवकों की नियुक्ति न करने वाले स्वामीको निन्द्य कहा है ।।१।।

जो सेवक अपने द्वारा स्वामी की प्रयोजन-सिद्धि समझ कर उससे धनकी याचना करता है, एवं जो मित्र अपने द्वारा मित्र की प्रयोजन-सिद्धि समझकर उससे धन चाहता या मांगता है वे दोनों (सेवक व मित्र) दुष्ट हैं ।। ६ ।।

भारद्वाज[3] ने भी ऐसे स्वार्थान्ध सेवक व मित्र की कड़ी आलोचना की है ।। १ ।।

वह स्त्री निन्द्य है जो धनके कारण पति से प्रेम करती हुई उसका गाढ़ालिङ्गन करती है। सारांश यह है पतिव्रता स्त्री को पति के सुख-दुख में उसके साथ एकसा (प्रेमपूर्ण) वर्ताव करना चाहिये ।। ७ ।।

नारद[4] ने भी संपत्ति काल में ही पतिसे अनुराग करने वाली स्त्री की कड़ी आलोचना की है ।। १।।

वह देश निन्द्य है, जहांपर मनुष्य के लिये जीवन-निर्वाह के साधन (कृषि व व्यापार-आदि) नहीं है, अतः विवेकी पुरुषको जीविका-योग्य देशमें निवास करना चाहिये ।। ८ ।।

गौतम[5] विद्वान ने भी जीविका-शून्य देशको छोड़ देने का संकेत किया है ।। १ ।।

निंद्य बन्धु, मित्र, गृहस्थ, दान, आहार, प्रेम, आचरण, पुत्र, ज्ञान, सौजन्य व लक्ष्मी—

स किं बन्धुर्यो व्यसनेषु नोपतिष्ठते ।।९।। तत्किं मित्रं यत्र नास्ति विश्वासः ।।१०।। स किं गृहस्थो यस्य नास्ति सत्कलत्रसम्पत्तिः ।।११।। तत्किं दानं यत्र नास्ति सत्कारः ।।१२।। तत्किं भुक्तं यत्र नास्त्यतिथिसंविभागः ।।१३।। तत्किं प्रेम यत्रकार्यवशात् प्रत्या-

---

१ तथा च गर्गः—मुक्त्वा दानं तपो वाथ तथा प्रायोपवेशनं । करोति यश्चतुर्थं यत्तीर्थे कर्म स पापभाक् ।।१।।

२ तथा च भृगुः—कार्यकाले तु सम्प्राप्ते संभावयति न प्रभुः । यो भृत्यं सर्वकालेषु स त्याज्यो दूरतो बुधैः ।।१।।

३ तथा च भारद्वाजः—कार्ये जाते च यो भृत्यः सखा वार्थं प्रयाचते । न भृत्यः स सखा नैव तौ द्वावपि हि दुर्जनौ ।।१।।

४ तथा च नारदः—मोहने रमतेऽङ्गानि चार्थेन विनयं भजेत् । न सा भार्या परिज्ञेया पण्यस्त्री सा न संशयः ।।१।।

५ तथा च गौतमः—स्वदेशेऽपि न निर्वाहो भवेत् स्वल्पोऽपि यत्र च । विज्ञेयः परदेशः स त्याज्यो दूरेण पण्डितैः ।।१।।

वृत्तिः ॥१४॥ तत्किमाचरणं यत्र वाच्यता मायाव्यवहारो वा ॥१५॥ तत्किमपत्यं यत्र नाध्ययनं विनयो वा ॥१६॥ तत्किं ज्ञानं यत्र मदेनान्धता चित्तस्य ॥१७॥ तत्किं सौजन्यं यत्र परोक्षे पिशुनभावः ॥१८॥ सा किं श्रीर्यया न सन्तोषः सत्पुरुषाणां ॥१९॥

अर्थ—वह भाई निंद्य—शत्रुके समान है, जो आपत्तिकालमें भाईकी सहायता नहीं करता ॥९॥

चाणिक्यने[1] भी कहा है कि 'जिस प्रकार बीमारी शरीरमें पैदा होने पर भी अनिष्ट समझी जाती है, जब कि दूरदेशवर्ती जंगलमें पैदा होने वाली औषधि इष्ट समझी जाती है, उसी प्रकार अनिष्ट चिंतवन करने वाला सगा भाई भी शत्रु और विपत्ति कालमें सहायता देने वाला दूसरा व्यक्ति बन्धुसे भी बढ़कर समझा जाता है ॥१॥

वह मित्र निन्द्य है जो अपने मित्रके धन, धान्य व कलत्र (स्त्री) की रक्षा करनेमें विश्वासघात करता है; अतः मित्र द्वारा सौंपे हुये धन-धान्यादि को सुरक्षित रक्खे ॥१०॥

गर्ग[2] ने भी मित्र द्वारा अर्पित धन-धान्यादिकी रक्षा करने वालेको सच्चा मित्र कहा है ॥१॥

वह गृहस्थ किस काम का, जिसके यहाँ पतिव्रता व रूपवती कुलवधूरूप सम्पत्ति नहीं है ॥११॥

शुक्र[3] ने भी कुरूप, शील-भ्रष्ट (चरित्र हीन) बांझ व कलहकारिणी स्त्री वाले गृहस्थको नारकी बताया है ॥१॥

वह दाता निंदनीय है, जो दान लेने योग्य (पात्र) का यथाविधि सत्कार (विनय) नहीं करता। क्योंकि यथाविधि सत्कारके बिना दाता दानका पारत्रिक फल प्राप्त नहीं करता ॥१२॥

वशिष्ठ[4] ने भी योग्यकालमें योग्य पात्रको यथाविधि दिये जानेवाले दानका अक्षय फल बताया है ॥१॥

भोजनकी वेलामें अतिथियोंको आहार-दान न देने वाले व्यक्तिका आहार निन्द्य है—पशुकी चेष्टा मात्र है। अर्थात्—जिस प्रकार पशु जीवन-रक्षार्थ तृणादि भक्षण करके मल-मूत्रादि क्षेपण करता है, उसी प्रकार वह मनुष्य भी जीवन-रक्षार्थ भोजन करके मल-मूत्रादि क्षेपण करता है व दान धर्म को नहीं जानता। अतः मनुष्यको अतिथियोंको आहार-दानके पश्चात् भोजन करना चाहिये ॥१३॥

नारद[5] ने भी अतिथिको आहार-दान दिये बिना भोजन करनेवाले गृहस्थको दो पैर वाला बिना सींगों का पशु कहा है ॥१॥

वह प्रेम निन्द्य है जो किसीसे स्वार्थ-सिद्धिके आधार पर जब कभी किया जाता है, सदा नहीं, अतः निःस्वार्थभाव से स्थायी प्रेम करना विशेष महत्व-पूर्ण है ॥१४॥

---

१ तथा च चाणिक्यः—परोऽपि हितवान् बन्धुर्बन्धुरप्यहितः परः। अहितो देहजो व्याधिर्हितमारण्यमौषधम् ॥१॥

२ तथा च गर्गः—धनं धान्यं कलत्रं वा निर्विकल्पेन चेतसा। अर्पितं रक्षयेद्यत्तु तन्मित्रं कथितं बुधैः ॥१॥

३ तथा च शुक्रः—कुरूपा गतशीला च वंध्या युद्धपरा सदा। स गृहस्थो न भवति स नरकस्थः कथ्यते ॥१॥

४ तथा च वशिष्ठः—काले पात्रे तथा तीर्थे शास्त्रोक्तविधिना सह। यद्दत्तं चाक्षयं तद्विशेषं स्यादेकजन्मजम् ॥१॥

५ तथा च नारदः—अदत्वा यो नरोऽप्यत्र स्वयं भुंक्ते गृहाश्रमी। स पशुर्नास्ति सन्देहो द्विपदः शृङ्गवर्जितः ॥१॥

राजपुत्र[1] ने भी अधिक आदर-आदिसे प्राप्त हुए क्षणिक स्वार्थ-युक्त प्रेमको परिचय मात्र बताया है ॥१

वादीभसिंह[2] सूरि ने इकतरफी प्रेमको मूर्खों की चेष्टा बताई है। मनुष्य का वह व्यवहार निंदनीय है, जिसमें पाप प्रवृत्ति (परस्त्री सेवन व चोरी-आदि) द्वारा उसकी लोक-निन्दा होती हो, अथवा जो छल-कपट-पूर्ण हो, क्योंकि ऐसे लोक-निन्दित दुष्ट आचरणसे ऐहिक व पारलौकिक कष्ट होते हैं ॥१५॥

जैमिनि[3] भी लोक-निन्दित विद्वान्को विद्वान् नहीं मानता ॥१॥

विद्या-विहीन (शिक्षा-शून्य) और माता-पिता आदि शुभचिन्तकों की विनय न करने वाला पुत्र निंद्य है। अर्थात—उसे पुत्र न समझकर गृहमें उत्पन्न हुआ शत्रु समझना चाहिये ॥ १६ ॥

वल्लभदेव[4] ने गर्भ रहित व दूध न देने वाली गाय के समान अशिक्षित व अधार्मिक पुत्र को निरर्थक बताया है ॥ १ ॥

उस मनुष्य का ज्ञान निंद्य है—वह अज्ञानी है, जिसकी चित्त-वृत्ति विद्या के गर्व से दूषित होचुकी है ॥ १७ ॥

शुक्र[5] विद्वान ने भी ज्ञान का मद करने वाले की कड़ी आलोचना की है ॥ १ ॥

पीठपीछे दूसरेकी निन्दा व चुगली करनेवाला और समक्ष में प्रिय वचन बोलनेवाले की सज्जनता निन्द्य है। अर्थात् ऐसे व्यक्ति को दुष्ट जानना चाहिये ॥ १८ ॥

गुरु[6] ने भी पर-निन्दक व चुगलखोरकी सज्जनता विषभक्षण समान हानिकारक बताई है ॥१॥

अपनी विद्यमान सम्पत्तिसे संतुष्ट न रहनेवाले शिष्टपुरुषों की सम्पत्ति निंद्य है, क्योंकि वे लोग तृष्णावश दुःखी रहते हैं; अतः संतोष धारण करना चाहिये ॥१६ ॥

निंद्य उपकार, नियुक्तिके अयोग्य, दान दी हुई वस्तु, सत्पुरुषोंका कर्त्तव्य, सत्कार, धर्मरक्षा व दोषशुद्धिका साधन—

तत्किं कृत्यं यत्रोक्तिरुपकृतस्य ॥२०॥ तयोः को नाम निर्वाहो यौ द्वावपि प्रभूतमानिनौ पंडितौ लुब्धौ मूर्खौ चासहनौ वा ॥२१॥ स्ववान्त इव स्वदत्ते नाभिलाषं कुर्यात् ॥२२॥ उपकृत्य मूकभावोऽभिजातीनाम् ॥२३॥ परदोषश्रवणे बधिरभावः सत्पुरुषाणां ॥२४॥ परकलत्रदर्शनेऽन्धभावो महाभाग्यानाम् ॥२५॥ शत्रावपि गृहायाते संभ्रमः

---

१ तथा च राजपुत्रः—यद्गम्यं गुरुगौरवस्य सुहृदो यस्मिंल्लभन्तेऽन्तरं। यद्दाक्षिण्यवशाद्भयाच्च सहसा नर्मोपहासाच्च यान्। यल्लज्जं न रुणद्धि यत्र शपथैरुत्पद्यते प्रत्ययः। तत्किं प्रेम स उच्यते परिचयस्तत्रापि कोपेन किं ॥१॥

२ तथा च वादीभसिंहः—एककोटिगतस्नेहो जडानां खलु चेष्टितम्।

३ तथा च जैमिनिः—जायते वाच्यता यस्य श्रोत्रियस्य वृथा हि तत्। अनाचारात्मिदादिष्टं श्रोत्रियत्वं वदन्ति ना ? ॥१

४ तथा च वल्लभदेवः—कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान्न धार्मिकः। किं तया क्रियते धेन्वा या न सूते न दुग्धदा

५ तथा च शुक्रः—विद्यामदो भवेन्नीचः पश्यन्नपि न पश्यति। पुरस्थे पूज्यलोकं च नाविद्याह्वं च माहृतः ॥१॥

६ तथा च गुरुः—प्रत्यक्षेऽपि प्रियं ब्रूते परोक्षे तु विभाषते। सौजन्यं तस्य विज्ञेयं यथा किंपाकभक्षणं ॥१॥

कर्त्तव्यः किं पुनर्न महति ॥२६॥ अन्तःसारधनमिव स्वधर्मो न प्रकाशनीयः ॥२७॥ मदप्रमादजैर्दोषैर्गुरुषु निवेदनमनुशयः प्रायश्चित्तं प्रतीकारः ॥२८॥

अर्थ—किसी मनुष्यका उपकार करके उसके समक्ष प्रकट करना निन्द्य है, क्योंकि इससे वह प्रत्युपकारके बदले उपकारीसे वैर-विरोध करने लगता है ॥२०॥

भागुरि[1] ने प्रत्युपकारकी अभिलाषासे किये जाने वाले उपकारको निष्फल बताया है ॥१॥

बुद्धिमानोंको विद्वान् होकर अभिमानी व कृपण अथवा मूर्ख होकर लोभी, घमण्डी, असहिष्णु व पारस्परिक कलह उत्पन्न कराने-वालोंको किसी भी कार्यमें नियुक्त न करना चाहिये, क्योंकि इससे कार्य सिद्धि नहीं होती और उक्त दोनोंका निर्वाह होना भी असम्भव है ॥ २१ ॥

हारीत[2] का भी नियुक्तिके विषयमें यही मत है ॥१॥

बुद्धिमान् को वमन की हुई वस्तुकी तरह स्वयं दिया हुआ दान ग्रहण करनेकी अभिलाषा नहीं करनी चाहिये ॥२२॥

जैमिनि[3] विद्वान् ने भी दान की हुई वस्तुके विषयमें इसी प्रकार कहा है ॥ १ ॥

कुलीन पुरुष किसीका उपकार करके उसका दिग्दर्शन न करते हुये मौन ही रहते हैं ॥ २३ ॥

बल्लभदेव[4] विद्वान्के संगृहीत श्लोक का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

सत्पुरुष दूसरेकी बुराई व दोष सुनकर ऐसे अनसुने बन जाते हैं मानो कि वे बहरे ही हों ॥२४॥

गर्ग[5] विद्वान् ने भी 'दूसरोंके दोष न सुनना' महापुरुषों का कर्तव्य बताया है ॥ १ ॥

वादीभसिंह[6] सूरिने भी अपने दोषों पर दृष्टि रखने वालेको मोक्षमार्गी बताया है ॥ १॥

पर स्त्रियोंकी तरफ दृष्टिपात करनेमें भाग्यशाली पुरुष अन्धे होते हैं—उनपर कुदृष्टि नहीं रखते। अभिप्राय यह है कि उनका अपनी पत्नीके सिवाय अन्य स्त्रीजाति पर मातृ-भगिनी भाव होता है ॥ २५ ॥

हारीतने[7] भी परकलत्रकी ओर कुदृष्टि न रखनेवालेको भाग्यशाली कहा है ॥१ ॥

बुद्धिमान्को अपने गृहमें पदार्पण किये हुए शत्रुका भी सन्मान करना चाहिये। फिर क्या महापुरुषका नहीं करना चाहिये ? अवश्य करना चाहिये ॥२६ ॥

---

१ तथा च भागुरिः—योऽन्यस्य कुरुते कृत्यं प्रतिकृत्यतिवाञ्छया। न तत्र कृत्यं भवेत्तस्य पश्चात्फलप्रदायकम् ॥१॥

२ तथा च हारीतः—समर्थौ मानसंयुक्तौ पण्डितौ लोभसंश्रयौ। मिथोपदेशपरौ मूर्खौ कृत्ये मिथो न योजयेत् ॥१॥

३ तथा च जैमिनिः—स्वयं दत्तं च यद्दानं न ग्राह्यं पुनरेव तत्। यथा स्ववान्तं तद्वच्च दूरतः परिवर्जयेत् ।१॥

४ तथा च वल्लभदेवः—इयमपरा काचिद्दृश्यते महतां महती वा भावचित्तता। उपकृत्य भवन्ति दूरतः परतः प्रत्युपकारशंकया ॥१॥

५ तथा च गर्गः—परदोषान्न शृण्वन्ति येऽपि स्युर्नरपुङ्गवाः। शृण्वतामपि दोषः स्यात्ततो दोषान्यसम्भवात् ॥१॥

६ तथा च वादीभसिंहः—अन्यदीयमिवात्मीयमपि दोषं प्रपश्यता। कः समः खलु मुक्तोऽयं युक्तः कायेन चेदपि १

७ तथा च हारीतः—अन्यदेहान्तरे धर्मो यैः कृतश्च सुपुष्कलः। इह जन्मनि तेऽन्यस्य न वीक्षन्ते नितम्बिनीम् ॥१॥

भागुरि[1] ने भी गृहागत व्यक्तिके विषय में इसी प्रकार कहा है ॥ १ ॥

विवेकी मनुष्यको गृहके मध्यमें रक्खे हुए उत्तम धनके समान अपना धर्म (दानपुण्यादि) प्रकाशित नहीं करना चाहिये। अर्थात् जिसप्रकार गृहमें रक्खा हुआ धन नष्टहोने के भयसे चौर-आदिके सामने प्रगट नहीं किया जाता, उसी प्रकार अपना धर्म भी नष्ट होनेके भयसे किसी के समक्ष प्रगट नहीं किया-जाता ॥ २७ ॥

व्यास[2] ने भी अपना धर्म प्रगट करनेवाले को मूर्ख कहा है ॥१ ॥

गर्व व कामक्रोधादि कषायवश होने वाले दोषोंकी शुद्धिके लिये निम्न प्रकार तीन उपाय हैं। १—अपने दोषोंको गुरुजनोंके समक्ष प्रकट करना, किये हुए दोषों पर पश्चात्ताप करना, ३—प्रायश्चित्त करना ॥ २८ ॥

भारद्वाज[3] का भी दोष-शुद्धिके विषयमें यही अभिप्राय है ॥१॥

धनार्जन सम्बन्धी कष्टकी सार्थकता, नीच पुरुषोंका स्वरूप, वन्द्य चरित्रवान, पीड़ाजनक कार्य व पंचमहापातकी —

श्रीमतोऽर्थार्जने कायक्लेशो धन्यो यो देवद्विजान् प्रीणाति ॥२९॥ चणका इव नीचा उदरस्थापिता अपि नाविकुर्वाणास्तिष्ठन्ति ॥३० ॥ स पुमान् वन्द्यचरितो यः प्रत्युपकारमनपेक्ष्य परोपकारं करोति ॥३१ ॥ अज्ञानस्य वैराग्यं भिक्षोर्विटत्वमधनस्य विलासो वेश्यारतस्य शौचमविदितवेदितव्यस्य तत्त्वाग्रह इति पंच न कस्य मस्तकशूलानि ॥३२॥ स हि पंचमहापातकी योऽशस्त्रमशास्त्रं वा पुरुषमभियुञ्जीत ॥३३॥

अर्थ — जो धनाढ्य पुरुष अपने धन द्वारा देव, द्विज और याचकों को सन्तुष्ट करता है, उसका अर्थोपार्जनके लिये शारीरिक कष्ट उठाना प्रशंसनीय है ॥ २९ ॥

ऋषिपुत्रक[4] विद्वानके उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥ १ ॥

नीच पुरुषोंका चाहे कितना ही उपकार किया जावे, तथापि वे चनोंके भक्षण, समान विना अपकार किये विश्राम नहीं लेते। अर्थात्–जिसप्रकार चने खाये जाने पर विकार (अधोवायु निस्सारण द्वारा जनसाधारणसे हंसी मजाक कराना) उत्पन्न कर देते हैं, उसीप्रकार उपकृत हुएभी नीच पुरुष अपकार कर डालते हैं ॥ ३० ॥

---

१ तथा च भागुरिः—अनादरो न कर्त्तव्यः शत्रोरपि विवेकिना। स्वगृहे आगतस्यात्र किं पुनर्महतोऽपि च ॥१॥

२ तथा च व्यासः—स्वकीयं कीर्तयेद्धर्मं यो जनाग्रे स मन्दधीः। क्षयं गतः समायाति पापत्वं कथितस्य च ॥१॥

३ तथा च भारद्वाजः—मदप्रमादजं तापं यथा स्यात्तन्निवेदयेत्। गुरुभ्यो युक्तिमाप्नोति मनस्तापो न भारत ॥१॥

४ तथा च ऋषिपुत्रकः—कायक्लेशो भवेयस्तु धनार्जनसमुद्भवः। स शंस्यो धनिनो योऽत्र संविभागो द्विजादिषु ॥१

भागुरि[1] विद्वान के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥ १ ॥

प्रत्युपकार की आशा न करके दूसरोंका उपकार करनेवाले का चरित्र नमस्कार करने योग्य है ॥ ३१ ॥

भागुरि[2] व महात्मा भर्तृहरि[3] ने भी उक्त सिद्धान्त का समर्थन किया है ॥ [4]

मूर्ख मनुष्य का वैराग्य धारण, तपस्वी का काम सेवन, दरिद्र का शृंगार-विधान, वेश्यासक्त की पवित्रता और आत्मज्ञान-शून्य का वस्तु स्वरूपके विचारने का आग्रह, ये पांच कार्य किसके मस्तकशूल—(पीड़ाजनक) नहीं हैं ? अर्थात्–सभीको पीड़ाजनक हैं। सारांश यह है कि वैराग्य- इच्छुक को ज्ञानी, साधुको कामसेवन से विरक्त, शृंगार चाहनेवाले को धनाढ्य, पवित्रता चाहनेवाले को वेश्या सेवन का त्यागी व वस्तु स्वरूप के विचारक को आत्मज्ञानी होना चाहिये ॥ ३२ ॥

भगवत्पाद[4] विद्वान् ने भी मूर्ख को वैराग्य धारण करना आदि उक्त पाँच बातों को पीड़ाजनक बताया है ॥

जो मनुष्य निहत्थे व्यक्तिपर शस्त्र प्रहार और मूर्ख से शास्त्रार्थ करता है वह पंच महापातकों (स्त्री-वध, बाल-वध, गो-वध, ब्राह्मण-वध व स्वामी-वध) के कटुक फल भोगता है, अतः बुद्धिमान् पुरुषको निहत्थे पर शस्त्रप्रहार और मूर्ख से वाद-विवाद नहीं करना चाहिये ॥ ३३ ॥

गर्ग[5] विद्वान के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥ १ ॥

प्रयोजनवश नीचपुरुषका संसर्ग, स्वार्थ-सिद्धिका इच्छुक, गृह-दासीसे अनुराग, वेश्या-संग्रहसे हानि व दुराचारियोंकी चित्तवृत्ति—

उपाश्रुतिं श्रोतुमिव कार्यवशान्नीचमपि स्वयमुपसर्पेत् ॥३४॥ अर्थी दोषं न पश्यति[A] ॥३५॥ गृहदास्यभिगमो गृहं गृहिणीं गृहपतिं च प्रत्यवसादयति ॥३६॥ वेश्यासंग्रहो देव-द्विज-गृहिणी-बन्धूनामुच्चाटनमंत्रः ।३७॥ अहो लोकस्य पापं, यन्निजा स्त्री रतिरपि भवति निम्बसमा, परगृहीता शुन्यपि भवति रम्भासमा ॥३८॥

अर्थ—जिस प्रकार प्रयोजनवश शुभ या अशुभ शकुन-शब्द सुना जाता है, यदि शुभसूचक होता है तो वह कार्य किया जाता है, अन्यथा छोड़ दिया जाता है, उसी प्रकार बुद्धिमान् मनुष्यको स्वार्थसिद्धि

---

१ तथा च भागुरिः—चणकैः सदृशा ज्ञेया नीचास्तान्न समाश्रयेत् । सदा जनस्य मध्ये तु प्रकुर्वन्ति विडम्बनं ॥१॥

२ तथा च भागुरिः—उपकाररतो यस्तु वाञ्छते न स्वयं पुनः । उपकारः स वन्द्यः स्याद्वाञ्छते यो न च स्वयं ॥१॥

३ तथा च भर्तृहरिः—एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थान् परित्यज्य ये ।[?]

४ तथा च भगवत्पादः—मूर्खस्य तु सुवैराग्यं विटकर्म तपस्विनः । निर्धनस्य विलासित्वं शौचं वेश्यारतस्य च ॥१॥
तत्त्वत्यागो ब्रह्मविदो [पंचैते कटकाः स्मृताः] ।[?]

५ तथा च गर्गः—स्त्रीबालगोद्विजस्वामिपंचानां वधकारकः । अशस्त्रं शास्त्रहीनं च हि युंजते ? ……… ॥१॥

A म० म० प्रतिसे संकलित ।

के लिये नीच पुरुष के भी पास जाकर उसके वचन सुनने चाहिए और अनुकूल होने पर मानना चाहिए अन्यथा नहीं ॥ ३४ ॥

गुरु[1] विद्वान् ने भी नीच पुरुष के विषय में यही कहा है ॥ १ ॥

स्वार्थी मनुष्य अपने दोषों पर दृष्टि नहीं डालता ॥ ३५ ॥

गृहदासी से अनुराग करनेवाला अपने गृह, पत्नी व गृह के स्वामी को नष्ट करदेता है ॥ ३६ ॥

वेश्या-संग्रह देव, ब्राह्मण, स्त्री बन्धुजनों से पृथक् कराने वाला उच्चाटन-मंत्र है अतः उक्त हानि व धार्मिक क्षतिसे बचने के लिए विवेकी मनुष्यको वेश्या-संग्रह का त्याग करना चाहिये ॥ ३७ ॥

गुरु[2]—विद्वान् ने भी वेश्यासंग्रह से उक्त हानि बताई है ॥१॥

लोगों का पाप जानकर आश्चर्य होता है कि जिसके कारण वे लोग अपनी रति के समान सुन्दर स्त्री को भी नीम सदृश अप्रिय और दूसरे की कुरूप स्त्रीको देवाङ्गनासम प्रिय मान बैठते हैं ।३८।

एक स्त्री से लाभ, परस्त्री व वेश्यासेवन का त्याग, सुखके कारण, गृह-प्रवेश, लोभ व याचना से हानि, दारिद्र-दोष व धनाढ्य की प्रशंसा—

स सुखी यस्य एक एव दारपरिग्रहः ॥ ३९ ॥ व्यसनिनो यथासुखमभिसारिकासु न तथार्थवतीषु ॥ ४० ॥ महान् धनव्ययस्तदिच्छानुवर्तनं दैन्यं चार्थवतीषु ॥ ४१ ॥ अस्तरणं कम्बलो जीवधनं गर्दभः परिग्रहो वोढा सर्वकर्माणश्च भृत्या इति कस्य नाम न सुखावहानि[A] ॥ ४२ ॥ लोभवति भवन्ति विफलाः सर्वे गुणाः[B] ॥ ४३ ॥ प्रार्थना कं नाम न लघयति[C] ॥ ४४ ॥ न दारिद्र्यात्परं पुरुषस्य लाञ्छनमस्ति यत्संगेन सर्वे गुणा निष्फलतां यान्ति ॥ ४५ ॥ अलब्धार्थोऽपि लोको धनिनो भाण्डो भवति ॥ ४६ ॥ धनिनो यतयोऽपि चाटुकाराः ॥ ४७ ॥

अर्थ—वही सुखी है जिसके एक स्त्री है ॥ ३९ ॥

चाणिक्य[3] ने भी दो पत्नियों को कलह का बीज बताया है ॥ १ ॥

जिस प्रकार व्यभिचारी पुरुष को व्यभिचारिणी स्त्रियों से सुख प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार वेश्याओं से भी उसे कदापि सुख प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि वेश्याओं में अनुराग करने से

---

१ तथा च गुरुः—अपि नीचोऽपि गन्तव्यः कार्ये महति संस्थिते । यदि स्यात्तद्वचो भद्रं तत्कार्यमथवा त्यजेत् ॥१॥

२ तथा च गुरुः—न वेश्या चिन्तयेत्पुंसां किमप्यस्ति च मन्दिरे । स्वकार्यमेव कुर्वाणा नरः सोऽपि च तद्भ्रमात् ।१।
कृत्वा शीलपरित्यागं तस्या वाञ्छां प्रपूरयेत् । ततश्च मुच्यते सर्वैर्भार्याबान्धवपूर्वजैः ॥ २ ॥

३ तथा च चाणिक्यः—अपि साधुजनोत्पन्ने द्वे भार्ये यत्र संस्थिते । कलहस्तत्र नो याति गृहाच्चैव कदाचन ॥१॥

A, B, C, उक्त चिन्हाङ्कित सूत्र मु. मू. प्रति से संकलन किये गये हैं ।

व्यसनी का प्रचुर धन-व्यय होता है एवं उनकी इच्छानुकूल प्रवृत्ति करने से निर्धनता-वश उसे धनाढ्यों के समक्ष धन के लिये दीनता प्रगट करनी पड़ती है अतः नैतिक पुरुष को व्यभिचारिणी स्त्रियों व वेश्याओं से दूर रहना चाहिए ॥ ४०-४१ ॥

बिछाने की गद्दी व ओढ़ने को कम्बल,कृषि-आदि में उपयोगी गो-बैल आदि जीव, धन, विवाहित स्त्री रूप परिग्रह एव समस्त कार्य करने में निपुण सेवक, ये वस्तुयें किसे सुखदायक नहीं होतीं ? सभी को होती हैं ॥ ४२ ॥

लोभी के समस्त विद्या आदि गुण निष्फल होते हैं, क्योंकि उनका वह सदुपयोग नहीं करता ॥ ४३ ॥ याचना करने वाला कौन मनुष्य लघु नहीं गिना जाता ? सभी लघु गिने जाते हैं ॥४४॥ लोक में दरिद्रता से बढ़कर दूसरी कोई वस्तु मनुष्यको दूषित (दोषयुक्त) नहीं बनाती, दरिद्रता ही सबसे बड़ा दोष है जिसके कारण मनुष्य के समस्त गुण निष्फल हो जाते हैं ॥ ४५ ॥

किसी विद्वान[1]ने भी गुणवान दरिद्र व्यक्ति द्वारा किये जाने वाले उपकार को शङ्कायुक्त कहा है ।?।

धनाढ्य से धन न मिलने पर भी याचक लोग उसकी प्रशंसा करते हैं, पुनः धन मिलने पर तो उसकी प्रशंसा के पुल बांधना कोई बड़ी बात नहीं ॥ ४६ ॥

वल्लभदेव[2]ने भी नीच कुल के कुरूप धनाढ्य पुरुष की याचकों द्वारा स्तुति बताई है । १ ॥

जबकि साधु पुरुष भी धनाढ्य पुरुष की प्रशंसा करते हैं फिर साधारण लोगों का तो कहना ही क्या है ? वे तो उसकी प्रशंसा करते ही हैं ॥ ४७ ।

वल्लभदेव[3]ने भी धनाढ्य पुरुष को कुलीन, पंडित, श्रुतधर, गुणज्ञ, वक्ता व दर्शनीय कहा है ॥१॥

पवित्रवस्तु, उत्सव, पर्व, तिथि व यात्राका माहात्म्य, पांडित्य, चातुर्य व लोकव्यवहार—

न रत्नहिरण्यपूताज्जलात्परं पावनमस्ति ॥ ४८ ॥ स्वयं मेध्या आपो वन्हितप्ता विशेषतः ४९ स एवोत्सवो यत्र वन्दिमोक्षो दीनोद्धरणं च ॥ ५० ॥ तानि पर्वाणि येष्वतिथिपरिजनयोः प्रकामं सन्तर्पणं ॥ ५१ ॥ तास्तिथयो यासु नाधर्माचरणं ॥ ५२ ॥ सा तीर्थयात्रा यस्यामकृत्यनिवृत्तिः ॥ ५३ ॥ तत्पाण्डित्यं यत्र वयोविद्योचितमनुष्ठानम् ॥ ५४ ॥ तच्चातुर्यं यत्परप्रीत्या स्वकार्यसाधनम् ॥ ५५ ॥ तल्लोकोचितत्वं यत्सर्वजनादेयत्वम् ॥ ५६ ॥

अर्थ—मरकत आदि रत्न व सुवर्ण से पवित्र किये हुए जलको छोड़कर दूसरा कोई पदार्थ पवित्र नहीं है। सारांश यह है कि ऐसा जल स्नान करने व पीने के लायक है ॥ ४८ ॥ जल स्वयं पवित्र है

---

१ तथा चोक्तं—उपकारपरो यातिः, निर्धन कस्यचिद्गृहे । पारयिष्यति मात्रेण धनाढ्यो मन्यते गृही ॥ १ ॥

२ तथा च वल्लभदेवः—न त्वया सदृशो दाता कुलीनो न च रूपवान् । कुलीनोऽपि विरूपिपोऽपि गीयते च धनार्थिभिः ॥ १ ॥

३ तथा च वल्लभदेवः—यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः, स पण्डितः स श्रुतवान् गुणज्ञः ।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति ॥ १ ॥

व गर्मजल विशेष पवित्र है ॥ ४९ ॥

मनु[1] के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥ १ ॥

उत्सव मनाने की सार्थकता तभी है जब कि इस अवसर पर वन्दियों कैदियों का छुटकारा और अनाथोंकी रक्षा की जावे, पर्व (रक्षाबंधन-आदि) मनाने की भी साथकता तभी है, जबकि इस अवसर पर अतिथियों और कुटुम्बीजनों को दान-सम्मान द्वारा अत्यन्त संतुष्ट किया जावे ॥ ५०-५१ ॥

भारद्वाज[2] ने भी पर्व के दिनों में अतिथिसत्कार व कुटुम्ब-पोषण का संकेत किया है ॥ १ ॥

तीस तिथियों में से वे ही तिथियां सार्थक हैं जिनमें मनुष्य पापाचरण से हटकर धर्माचरण की ओर अग्रेसर होता है ॥ ५२ ॥

जैमिनि[3] ने भी पाप-युक्त तिथियों को निरर्थक व धर्म-युक्त को सार्थक कहा है ॥ १ ॥

जहां जाकर लोग पाप में प्रवृत्ति नहीं करते, वही उनकी वास्तविक तीर्थयात्रा है सारांश यह कि तीर्थस्थान का पाप वज्रलेप की तरह अमिट होता है, अतः वहां पर पापक्रियाओं को त्याग करना चाहिए ॥ ५३ ॥

किसी नीतिकार[4] के उद्धरण से भी यही बात प्रतीत होती है ॥ १ ॥

अपनी आयु और विद्यानुकूल सत्कर्त्तव्य का पालन करनेवाले विद्वान् की विद्वत्ता सच्ची है ॥५४॥

गुरु[5] ने भी विद्या व आयु के योग्य सत्कर्त्तव्य-पालन व योग्य वेषधारण करनेवालेको विद्वान माना है ॥१॥

दूसरे से प्रीति उत्पन्न करके उससे अपना प्रयोजन सिद्ध करना 'चातुर्य' नामक सद्गुण है ॥५५॥

शुक्र[6] ने भी सामनीति द्वारा अपना प्रयोजन सिद्ध करनेवाले को चतुर और दंड-भेद-आदि द्वारा अपना प्रयोजन सिद्ध करने वालेको 'मूर्ख' कहा है ॥ १ ॥

विवेकी मनुष्यका वही लोकोपयोगी नैतिक सत्कर्त्तव्य है जिसके अनुष्ठान से वह लोक-प्रिय (सबका प्यारा) होजाता है ॥५६॥

सज्जनता व धीरताका माहात्म्य, सौभाग्य, सभा-दोष, हृदय-हीन केअनुरागकी निष्फलता, निन्द्य स्वामी, लेखका स्वरूप व उसका अप्रामाण्य, तत्काल अनिष्टकारी पाप, बलिष्ठके साथ विग्रहसे हानि, बलवान् का आश्रय पाकर उससे उद्दण्डता करने से हानि, प्रवासका स्वरूप व उसका सुख—

---

१ तथा च मनुः— आपः स्वभावतोमेध्याः किं पुनर्वन्हिसंयुताः । तस्मात् सन्तस्तदिच्छन्ति स्नानमुष्णेन वारिणा ॥१॥

२ तथा च भारद्वाजः— अतिथिः पूज्यते यत्र पोषयेत् स्वपरिग्रहं । तस्मिन्नहनि सर्वाणि पर्वाणि मनुरब्रवीत् ॥ १ ॥

३ तथा च जैमिनिः— यासु न क्रियते पापं ता एव तिथयः स्मृताः । शेषा वंध्यास्तु विज्ञेया इत्येवं मनुरब्रवीत् ॥१॥

४ तथा चोक्तं— अन्यत्र यत् कृतं पापं तीर्थस्थाने प्रयाति तत् । क्रियते तीर्थगैर्यच्च वज्रलेपं तु जायते ॥ १ ॥

५ तथा च गुरुः— विद्याया वयसश्चापि या योग्या क्रिया इह । तथा वेषश्च योग्यः स्यात् स ज्ञेयः पण्डितो जनैः ॥

६ तथा च शुक्रः—यः सामप्रसाधयेत् कार्यं चतुरः स प्रकीर्तितः । साधयन्ति भेदाद्यैर्ये ते मतिविवर्जिताः ॥१॥

तत्सौजन्यं यत्र नास्ति परोद्वेगः ॥५७॥ तद्धीरत्वं यत्र यौवनेनानपवादः ॥५८॥ तत्सौभाग्यं यत्रादानेन वशीकरणं ॥५९। सा सभाऽरण्यानी यस्यां न संति विद्वांसः ॥ ६० ॥ किं तेनात्मनः प्रियेण यस्य न भवति स्वयं प्रियः ॥६१॥ स किं प्रभुर्यो न सहते परिजनसम्बाधम् ॥६२॥ न लेखाद्वचनं प्रमाणं॥६३॥अनभिज्ञाते लेखेऽपि नास्ति सम्प्रत्ययः ॥६४॥ त्रीणि पातकानि सद्यः फलन्ति स्वामिद्रोहः स्त्रीवधो बालवधश्चेति ॥६५॥ अप्लवस्य समुद्रावगाहनमिवाबलस्य बलवत्ता सह विग्रहाय टिरिटिल्लितं ॥६६॥ बलवन्तमाश्रित्य विकृतिभंजनं सद्यो मरणकारणं ॥६७॥ प्रवासः चक्रवर्तिनामपि सन्तापयति किं पुनर्नान्यं ॥६८॥ बहुपाथेयं मनोनुकूलः परिजनः सुविहितश्चोपस्करः प्रवासे दुःखोत्तरणतरण्डको वर्गः ॥६९॥

अर्थ—वही सज्जनता है, जिससे दूसरोंके हृदय-सरोवरमें भय व उद्वेग न होकर प्रसन्नता लहराये

बादरायण[1] ने भी जनसमुदाय को प्रसन्न रखनेवाले कार्यों को सज्जनता और इससे विपरीत भयोत्पादक कार्योंको दुर्जनता कहा है ॥ १ ॥

जो शिष्ट पुरुष युवावस्थाको प्राप्त करके अपने जीवनको परस्त्री व वैश्यासेवन आदि दोषोंसे दूषित नहीं होने देते अर्थात्- अपनी स्त्रीमें ही सन्तुष्ट रहते हैं उनका वह धीरता गुण है ॥५८॥

शौनक[2]ने भी युद्ध में प्रवीण पुरुषको धीर न कहकर युवावस्थामें परस्त्री व वेश्या सेवनके त्यागीको 'धीर' कहा है ॥१॥

दान न देने पर भी जन-समुदाय को वशीभूत रखने वाला मनुष्य भाग्यशाली है ॥५९॥

गौतम[3]भी पैसेके बलपर दूसरोंको वश करने वाले को भाग्यशाली नहीं मानता ॥१॥

जिस सभामें विद्वान् पुरुष नहीं हैं; उसे जंगल समझना चाहिये, क्योंकि विद्व-मण्डलीके बिना सभ्यों को धर्म-अधर्म कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का बोध नहीं होता ॥६०॥

वह मनुष्य शत्रु समान है, जो अपनी हृदय-हीनता वश दूसरे मनुष्य द्वारा प्रेम करने पर भी उसका प्रत्युत्तर प्रेमसे न देकर रुष्टतासे देता है ॥६१॥

राजपुत्र[4]के संगृहीत श्लोकका भी यही अभिप्राय है ॥१॥

जो स्वामी अपने सेवकों द्वारा वेतन आदि मांगने पर उनको वेतन आदि देनेमें हिचकिचाता है या उनके खर्चेका धक्का सहन नहीं कर पाता वह निन्दनीय है ॥६२॥

---

१ तथा च बादरायणः—यस्य कृत्येन कृत्स्नेन सानन्दः स्याज्जनोऽखिलः । सौजन्यं तस्य तज्ज्ञेयं विपरीतमतोऽन्यथा

२ तथा च शौनकः—परदारादिदोषेण रहितं यस्य यौवनं । प्रयाति वा पुमान् धीरो न धीरो युद्धकर्मणि ॥१॥

३ तथा च गौतमः—दानहीनोऽपि वशगो जनो यस्य प्रजायते । सुभगः स परिज्ञेयो न यो दानादिभिर्नरः ॥१॥

४ तथा च राजपुत्रः- वल्लभस्य च यो भूयो वल्लभः स्याद्विशेषतः । सवल्लभ परिज्ञेयो ऽयो ऽन्यो वैरो स उच्यते ॥१॥

गौतम[1]ने भी भृत्यवर्गके रक्षणमें असमर्थ पुरुषको स्वामी न मानकर संन्यासी माना है ॥१॥

लेख व वचनमें से लेख की ही विशेष प्रतिष्ठा व अत्यधिक प्रामाणिकता होती है और वचनोंकी चाहे वे बृहस्पति द्वारा ही क्यों न कहे गये हों, प्रतिष्ठा नहीं होती ॥६३॥

राजपुत्र[2]ने भी लेख को ही विशेष महत्वपूर्ण व प्रामाणिक माना है ॥१॥

अनिश्चित लेख प्रामाणिक नहीं गिने जाते। सारांश यह है कि मनुष्यको किसीकी लिखी हुई बात पर सहसा—विना सोचे समझे विश्वास नहीं करना चाहिये और प्रत्यक्ष व साक्षियों द्वारा उसका निर्णय करना चाहिये ॥६४॥

शुक्र[3]ने भी कहा है कि 'धूर्तलोग झूठे लेख लिखानेके बहाने से सज्जन पुरुषों को धोखा देते हैं; अतः विद्वानोंको बिना निश्चय किये किसी की लिखी हुई बात पर विश्वास नहीं करना चाहिये ॥१॥

स्वामी, स्त्री और बच्चेका वध ये तीन महा पाप हैं, जिनका कुफल मनुष्यको इसी लोकमें तत्काल भोगना पड़ता है ॥६५॥

नारदने[4]ने भी ऐसे नृशंस हत्यारेको उभयलोकमें दुःख भोगने वाला कहा है ॥१॥

जिस प्रकार विना नौका केवल भुजाओंसे समुद्र पार करने वाला मनुष्य शीघ्र मृत्युको प्राप्त होता है, उसी प्रकार कमजोर पुरुष बलिष्ठ पुरुषके साथ युद्ध करनेसे शीघ्र नष्ट हो जाता है, अतः निर्बलको बलिष्ठके साथ युद्ध नहीं करना चाहिये ॥६६॥

गुरु[5] ने भी कमजोरको शक्तिशालीके साथ युद्ध करनेका निषेध किया है ॥१॥

जो मनुष्य बलवान्का आश्रय—सहारा या उपकार—पाकर उससे उद्दण्डता का बर्ताव करता है, उसकी तत्काल मृत्यु होती है ॥६७॥

परदेशकी यात्रा चक्रवर्तीको भी कष्ट देती है, पुनः साधारण व्यक्तिको उससे कष्ट होना स्वाभाविक है ॥६८॥

चारायण[6] ने भी परदेश यात्राको विशेष कष्ट देने वाली कहा है ॥१॥

मनुष्यको परदेशकी यात्रामें पर्याप्त भोजन सामग्री आज्ञाकारी सेवक व उत्तम धन व वस्त्रादि सामग्री दुखः रूप समुद्रसे पार करनेके लिये जहाजके समान है ॥६९॥

इति व्यवहार-समुद्देश।

---

१ तथा च गौतमः—भृत्यवर्गार्थजे जाते यो ऽन्यथा कुरुते प्रभुः। स स्वामी न परिज्ञेय उदासीनः स उच्यते ॥१॥

२ तथा च राजपुत्रः—लिखिताद्वाचिकं नैव प्रतिष्ठां याति कस्यचित्। बृहस्पतेरपि प्रायः किं तेन स्यापि? कस्यचित् ।

३ तथा च शुक्रः—कूटलेखप्रपंचेन धूर्तैरार्यतमा नराः। लेखार्थो नैव कर्तव्यः साभिज्ञानं विना बुधैः ॥१॥

४ तथा च नारदः—स्वामिस्त्रीबालहन्तॄणां सद्यः फलति पातकं। इह लोकेऽपि तद्वच्च परत्रोपभुज्यते ॥१॥

५ तथा च गुरुः—बालिना सह युद्धं यः प्रकरोति सुदुर्बलः। दर्पं कृत्वात्मनः शक्त्या युद्धं तस्य विनाशनम् ॥१॥

६ तथा च चारायणः—प्रवासे सीदति प्रायश्चक्रवर्त्यपि यो भवेत्। किं पुनर्योन्य पाथेयं स्वल्पं सर्पति मानवः ॥१॥

२८ विवाद-समुद्देश

राजा का स्वरूप, उसकी समदृष्टि, विधान परिषत् के अधिकारी या सभासद, अयोग्य सभासद, व उन से हानि व न्यायाधीश की पक्षपात-दृष्टि से हानि—

गुणदोषयोस्तुलादण्डसमो राजा स्वगुणदोषाभ्यां जन्तुषु गौरवलाघवे ॥ १ ॥ राजा त्वपराधालिंगितानां समवर्ती तत्फलमनुभावयति ॥ २ ॥ आदित्यवद्यथावस्थितार्थ-प्रकाशन-प्रतिभाः सभ्याः ॥ ३ ॥ अदृष्टाश्रुतव्यवहाराः परिपन्थिनः सामिषा न सभ्याः ॥ ४ ॥ लोभ पक्षपाताभ्यामयथार्थवादिनः सभ्याः सभापतेः सद्योमानार्थहानि लभेरन् ॥ ५ ॥ तत्रालं विवादेन यत्र स्वयमेव सभापतिः प्रत्यर्थीसभ्यसभापत्योरसामंजस्येन कुतो जयः किं बहुभिश्छगलैः श्वा न क्रियते ॥ ६ ॥

अर्थ—राजाका कर्तव्य है कि प्रजाजनों के गुणों व दोषों की जांच तराजू की दण्डो तरह निष्पक्ष भाव से करने के उपरान्त ही उन्हें गुण व दोष के कारण क्रमशः गुरु (महान) और लघु समझे और उनके साथ योग्य-अयोग्य व्यवहार करे। अर्थात् शिष्टों का पालन व दुष्टों का निग्रह करे॥ १ ॥ समस्त प्रजाजनों को एक नजर से देखने वाला राजा अपराधियों को अपराधानुकूल दण्ड देनेकी सोचता है ॥ २ ॥

गुरु[१]ने भी अपराधी के अपराध की सत्य व झूठ जाँच करने के उपरान्त दण्ड देने को कहा है ॥१॥

राज सभा (विधान परिषत्) के सभासद-एक्जीक्यूटिव कौन्सिल या पार्लिमेंट के अधिकारी गण (गवर्नरजनरल, प्रधानमन्त्री, गृहमन्त्री, तथा सेना अर्थ स्वास्थ्य न्याययातायात शिक्षाके सचिव आदि) सूर्य के समान पदार्थ को जैसे का तैसा प्रकाश करने वाली प्रतिभा से युक्त होने चाहिए। अर्थात् उन्हें समस्त राज्य शासन सम्बन्धी व्यवहार को यथार्थ सिद्ध करने में प्रवीण होना चाहिये ॥ ३ ॥

गुरु[२] ने भी राजसभा के सभासद राज्यशासन सम्बन्धी समस्त व्यवहारोंके जानने वाले कहा हैं ॥१॥

जिन्होंने राज्यशासन सम्बन्धी व्यवहारों (शिष्ट पालन व दुष्ट निग्रह आदि अपने २ उत्तरदायित्वपूर्ण कर्तव्यों) का शास्त्र द्वारा अनुभव प्राप्त नहीं किया हो और न राजनीतिज्ञ शिष्ट पुरुषोंके सत्संग से उन व्यवहारोंको श्रवण किया हो एवं जो राजा से ईर्ष्या वा वाद-विवाद करते हों ऐसे पुरुष राजाके शत्रु हैं, वे कदापि विधान परिषत्के मेंबर (सभासद) होने लायक नहीं हैं, अत एव विधान परिषत् में सभासद के पदपर उन्हीं को नियुक्त करना चाहिये, जो राज्य-संचालन या अपने उत्तर दायित्व-पूर्ण कर्तव्य पालन की पूर्ण योग्यता रखते हों, अनुभवी व वाद-विवाद न करने वाले हों;

---

१ तथा च गुरुः—विजानीयात् स्वयं वाथ भूभुजा अपराधिनाम्। मृषा किं वाथवा सत्यं स्वराष्ट्रपरिवृद्धये ॥१॥

२ तथा च गुरुः—यथादित्योऽपि सर्वार्थान् प्रकटान् प्रकरोति च। तथा च व्यवहारार्थान् ज्ञेयास्तेऽमी सभासदः ॥१॥

अपनी कार्य प्रणाली को उचित व्यवस्था पूर्वक कार्य रूप में परिणत कर सकने की क्षमता रखते हों, तथा पक्के राजनीतिज्ञ एवं अपने उत्तरदायित्वपूर्ण राज्य-शासन-आदि कार्य भार को पूर्ण रूप से संभाल सकते हों ॥ ४ ॥

शुक्र[1] विद्वान् के संगृहीत श्लोक का भी सभासदों के विषय में यही अभिप्राय है ॥१॥

जिस राजा की सभा में लोभ व पक्षपात के कारण झूठ बोलने वाले सभासद होंगे, वे निःसन्देह उसके मान व धन की क्षति करेंगे ॥ ५ ॥

गर्ग[2] ने भी मिथ्याभाषी सभासदों द्वारा राजकीय मान व सम्पत्ति की क्षति बताई है ॥ १ ॥

जिस सभा में सभापति (न्यायाधीश) पक्षपाती वादी(मुद्दई) हो वहां वाद-विवाद करने से कोई लाभ नहीं, क्योंकि वाद-विवाद करने वाले सभासद व सभापति इनमें एकमत न होने से वादी की विजय कदापि नहीं हो सकती। क्योंकि अन्य लोग राजा का ही पक्ष लेंगे, अतः ऐसी जगह वादी की विजय असम्भव है। क्योंकि क्या बहुत से बकरे मिल कर कुत्ते को पराजित नहीं कर सकते? अवश्य कर सकते हैं। अर्थात् जिस प्रकार बलिष्ठ कुत्ताभी अनेक बकरों द्वारा परास्त कर दिया जाता है उसी प्रकार प्रभावशाली वादी विरोधी राजा आदि द्वारा परास्त कर दिया जाता है ॥ ६ ॥

शुक्र[3] ने भी कहा है कि जहां पर राजा स्वयं विरोधी हो वहां वाद-विवाद नहीं करना चाहिए, क्योंकि अन्य सभी सभासद राजा का ही पक्ष अनुसरण करते हैं ॥ १ ॥

वाद विवादमें पराजितके लक्षण, अधम सभासद, वादविवादमें प्रमाण, प्रमाणोंकी निरर्थकता व वेश्या और जुआरीकी बात जिस मौके पर प्रामाण्य समझी जासके—

विवादमास्थाय यः सभायां नोपतिष्ठेत,समाहूतोऽपसरति, पूर्वोक्तेमुत्तरोक्तेन बाधते,निरुत्तरः पूर्वोक्तेषु युक्तेषु युक्तमुक्तं न प्रतिपद्यते, स्वदोषमनुवृत्य परदोषमुपालभते, यथार्थवादेऽपि द्वेष्टि सभामिति पराजितलिङ्गानि ॥ ७ ॥
छलेनाप्रतिभासेन वचनाकौशलेन चार्थहानिः ॥ ८ ॥ भुक्तिः साक्षी शासनं प्रमाणं ॥ ६ ॥ भुक्तिः सापवादा,·साक्रोशाः साक्षिणः शासनं च कूटलिखितमिति न विवादं समापयन्ति१० बलोत्कृतमन्यायकृतं राजोपधिकृतं च न प्रमाणं ॥ ११ ॥ वेश्याकितवयोरुक्तं ग्रहणानुसारितया प्रमाणयितव्यं ॥ १२ ॥

अर्थ—जो वाद विवाद करके सभामें नहीं आवे; आग्रहपूर्वक बुलाये जाने पर भी जो सभामें उपस्थित नहीं होता, जो अपने द्वारा कहे हुए वचनोंको झूठा बनाकर—बात बदलकर—नई बात कहता हो,

---

१ तथा च शुक्रः—न दृष्टो न श्रुतो वापि व्यवहारः सभासदैः। न ते सभ्यास्तस्ते च विज्ञेया पृथ्वीपतेः ॥१॥
२ तथा च गर्गः— अयथार्थप्रवक्तारः सभ्या यस्य महीपतेः। मानार्थहानिं कुर्वन्ति तस्य सद्यो न संशयः ॥१॥
३ तथा च शुक्रः— प्रत्यर्थी यत्र भूपः स्यात् तत्र वादं न कारयेत्। यतो भूमिपतेः पक्षं सर्वे प्रोक्तुस्तदपानुगाः ॥१॥

पूर्वमें कहे हुए अपने वचनों पर सभ्य मनुष्यों द्वारा प्रश्न किये जाने पर जो यथोचित उत्तर न देसकता हो, जो कही हुई बातको सत्य प्रमाणित न कर सके, अपनी गल्तियों पर ध्यान न देकर जो उल्टा प्रतिवादीको ही दोषी बताता हो, एवं सज्जनों द्वारा कहे हुए उचित शब्दों पर ध्यान न देकर सभा से ही द्वेष करता हो उपरोक्त चिन्हों—लक्षणोंसे जान लेना चाहिए कि यह वादी प्रतिवादी, या साक्षी, (गवाही) वाद विवादमें हार गया है ॥ ७ ॥

जो सभासद छलकपट, बलात्कार व वाक्चातुर्य द्वारा वादीकी स्वार्थ-हानि करते हैं, वे अधम हैं ॥८॥ भारद्वाज[1]ने भी उक्त उपायोंसे वादी की प्रयोजन-सिद्धिमें बाधा पहुंचाने वाले सभासदोंकी कटु आलोचना की है ॥१॥

यथार्थ अनुभव, सच्चे गवाही और सच्चा लेख इन प्रमाणोंसे वाद विवादमें सत्यताका निर्णय होता है ॥ ९ ॥

जैमिनि[2]ने भी वाद विवादमें प्रत्यक्ष अनुभवके अभावमें साक्षी और साक्षी न होने पर लेख को प्रमाण माना है ॥१॥

जहां पर सदोष अनुभव व झूठे गवाही और झूठे लेख वतमान होते हैं, वहां पर यथार्थ निर्णय न होने से वाद विवाद समाप्त न होकर उल्टा बढ़ता ही है ॥ १० ॥

रैभ्य[3]ने भी उक्त बातें वाद विवादको समाप्त न कर उल्टी बढ़ाने वाली बताई है ॥१॥

पूर्वोक्त अनुभव व साक्षी आदि जब सभासदों द्वारा बलात्कार व अन्याय पूर्वक एवं राजकीय शक्ति की सामर्थ्यसे उपयोगमें लाये जाते हैं, तब वे प्रमाण नहीं माने जाते ॥ ११ ॥

भागुरि[4]ने भी बलात्कार, अन्याय व राजकीय शक्तिसे किये जाने वाले अनुभव आदि को असत्य कहा है ॥१॥

यद्यपि वेश्या और जुआरी झूठे हुआ करते हैं, परन्तु न्यायालयमें उनके द्वारा कही हुई बात भी उक्त अनुभव व साक्षी आदि द्वारा निर्णय की जाने पर प्रमाण मानी जाती है ॥ १२ ॥

रैभ्य[5]ने भी उक्त बातका समर्थन किया है ॥१॥

विवाद की निष्फलता, धरोहर सम्बन्धी विवाद-निर्णय, गवाही की सार्थकता, शपथके योग्य अपराधी व उसका निर्णय होने पर दंड विधान—

असत्यङ्कारे व्यवहारे नास्ति विवादः ॥ १३ ॥ नीवीविनाशेषु विवादः पुरुषप्रामाण्यात्

---

१ तथा च भारद्वाजः—छलेनापि बलेनापि वचनेन सभासदः । वादिनः स्वार्थहानिं ये प्रकुर्वन्ति च तेऽधमाः ॥१॥

२ तथा च जैमिनिः—संवादेषु च सर्वेषु शासनं भुक्तिरुच्यते । भुक्तेरनन्तरं साक्षी तदभावे च शासनम् ॥१॥

३ तथा च रैभ्यः—बलात्कारेण या भुक्तिः साक्रोशाः साक्षिणोऽत्र ये । शासनं कूटलिखितप्रमाणानि त्रीण्यपि ॥ १ ॥

४ तथा च भागुरिः—बलात्कारेण यत् कुर्युः सभ्याश्चान्यायतस्तथा । राजोपधिकृतं तत्प्रमाणं भवेन्न हि ॥ १ ॥

५ तथा च रैभ्यः—या वेश्या बन्धकं प्राप्य लघुमात्रं बहु व्रजेत् । सहिको द्यूतकारश्च द्वावपि ते तनौ ॥ १ ॥

सत्यापयितव्यो दिव्यक्रियया वा ॥ १४ ॥ यादृशे तादृशे वा साक्षिणि नास्ति दैवी क्रिया किं पुनरुभयसम्मते मनुष्ये नीचेऽपि ॥ १५ ॥ यः परद्रव्यमभियुञ्जीताभिलुम्पते वा तस्य शपथः क्रोशो दिव्यं वा ॥ १६ । अभिचारयोगैर्विशुद्धस्याभियुक्तार्थसम्भावनायां प्राणावशेषोऽर्थापहारः ॥ १७ ॥

अर्थ—जहां पर मिथ्याव्यवहार–झूठा विवाद–खड़ा होजाता है वहां यथार्थ निर्णय करने के लिये शिष्ट पुरुष को विवाद नहीं करना चाहिये, क्योंकि जिस मुकद्दमे में वादी व प्रतिवादी (मुद्दई और मुद्दायल) दोनों झूठे होते हैं अथवा मुद्दई के स्टाम्प–वगैरह झूठे होते हैं वहां विवाद (मुकद्दमा) खड़ा ही नहीं हो सकता, तब निराधार निर्णय की आशा करना व्यर्थ है ॥ १३ ॥

ऋषिपुत्रक[1] ने भी झूठे व्यवहार वाले विवादको निरर्थक कहा है ॥ १ ॥

किसी पुरुषने किसी मनुष्यको अपना सुवर्ण–आदि धन संरक्षण करनेके लिये धरोहर रूपसे सौंपा हो और उस धन के नष्ट हो जाने पर (वापिस मांगने पर यदि वह मनाई कर बैठे) उस समय न्यायाधीशका कर्तव्य है कि उसका इन्साफ धरोहर रखने वाले पुरुष की प्रामाणिकता—(सचाई) द्वारा करे, और यदि ऐसा न हो धरोहर रखने वाला (विश्वासपात्र व सच्चा न हो) तो उससे शपथ करावे या उसे दंडका भय दिखा कर इस प्रकार सत्य का निर्णय करे कि मुद्दई का धन मुद्दालय के यहां से जो नष्ट हुआ है, वह चोरी द्वारा अपहरण किया गया है ? अथवा मुद्दायल स्वयं मुद्दई के धन को हड़प कर गया है ?

नारद[2] ने भी धरोहर के धन सम्बन्धी विवाद का इन्साफ करने के लिये उक्त दोनों उपाय बताये हैं ॥ १ ॥

जब मुकद्दमे में जिस किसी प्रकारका व्यक्ति साक्षी (गवाही) होता है तब न्यायाधीश द्वारा मुद्दई मुद्दायलेको शपथ कराकर सत्यका निर्णय करना व्यर्थ है। फिर दोनों मुद्दईमुद्दायले द्वारा मानेहुये श्रेष्ठपुरुषके साक्षी होने पर सत्य की जांच के लिये शपथ का प्रयोग करना तो बिलकुल निरर्थक है ही ॥ १५॥

भार्गव[3] ने भी गवाही द्वारा विवाद सम्बन्धी सत्यता का निर्णय हो जाने पर शपथ - क्रिया को निरर्थक बताया है ॥ १ ॥

दूसरे का धन अपहरण या नष्ट करने वाले अपराधी का निर्णय करनेके लिये साक्षी के अभाव में न्यायाधीश को दिव्य क्रिया (शपथ कराना आदि) उपाय काम में लाना चाहिये ॥ १६ ॥

गर्ग[4] ने भी ऐसे अपराधी की जाँच के लिये शपथ कराने का संकेत किया है ॥ १ ॥

जो अपराधी शपथ–आदि कूटनीति से अपने लिये निर्दोष साबित कर चुका हो, पश्चात् चोरी

---

१ तथा च ऋषिपुत्रकः—असत्यंकारसंयुक्तो व्यवहारो नराधिप । विवादो वादिना तत्र नैव दुरतः कथंचन ॥ १ ॥

२ तथा च नारदः—निक्षेपो यदि नष्टः स्यात् प्रमाणः पुरुषार्पितः । तत्प्रमाणं प्रकार्यो दद्दिव्यं वा निवेदयेत् ॥१॥

३ तथा च भार्गवः—अधर्मापि भवेत् साक्षी विवादे पर्यवस्थिते । तदा दैवी क्रिया न स्यात् किं पुनः पुरुषोत्तमे ॥१॥

४ तथा च गर्गः—अभियुञ्जीत चेन्मर्त्यः परार्थं वा विलुम्पते । शपथस्तस्य क्रोशो वा कोशो वा दिव्यमुच्यते ॥१॥

के कारण उसके अपराधी साबित हो जानेपर न्यायाधीश द्वारा उसे प्राण दान देकर उसका सर्वस्व (तमाम धन) हरण कर लेना चाहिये ॥ १७ ॥

शुक्र[1] विद्वान ने भी ऐसे अपराधी के विषय में इसी प्रकार दंडित करने का संकेत किया है ॥ १ ॥

शपथके अयोग्य अपराधी व उनकी शुद्धि का उपाय, लेख व पत्र के संदिग्ध होनेपर फैसला, न्यायाधीश के बिना निर्णयकी निरर्थकता, ग्राम व नगर संबन्धी मुकदमा, राजकीय निर्णय एवं उसको न मानने वालेको कड़ी सजा —

लिंगिनास्तिकस्वाचारच्युतपतितानां दैवी क्रिया नास्ति १८ तेषां युक्तितोऽर्थसिद्धिरसिद्धिर्वा १९ संदिग्धे पत्रे साक्षे वा विचार्य परिच्छिन्द्यात् ॥ २० ॥ परस्परविवादे न युगैरपि विवाद-परिसमाप्तिरानन्त्याद्विपरीतप्रत्युक्तीनां ॥ २१ ॥ ग्रामे पुरे वा वृत्तो व्यवहारस्तस्य विवादे तथा राजानमुपेयात् ॥ २२ ॥ राज्ञा दृष्टे व्यवहारे नास्त्यनुबन्धः ॥ २३ ॥ राजाज्ञां मर्यादां वाऽतिक्रामन् सद्यः फलेन दण्डेनोपहन्तव्यः A ॥ २४ ॥

अर्थ—सन्यासी के भेषमें रहनेवाले, नास्तिक, चरित्र-भ्रष्ट व जातिसे च्युत मनुष्योंके अपराध यदि गवाही आदि उपाय द्वारा साबित न होसकें; तथापि धर्माध्यक्ष (न्यायाधीश) को शपथसे खिलाकरी उनके अपराध साबित नहीं करना चाहिये, क्योंकि ये लोग अक्सर झूठी शपथ खाकर अपने को निर्दोषी प्रमाणित करनेका प्रयत्न करते हैं, इसलिये न्यायाधीश को युक्तियों द्वारा उनकी प्रयोजन-सिद्धि करनी चाहिये अर्थात् अनेक युक्ति-पूर्ण उपायों द्वारा उन्हें अपराधी साबित कर दंडित करना चाहिये अथवा निर्दोषी साबित होने पर उन्हें छोड़ देना चाहिये ॥ १८-१९ ॥

वादरायण[2] ने भी सन्यासियों की शुद्धिके विषयमें यही कहा है ॥ १ ॥

यदि वादी (मुद्दई) के स्टाम्प वगैरह लेख वा साक्षी संदिग्ध-संदेह युक्त हों, तो न्यायाधीश अच्छी तरह सोच-समझकर निर्णय (फैसला) देवे ॥ २० ॥

शुक्र[3] ने भी संदिग्ध पत्र के विषय में इसी प्रकार का इन्साफ करना बताया है ॥ १ ॥

मुद्दई मुद्दायलों के मुकदमेका फैसला बिना धर्माध्यक्षके स्वयं उनके द्वारा बारहवर्ष में भी नहीं किया जासकता,क्योंकि परस्पर अपने २ पक्षको समर्थन आदि करने वाली युक्तियां अनन्त होतीहैं इसलिये दोनों को न्यायालय में जाकर न्यायाधीश द्वारा अपना फैसला कराना चाहिये, वहांपर सत्यासत्य का निर्णय किया जासकता है ॥ २१ ॥

---

१ तथा च शुक्रः—यदि वादी प्रबुद्धोऽपि दिव्याद्यैः कट जैः कृतैः । पश्चात्तस्य च विज्ञानं सर्वस्वहरणं स्मृतं ॥ १ ॥

२ तथा च वादरायणः—युक्त्या विचिन्त्य सर्वेषां लिंगिनां तपसः क्रिया । देया वचनवया शुद्धिरसंगत्या विवर्जनम् १

तथा च शुक्रः—संदिग्धे लिखिते जाते साक्ष्ये वाय सभासदैः । विचार्य निर्णयः कार्यो धर्मो शास्त्रसुनिश्चयः ॥ १ ॥

A उक्त पाठ मु० मू० प्रति से संकलन किया गया है ।

किसी[1] विद्वान ने कहा है कि राजा को न्यायाधीश के फैसले को न माननेवालेका समस्तधन जब्त कर लेना चाहिये ॥ १ ॥

ग्राम व शहर संबंधी मुकदमों का फैसला कराने के लिये वहां के मद्दई–मुद्दायलों को राजा के पास जाना चाहिये ॥ २२ ॥

गौतम[2] विद्वान के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥ १ ॥

राजा द्वारा किया हुआ फैसला निर्दोष होता है, इसलिये जो मुद्दई–मुद्दायल राजकीय आज्ञा या मर्यादा का उल्लंघन करे (उस निर्णय को न माने) उसे मृत्यु दंड दिया जावे ॥ २३–२४ ॥

शुक्र[3] ने भी राजकीय निर्णय को न मानने वाले के लिये मृत्यु–दंड देने का संकेत किया है ॥ १ ॥

दुष्ट निग्रह, सरलता से हानि, धर्माध्यक्ष का राजसभामें कर्त्तव्य, कलह के बीज व प्राणों के साथ आर्थिक-क्षतिका कारण—

न हि दुर्वृत्तानां दण्डादन्योऽस्ति विनयोपायोऽग्निसंयोग एव वक्रं काष्ठं सरलयति ॥२५॥ ऋजुं सर्वेऽपि परिभवन्ति न हि तथा वक्रतरुश्छिद्यते यथा सरलः ॥ २६ ॥ स्वोपलम्भ-परिहारेण परमुपालभेत स्वामिनमुत्कर्षयन् गोष्ठीमवतारयेत् ॥ २७ ॥ न हि भर्तुरभियागात् परं सत्यमसत्यं वा वदन्तमवगृह्णीयात् ॥ २८ ॥ अर्थसम्बन्धः सहवासश्च नाकलहः सम्भवति ॥ २९ ॥ निधिराकस्मिको वार्थलाभः प्राणैः सह संचितमप्यर्थमपहारयति ॥ ३० ॥

अर्थ—अन्यायी दुष्टों को वश करने के लिये दण्डनीति को छोड़ कर और दूसरा कोई उपाय नहीं, क्योंकि जिस प्रकार टेढ़ी व तिरछी लकड़ी आग लगाने से ही सीधी होती है, उसी प्रकार पापी लोग भी दण्ड से ही सीधे (न्याय मार्ग में चलने वाले) होते हैं ॥ २५ ॥

शुक्र[4] विद्वान ने भी दुष्टों को सीधा करनेका यही उपाय बताया है ॥ १ ॥

जिस प्रकार जंगल में वर्तमान टेढ़ा वृक्ष न काटा जाकर सीधा ही काटा जाता है, उसी प्रकार सरल स्वभाव वाला मनुष्य ही सर्व मनुष्यों द्वारा परास्त किया जाता है ॥ २६ ॥

गुरु[5] विद्वान के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥ १ ॥

धर्माध्यक्ष (न्यायाधीश) को राज-सभा में राजा को प्रसन्न करते हुये मुद्दई-मुद्दलयों का विवाद (मुकदमा) इस तरीके से विस्तार पूर्वक करना चाहिये, जिससे उसके ऊपर उलाहना न आवे और उन दोनों में से कोई एक कानूनन दोषी ठहराया जावे ॥ २७ ॥

---

१ तथा चोक्तं—धर्माधिकारिभिः प्रोक्तं यो वादं चान्यथा क्रियात् । सर्वस्वहरणं तस्य तथा कार्यं महीभुजा ॥ १ ॥

२ तथा च गौतमः—पुरे वा यदि वा ग्रामे यो विवादस्य निर्णयः । कृतः स्याद्यदि भूप : स्यात्तद्भूपाग्रे निवेदयेत् ॥१॥

३ तथा च शुक्रः—वादं नृपतिनिर्णीतं योऽन्यथा कुरुते हठात् । वध्यस्तदेव दण्ड्यः स्यान्न विकल्पं समाचरेत् ॥१॥

४ तथा च शुक्रः—यथाग्र् कुटिलं काष्ठं वन्हियोगाद्भवेदृजुः । दुर्जनोऽपि तथा दण्डादृजुर्भवति तत्क्षणात् ॥ १ ॥

५ तथा च गुरुः—ऋजुः सर्वं च लभते न वक्रोऽथ पराभवं । यथा च सरलो वृक्षः सुखं छिद्यते चेद्वैः ॥ १ ॥

गौतम[1] ने भी धर्माध्यक्ष का यही कर्तव्य निर्देश किया है ॥ १ ॥

धर्माध्यक्ष अपने स्वामी का पक्ष लेकर सत्य असत्य बोलने वाले वादी के साथ लड़ाई-झगड़ा न करे ॥ २८ ॥

भागुरि[2] ने भी वादी के साथ लड़ाई-झगड़ा करने का निषेध किया है ॥ १ ॥

आपस में रुपये पैसे का लेन देन व एक मकान में निवास करना ये दोनों कार्य कलह उत्पन्न करते हैं ॥ २९ ॥

गुरु[3] ने भी उक्त दोनों कार्य कलहजनक बताये हैं ॥ १ ॥

अकस्मात मिला हुआ खजाना व अन्याय से प्राप्त हुआ धन ये दोनों वस्तुएं प्राणों के साथ साथ पूर्व संचित धन को भी नष्ट कर डालती हैं ॥ ३० ॥

वादविवादमें ब्राह्मण आदिके योग्य शपथ—

ब्राह्मणानां हिरण्ययज्ञोपवीतस्पर्शनं च शपथः ॥ ३१ ॥ शस्त्ररत्नभूमिवाहनपल्याणानां तु क्षत्रियाणाम् ॥ ३२ ॥ श्रवणपोतस्पर्शनात् काकिणीहिरण्ययोर्वा वैश्यानाम् ॥ ३३ ॥ शूद्राणां क्षीरबीजयोर्वल्मीकस्य वा ॥३४॥ कारूणां यो येन कर्मणा जीवति तस्य तत्कर्मोपकरणानां ॥ ३५ ॥ व्रतिनामन्येषां चेष्टदेवतापादस्पर्शनात् प्रदक्षिणादिव्यकोशात्तन्दुलतुलारोहणैर्विशुद्धिः ॥ ३६ ॥ व्याधानां तु धनुर्लंघनं ॥ ३७ ॥ अन्त्यवर्णावसायिनामार्द्रचर्मावरोहणाम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—वाद विवाद के निर्णयार्थ ब्राह्मणों को सुवर्ण व जनेऊ के छूने की, क्षत्रियों को शस्त्र, रत्न, पृथ्वी, हाथी, घोड़े आदि वाहन और पलाणकी, वैश्यों को कर्ण, बच्चा, कौड़ी, रुपया पैसा व सुवर्ण के स्पर्श करने की, शूद्रों को दूध, बीज व सांप की बामी छूने की तथा धोबी-चमार आदि कारू शूद्रों को उनके जीविकोपयोगी उपकरणों की शपथ (कसम) करानी चाहिएं ॥ ३१-३५ ॥

गुरु[4] विद्वान ने भी ब्राह्मण आदि में होने वाले वाद-विवाद के निर्णयार्थ उन्हें उपरोक्त शपथ कराना अनिवार्य बताया है ॥ १-५ ॥

इसी प्रकार व्रती व अन्य पुरुषों की शुद्धि उनके इष्ट देवता के चरणस्पर्श से व प्रदक्षिणा करानेसे

---

१ तथा च गौतमः—धर्माधिकृतमर्त्येन निवेद्यः स्वामिनोऽखिलः । विवादो न यथा दोषः स्वस्य स्यान्न तु वादिनः ॥ १ ॥

२ तथा च भागुरिः—यो न कुर्या द्रण भूयो न कार्यस्तेन विग्रहः । विग्रहेण यतो दोषो महतामपि जायते ॥ १ ॥

३ तथा च गुरुः—न कुर्यादर्थसम्बन्धं तथैकगृहसंस्थितिं । तस्य युद्धं विना कालः कथंचिदपि न व्रजेत् ॥ १ ॥

४ तथा च गुरुः—हिरण्यस्पर्शनं यच्च ब्रह्मसूत्रस्य चापरं । शपथो ह्येष निर्दिष्टो द्विजातीनां न चापरः ॥ १ ॥
शस्त्ररत्नक्षमायानपल्याणस्पर्शनाद्भवेत् । शपथः क्षत्रियाणां च पंचानां च पृथक् पृथक् ॥ २ ॥
शपथो वैश्यजातीनां स्पर्शनात् कर्णबालयोः । काकिणीस्वर्णयोर्वापि शुद्धिर्भवति नान्यथा ॥ ३ ॥
दुग्धस्यान्नस्य संस्पर्शाद्वल्मीकस्य तथैव च । कर्त्तव्यः शपथः शूद्रैः विवादे निजशुद्धये ॥ ४ ॥
यो येन कर्मणा जीवेत् कारुस्तस्य तदुद्भवं । कर्मोपकरणं किंचित् तत्स्पर्शाच्छुद्ध्यते हि सः ॥ ५ ॥

तथा धन, चांवल व तराजू को लांघ से होती है। एवं व्याधों से धनुष लांघने की और चांडाल कंजर और चमार आदि से गीले चमड़े पर चढ़ने की शपथ खिलानी चाहिये ॥ ३६, ३८ ॥

गुरु[1] ने भी व्रती, व्याध व चांडालादि से इस प्रकार शपथ कराने की विधि बताई है ॥ १-३ ॥

क्षणिक वस्तुएं, वेश्यात्याग, परिग्रहसे हानि, उसका दृष्टान्त द्वारा समर्थन, मूर्ख का आग्रह, मूर्ख के प्रति विवेकी का कर्तव्य, मूर्ख को समझाने से हानि व निर्गुण वस्तु—

वेश्यामहिला, भृत्यो भण्डः, क्षीणिनियोगो, नियोगिमित्रं, चत्वार्यशाश्वतानि ॥ ३९ ॥ क्रीतेष्वाहारेष्विव पण्यस्त्रीषु क आस्वादः ॥ ४० ॥ यस्य यावानेव परिग्रहस्तस्य तावानेव सन्तापः ॥ ४१ ॥ गजे गर्दभे च राजरजकयोः सम एव चिन्ताभारः ॥ ४२ ॥ मूर्खस्याग्रहो नापायमनवाप्य निवर्तते ॥ ४३ ॥ कर्पासाग्नेरिव मूर्खस्य शांतावुपेक्षणमौषधं ॥ ४४ ॥ मूर्खस्याभ्युपपत्तिकरणमुद्दीपनपिण्डः ॥ ४५ ॥ कोपाग्निप्रज्वलितेषु मूर्खेषु तत्क्षणप्रशमनं घृताहुतिनिक्षेप इव ॥ ४६ ॥ अनस्तितोऽनड्वानिव ध्रियमाणो मूर्खः परमाकर्षति ॥ ४७ ॥ स्वयमगुणं वस्तु न खलु पक्षपाताद्गुणवद्भवति न गोपालस्नेहादुक्षा क्षरति क्षीरम् ॥ ४८ ॥

अर्थ—वेश्यारूप स्त्री, उद्दण्ड या क्रोधी नौकर, अधिक टैक्स लेना व अधिकारी मित्र इनकी मैत्री या संसर्ग चिरस्थायी नहीं है ॥ ३९ ॥

शुक्र[2] विद्वान ने भी उक्त चारों बातों को क्षणिक कहा है ॥ १ ॥

जिस प्रकार बाजार से खरीदा हुआ भोजन सुखकारक नहीं होता, उसी प्रकार बाजारू वेश्याओंसे भी सुख प्राप्त नहीं हो सकता, अतः विवेकी पुरुषों को सदा के लिये वेश्याओं का त्याग करना चाहिये ॥४०॥

शुक्र[3] विद्वान ने भी वेश्याओं के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥ १ ॥

संसारमें जिस पुरुषके पास जितना परिग्रह (गाय भैंस, रुपया, पैसा आदि) होता है उसे उतना ही संताप (दुःख) होता है; अर्थात् जिसके पास अधिक परिग्रह है उसे अधिक और जिसके पास थोड़ा परिग्रह है, उसे थोड़ा संताप होता है ॥ ४१ ॥

नारद[4] ने भी परिग्रह को संतापजनक बताकर उसके त्यागने की ओर संकेत किया है ॥ १ ॥

राजा को जैसी चिंता हाथी के पालन पोषण की रहती है, वैसी धोबीको गधे के पालन पोषणकी

१ तथा च गुरुः—व्रतिनोऽन्ये च ये लोकास्तेषां शुद्धिः प्रकीर्तिता । इष्टदेवस्य संस्पर्शात् द्विजैर्वा शास्त्रकीर्तितैः ॥१॥
पुलिन्दानां विवादे च चापलंघनतो भवेत् । विशुद्धिर्जीवनं तेषां यतः स्वयं प्रकीर्तिता ॥ २ ॥
अन्त्यजानां तु सर्वेषामार्द्रचर्मावरोहणं । शपथः शुद्धिदः प्रोक्तो यथान्येषां च देहिनः ॥ ३ ॥

२ तथा च शुक्रः—वेश्या पत्नी तथा भण्डः सेवकः कृतसंग्रहः । मित्रनियोगिनं दक्ष न चिरं स्थैर्यतां व्रजेत् ॥ १ ॥

३ तथा च शुक्रः—क्रयक्रीतेन भोज्येन यादृग्भुक्तेन सा भवेत् । तादृक् संगेन वेश्याः सन्तोषो जायते नृप ॥ १ ॥

४ तथा च नारदः—अनित्येऽत्रैव संसारे यावन्मात्रः परिग्रहः । तावन्मात्रस्तु सन्तापस्तस्मात्त्याज्यः परिग्रहः ॥१॥

नारद[1] के उद्धरण से भी यही बात प्रतीत होती है ॥ १ ॥

मूर्ख मनुष्य का हठ उसका नाश किये बिना शान्त नहीं होता। अर्थात्—वह हानि होनेके पश्चात् ही अपनी जिद छोड़ता है ॥ ४३ ॥

जैमिनि[2] ने भी मूर्ख की हठ उसका विनाश करने वाली बताते हुये विद्वानों को हठ न करने का उपदेश दिया है ॥ १ ॥

जिस प्रकार कपास में तीव्र आग लग जाने पर उसे बुझाने का प्रयत्न करना निष्फल है उसी प्रकार मूर्ख के हठ पकड़ लेनेपर उसकी हठ छुड़ानेका प्रयत्न भी निष्फल है, क्योंकि वह अपनी हठ नहीं छोड़ता अतः ऐसे अवसर पर उसकी उपेक्षा करना ही औषधि है (उससे भाषण न करना ही उत्तम है) ॥ ४४ ॥

भागुरि[3] ने भी मूर्खकी हठके अवसर में विवेकी को उसकी उपेक्षा करना बताया है ॥ १ ॥

मूर्ख को हितका उपदेश उसके अनर्थ बढ़ाने में सहायक होता है, अतः शिष्ट पुरुष मूर्ख के लिये उपदेश न देवें ॥ ४५ ॥

गौतम[4] ने भी कहा है कि जैसे २ विद्वान पुरुष मूर्ख को सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करता है, वैसे २ उसकी जड़ता बढ़ती जाती है ॥ १ ॥

क्रोधरूपी अग्निसे प्रज्वलित होने वाले मूर्खोंको तत्काल समझाना जलती हुई आग में घीकी आहुति देने के समान है। अर्थात्—जिस प्रकार से प्रज्वलित अग्नि घी की आहुति देने से शान्त न होकर उल्टी बढ़ती है, उसी प्रकार मूर्ख का क्रोध भी समझानेसे शान्त न होकर उल्टा बढ़ता चला जाता है, अतः मूर्ख को क्रोध के अवसर पर समझाना निरर्थक है ॥ ४६ ॥

जिस प्रकार नथुनेरहित बैल खींचनेवाले पुरुष को अपनी ओर तेजी से खींचता जाता है, उसी प्रकार मर्यादाहीन व हठी मूर्ख मनुष्य भी उपदेश देने वाले शिष्ट पुरुष को अपनी ओर खींचता है—उससे अत्यन्त शत्रुता करने लगता है, अतः विवेकी पुरुष मूर्ख को हित का उपदेश न देवे ॥ ४७ ॥

भागुरि[5] के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥ १ ॥

जिस प्रकार ग्वाले द्वारा अधिक स्नेह किया हुआ बैल दूध नहीं दे सकता, उसी प्रकार स्वयं निर्गुण वस्तु पक्षपात-वश किसी के द्वारा प्रसंशा की जाने पर भी गुणयुक्त नहीं हो सकती ॥ ४८ ॥

नारद[6] ने भी निर्गुण वस्तु के गुण-युक्त न होने के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥ १ ॥

इति विवाद समुद्देश।

---

१ तथा च नारदः—गजस्य पोषणे यद्वद्राज्ञः चिन्ता प्रजायते। रजकस्य च बालेये तादृक्षा बाधिका भवेत् ॥ १ ॥
२ तथा च जैमिनिः—एकाग्रहोऽत्र मूर्खाणां न नश्यति विना क्षयं। तस्मादेकाग्रहो विज्ञैर्न कर्तव्यः कथंचन ॥ १ ॥
३ तथा च भागुरिः—कर्पासे दह्यमाने तु यथा युक्तमुपेक्षणं। एकग्रहपरे मूर्खे तद्वदन्यं न विद्यते ॥ १ ॥
४ तथा च गौतमः—यथा यथा जड़ो लोको विज्ञैर्लोकैः प्रबोध्यते। तथा तथा च तज्जाड्यं तस्य वृद्धिं प्रयच्छति ॥१॥
५ तथा च भागुरिः—नस्तया रहितो यद्वद्ध्रियमाणोऽपि गच्छति। वृषस्तद्वच्च मूर्खोपि धृतः कोपान्न तिष्ठति ॥ १ ॥
६ तथा च नारदः—स्वयमेव कुरूपं यत् तन्न स्याच्छंसितं शुभं। यथोक्षा शंसितः क्षीरं गोपालेन ददाति नो ॥१॥

२६ षाड्गुण्य-समुद्देश ।

शम व उद्योग का परिणाम, लक्षण, भाग्य व पुरुषार्थ के विषय में—

शमव्यायामौ योगक्षेमयोर्योनिः ॥ १ ॥ कर्मफलोपभोगानां क्षेमसाधनः शमः कर्मणां योगाराधनो व्यायामः ॥ २ ॥ दैवं धर्माधर्मौ ॥ ३ ॥ मानुषं नयानयौ ॥ ४ ॥ दैवं मानुषञ्च कर्म लोकं यापयति ॥ ५ ॥ तच्चिन्त्यमचिन्त्यं वा दैवं ॥६॥ अचिन्तितोपस्थितोऽर्थसम्बन्धो दैवायत्तः ॥ ७ ॥ बुद्धिपूर्वहिताहितप्राप्तिपरिहारसम्बन्धो मानुषायत्तः ॥ ८ ॥ सत्यपि दैवेऽनुकूले न निष्कर्मणो भद्रमस्ति ॥ ९ ॥ न खलु दैवमीहमानस्य कृतमप्यन्नं मुखे स्वयं प्रविशति ॥ १० ॥ न हि दैवमवलम्बमानस्य धनुः स्वयमेव शरान् संधत्ते ॥११॥ पौरुषमवलम्बमानस्यार्थानर्थयोः सन्देहः ॥ १२ ॥ निश्चित एवानर्थो दैवपरस्य ॥ १३ ॥ आयुरौषधयोरिव दैवपुरुषकारयोः परस्परसंयोगः समीहितमर्थं साधयति ॥ १४ ॥

अर्थ—शम (कर्मों के फलोपभोग में कुशलता उत्पन्न करने वाला गुण) व व्यायाम (नैतिक पुरुषार्थ) कार्य की प्राप्ति और उसमें सफलता प्राप्त कराते हैं। सारांश यह है कि शिष्ट पुरुष लौकिक एवं धार्मिक कार्यों में तभी सफलता प्राप्त कर सकता है, जब वह पुण्य कर्म के फलोपभोग (इष्ट वस्तु की प्राप्ति) में कुशल-गर्व-शून्य और पाप कर्म के फलोपभोग (अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति) में धीरवीर हो ॥ १ ॥

पुण्य पाप कर्मों के फल इष्ट-अनिष्ट वस्तु के उपभोग के समय कुशलता का उत्पादक गुण (संपत्ति में गर्व-शून्यता और विपत्तियों में धैर्य धारण करना) 'शम' एवं कार्यारंभ किये जाने वाला उद्योग 'व्यायाम' कहा जाता है ॥ २ ॥

प्राणियों द्वारा पूर्वजन्म में किये हुये पुण्य व पाप कर्म को 'दैव' (भाग्य) कहते हैं ॥३॥

व्यास[1] ने कहा है कि जिसने पूर्व जन्ममें दान, अध्ययन व तप किया है, वह पूर्वकालीन अभ्यास वश इस जन्म में भी उसी प्रकार पुण्य कर्म में प्रवृत्ति करता है ॥ १ ॥

नीतिपूर्ण (अहिंसा व सत्य-आदि) व अनीति-पूर्ण (विश्वासघात आदि) कार्यों में किये जानेवाले उद्योग को 'पुरुषार्थ' कहते हैं, परन्तु कर्तव्य दृष्टि से विवेकी पुरुषों को श्रेय प्राप्ति के लिये नीतिपूर्ण सत्कार्य करने में ही प्रयत्नशील होना चाहिये ॥ १ ॥

---

१ तथा च व्यासः—येन यच्चकृतं पूर्वं दानमध्ययनं तपः। तेनैवाभ्यासयोगेन तच्चैवाभ्यसते पुनः ॥ १ ॥

गर्ग[1] ने नीतिपूर्ण सत्कार्य करने का उल्लेख करते हुये अनीति-युक्त असत्कार्य करने का निषेध किया है ॥ १ ॥

भाग्य पुरुषार्थ दोनों से ही प्राणियों की प्रयोजन सिद्धि होती है, एक से नहीं। सारांश यह है कि लोक में मनुष्यों को अनुकूल भाग्य व नीति-पूर्ण पुरुषार्थ से इष्ट-सिद्धि और प्रतिकूल भाग्य व अनीति-युक्त पुरुषार्थसे अनिष्टसिद्धि होती है, केवल भाग्य व पुरुषार्थ से नहीं ॥ ५ ॥

समन्तभद्राचार्य[2] ने भी कहा है कि जो लोग अनुकूल व प्रतिकूल भाग्य द्वारा ही इष्ट व अनिष्ट पदार्थ की सिद्धि मानते हैं, उनके यहां जब उद्योग नगण्य है, तब नीति-पूर्ण पुरुषार्थ द्वारा अनुकूल भाग्य और अनीति-युक्त पुरुषार्थ द्वारा प्रतिकूल भाग्य का सम्पादन नहीं हो सकेगा। इसी प्रकार भाग्य द्वारा परंपरा अनुण्ण चालू रहने से सांसारिक व्याधियों के कारण कर्मों का नैतिक पुरुषार्थ द्वारा ध्वंस न होने से मुक्ति श्री की प्राप्ति नहीं हो सकती। एवं लौकिक-कृषि-व्यापारादि व धार्मिक दान शीलादि कार्यों की सिद्धि के लिये किया जाने वाला पुरुषार्थ (उद्योग) निरर्थक हो जायगा।

इसी प्रकार जो लोग पुरुषार्थ से ही अर्थ-सिद्धि मानते हैं, उनके यहां दैव प्रामाण्य से पुरुषार्थ निष्फल नहीं होना चाहिये और समस्त प्राणियों का पुरुषार्थ सफल होना चाहिये। अतः अर्थ सिद्धि में भाग्य और पुरुषार्थ दोनों की उपयोगिता है, एक की नहीं। साथ में यह ध्यान देने योग्य है कि जिस समय मनुष्यों को इष्ट (सुखादि) व अनिष्ट (दुःखादि) पदार्थ बिना उद्योग किये अचानक प्राप्त होते हैं, वहाँ उनका अनुकूल व प्रतिकूल भाग्य ही कारण समझना चाहिये, वहाँ पुरुषार्थ गौण है। इसी प्रकार पुरुषार्थ के जरिये होने वाले सुख-दुखादि में नीति-अनीतिपूर्ण पुरुषार्थ कारण है वहां दैव गौण है। अभिप्राय यह है कि इष्ट-अनिष्ट पदार्थ की सिद्धि में अनुकूल प्रतिकूल भाग्य व नीति-अनीति-युक्त पुरुषार्थ इन दोनों की उपयोगिता है, केवल एक की नहीं ॥ १-३ ॥

गुरु[3] ने भी भाग्य व पुरुषार्थ द्वारा अर्थ सिद्धि होने का निर्देश किया है ॥ १ ॥

विवेकी मनुष्य को भाग्य के भरोसे ही बैठकर लौकिक (कृषि व्यापारादि) तथा धार्मिक (दान शीलादि) कार्यों में नीति-पूर्ण पुरुषार्थ करना चाहिये ॥ ६ ॥

वल्लभदेव[4] ने भी उद्योग द्वारा आर्थिक लाभ का विवेचन करतेहुये भाग्य भरोसे न बैठकर पुरुषार्थ करने का संकेत किया है ॥ १ ॥

---

१ तथा च गर्गः—नयो वाप्यनयो वापि पौरुषेण प्रजायते । तस्मान्नयः प्रकर्तव्यो नानयश्च विपश्चिता ॥ १ ॥

२ तथा च समन्तभद्राचार्यः—दैवादेवार्थसिद्धिश्चेद्दैवं पौरुषतः कथं । दैवतश्चेदनिर्मोक्षः पौरुषं निष्फलं भवेत् ॥१॥
पौरुषादेव सिद्धिश्चेत् पौरुषं दैवतः कथं । पौरुषाच्चेदमोघं स्यात्सर्वप्राणिषु पौरुषं ।२
अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः । बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात् ॥३॥
(आप्तमीमांसायाम्)

३ तथा च गुरुः—यथा नैकेन हस्तेन ताला संजायते नृणाम् । तथा न जायते सिद्धिरेकेनैव च कर्मणा ॥१ ॥

४ तथा च वल्लभ देवः—उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीर्दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति ।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या, यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः ॥१॥

दूसरे कार्य की सिद्धि के विषय में सोचने वाले व्यक्ति को विना विचारे अचानक ही अगर किसी इष्ट अनिष्ट पदार्थ की प्राप्ति हो जाती है, तो उसे भाग्याधीन समझना चाहिये ॥ ७ ॥

शुक्र[1] ने भी अचानक प्राप्त हुई इष्ट अनिष्ट अर्थ-सिद्धि को भाग्याधीन कहा है ॥ १ ॥

मनुष्य बुद्धिपूर्वक सुखदायक पदार्थों की प्राप्ति व कष्टदायक पदार्थों से निवृत्ति करता है, वह उसके नैतिक पुरुषार्थ पर निर्भर है ॥ ८ ॥

शुक्र[2] ने भी बुद्धिपूर्वक सम्पन्न किये हुये कार्यों को पुरुषार्थ के अधीन बताया है ॥ १ ॥

भाग्य अनुकूल होने पर भी यदि मनुष्य उद्योग-हीन (आलसी) है तो उसका कल्याण नहीं हो सकता, सारांश यह है कि विवेकी पुरुष भाग्य भरोसे न बैठ कर सदा लौकिक व धार्मिक कार्यों में पुरुषार्थ करता रहे, इससे उसका कल्याण हो सकता है, अन्यथा नहीं ॥ ६ ॥

वल्लभदेव[3] ने भी उद्योग द्वारा कार्यसिद्धि होने का समर्थन किया है ॥१ ॥

जिस प्रकार भाग्य-वश प्राप्त हुआ अन्न भाग्य के भरोसे रहने वाले व्यक्ति के मुखमें स्वयं प्रविष्ट नहीं होता, किन्तु हस्त-संचालन आदि पुरुषार्थ द्वारा ही प्रविष्ट होता है, उसी प्रकार केवल भाग्य के भरोसे रहने वाले मनुष्य को कार्य में सफलता नहीं मिलती, किन्तु पुरुषार्थ करने से ही मिलती है ॥१०॥

भागुरि[4] ने भी भाग्यवश प्राप्त हुये अन्न का दृष्टान्त दे कर उद्यम करने का समर्थन किया है ॥ ॥

जिस प्रकार धनुष अपनी डोरी पर बाणों को स्वयं पुरुष प्रयत्न के विना स्थापन नहीं कर सकता, उसी प्रकार भाग्याधीन पुरुष भी उद्योग के विना किसी भी कार्य में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता ॥११॥

जैमिनि[5] के उद्धरण से भी उक्त दृष्टान्त द्वारा उद्योग करने का समर्थन होता है ॥ १॥

पुरुषार्थ का सहारा लेकर कार्यारम्भ करने वाले मनुष्य को इष्ट-सिद्धि (आर्थिक लाभ आदि) व अनर्थ (आर्थिक हानि आदि) होने में संदेह रहता है। सारांश यह है कि उद्यमी पुरुष व्यापारादि कार्य आरम्भ करता है, परन्तु इसमें मुझे आर्थिकलाभ (मुनाफा) होगा या नहीं? अथवा इसमें मुझे हानि (घाटा) तो नहीं हो जायगी? इस प्रकार शङ्कित रहता है। कर्त्तव्य दृष्टि से अभिप्राय यह है कि पुरुषार्थी (उद्योगशील) पुरुष की अर्थ सिद्धि भाग्य की अनुकूलता पर ही निर्भर है, परन्तु भाग्य की अनुकूलता व प्रतिकूलता का निश्चय पुरुषार्थ किये विना नहीं होता अतएव विवेकी पुरुष को नैतिक पुरुषार्थ द्वारा सदा कर्त्तव्यशील होना चाहिये ॥ १२ ॥

वशिष्ठ[6] ने भी पुरुषार्थी को शङ्कित बताते हुये पुरुषार्थ की ओर प्रवृत्ति कराया है ॥ १ ॥

---

१ तथा च शुक्रः—अन्यच्चिन्तयमानस्य यदन्यदपि जायते। शुभं वा यदि वा पापं ज्ञेयं दैवकृतं च तत् ॥ १ ॥

२ तथा च शुक्रः—बुद्धिपूर्वं तु यत्कर्म क्रियतेऽत्र शुभाशुभं। नरायत्तं च तज्ज्ञेयं सिद्धं [illegible] च ॥ १ ॥

३ तथा च वल्लभदेवः—उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः। न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः।

४ तथा भागुरिः—प्राप्तं दैववशादन्नं [illegible] । तावन्न प्रविशेद् वक्त्रे [illegible] ॥ १ ॥

५ तथा च जैमिनिः—नोद्यमेन विना सिद्धिं कार्यं गच्छति किंचन। यथा चापं न गच्छन्ति उद्यमेन विना शराः ॥ १ ॥

६ तथा च वशिष्ठः—पौरुषमाश्रितलोकस्य [illegible] भवेत्। धनं वा मरणं वापि [illegible] ॥ १ ॥

जो मनुष्य भाग्य के भरोसे रहता है, उसका अकर्मण्यता के कारण अनर्थ होना निश्चित ही है १३
नारद[1] ने भी दैव को प्रमाण मानने वाले उद्योग-शून्य मनुष्य का अनर्थ होना बताया है ॥ १ ॥

जिस प्रकार आयु और योग्य औषधि का मिलाप जीवन-रक्षा करता है, उसी प्रकार भाग्य व पुरुषार्थ दोनों का संयोग भी मनोवांछित वस्तु उत्पन्न करता है। अर्थात् जिस प्रकार आयु रहने पर ही योग्य औषधि बीमार को स्वास्थ्य प्रदान करती है, आयु के बिना नहीं, उसी प्रकार भाग्य की अनुकूलता होने पर किया हुआ पुरुषार्थ मनुष्य को इष्ट-सिद्धि प्रदान करता है, भाग्य की प्रतिकूलता में नहीं ॥ १४ ॥

भारद्वाज[2] ने भी आयु के बिना सैकड़ों औषधियों का सेवन निरर्थक बताया है ॥ १ ॥

धर्मका परिणाम व धार्मिक राजा की प्रशंसा—

अनुष्ठीयमानः स्वफलमनुभावयन्न कश्चिद्धर्मोऽधर्ममनुबध्नाति ॥१५॥ त्रिपुरुषमूर्तित्वान्न भूभुजः प्रत्यक्षं दैवमस्ति ॥१६॥ प्रतिपन्न-प्रथमाश्रमः परे ब्रह्मणि निष्णातमतिरुपासित-गुरुकुलः सम्यग्विद्यायामधीती कौमारवयाऽलंकुर्वन् क्षत्रपुत्रो भवति ब्रह्मा ॥१७ संजातराज्य-कुलक्ष्मीदीक्षाभिषेकं स्वगुणैः प्रजास्वनुरागं जनयन्तं राजानं नारायणमाहुः ॥१८॥ प्रवृद्ध-प्रतापतृतीयलोचनानलः परमैश्वर्यमातिष्ठमानो राष्ट्रकण्टकान् द्विपद्दानवान् छेत्तुं यतते विजिगीषुभूपतिर्भवति पिनाकपाणिः ॥१९॥

अर्थ—जब मनुष्यों द्वारा धर्म (अहिंसा व सत्य आदि) पालन किया जाता है तब वह (धर्म) उन्हें अपना फल देता है उनके पाप ध्वंस करता है और अधर्म (पाप) उत्पन्न नहीं करता। अर्थात्—धर्मानुष्ठान करने वाले को अधर्म नहीं होता, क्योंकि धर्म रूपी सूर्य के उदय होने पर पापरूपी अंधेरा न तो रह सकता है और न उत्पन्न ही हो सकता है। अतः प्रत्येक प्राणी को सांसारिक व्याधियों के कारण पापों की निवृत्ति के लिये धर्मानुष्ठान करना चाहिये ॥१५॥

भगवज्जिनसेनाचार्य[3] ने भी अहिंसा, सत्य, क्षमा, शौच, तृष्णाका त्याग, सम्यग्ज्ञान व वैराग्य सम्पत्ति को धर्म और इनसे विपरीत हिंसा व झूठ आदि को अधर्म बताते हुए बुद्धिमानों को अनर्थ-परिहार (दुःखों से छूटना) की इच्छा से धर्मानुष्ठान करने का उपदेश दिया है ॥१॥

राजा ब्रह्मा, विष्णु और महेश की मूर्ति है, अतः इससे दूसरा कोई प्रत्यक्ष देवता नहीं है ॥१६॥

मनु[4] ने भी शुभाशुभ कर्मों का फल देने के कारण राजा को सर्वदेवतामय माना है ॥१॥

जिसने प्रथमाश्रम (ब्रह्मचर्याश्रम को स्वीकार किया है, जिसकी बुद्धि परब्रह्म ईश्वर या ब्रह्मचर्यव्रत)

---

१ तथा च नारदः—प्रमाणीकृत्य यो दैवं नोद्यमं कुरुते नरः। स नूनं नाशमायाति नारदस्य वचो यथा ॥ १ ॥

२ तथा च भारद्वाजः—विनायुषं न जीवेत भेषजानां शतैरपि। न भेषजैर्विना रोगः कथञ्चिदपि न शाम्यति ॥ १ ॥

३ तथा च भगवज्जिनसेनाचार्यः—धर्मः प्राणिदया सत्यं क्षान्तिः शौचं वितृप्तता। ज्ञानवैराग्यसंपत्तिरधर्मस्तद्विपर्ययः धर्मैकपरतां धत्ते बुद्धोऽनर्थजिहासया। आदि पुराण पर्व १०

४ तथा च मनुः—सर्वदेवमयो राजा सर्वेभ्योऽप्यधिकोऽथवा। शुभाशुभफलं सोऽत्र देयाद्देवो भवान्तरे ॥ १ ॥

में आसक्त है, गुरुकुल की उपासना करने वाला एवं समस्त राज-विद्याओं (आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता व दण्डनीति) का वेत्ता विद्वान तथा युवराज पद से अलंकृत ऐसा क्षत्रिय का पुत्र राजा ब्रह्मा के समान माना गया है॥१७॥

राज्य लक्ष्मी की दीक्षा से अभिषिक्त, अपने शिष्टपालन व दुष्टनिग्रह आदि सद्गुणों के कारण प्रजा में अपने प्रति अनुराग उत्पन्न करने वाला राजा विष्णु के समान नीतिकारों द्वारा कहा गया है।१८॥

व्यास[1] ने भी राजा को विष्णु माना है ॥१॥

बढ़ी हुई है प्रताप रूपी तृतीय नेत्र की अग्नि जिसकी, परमैश्वर्य को प्राप्त होनेवाला, राष्ट्र के कण्टक शत्रु रूप दानवों के संहार करने में प्रयत्नशील ऐसा विजिगीषु राजा महेश के समान माना गया है । १६॥

राज कर्त्तव्य (उदासीन आदि राजमण्डल की देख रेख) उदासीन, मध्यस्थ, विजिगीषु, अरि, पार्ष्णिग्राह, आसार व अन्तर्द्धि का लक्षण—

उदासीन-मध्यम-विजिगीषु-अमित्रमित्रपार्ष्णिग्राहाक्रन्दासारान्तर्द्धयो यथासम्भवगुणगणविभवतारतम्यान्मण्डलानामधिष्ठातारः ॥ २०॥ अग्रतः पृष्ठतः कोणे वा सन्निकृष्टे वा मण्डले स्थितोमध्यमादीनां विग्रहीतानां निग्रहे संहितानामनुग्रहे समर्थोऽपि केनचित्कारणेनान्यस्मिन् भूपतौ विजिगीषुमाणे य उदास्ते स उदासीनः॥२१॥उदासीनवदनियतमण्डलोऽपरभूपापेक्षया समधिकबलोऽपि कुतश्चित् कारणादन्यस्मिन् नृपतौ विजिगीषुमाणेयो मध्यस्थभावमवलम्बते स मध्यस्थः ॥ २२ ॥ राजात्मदैवद्रव्यप्रकृतिसम्पन्नो नयविक्रमयोरधिष्टानं विजिगीषुः॥ २३ ॥ य एव स्वस्याहितानुष्ठानेन प्रतिकूल्यमियर्ति स एवारिः ॥ २४ ॥ मित्रलक्षणमुक्तमेव पुरस्तात् ॥ २५ ॥ यो विजिगीषौ प्रस्थितेऽपि प्रतिष्ठमाने वा पश्चात् कोपं जनयति स पार्ष्णिग्राहः ॥ २६ ॥ पार्ष्णिग्राहाद्यः पश्चिमः स आक्रन्दः ॥२७॥ पार्ष्णिग्राहामित्रमासार आक्रान्द मित्रं चA ॥ २८ ॥ अरि विजिगीषोर्मण्डलान्तर्विहितवृत्तिरुभयवेतनः पर्वताटवी कृताश्रयश्चान्तर्द्धिः ॥ २६ ॥

अर्थ—राजमण्डल के अधिष्ठाता उदासीन, मध्यम, विजिगीषु, अरि, मित्र, पार्ष्णिग्राह, आक्रन्द, आसार, व अन्तर्द्धि हैं, जो कि यथायोग्य गुणसमूह और ऐश्वर्य के तारतम्य से युक्त होते हैं। सारांश यह है कि विजिगीषु इन को अपने अनुकूल रखने का प्रयत्न करे॥ २० ॥ अपने देश में वर्तमान जो राजा किसी अन्य विजिगीषु राजाके आगे पीछे या पार्श्वभाग में स्थित हो और मध्यम आदि युद्ध करने वालों के निग्रह करने में और उन्हें युद्धसे उन्हें रोकने में सामर्थ्यवान् होनेपर भी किसी कारणसे या किसी

---

१ तथा च व्यासः—नाविष्णुः पृथिवीपतिः

A उक्त पाठ मु०मू० पुस्तक से संकलन किया गया है, सं०टी० पुस्तकमें पार्ष्णिग्राह मित्रमित्यादि पाठ है।—सम्पादक

अपेक्षा वश दूसरे विजिगीषु राजाके विषयमें जो उपेक्षा करता है—उससे यु नहीं करता—उसे 'उदासीन' कहते हैं ।। २१ ।।जो उदासीन की तरह मर्यादातीत मंडल का रक्षक होने से अन्य राजा की अपेक्षा प्रबल सैन्यसे शक्तिशाली होनेपर भी किसी कारण वश (यदि मैं एकको सहायता करूंगा तो दूसरा मुझसे वैर बांध लेगा—इत्यादि) विजय की कामना करने वाले अन्य राजा के विषय में मध्यस्थ बना रहता है—उससे युद्ध नहीं करता—वह 'मध्यस्थ' कहा गया है ।। २२ ।। जो राज्याभिषेक से अभिषिक्त हो चुका हो, और भाग्यशाली, खजाना, अमात्य आदि प्रकृति-युक्त हो एवं राजनीति में निपुण व शूरवीर हो, उसे 'विजिगीष' कहते हैं ।। २३ ।। जो अपने निकट सम्बन्धियों का अपराध करता हुआ कभी भी दुष्टता करने से बाज नहीं आता उसे 'अरि' (शत्रु) कहते हैं ।। २४ ।। पिछले मित्रसमुद्देश में 'जो मित्र' का लक्षण निरूपण किया गया है उस लक्षणवाले को मित्र समझना चाहिये ।। २५ ।।विजिगीषु के शत्रुभूत राजा के साथ युद्ध के लिये प्रस्थान करने पर बाद में जो क्रुद्ध होकर उसके देश को नष्ट भ्रष्ट कर डालता है, उसे 'पार्ष्णिग्राह, कहते हैं ।। २६ । जो पार्ष्णिग्राह से बिलकुल विपरीत चलता है—विजिगीषु को विजय यात्रा में जो हर तरहसे सहायता पहुँचाता है, उसे 'आक्रन्द. कहते हैं' क्यों कि प्रायः समस्त सीमाधिपति मित्रता रखते हैं, अतः वे सब आक्रन्द हैं।। २७ । जो पार्ष्णिग्राह का विरोधी और आक्रन्दसे मैत्री रखता है-- वह'आसार' है ।। २८ ।। शत्रु राजा का व विजिगीषु राजा इन दोनों के देश में है जीविका जिसकी—दोनोंतरफ से वेतन पाने वाला पर्वत व अटवी में रहने वाला 'अन्तर्द्धि' है ।। २९ ।।

युद्ध करनेयोग्य शत्रु व उसके प्रति राजकर्तव्य, शत्रुओंके भेद, शत्रुता मित्रताका कारण व मन्त्रशक्ति, प्रभुशक्ति और उत्साहशक्ति का कथन, व उक्त शक्तित्रय की अधिकता आदि से विजिगीषु की श्रेष्ठता आदि—

अराजबीजी लुब्धः क्षुद्रो विरक्तप्रकृतिरन्यायपरो व्यसनी विप्रतिपन्नमित्रामात्यसामन्तसेनापतिः शत्रुरभियोक्तव्यः ।। ३० ।। अनाश्रयो दुर्बलाश्रयो वा शत्रुरुच्छेदनीयः ।। ३१ ।। विपर्ययो निष्पीडनीयः कर्षयेद्वा ।।३२।। सभाभिजनः सहजशत्रुः ।।३३।। विरोधो विरोधयिता वा कृत्रिमः शत्रुः ।। ३४ ।। अनन्तरः शत्रुरेकान्तरं मित्रमिति नैषः एकान्तः कार्यं हि मित्रत्वामित्रत्वयोः कारणं न पुनर्विप्रकर्षसन्निकर्षौ ।। ३५ ।। ज्ञानबलं मंत्रशक्तिः[A]।। ३६ ।। बुद्धिशक्तिरात्मशक्तेरपि गरीयसी ।। ३७ ।। शशकेनेव सिंहव्यापादनमत्र दृष्टान्तः ।। ३८ ।। कोशदण्डबलं प्रभुशक्तिः ।। ३९ ।। शूद्रकशक्तिकुमारौ दृष्टान्तौ ।।४०।। विक्रमो बलं चोत्साहशक्तिस्तत्र रामो दृष्टान्तः ।। ४१ ।। शक्तित्रयोपचितो ज्यायान् शक्तित्रयापचितो हीनः समानशक्तित्रयः समः ।। ४२ ।।

अर्थ—जो जार से उत्पन्न हो अथवा जिसके देश का पता मालूम न हो, लोभी, दुष्ट हृदय-युक्त जिससे प्रजा ऊब गई हो, अन्यायी, कुमार्गगामी, जुआ व मद्यपान आदि व्यसनों में फंसा हुआ, मित्र, अमात्य, सामन्त व सेनापति आदि राजकीय कर्मचारीगण जिससे विरुद्ध हों, इस प्रकार के शत्रुभूत राजा पर विजिगीषु को आक्रमण कर विजयश्री प्राप्त कर लेनी चाहिये ।। ३० ।।

A उक्त पाठ प्राकरणिक होने के कारण मु० मू० प्रति से संकलन किया गया है । —सम्पादक

शुक्र[1] विद्वान ने भी उक्त दोष वाले शत्रु राजा को विजिगीषु द्वारा हमला करने योग्य बताया है॥१॥

विजिगीषु को आश्रयहीन (सहायकों से रहित) व दुर्बल आश्रयवाले शत्रु से युद्ध करके उसे नष्ट कर देना चाहिये ॥ ३१ ॥

शुक्र[2] ने भी उक्त प्रकार से शत्रु को नष्ट करने के विषय में लिखा है। यदि कारणवश शत्रु से संधि (मित्रता) हो जावे, तो भी विजिगीषु भविष्यके लिये अपना मार्ग निष्कण्टक बनानेके लिये उसका समस्त धन छीनले या उसे इसतरह दलित व शक्तिहीन करडाले, जिससे वह पुनः अपना सिर न उठासके ॥३२॥

गुरु[3] ने भी सन्धिप्राप्त शत्रु राजा के प्रति विजिगीषु का यही कर्तव्य निर्देश किया है ॥ १ ॥

अपने ही कुल का (कुटुम्बी) पुरुष राजा का स्वाभाविक शत्रु है क्योंकि वह ईर्ष्यावश उसका उत्थान कभी न देख कर हमेशा पतन के विषय में उसी प्रकार सोचा करता है, जिस प्रकार बिलाव चूहे की कभी भी भलाई न सोचकर उसे अपना आहार बना डालता है ॥ ३३ ॥

नारद[4] ने विजिगीषु के गोत्रज पुरुषों को उसका स्वाभाविक शत्रु बताया है ॥ १ ॥

जिसके साथ पूर्व में विजिगीषु द्वारा वैर विरोध उत्पन्न किया गया है तथा जो स्वयं आकर विजिगीषु से वैर विरोध करता है—ये दोनों उसके कृत्रिम शत्रु हैं। यदि ये बलहीन हैं, तो इनके साथ विजिगीषु को युद्ध करना चाहिये और यदि प्रबल सैन्य-शक्ति-सम्पन्न हैं तो उन्हें सामनीति द्वारा सन्तुष्ट करना चाहिये ॥ ३४ ॥

गर्ग[5] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥ १ ॥

दूरवर्ती (सीमाधिपति--आदि) शत्रु व निकटवर्ती मित्र होता है यह शत्रु मित्र का सर्वथा लक्षण नहीं माना जासकता, क्योंकि शत्रुता व मित्रता के अन्य ही कारण हुआ करते हैं, दूरवर्तीपन व निकटवर्तीपन नहीं। क्योंकि दूरवर्ती सीमाधीपति भी कार्यवश निकटवर्तीके समान शत्रु व मित्र होसकते हैं।३५

शुक्र विद्वान्[6] ने भी शत्रुता व मित्रता के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥ १ ॥

ज्ञानबल को मंत्र-शक्ति कहते हैं। शारीरिक बल से बुद्धिबल महान् व श्रेष्ठ माना जाता है, क्योंकि इसके समर्थन में यह दृष्टान्त है कि बुद्धि बल में प्रवीण अल्प शारीरिक शक्तियुक्त किसी खरगोश ने प्रचंड शारीरिक शक्तिशाली शेरको भी बुद्धिबल से मार डाला। सारांश यह है कि विजिगीषु मंत्रशक्ति, प्रभुत्व-शक्ति व उत्साहशक्ति से सम्पन्न होकर शत्रु से विजयश्री प्राप्त कर सकता है अन्यथा नहीं। उसमें शारीरिक बल की अपेक्षा बुद्धिबल की प्रधानता है ॥ ३६-३८ ॥

---

१ तथा च शुक्रः—विरक्तप्रकृतिर्वैरो व्यसनी लोभसंयुतः। क्षुद्रोऽमात्यादिभिर्मुक्तः स गन्तो विजिगीषुणा ॥ १ ॥

२ तथा च शुक्रः—अनाश्रयो भवेच्छत्रुर्यो वा स्याद् दुर्बलाश्रयः। तेनैव सहितः सोऽत्र निहन्तव्यो जिगीषुणा ॥ १ ॥

३ तथा च गुरुः—शत्रुर्मित्रत्वमापन्नो यदि नो चिन्तयेच्छिदम्। तत्सर्वं हि भवेदानं युद्धं वा तं निपातयेत् ॥ १ ॥

४ तथा च नारदः—गोत्रजःशत्रुः सदा....तत्पदवाञ्छकः। रोगस्येव न तद्विद्धं कदाचित्कारयेत्सुधीः ॥ १ ॥

५ तथा च गर्गः—यदि हीनबलःशत्रुः कृत्रिमः संप्रजायते। तदा दण्डोऽधिको वा स्यात्ेषो दण्डः स्वर्गतिम् ॥ १ ॥

६ तथा च शुक्रः—कार्यात्सीमाधिपो मित्रं भवेत्तत्परजो रिपुः। विजिगीषुणा प्रकर्तव्यः शत्रुमित्रोपलक्षणैः ॥ १ ॥

पंचतन्त्र[1] में भी बुद्धिबल को प्रधान बल बताया है ।

जिस विजिगीषु के पास विशाल खजाना व हाथी, घोड़े, रथ व पैदल रूप चतुरंग सेना है. वह उसकी प्रभुत्वशक्ति है, जो कि उसे युद्ध भूमिमें शत्रु को परास्त कर विजयश्री प्राप्त करानेमें सहायक होती है ॥३६॥

शूद्रक व शक्तिकुमार के दृष्टान्त इस कथन को समर्थन करने वाले उज्वल प्रमाण हैं। अर्थात् शूद्रक नाम के विजिगीषु राजा ने अपनी खजाने की शक्ति से सुसज्जित व संगठित सैन्य द्वारा शक्तिकुमार नाम के शत्रु राजा को युद्धमें परास्त किया था. यह उसकी प्रभुत्वशक्ति का ही माहात्म्य था ॥ ४० ॥

विजिगीषु की पराक्रम व सैन्यशक्ति को 'उत्साह शक्ति' कहते हैं, उसके ज्वलन्त उदाहरण मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र हैं, जिन्होंने अपने पराक्रम व वानरवंशीय हनुमान–आदि सैनिकों की सहायता से रावण को युद्ध में परास्त किया था ॥ ४१ ॥

गर्ग[2] ने भी उक्त उदाहरण देकर विक्रम व सैन्यशक्ति को 'उत्साहशक्ति' कहा है ॥ १ ॥

जो विजिगीषु शत्रु की अपेक्षा उक्त तीनों प्रकार की (प्रभुशक्ति, मंत्रशक्ति व उत्साहशक्ति) शक्तियों से अधिक (शक्तिशाली) होता है वह श्रेष्ठ है, क्योंकि उसकी युद्ध में विजय होती है, और जो उक्त शक्तित्रय से शून्य है, वह जघन्य है, क्योंकि वह शत्रु से हार जाता है एवं जो उक्त तीनों शक्तियों में शत्रु के समान है, वह सम है, उसे भी शत्रु से युद्ध नहीं करना चाहिये ॥ ४२ ॥

गुरु[3] ने भी समान शक्ति–युक्त विजिगीषु को यद्ध करने का निषेध किया है ॥ १ ॥

षाड्गुण्य (सन्धि विग्रह–आदि) का निरूपण—

सन्धिविग्रहयानासनसंश्रयद्वैधीभावाः षाड्गुण्यं ॥४३॥ पणबन्धः सन्धिः ॥४४॥ अपराधो विग्रहः ॥४५॥ अभ्युदयो यानं ॥४६॥ उपेक्षणमासनं ॥४७॥ परस्यात्मार्पणं संश्रयः ॥४८॥ एकेन सह सन्धायान्येन सह विग्रहकरणमेकत्र वा शत्रौ सन्धानपूर्वं विग्रहो द्वैधीभावः ॥४९॥ प्रथमपक्षे सन्धीयमानो विगृह्यमाणो विजिगीषुरिति द्वैधीभावो बुद्ध्याश्रयः ॥५०॥

अर्थ—सन्धि (मैत्री करना) विग्रह—युद्ध करना, यान–शत्रु पर चढ़ाई करना, आसन—शत्रुकी उपेक्षा करना व संश्रय–आत्म समर्पण करना ये राजाओंके षट् गुण है ॥ ४३ ॥ जब विजिगीषु अपनी दुर्बलता वश बलिष्ठ शत्रु राजा के लिये धनादि देकर उससे मित्रता करता है, उसे 'सन्धि' कहते हैं ॥४४॥

शुक्र[4] ने सन्धिके विषय में इसी प्रकार कहा है ॥ १ ॥

विजिगीषु किसी के द्वारा किये हुए अपराध-वश युद्ध करता है वह विग्रह है ॥४५॥ विजिगीषु द्वारा शत्रु पर आक्रमण किया जाना उसे 'यान' कहते हैं अथवा शत्रु को अपने से ज्यादा बलिष्ठ समझ कर किसी दूसरे स्थान पर चले जाना भी 'यान' है ॥४६॥ सबल शत्रु को आक्रमण करते तत्पर देखकर

---

१ तथा च चोक्तं— यस्य बुद्धिर्बलं तस्य निर्बुद्धेश्च कुतो बलम् । वने सिंहो मदोन्मत्तः शशकेन निपातितः ॥ १ ॥

२ तथा च गर्गः— सहजो विक्रमो यस्य सैन्यं बहुतरं भवेत् । तस्योत्साहो तद्युद्धे या ? ………दाशरथेः पुरा ॥ १ ॥

३ तथा च गुरुः— समेनापि न योद्धव्यं यद्युपायत्रयं भवेत् । अन्योन्याहति ? यो संगो द्वाभ्यां सजायते यतः ॥ १ ॥

४ तथा च शुक्रः—दुर्बलो बलिनं यत्र पणदानेन तोषयेत् । तावत्सन्धिर्भवेत्तस्य यावन्मात्रः प्रजल्पितः ॥ १ ॥

उसकी उपेक्षा करना (उस स्थान को छोड़कर अन्यत्र चले जाना) आसन कहलाता है ॥४७॥ बलिष्ठ शत्रु द्वारा देशपर आक्रमण होने पर जो उसके प्रति आत्मसमर्पण किया जाता है, उसे 'संश्रय' कहते हैं ॥४८। बलवान और निर्बल दोनों शत्रुओं द्वारा आक्रमण किये जाने पर विजिगीषु को बलिष्ठ के साथ सन्धि और निर्बल के साथ युद्ध करना चाहिये अथवा बलिष्ठ के साथ सन्धिपूर्वक जो युद्ध किया जाता है उसे द्वैधीभाव' कहते हैं ॥४६॥जब विजिगीषु अपने से बलिष्ठ शत्रुके साथ पहिले मित्रता स्थापित कर लेता है और फिर कुछ समय बाद शत्रु के हीन शक्ति हो जाने पर उसीसे युद्ध छेड़ देता है उसे बुद्धि-आश्रित 'द्वैधीभाव' कहते हैं, क्योंकि इससे विजिगीषुकी विजय निश्चित रहती है ॥५०॥

सन्धि, विग्रह-आदि के विषय में विजिगीषु का कर्त्तव्य—

हीयमानः पणबन्धेन सन्धिमुपेयात् यदि नास्ति परेषां विपणितेऽर्थे मर्यादोल्लंघनम् ॥५१॥ अभ्युच्चीयमानः परं विगृह्णीयाद्यदि नास्त्यात्मबलेषु क्षोभः॥५२। न मां परो हन्तुं नाहं परं हन्तुं शक्त इत्यासीत यद्यायत्यामस्ति कुशलम् ॥५३॥ गुणातिशययुक्तो यायाद्यदि न सन्ति राष्ट्रकण्टका मध्ये न भवति पश्चात्क्रोधः ॥५४॥ स्वमण्डलमपरिपालयतः परदेशाभियोगो विवसनस्य शिरोवेष्टनमिव ॥५५॥ रज्जुवलनमिव शक्तिहीनः संश्रयं कुर्याद्यदि न भवति परेषामामिषम् ॥५६॥

जब विजिगीषु शत्रु की अपेक्षा हीनशक्तिवाला हो, तो उसे शत्रु राजा के लिये आर्थिक दंड (धनादि) देकर उस हालत में सन्धि कर लेनी चाहिये जबकि उसके द्वारा प्रतिज्ञा की हुई व्यवस्था में मर्यादा का उल्लंघन न हो। अर्थात शपथ-आदि खिलाकर भविष्य में विश्वासघात न करने का निश्चय करने के उपरान्त ही सन्धि करनी चाहिये, अन्यथा नहीं ॥५१॥

शुक्र[1] ने भी हीन शक्तिवाले विजिगीषु को शत्रु के लिये आर्थिक दंड देकर सन्धि करना बताया है ॥१॥

यदि विजिगीषु शत्रु राजा से सैन्य व कोष आदिमें अधिक शक्तिशाली है और यदि उसकी सेनामें क्षोभ नहीं है, तब उसे शत्रु से युद्ध छेड़ देना चाहिये ॥५२॥

गुरु[2] ने भी बलिष्ट, विश्वासपात्र व सैन्यसहित विजिगीषुको युद्ध करने का निर्देश किया है॥१॥

यदि विजिगीषु शत्रु द्वारा भविष्यकालीन अपनी कुशलता का निश्चय कर ले कि शत्रु मुझे नष्ट नहीं करेगा और न मैं शत्रु को, तब उसके साथ विग्रह न कर मित्रता ही करनी चाहिये ॥५३॥

जैमिनि[3] ने भी उदासीन शत्रु राजा के प्रति युद्ध करने का निषेध किया है ॥१॥

विजिगीषु यदि सर्वगुणसम्पन्न (प्रचुर सैन्य व कोष शक्तियुक्त) है एवं उसका राज्य निष्कंटक है

---

१ तथा च शुक्रः—हीयमानेन दातव्यो दण्डः शत्रोर्जिगीषुणा । बलयुक्तेन यत्कार्यं तैः समं [illegible] ॥ १ ॥
२ तथा च गुरुः—यदि स्यादधिकः शत्रोर्विजिगीषु निजैर्बलैः । क्षोभेन रहितैः कार्यः शत्रुणा सह विग्रहः ॥ १ ॥
३ तथा च जैमिनिः— न विग्रहं स्वयं कुर्यादुदासीने परे स्थिते । बलाढ्येनापि यो न स्यात् [illegible] ॥ १ ॥

तथा प्रजा-आदि का उस पर कोप नहीं है तो उसे शत्रु के साथ युद्ध करना चाहिये। अर्थात् उसे इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि युद्ध करने से उसके राज्य को किसी तरह की हानि तो नहीं होगी ॥५४॥

भागुरि[1] ने भी गुण-युक्त व निष्कण्टक विजिगीषु को शत्रु से युद्ध करने को लिखा है ॥१॥ जो राजा स्वदेश की रक्षा न कर शत्रुके देशपर आक्रमण करता है, उसका यह कार्य नंगेको पगड़ी बांधने के समान निरर्थक है अर्थात् जिस प्रकार नंगे को पगड़ी बांध लेने पर भी उसके नंगेपनकी निवृत्ति नहीं हो सकती, उसी प्रकार अपने राज्य की रक्षा न कर शत्रु के देश पर हमला करने वाले राजा का भी संकटों से छुटकारा नहीं हो सकता ॥५५॥

विदुर[2] ने भी विजिगीषु को शत्रु-राष्ट्र को नष्ट करने के समान स्वराष्ट्र के परिपालन में प्रयत्न करने को कहा है ॥१॥

सैन्य व कोष आदि की शक्ति से क्षीण हुए विजिगीषु को यदि शत्रुभूत राजा व्यसनी नहीं है, तो उसके प्रति आत्मसमर्पण कर देना चाहिये ऐसा करने से निर्बल विजिगीषु उसी प्रकार शक्तिशाली हो जाता है जिस प्रकार अनेक तन्तुओंके आश्रय से रस्सी में मजबूती आजाती है ॥५६॥

गुरु[3] ने भी शक्तिहीन राजाको शक्तिशाली शत्रु के प्रति आत्मसमर्पण करना बताया है ॥१॥

शक्तिहीन व अस्थिर के आश्रय से हानि, स्वाभिमानी का कर्त्तव्य, प्रयोजन-वश विजिगीषु का कर्त्तव्य राजकीयकार्य व द्वैधीभाव—

बलवद्भयादबलवदाश्रयणं हस्तिभयादेरण्डाश्रयणमिव ॥ ५७ ॥ स्वयमस्थिरेणास्थिराश्रयणं नद्यां वहमानेन वहमानस्याश्रयणमिव ॥ ५८ ॥ वरं मानिनो मरणं न परेच्छानुवर्तनादात्मविक्रयः ॥ ५९ ॥ आयतिकल्याणे सति कस्मिंश्चित्सम्बन्धे परसंश्रयः श्रेयान् ॥ ६० ॥ निधानादिव न राजकार्येषु कालनियमोऽस्ति ॥ ६१ ॥ मेघवदुत्थानं राजकार्याणामन्यत्र च शत्रोः सन्धिविग्रहाभ्याम् ॥ ६२ ॥ द्वैधीभावं गच्छेद् यदन्योऽवश्यमात्मना सहोत्सहते ॥६३॥

अर्थ—शक्तिहीन विजिगीषु शक्तिशाली का ही आश्रय लेवे, शक्तिहीन (निर्बल) का नहीं, क्योंकि जो विजिगीषु बलिष्ठ शत्रु के आक्रमणके भयसे बलहीनका आश्रय लेता है, उसको उसी प्रकार हानि होती है, जिस प्रकार हाथी द्वारा होने वाले उपद्रव के डर से एरण्ड पर चढ़ने वाले मनुष्य की तत्काल हानि होती है। अर्थात् जिस प्रकार हाथी के आक्रमण के भय से बचाव करने वाला निस्सार एरण्ड के वृक्ष पर चढ़ने से एरण्ड के साथ २ पृथ्वी पर गिर जाता है और पश्चात् हाथी द्वारा नष्ट कर दिया जाता है, उसी प्रकार बलवान् शत्रु के आक्रमण के डर से बचने वाला विजिगीषु शक्तिहीनका आश्रय लेने से उस के साथ २ नष्ट कर दिया जाता है—बलिष्ठ शत्रु द्वारा मार दिया जाता है। सारांश यह है कि एरण्ड समान निस्सार (शक्तिहीन) के आश्रय से भविष्य में होने वाला अनर्थ तत्काल हो जाता है ॥ ५७ ॥

---

१ तथा च भागुरिः—गुणयुक्तोऽपि भूपालोऽपि यायाद्विद्विषोपरि ? यद्येतेन हि राष्ट्रस्य बहवः शत्रवो ऽपरे ॥ १ ॥

२ तथा च विदुरः—य एव यत्नः कर्तव्यः परराष्ट्रविमर्दने। स एव यत्नः कर्तव्यः स्वराष्ट्रपरिपालने ॥ १ ॥

३ तथा च गुरुः—स्याद्यदा शक्तिहीनस्तु विजिगीषु र्हि वैरिणः। संश्रयीत तदा चान्यं बलाय व्यसनच्युतात् ॥ १ ॥

भागुरि[1] ने भी शक्तिहीन के आश्रय से विजिगीषु की इसी प्रकार हानि बताई है ॥ १ ॥

शत्रु द्वारा सताया गया विजिगीषु जब अपने समान शत्रुद्वारा सताये हुये अन्य राजा का आश्रय लेता है, तो वह उसी प्रकार नष्ट हो जाता है जिस प्रकार नदी में बहने या डूबने वाला दूसरे बहने या डूबने वाले व्यक्ति का आश्रय लेने से नष्ट हो जाता है। अतः अस्थिर (शत्रु-परित्रस्त-क्षीणशक्ति) को स्थिर का ही आश्रय लेना चाहिये, अस्थिर का नहीं ॥ ५८ ॥

नारद[2] ने भी क्षीणशक्ति वाले का आश्रय लेने से इसी प्रकार हानि बताई है ॥ १ ॥

स्वाभिमानी को मर जाना अच्छा, परन्तु पराई इच्छापूर्वक अपने को बेचना अच्छा नहीं, अतः स्वाभिमानी को शत्रु के लिये आत्मसमर्पण करना उचित नहीं ॥ ५६ ॥

नारद[3] ने भी शत्रु को आत्मसमर्पण करने की अपेक्षा स्वाभिमानी के लिये मृत्यु प्राप्त करना ही अधिक श्रेष्ठ बताया है ॥ १ ॥

यदि विजिगीषु का भविष्य में कल्याण निश्चित हो तो उसे किसी विषय में शत्रु की अधीनता स्वीकार करना श्रेष्ठ है ॥ ६० ॥

हारीत[4] ने भी उक्त प्रयोजन-वश शत्रु संश्रयको श्रेयस्कर बताया है ॥ १ ॥

जिस प्रकार खजाना मिलने पर उसी समय उसे ग्रहण किया जाता है, उसमें समय का उल्लंघन नहीं किया जाता उसी प्रकार राजसेवकों को भी राजकीय कार्यों के सम्पादन करने में समय नहीं चूकाना चाहिये, किन्तु तत्काल सम्पन्न कर लेना चाहिये ॥ ६१ ॥

गौतम[5] ने भी राजसेवकों का यही कर्त्तव्य बताया है ॥ १ ॥

जिस प्रकार नभ मण्डलमें मेघ (बादल) अचानक ही उठ जाते हैं, उसी प्रकार राजकीय कार्यों की उत्पत्ति अचानक ही हुआ करती है, अतएव सन्धि व विग्रह को छोड़ कर अन्य राजकीय कार्यों को सम्पन्न करने में विलम्ब नहीं करना चाहिये ॥ ६२ ॥

गुरु[6] ने भी संधि विग्रह को छोड़कर अन्य राजकीय कार्य मेघ सदृश अचानक प्राप्त होने वाले व तत्काल करने योग्य बताये हैं ॥ १ ॥

जब विजिगीषुको यह मालूम हो जावे कि आक्रमणकारीका शत्रु उसके साथ युद्ध करनेको तैयार है, (दोनों शत्रु परस्परमें युद्ध कर रहे हैं) तब इसे द्वैधीभाव (बलिष्ठ से सन्धि व निर्बलसे युद्ध) अवश्य करना चाहिये ॥ ६३ ॥

---

१ तथा च भागुरिः— सबलात्यस्य बलाढ्यं यो बलेन समाश्रयेत् । स तेन सह नश्येत यथा [illegible] गजः ॥ १ ॥
२ तथा च नारदः—चलं चलाश्रितेनैव सह नश्यति निश्चितं । नीयमानो यथा नद्यां नीयमानं समाश्रितः ॥ १ ॥
३ तथा च नारदः—वरं वनं वरं मृत्युः साहंकारस्य भूपतेः । न शत्रोः संश्रयाद्राज्यं..........कार्यं कथंचन ॥ १ ॥
४ तथा च हारीतः--परिणामं शुभं ज्ञात्वा शत्रुजः संश्रयोऽपि च । कस्मिंश्चिद्विषये कार्यः सततं न कथंचन ॥ १ ॥
५ तथा च गौतमः—निधानदर्शने यद्वत्कालक्षेपो न कार्यते । राजकृत्येषु सर्वेषु तथा कार्यः सुसेवकैः ॥ १ ॥
६ तथा च गुरुः—राजकृत्यमचिन्त्यं यदकस्मादेव जायते । मेघवत् तत्तथा कार्यं मुक्त्वैकं सन्धिविग्रहं ॥ १ ॥

गर्ग[1] ने भी द्वैधीभाव करने का यही मौका बताया है ॥ १ ॥

दोनों बलिष्ठ विजिगीषुओं के मध्यवर्ती शत्रु, सीमाधिपति प्रति विजिगीषु का कर्त्तव्य, भूमिफल (धान्यादि) देने से लाभ व भूमि देने से हानि, चक्रवर्ती होने का कारण तथा वीरता से लाभ—

बलद्वयमध्यस्थितः शत्रुरुभयसिंहमध्यस्थितः करीव भवति सुखसाध्यः ॥ ६४ ॥ भूम्यर्थिनं भूफलप्रदानेन संदध्यात् ॥ ६५ ॥ भूफलदानमनित्यं परेषु भूमिर्गता गतैव ॥ ६६ ॥ अवज्ञयापि भूमावारोपितस्तरुर्भवति बद्धतलः ॥६७॥ उपायोपपन्नविक्रमोऽनुरक्तप्रकृतिरल्पदेशोऽपि भूपतिर्भवति सार्वभौमः ॥ ६८ ॥ न हि कुलागता कस्यापि भूमिः किन्तु वीरभोग्या वसुन्धरा ॥ ६९ ॥

अर्थ—दोनों विजिगीषुओं के बीच में घिरा हुआ शत्रु, दो शेरों के बीच में फंसे हुये हाथी के समान सरलता से जीता जा सकता है ॥ ६४ ॥

शुक्र[2] ने भी दोनों विजिगीषुओं से आक्रान्त शत्रु को सुखसाध्य बताया है ॥ १ ॥

जब कोई सीमाधिपति शक्तिशाली हो और वह विजिगीषु की भूमि ग्रहण करने का इच्छुक हो तो उसे भूमि से पैदा होने वाली धान्य ही देकर उससे सन्धि करलेनी चाहिये, न कि भूमि देकर ॥ ६५ ॥

गुरु[3] ने भी शक्तिशाली सीमाधिपति के लिये भूमि न देकर उससे उत्पन्न होने वाली धान्य देने को कहा है ॥ १ ॥

क्योंकि भूमिमें उत्पन्न होने वाली धान्य विनश्वर होने के कारण शत्रु के पुत्र-पौत्रादि द्वारा नहीं भोगी जा सकती, जब कि भूमि एकबार हाथ से निकल जाने पर पुनः प्राप्त नहीं हो सकती ॥ ६६ ॥

गुरु[4] ने भी बलिष्ठ शत्रुभूत राजा को भूमि को छोड़ कर उससे उत्पन्न हुई धान्यादिका देना कहा है

जिस प्रकार तिरस्कारपूर्वक भी आरोपण किया हुआ वृक्ष पृथ्वी पर अपनी जड़ों के कारण से ही फैलताहै, उसी प्रकार विजिगीषु द्वारा दी हुई पृथिवी को प्राप्त करने वाला सीमाधिपति भी दृढ़मूल (शक्तिशाली) हो कर पुनः उसे नहीं छोड़ता ॥ ६७ ॥

रैभ्य[5] विद्वान् के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है ॥ १ ॥

साम-दानादि नैतिक उपायों के प्रयोग में निपुण, पराक्रमी व जिससे अमात्य-आदि राज-कर्मचारीगण एवं प्रजा अनुरक्त है, ऐसा राजा अल्प देश का स्वामी होने पर भी चक्रवर्ती के समान निर्भय

---

१ तथो च गर्गः—यद्यसौ सन्धिमादातुं युद्धाय कुरुते क्षणं । निश्चयेन तदा तेन सह सन्धिस्तथा रणम् ॥ १ ॥

२ तथा च शुक्रः—सिंहयोर्मध्ये यो हस्ती सुखसाध्यो यथा भवेत् । तथा सीमाधिपोऽन्येन विगृहीतो वशो भवेत् ॥ १ ॥

३ तथा च गुरुः—सीमाधिपो बलोपेतो यदा भूमिं प्रयाचते । तदा तस्मै फलं देयं भूमेर्नैव धरां निजाम् ॥ १ ॥

४ तथा च गुरुः—भूमिपस्य न दातव्या निजा भूमिर्बलीयसः । स्तोकापि वा भयं चेत् स्यात्तस्माद्देयं च तत्फलम् ॥१॥

५ तथा च रैभ्यः—लीलयापि क्षितौ वृक्षः स्थापितो वृद्धिमाप्नुयात् । तस्या गुणेन नो भूपः कस्मादिह न वर्धते ॥ १ ॥

माना गया है ॥ ६८ ॥ कुलपरम्परा से चली आनेवाली पृथिवी किसी राजा की नहीं होती, बल्कि वह वीर पुरुष द्वारा ही भोगने योग्य होती है, अतः राजा को पराक्रमशील होना चाहिये ॥ ६९ ॥

शुक्र[1] ने भी कहा है कि वंशपरंपरा से प्राप्त हुई पृथिवी वीरों की है, कायरों की नहीं ॥ १ ॥

सामआदि चार उपाय, सामनीतिका भेदपूर्वक लक्षण, आत्मोपसन्धान रूप सामनीतिका स्वरूप, दान, भेद और दंडनीति का स्वरूप, शत्रु के दूत के प्रति कर्त्तव्य व उसका दृष्टान्त द्वारा स्पष्टीकरण एवं शत्रु के निकट सम्बन्धी के गृहप्रवेश से हानि—

सामोपप्रदानभेददण्डा उपायाः ॥७०॥ तत्र पंचविधं साम, गुणसंकीर्तनं सम्बन्धोपाख्यानं परोपकारदर्शनमायतिप्रदर्शनमात्मोपसन्धानमिति ॥७१॥ यन्मम द्रव्यं तद्भवता स्वकृत्येषु प्रयुज्यतामित्यात्मोपसन्धानं ॥७२॥ बह्वर्थसंरक्षणायाल्पार्थप्रदानेन परप्रसादनमुपप्रदानं॥७३ योगतीक्ष्णगूढपुरुषोभयवेतनैः परबलस्य परस्परशंकाजननं निर्भर्त्सनं वा भेदः ॥७४॥ वधः परिक्लेशोऽर्थहरणं च दण्डः ॥७५॥ शत्रोरागतं साधु परीक्ष्य कल्याणबुद्धिमनुगृह्णीयात् ॥७६ किमरण्यजमौषधं न भवति क्षेमाय ॥७७॥ गृहप्रविष्टकपोत इव स्वल्पोऽपि शत्रुसम्बन्धो लोकस्तंत्रमुद्वासयति ॥७८॥

अर्थ—शत्रुभूत राजा व प्रतिकूल व्यक्ति को वश करने के चार उपाय हैं १-साम, २-उपप्रदान, ३-भेद व ४-दंडनीति ॥७०॥ सामनीतिके पांच भेद हैं—१गुणसंकीर्तन—प्रतिकूल व्यक्तिको अपने वशीभूत करने के लिये उसके गुणों का उसके समक्ष कथन द्वारा उसकी प्रशंसा करना, २-सम्बन्धोपाख्यान—जिस उपायसे प्रतिकूल व्यक्ति की मित्रता दृढ़ होती हो, उसे उसके प्रति कहना; ३—विरुद्ध व्यक्ति की भलाई करना, ४-आयतिप्रदर्शन—'हम लोगों की मैत्री का परिणाम भविष्य जीवन को सुखी बनाना है' इस प्रकार प्रयोजनार्थी को प्रतिकूल व्यक्ति के लिये प्रकट करना, और ५—आत्मोपसन्धान—'मेरा धन आप अपने कार्य में उपयोग कर सकते हैं' इस प्रकार दूसरे को वश करने के लिये कहना ॥७१॥

व्यास ने भी कहा है कि 'जिस प्रकार कर्कश वचनों द्वारा सज्जनोंके चित्त विकृत नहीं होते, उसी प्रकार सामनीति से प्रयोजनार्थी का कार्य विकृत न होकर सिद्ध होता है, और जिस प्रकार शक्कर द्वारा शान्त होने वाले पित्त में पटोल (औषधि विशेष) का प्रयोग व्यर्थ है, उसी प्रकार सामनीति से सिद्ध होने वाले कार्य में दंडनीति का प्रयोग भी व्यर्थ है ॥२॥

शत्रुको वश करने के अभिप्रायसे उसे अपनी सम्पत्तिका उपभोग करनेके लिये विजिगीषु द्वारा इस प्रकार का अधिकारसा दे दिया जाता है 'कि यह सम्पत्ति मेरी है, इसे आप अपनी इच्छानुसार कार्यों में

१ तथा च शुक्रः—कातराणां न वसुधा स्यादपि स्वकुलागता । परकीयापि चात्मीया विक्रमो यत्र भुज्यते ॥ १ ॥

२ तथा च व्यासः—साम्ना यत्सिद्धिदं कृत्यं सतां नो विकृतिं व्रजेत् । कर्कशानां यथा चित्तं दुर्जनैरपि बोधितैः ॥ १ ॥
सामैव यत्र सिद्धिर्न दण्डो बुधेन विनियोज्यः । पित्तं यदि शर्करया शाम्यति कोऽर्थः पटोलेन ॥ २ ॥

लगा सकते हैं 'इसे 'आत्मोपसन्धान नाम की सामनीति कहते हैं ॥७२॥ जहां पर विजिगीषु शत्रु से अपनी प्रचुर सम्पत्ति के संरक्षणार्थ उसे थोड़ासा धन देकर प्रसन्न कर लेता है उसे 'उपप्रदान' (दान) नीति कहते हैं ॥७३॥

शुक्र[1]ने भी शत्रु से प्रचुर धन की रक्षार्थ उसे थोड़ा सा धन देकर प्रसन्न करने को 'उपप्रदान' कहा है ॥१॥

विजिगीषु अपने सैन्यनायक, तीक्ष्ण व अन्य गुप्तचर तथा दोनों तरफसे वेतन पाने वाले गुप्तचरों द्वारा शत्रुकी सेनामें परस्पर एक दूसरे के प्रति सन्देह वा तिरस्कार उत्पन्न कराकर भेद (फूट) डालने को भेद नीति कहा है ॥७४॥

गुरु[2] ने भी उक्त उपायद्वारा शत्रु-सेना में परस्पर भेद डालने को 'भेदनीति' कहा है।

शत्रु का वध करना, उसे दुःखित करना या उसके धन का अपहरण करना दंडनीति है ॥७५॥

जैमिनि[3] विद्वान ने भी दंडनीति की इसी प्रकार व्याख्या की है ॥१॥

शत्रु के पास से आये हुए मनुष्य की सूक्ष्म बुद्धि से परीक्षा करने के उपरान्त ही विश्वस्त सिद्ध होने पर उसका अनुग्रह करना चाहिये,अपरीक्षित का नहीं ॥७६॥

भागुरि[4] ने भी शत्रु के यहां से आये हुए व्यक्ति की परीक्षा करने के बारे में संकेत किया है ॥१॥

क्या जंगल में उत्पन्न हुई ओषधि शारीरिक आरोग्यता के लिये नहीं होती ? अवश्य होती है उसी प्रकार शत्रु के यहां से आया हुआ व्यक्ति भी कल्याणकारक हो सकता है ॥७७॥

गुरु[5] ने भी कहा है कि 'जिस प्रकार शरीरवर्ती व्याधि पीड़ाजनक और जंगल में पैदा होनेवाली औषधि हितकारक होती है उसी प्रकार अहित-चिन्तक बन्धु भी शत्रु व हितचिन्तक शत्रु भी बन्धु माना जाता है।॥१॥

जिस प्रकार गृह में प्रविष्ट हुआ कबूतर उसे ऊजड़ बना देता है, उसी प्रकार शत्रु दलका छोटा सा भी व्यक्ति विजिगीषु के तन्त्र (सैन्य) को नष्ट-भ्रष्ट कर डालता है ॥७८॥

बादनारायण[6] ने भी शत्रुदलके साधारण व्यक्तिका गृहप्रवेश राजतन्त्रका नाशक बताया है।१

उत्तम लाभ, भूमि-लाभ की श्रेष्ठता, मैत्री भाव को प्राप्त हुए शत्रुके प्रति कर्त्तव्य, वजिगीषु की निन्दा का कारण, शत्रु चेष्टा जानने का उपाय, शत्रु निग्रह के उपरान्त विजिगीषु का कर्त्तव्य, प्रतिद्वन्द्वी के विश्वास के साधन व शत्रु पर चढ़ाई न करने का अवसर—

मित्रहिरण्यभूमिलाभानामुत्तरोत्तरलाभः श्रेयान् ॥७९॥ हिरण्यं भूमिलाभाद्भवति मित्रं च

---

१ तथा च शुक्रः—बह्वर्थः स्वल्पवित्तेन यदा शत्रोः प्ररक्षते । परप्रसादनं तत्र प्रोक्तं तच्च विचक्षणैः ॥ १ ॥

२ तथा च गुरुः—सैन्यं विषं तथा गुप्ताः पुरुषाः सेवकात्मकाः । तैश्च भेदः प्रकर्तव्यो मिथः सैन्यस्य भूपते: ॥ १ ॥

३ तथा च जैमिनिः—वधस्तु क्रियते यत्र परिक्लेशोऽथवा रिपोः । अर्थस्य ग्रहणं भूरिर्दण्डः स परिकीर्तितः ॥ १॥

४ तथा च भागुरिः—शत्रोः सकाशतः प्राप्तं सेवार्थं शिष्टसम्मतं । परीक्षां तस्य कृत्वाथ प्रसादः क्रियते ततः ॥ १ ॥

५ तथा च शुक्रः—परोऽपि हितवान् बन्धुर्बन्धुरप्यहितः परः । अहितो देहजो व्याधिर्हितमारण्यमौषधं ॥ १ ॥

६ तथा च बादरायणः—शत्रुपक्षभवो लोकः स्तोकोऽपि गृहमाविशेत् । यदा तदा समाधत्ते तद्गृहं च कपोतवत् ॥१॥

हिरण्यलाभादिति[A] ॥८०॥ शत्रोर्मित्रत्वकारणं विमृश्य तथाचरेद्यथा न वञ्च्यते ॥८१॥ गूढोपायेन सिद्धकार्यस्यासंवित्ति-करणं सर्वां शंकां दुरपवादं च करोति ॥ ८२ ॥ गृहीतपुत्रदारानुभयवेतनान् कुर्यात् ॥ ८३ ॥ शत्रुमपकृत्य भूदानेन तद्दायादानात्मनः सफलयेत् क्लेशयेद्वा ॥ ८४ ॥ परविश्वासजनने सत्यं शपथः प्रतिभूः प्रधानपुरुषपरिग्रहो वा हेतुः ॥ ८५ ॥ सहस्रैकीयः पुरस्ताल्लाभः शतैकीयः पश्चात्कोप इति न यायात्॥८६॥ सूचीमुखा ह्यनर्था भवन्त्यल्पेनापि सूचीमुखेन महान् दोरकः प्रविशति ॥ ८७ ॥

अर्थ—मित्र,सुवर्ण व भूमि-लाभ इन लाभों में उत्तरोत्तर—आगे आगे की वस्तु-का लाभ कल्याण कारक है अर्थात्—मित्र की प्राप्ति श्रेष्ठ है व उसकी अपेक्षा सुवर्ण की एवं सुवर्ण-प्राप्ति की अपेक्षा भूमि की प्राप्ति सर्वश्रेष्ठ है, अतः विजिगीषु को भूमिकी प्राप्ति करनी चाहिये ॥१॥

गर्ग[1] ने भी मित्र लाभ से स्वर्णलाभ व स्वर्ण लाभ से भूमिलाभ का सर्वश्रेष्ठ बताया है ॥१॥

क्योंकि भूमि की प्राप्ति से सुवर्ण प्राप्ति व सुवर्ण प्राप्ति से मित्रप्राप्ति होतीहै ॥८०॥

शुक्र[2] ने कोशहीन (दरिद्र) राजा को भूमि व मित्रका अभाव और कोशयुक्त को उक्त दोनोंकी प्राप्ति बताई है ॥१॥

विवेकी पुरुष शत्रु की मित्रता का कारण सोच समझकर उससे ऐसा व्यवहार करे, जिससे कि वह उसके द्वारा ठगाया न जासके॥८१॥

शुक्र[3] ने कहा है कि विनाविचारे शत्रु से मित्रता करनेवाला निस्सन्देह उससे ठगाया जाता है ॥१॥

संधि को प्राप्तहुए जिस शत्रु राजा द्वारा गुप्त रीति से विजिगीषु का प्रयोजन सिद्ध किया गया है, उसका यदि वह उचित सन्मानादि नहीं करता तब उसके मनमें इसके प्रति अनेक प्रकार की आशंकाएं उत्पन्न होती हैं। अर्थात् वह ऐसी आशंका करता है कि मेरे द्वारा उपकृत यह विजिगीषु पहिले तो मुझ से अनुकूल हुआ मेरा उचित सन्मान करता था, परन्तु अब मुझसे प्रतिकूल रहता है, इससे मालूम होता है कि इसकी मेरे शत्रु से मैत्री हो चुकी है इत्यादि। एवं जनता में इस प्रकारकी निन्दाका पात्र होता

A इसके पश्चात् मु० मू० पुस्तकमें स्वयमसहायश्चेत् भूमिहिरण्यलाभायालं भवति तदा मित्रं गरीयः ॥ १ ॥ सहायु-यापि मित्रं स्वयं वा स्यात्तु भूमिमित्राभ्यां हिरण्यं गरीयः ॥ २ ॥ यह विशेष पाठ है, जिसका अर्थ यह है कि सहायक से हीन राजा पृथिवी व स्वर्ण की प्राप्ति करने में असमर्थ होता है। अतः उक्त तीनों लाभोंमें मित्रका लाभ श्रेष्ठ है सदा साथ देने वाला मित्र या स्वयं स्थिरशील भूमि की प्राप्ति [illegible] है, अतः भूमि व मित्र[illegible] से सुवर्ण लाभ श्रेष्ठ है ॥ १-२ ॥

१ तथा च गर्गः—उत्तमो मित्रलाभस्तु हेमलाभस्ततो वरः । तस्मात्प्रोक्तरं चैव भूमिलाभं समादिशेत् ॥ १ ॥

२ तथा च शुक्रः—न भूमिर्न च मित्राणि कोशहीनस्य भूपतेः । [illegible] ॥ १ ॥

३ तथा च शुक्रः—पर्यालोच्यं विना कुर्यात्तो मैत्री रिपुणा सह । स वंच्यते [illegible] ॥ १ ॥

कि अमुक शत्रु राजा द्वारा यह विजिगीषु रक्षित व शक्तिवर्द्धित किया गया तथापि यह उसकी भक्तिसेवा आदि नहीं करता, इससे यह बड़ा कृतघ्न है–इत्यादि। अतः विजिगीषु को उसके प्रयोजन सिद्ध करने वाले की सेवा–आदि करनी चाहिये ॥८२॥

गुरु[1] ने भी कहा है कि 'जिसकी सहायता से राजा की वृद्धि हुई हो, उसको उसे सन्तुष्ट करना चाहिये, अन्यथा उसके मन में शंका उत्पन्न होती है व उसके साथ युद्ध करनेमें निन्दाका पात्र होता है ॥१॥

विजिगीषु दोनों पक्ष से वेतन पानेवाले गुप्तचरों के स्त्री पुत्रों को अपने यहां सुरक्षित रखकर उन्हें शत्रु के देश में भेजे, ताकि वे वापिस आकर इसे शत्रु की चेष्टा निवेदन करें ॥८३॥

जैमिनि[2] ने भी दोनों पक्षोंसे वेतन पानेवाले गुप्तचरों द्वारा शत्रु की चेष्टा जाननेका संकेत किया है ॥१॥

विजिगीषु शत्रु का अपकार करके उसके शक्तिहीन कुटुम्बियों के लिये उसकी भूमि प्रदान कर उन्हें अपने अधीन बनावे अथवा यदि वे बलिष्ट हों तो उन्हें क्लेशित करे ॥८४॥

नारद[3] ने भी शत्रु के कुटुम्बियोंके साथ ऐसाही, बर्ताव करने का निर्देश किया है ॥१॥

विजिगीषु अपने प्रतिद्वन्दी का विश्वास उसी हालत में करे, जब वह शपथ खावे या गवाही उपस्थित करे अथवा उसके सचिव आदि प्रधानपुरुष उसके द्वारा अपने पक्षमें मिला लिये जावें ॥८५॥

गौतम[4] का उद्धरणभी शत्रु के विश्वास करने के विषयमें उक्त साधनों का निर्देश करता है ॥१॥

शत्रु देश पर आक्रमण करलेसे वहाँ से हजार सुवर्णमुद्राओं का लाभ होने पर भी यदि अपने देशका सौ मुद्राओंका भी नुकसान होता हो तो राजाका कर्तव्य है कि वह शत्रुपर आक्रमण न करे ८६

भृगु[5] ने भी लिखा है कि शत्रु देश पर आक्रमण करने से बहुमूल्य लाभ हो पर साथ में अपना व अपने देश का थोड़ा सा भी नुकसान हो तो शत्रु पर आक्रमण नहीं करना चाहिये ॥१॥

विजिगीषु के ऊपर आनेवाली आपत्तियां प्रजा-आदि से होनेवाले पीठ पीछे के थोड़े से कोप से होती हैं क्योंकि जिसप्रकार सुई से वस्त्र में छिद्र होजाने के उपरान्त उसमें से बहुत सा डोरा निकल जाता है, उसीप्रकार देश में पीठ पीछे थोड़ा सा उपद्रव खड़ा हो जाने पर राजा को महान् आपत्तियों का सामना करना पड़ता है अत: ऐसे अवसर पर विजिगीषु शत्रु पर चढ़ाई करने प्रस्थान न करे ॥८७॥

बादरायण[6] के श्लोक का भी यही अभिप्राय है ॥१॥

---

१ तथा च गुरुः—वृद्धिं गच्छेद्यतः पार्श्वात्तं प्रयत्नेन तोषयेत् । अन्यथा जायते शंका रणगोपाद्धि गर्हणा ॥ १ ॥
२ तथा च जैमिनिः—गृहीतपुत्रदारांश्च कृत्वा चोभयवेतनान् । प्रेषयेद्वैरिणः स्थाने येन तच्चेष्टितं लभेत् ॥ १ ॥
३ तथा च नारदः—साधयित्वा परं युद्धे तद्भूमिस्तस्य गोत्रिणः । दातव्यात्मवशो यः स्यान्नान्यस्य तु कथंचन ॥ १ ॥
४ तथा च गौतमः—शपथैः कोशपानेन महापुरुषवाक्यतः । प्रतिभूरिष्टसंग्रहाद्रिपोर्विश्वसतां व्रजेत् ॥ १ ॥
५ तथा च भृगुः—पुरस्ताद्भूरिलाभेऽपि पश्चात्कोपोऽल्पको यदि । तद्यात्रा नैव कर्तव्या तत्स्वल्पोऽप्यधिको भवेत् १
६ तथा च बादरायणः—स्वल्पेनापि न गन्तव्यं पश्चात्कोपेन भूभुजा । यतः स्वल्पोऽपि तद्बाह्यः स वृद्धिं परमां व्रजेत् १

विजिगीषुका सर्वोत्तम लाभ, अपराधियों के प्रति क्षमा करने से हानि, वा उनके निग्रह से लाभ नैतिक पुरुषका कर्त्तव्य, अग्रेसर होने से हानि, दूषित राजसभा, गृहमें आये हुए धन के विषयमें व धनार्जन का उपाय—

न पुण्यपुरुषापचयः क्षयो हिरण्यस्य धान्यापचयो व्ययः शरीरस्यात्मनो लाभविच्छेदेन सामिषक्रव्याद इव न परैरवरुध्यते ॥ ८८ ॥ शक्तस्यापराधिषु या क्षमा सा तस्यात्मनस्तिरस्कारः ॥८९॥ अतिक्रम्यवर्तिषु निग्रहं कर्तुः सर्पादिव दृष्टप्रत्यवायः सर्वोऽपि बिभेति जनः ॥ ९० ॥ अनायकां बहुनायकां वा सभां प्रविशेत् ॥ ९१ ॥ गणपुरश्चारिणः सिद्धे कार्ये स्वस्य न किंचिद्भवत्यसिद्धे पुनः ध्रुवमपवादः ॥ ९२ ॥ सा गोष्ठी न प्रस्तोतव्या यत्र परेषामपायः ॥ ९३ ॥ गृहागतमर्थं केनापि कारणेन नावधीरयेद्यदैवार्थागमस्तदैव सर्वातिथि नक्षत्रग्रहबलं ॥ ९४ ॥ गजेन गजबन्धनमिवार्थेनार्थोपार्जनम् ॥ ९५ ॥

अर्थ—विजिगीषु को इस प्रकारके लाभकी इच्छा करनी चाहिये, जिसमें उसके अमात्य व सेनाध्यक्ष आदि प्रधान पुरुष कोश, अन्न तथा उसके जीवन का नाश न होने पावे एवं जिस प्रकार मांस खण्ड को धारण करनेवाला पक्षी दूसरे मांसभक्षी पक्षियों द्वारा रोका जाता है, उसी प्रकार वह भी शत्रुभूत राजाओं द्वारा न रोका जा सके ॥ ८८ ॥

शुक्र[1] ने भी विजिगीषु को इसी प्रकार का लाभ चिंतवन करने के विषय में लिखा है ॥ १ ॥

जो राजा शक्तिशाली होकर अपराधियों को अपराधानुकूल दंडित न कर क्षमा धारण करता है, उसका तिरस्कार होता है, अतः राजा को अपराधियों के प्रति क्षमा धारण नहीं करनी चाहिए ॥ ८९ ॥

बादरायण[2] ने भी अपराधियों के प्रति क्षमा धारण करने वाले राजा का शत्रुकृत पराजय निर्देश किया है ॥ १ ॥

अपराधियों का निग्रह करने वाले राजा से सभी लोग अपने नाश की आशंका करते हुए सर्प के समान डरते हैं। अर्थात् कोई भी अपराध करने की हिम्मत नहीं करता ॥ ९० ॥

भागुरि[3] ने भी दुष्टनिग्रह करने वाले राजा से डरने के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥ १ ॥

बुद्धिमान पुरुष को ऐसी सभा में प्रवेश नहीं करना चाहिये जिस में कोई नायक (नेता) न हो या बहुत से नायक हों ॥ ९१ ॥ जन समुदाय या राजसभा आदि में विवेकी पुरुष को अग्रसर—मुख्य होना व्यर्थ है क्योंकि प्रयोजन सिद्ध होनेपर मुख्यव्यक्ति को तो कोई लाभ नहीं होता परन्तु यदि प्रयोजन सिद्ध न हुआ तो सब लोग मुख्य की ही निश्चय से निन्दा करते हैं, कि इसी मूर्ख ने [illegible] हम लोगों का प्रयोजन नष्ट कर दिया ॥ ९२ ॥

---

१ तथा च शुक्रः—स्वबलस्य क्षयो न स्यात्तथा दैवात्मनोऽपरः । येन लाभेन [illegible] ॥ १ ॥
२ तथा च बादरायणः—शक्तिमानपि यः कुर्यादपराधिषु च क्षमां । स पराभवमाप्नोति सर्वेषामपि [illegible] ॥ १ ॥
३ तथा च भागुरिः—अपराधिषु यः कुर्यान्निग्रहं दारुणं नृपः । तस्मात्सर्वेपि [illegible] ॥ १ ॥

नारद[1] ने भी जन समुदाय का मुखिया होना निरर्थक बताया है ॥१॥

वह सभा प्रशंसनीय नहीं कही जा सकती—निंद्य है जिसमें प्रयोजन सिद्धि के लिये आये हुए प्रयोजनार्थी पुरुष को पक्षपात आदि के कारण हानि होती है ॥ ६३ ॥

जैमिनि[2] ने भी पक्षपात वश प्रयोजनार्थी का घात करने वाली सभा को त्याज्य कहा है ॥ १ ॥

गृह में पदार्पण की हुई लक्ष्मी–सम्पत्तिका कभी भी किसी कारण से – तिथि आदि अशुभ जानकर–तिरस्कार नहीं करना चाहिए, किन्तु उसे तत्काल ग्रहण कर लेना चाहिए, क्योंकि जिस समय लक्ष्मी का आगमन होता है उस समय की तिथि व नक्षत्र शुभ और ग्रह बलिष्ठ गिने जाते हैं ॥ ६४ ॥

गर्ग[3] ने भी लक्ष्मी की प्राप्ति का दिवस शुभ बताया है ॥ १ ॥

जिस प्रकार हाथी से हाथी बांधा जाता है, उसी प्रकार धन से धन कमाया जाता है ॥ ६५ ॥

जैमिनि[4] ने भी धनोपार्जन का यही उपाय निर्दिष्ट किया है ॥ १ ॥

दण्डनीति का निर्णय, प्रशस्तभूमि, राक्षसीवृत्ति वाले व पर प्रणेय राजा का स्वरूप, स्वामी की आज्ञा का पालन, राजा द्वारा ग्राह्य व दूषितधन तथा धन-प्राप्ति—

न केवलाभ्यां बुद्धिपौरुषाभ्यां महतो जनस्य सम्भूयोत्थाने संघातविघातेन दण्डं प्रणयेच्छतमवध्यं सहस्रमदण्ड्यं न प्रणयेत्[A] ॥९६॥ सा राजन्वती भूमिर्यस्यां नासुरवृत्ती राजा ॥९७॥ परप्रणेयो राजाऽपरीक्षितार्थमानप्राणहरोऽसुरवृत्तिः ॥ ९८ ॥ परकोपप्रसादानुवृत्तिः परप्रणेयः ॥ ९९ ॥ तत्स्वामिच्छन्दोऽनुवर्तनं श्रेयो यन्न भवत्यायत्यामहिताय ॥ १०० ॥ निरनुबन्धमर्थानुबंधं चार्थमनुगृह्णीयात् ॥ १०१ ॥ नासावर्थो धनाय यत्रायत्यां महानर्थानुबंधः ॥ १०२ ॥ लाभस्त्रिविधो नवो भूतपूर्वः पैत्र्यश्च ॥ १०३ ॥

अर्थ—राजा को अपनी बुद्धि व पौरुष के गर्व में आकर एकमत रखने वाले उत्तम पुरुषों के समूह को अपराधी बता कर दण्डित नहीं करना चाहिये, क्यों कि एक सी बात कहने वाले सौ आदमी वध के अयोग्य व हजार आदमी दण्ड के अयोग्य होते हैं, अतः उन्हें दण्ड न देना चाहिये ॥ ९८ ॥

---

१ तथा च नारदः—बहूनामग्रगो भूत्वा यो ब्रूते न नतं परः। तस्य सिद्धौ नो लाभः स्यादसिद्धौ जनवाच्यता ॥ १ ॥

२ तथा च जैमिनिः—सभायां पक्षपातेन कार्यार्थी यत्र हन्यते। न सा सभा भवेच्छस्या शिष्टैस्त्याज्या सुदूरतः ॥ १ ॥

३ तथा च गर्गः—गृहागतस्य वित्तस्य दिनशुद्धिं न चिन्तयेत्। आगच्छति यदा वित्तं तदैव सुशुभं दिनं ॥ १ ॥

४ तथा च जैमिनिः—अर्था अर्थेषु बध्यन्ते गजैरिव महा गजाः। गजा गजैर्विना न स्युरर्था अर्थैर्विना तथा ॥ १ ॥

A मु० मू० प्रतिमें 'महतो जनस्य सम्भूयोत्थाने सङ्घात विघातेन। दण्डं प्रणयेत् शतमवध्यं सहस्रमवध्यमिति' इस प्रकार का पाठान्तर वर्तमान है जिसका अर्थ यह है कि यदि कुछ लोग संगठित होकर बगावत करने तत्पर हुए हों, उस समय राजा को उन्हें भेद नीति द्वारा फोड़ फाड़ करके पृथक २ करके सजा देनी चाहिये।

शुक्र[1] ने भी उत्तम पुरुषों का समूह राजा द्वारा बुद्धि व पौरुष के गर्व-वश दंड देनेके अयोग्य बताया है ॥ १ ॥

जिस भूमि का अधीश्वर राक्षसी वर्ताव करने वाला (अपराध से प्रतिकूल अत्यधिक दंड देनेवाला व व्यसनी-आदि दोष युक्त) नहीं है बल्कि नीतिज्ञ व सदाचारी है वह (भूमि) राजन्वती (प्रशस्त राजा से युक्त) कही जाती है ॥ ६७ ॥

गुरु[2] ने भी नीतिज्ञ व सदाचारी नरेश से युक्त पृथिवी को श्रेष्ठ व उन्नतिशील कहा है ॥ १ ॥

बिना विचारे दूसरे के मतानुसार कार्य करने वाला और अपराधियों के अर्थमान व प्राणमान को न जानकर बिना सोचे समझे उनका प्राणघात करनेवाला—'अमुक अपराधी अपने अपराधानुकूल कानूनन कितने जुर्माने, कितनी शारीरिक सजा के योग्य है ? इत्यादि बिना सोचे समझे दूसरों के कहने मात्र से उनके धन, मान व प्राण लेने वाला (सौ रुपये जुर्माने के योग्य अपराधी से हजार रुपये जुर्माने में) लेनेवाला, तुच्छ दोषपर फांसी देनेवालाराजा 'असुरवृत्ति (राक्षसी वर्त्ताव करनेवाला) कहा गया है ॥६८॥

भागुरि[3] ने भी दूसरों के कहने मात्र से निरपराधियों के लिये भी कड़ी सजा दे कर पीड़ित करने वाले राजा को 'असुरवृत्ति' कहा है ॥ १ ॥

जो राजा दूसरों के कहने मात्र से ही बिना सोचे समझे जिस किसी के प्रति कुपित व प्रसन्न हो जाया करता है, उसे 'परप्रणेय' कहा है ॥ ६६ ॥

राजगुरु[4] ने भी कहा है कि 'परप्रणेय राजा का राज्य चिरकालीन नहीं होता ॥ १ ॥'

सेवक को स्वामी की उसी आज्ञा का पालन करना श्रेयस्कर है, जिससे उसके स्वामी का भविष्य में अहित न हो सके ॥ १०० ॥

गर्ग[5] ने भी कहा है 'कि मन्त्रियों को राजा के प्रति परिणाम में कष्ट न देने वाला, प्रिय व श्रेयस्कर वचन बोलना चाहिये ॥ १ ॥'

राजा को प्रजा से इस प्रकार धन ग्रहण करना चाहिये जिससे प्रजा को पीड़ा व उस के धन की क्षति न हो । अथवा ऐसा अर्थ हो सकता है कि विवेकी पुरुष इस प्रकार से धन संचय करे, जिसमें जनसाधारण को कष्ट न हो एवं भविष्य में धन प्राप्ति का संबन्ध बना रहे ॥ १०१ ॥ भविष्य में महान् अनर्थ (राजदंडादि) उत्पन्न करने वाला अन्याय-संचित धन स्थिरशाल नहीं होता । सारांश यह है कि चोरी आदि निन्द्य कर्म से जो धन संचय किया जाता है, वह राजाद्वारा पूर्व संचित धन के साथ [illegible]

---

१ तथा च शुक्रः—बुद्धिपौरुषगर्वेण दण्डदेन महाजनं । एकानुगामिकं राजा यदा तु [illegible] ॥ १ ॥
२ तथा च गुरुः—यस्यां राजा सुवृत्तः स्यात् सोऽन्यवृत्तः सदैव हि । सा भूमिः [illegible] नित्यं सदा वृद्धिं च [illegible] ॥ १ ॥
३ तथा च भागुरिः—परवाक्यैर्नृपो यत्र नदूत्तां सुप्रपीड्येत् । स्वल्पेनापि तु दण्डेन सोऽसुरवृत्तिरुच्यते ॥ १ ॥
४ तथा च राजगुरुः—परप्रणेयो भूपालो न राज्यं कुरुते चिरं । [illegible] ॥ १ ॥
५ तथा च गर्गः—मंत्रिभिस्तदिनं वाच्यं प्रभोः श्रेयस्करं च यत् । [illegible] ॥ १ ॥

कर लिया जाता है, अतः नैतिक पुरुष को न्यायोचित साधनों द्वारा धनसंचय करना चाहिये ॥ १०२ ॥

अत्रि[1] ने भी अन्याय संचित धन राजा द्वारा पूर्वसंचित धन के साथ २ जब्त किये जाने के विषय में लिखा है ॥ १ ॥

अर्थ लाभ (धन प्राप्ति) तीन प्रकार का है। १—नवीन-कृषि व व्यापारादि साधनों द्वारा नवीन धन की प्राप्ति, २—भूतपूर्व—पूर्व में उक्त साधनों द्वारा प्राप्त किया हुआ धन, ३—पित्र्य-पिता वगैरह परम्परा से प्राप्त किया हुआ धन, ये उक्त तीनों लाभ श्रेष्ठ हैं ॥ १०३ ॥

शुक्र[2] ने भी उक्त तीनों प्रकार का अर्थलाभ श्रेयस्कर बताया है ॥ १ ॥

---

३० युद्ध समुद्देश।

मन्त्री व मित्र का दूषण, भूमि-रक्षार्थ विजिगीषु का कर्त्तव्य, शस्त्रयुद्ध का अवसर, बुद्धि-युद्ध व बुद्धि का माहात्म्य—

स किं मंत्री मित्रं वा यः प्रथममेव युद्धोद्योगं भूमित्यागं चोपदिशति, स्वामिनः सम्पादयति च महन्तमनर्थसंशयं ॥ १ ॥ संग्रामे को नामात्मवानादादेव स्वामिनं प्राणसन्देहतुलायामारोपयति ॥ २ ॥ भूम्यर्थं नृपाणां नयो विक्रमश्च न भूमित्यागाय ॥ ३ ॥ बुद्धियुद्धेन परं जेतुमशक्तः शस्त्रयुद्धमुपक्रमेत् ॥ ४ ॥ न तथेषवः प्रभवन्ति यथा प्रज्ञावतां प्रज्ञाः ॥५॥ दृष्टेऽप्यर्थे सम्भवन्त्यपराद्धेषवो धनुष्मतोऽदृष्टमर्थं साधु साधयति प्रज्ञावान् ॥ ६ ॥ श्रूयते हि किल दूरस्थोऽपि माधवपिता कामन्दकीयप्रयोगेण माधवाय मालतीं साधयामास ॥ ७ ॥ प्रज्ञा ह्यमोघं शस्त्रं कुशलबुद्धीनां ॥ ८ ॥ प्रज्ञाहताः कुलिशहता इव न प्रादुर्भवन्ति भूमिभृतः ॥ ९ ॥

अर्थ—वह मंत्री व मित्र दोनों निंद्य—शत्रु के समान हैं, जो शत्रु द्वारा आक्रमण किये जाने पर अपने स्वामीको भविष्यमें कल्याण-कारक अन्य सन्धि आदि उपाय न बताकर पहिले ही युद्ध करनेमें प्रयत्नशील होनेका अथवा भूमिका परित्याग कर दूसरी जगह भाग जानेका उपदेश देकर उसे महान् अनर्थ (प्राण सन्देहके खतरे) में डाल देते हैं ॥ १ ॥

---

१ तथा चात्रिः—अन्यायोपार्जितं वित्तं यो गृहं समुपानयेत् । गृह्यते भूभुजा तस्य गृहगेन समन्वितम् ॥ १ ॥

२ तथा च शुक्रः— उपार्जितो नवोऽर्थः स्याद्भूतपूर्वस्तथापरः । पितृपैतामहोऽन्यस्तु त्रयो लाभाः शुभावहाः ॥ १ ॥

गर्ग[1]ने भी शत्रु के उपस्थित होने पर राजाको युद्ध व भाग जाने की सलाह देनेवाले सचिवको शत्रु कहा है ॥ १ ॥

कौन बुद्धिमान् सचिव अपने स्वामीको सबसे पहले युद्धमें प्रेरित कर उसे प्राण-संदेह रूप तराजू पर चढ़ायगा ? कोई नहीं। सारांश यह है कि शत्रु द्वारा हमला कियेजाने पर पूर्वमें मंत्री अपने स्वामीको संधिके लिये प्रेरित करे, उसमें असफल होने पर युद्धके लिये प्रेरित करे ॥ २ ॥

गौतम[2]ने भी अन्य उपाय असफल होने पर युद्ध करनेका संकेत किया है ॥ १ ॥

राजाओंकी नीति व पराक्रमकी सार्थकता अपनी भूमिकी रक्षाके लिये होती है, न कि भूमि-त्याग के लिये, अतः उसका त्याग कर्त्तव्य-दृष्टिसे किस प्रकार ग्राह्य हो सकता है ? नहीं हो सकता ॥३॥

शुक्रने[3] भी कहा है कि राजाओंको भूमि-रक्षार्थ अपनी नीति व पराक्रमका उपयोग करते हुए प्राण जाने परभी देशत्याग नहीं करना चाहिये ॥ १ ॥

जब विजिगीषु बुद्धि-युद्ध—सामादि उपायके प्रयोग द्वारा शत्रु पर विजयश्री प्राप्त करनेमें असमर्थ हो जाय, तब उसे शस्त्र-युद्ध करना चाहिये ॥ ४ ॥

गर्ग[4] ने भी बुद्धि-युद्ध निरर्थक होने पर शत्रु के साथ शस्त्र-युद्ध करनेका संकेत किया है ॥ १ ॥

जिस प्रकार बुद्धिमानों की बुद्धियां शत्रु के उन्मूलन करनेमें समर्थ होती हैं उस प्रकार वीर पुरुष द्वारा प्रेषित बाण समर्थ नहीं होते ॥ ५ ॥

गौतम[5] का उद्धरण भी तीक्ष्ण बाणोंकी अपेक्षा विद्वानोंकी बुद्धिको शत्रु-वधमें विशेष उपयोगी बताता है ॥ १ ॥

धनुर्धारियोंके बाण निशाना साधकर चलाये जाने पर भी प्रत्यक्ष में वर्तमान लक्ष्य-भेद करनेमें असफल हो जाते हैं परन्तु बुद्धिमान पुरुष बुद्धिबलसे बिना देखेहुए पदार्थ भी भलीभांति सिद्ध कर लेता है

शुक्र[6] का उद्धरणभी इसीप्रकार बुद्धिको अदृष्टकार्यमें सफलता उत्पन्न करने वाली बताता है ॥ १ ॥

महाकवि श्री भवभूति विरचित मालतीमाधव नामक नाटक में लिखा है कि माधवके पिता देवरात ने बहुत दूर रह कर के भी कामन्दकी नाम की सन्यासिनी के प्रयोग द्वारा—उसे मालती के पास भेज कर अपने पुत्र माधव के लिये 'मालती' प्राप्त की थी, यह देवरात की बुद्धि-शक्ति का ही माहात्म्य था ॥ ७ ॥ विद्वानों की बुद्धि ही शत्रु पर विजय-श्री प्राप्त करने में सफल शस्त्र मानी गयी है, क्योंकि

१ तथा च गर्गः—उपस्थिते रिपौ मंत्री युद्धं बुद्धिं ददाति यः। [illegible] वैरी स देशत्यागं च यो वदेत् ॥ १ ॥
२ तथा च गौतमः—उपस्थिते रिपौ स्वामी पूर्वं युद्धे नियोजयेत्। उपायं [illegible] ॥ १ ॥
३ तथा च शुक्रः—भूम्यर्थं भूमिपैः कार्यो नयो विक्रम एव च। देशत्यागो न कर्तव्यस्तु प्राणत्यागेऽपि [illegible] ॥ १ ॥
४ तथा च गर्गः—युद्धं [illegible] कुर्यात् प्रथमं शत्रुणा सह। [illegible] ॥ १ ॥
५ तथा च गौतमः—न तथात्र शरास्तीक्ष्णाः समर्थाः स्युः रिपौ वधे। यथा बुद्धिमतां [illegible] ॥ १ ॥
६ तथा च शुक्रः—धानुष्कस्य शरो व्यर्थो दृष्टे लक्ष्येऽपि याति च। अदृष्टान्यपि कार्याणि बुद्धिमान् [illegible] ॥ १ ॥

जिस प्रकार वज्र प्रहार से ताड़ित किये हुये पहाड़ पुनः उत्पन्न नहीं होते, उसी प्रकार विद्वानों की बुद्धि द्वारा जीते हुये शत्रु भी पुनः शत्रुता करने का साहस नहीं कर सकते। ८-९ ॥

गुरु[1] ने भी प्रज्ञा (बुद्धि) शस्त्र को शत्रु से विजय पाने में सफल बताते हुये उक्त बातका समर्थन किया है ॥ १ ॥

डरपोक, अतिक्रोध, युद्धकालीन राज-कर्त्तव्य, भाग्य-माहात्म्य, बलिष्ट शत्रु द्वारा आक्रमण किए हुए राजा का कर्त्तव्य, भाग्य की अनुकूलता, सार असार सैन्य से लाभ व हानि व युद्धार्थ राज-प्रस्थान—

परैः स्वस्याभियोगमपश्यतो भयं नदीमपश्यत उपानत्परित्यजनमिव ॥ १० ॥ अतितीक्ष्णो बलवानपि शरभ इव न चिरं नन्दति ॥ ११ ॥ प्रहरतोऽपसरतो वा समे विनाशे वरं प्रहारो यत्र नैकान्तिको विनाशः ॥ १२ ॥ कुटिला हि गतिर्दैवस्य मुमूर्षुमपि जीवयति जिजीविषुं मारयति ॥ १३ ॥ दीपशिखायां पतंगवदैकान्तिके विनाशेऽविचारमपसरेत् ॥ १४ ॥ जीवितसम्भवे दैवो देयात्कालबलम् ॥ १५ ॥ वरमल्पमपि सारं बलं न भूयसी मुण्डमण्डली ॥ १६ ॥ असारबलभंगः सारबलभंगं करोति ॥ १७ ॥ नाप्रतिग्रहो युद्धमुपेयात् ॥ १८ ॥

अर्थ—जिस प्रकार नदी को विना देखे ही पहले से जूते उतारने वाला व्यक्ति हंसी का पात्र होता है, उसीप्रकार शत्रु-कृत उपद्रव को जाने विना पहले से ही भयभीत होने वाला व्यक्ति भी हंसी का पात्र होता है, अतः शत्रु का आक्रमण होने पर उसका प्रतिकार सोचना चाहिये ॥ १० ॥

शुक्र[2] ने भी शत्रु को विना देखे पहले से ही भयभीत होने वाले के विषय में यही कहा है ॥ १ ॥

अत्यन्त क्रोधी पुरुष बलिष्ट होने पर भी अष्टापद के समान चिरकाल तक जीवित नहीं रह सकता—नष्ट हो जाता है। अर्थात्-जिस प्रकार अष्टापद मेघ की गर्जना सुनकर उसे हाथी का चिंघाड़ समझ कर सहन न करता हुआ पर्वत के शिखर से पृथिवी पर गिरकर नष्ट होजाता है, उसी प्रकार अत्यन्त क्रोधी व्यक्ति भी क्रोध-वश बलिष्ट शत्रु से युद्ध करने पर नष्ट होजाता है अतः अत्यन्त क्रोधी होना उचित नहीं। ॥ ११ ॥ शत्रु से युद्ध करना अथवा युद्ध-भूमि से भाग जाना इन दोनों कार्यों में जब विजगीषु को अपना विनाश निश्चित हो जाय तो उसे युद्ध करना ही श्रेष्ठ है, क्योंकि उसमें मृत्यु निश्चित नहीं होती परन्तु भागने से अवश्य मृत्यु होती है ॥१२॥ कर्म की गति–भाग्य की रेखा–बड़ी वक्र या जटिल होती है क्यों कि वह मरने की कामना करने वाले को दीर्घायु व जीवन की आकांक्षा करने वाले को मार डालती है ॥ १३ ॥

कौशिक[3] ने भी इसी प्रकार दैव की वक्रगति का वर्णन किया है ॥१॥

---

१ तथा च गुरुः—प्रज्ञाशस्त्रममोघं च विज्ञानाद्बुद्धिरूपिणी। तया हता न जायन्ते पर्वता इव भूमिपाः ॥ १ ॥

२ तथा च शुक्रः—यथा चादर्शने नद्या उपानत्परिमोचनम्। तथा शत्रावदृष्टेऽपि भयं हास्याय भूभुजां ॥१॥

३ तथा च कौशिकः—मर्तुकामोऽपि चेन्मर्त्यः कर्मणा क्रियते हि सः। दीर्घायुर्जीवितेच्छाद्यो म्रियते तद्रक्तोऽपि सः ॥१॥

जब युद्ध-भूमि में विजिगीषु को बलिष्ट शत्रु द्वारा दीपक की ज्वाला में पतंग की तरह अपना विनाश निश्चित हो जाय, तो उसे बिना सोचे विचारे वहां से हट जाना चाहिये ॥१४॥

गौतम[1] का उद्धरण भी इसी बात का समर्थन करता है ॥ १ ॥

जब मनुष्य दीर्घायु होता है, तब भाग्य उसे ऐसी शक्ति प्रदान करता है, जिससे वह निर्बल होने पर भी बलिष्ट शत्रु को मार डालता है॥ १५ ॥

शुक्र[2] ने भी भाग्योदयसे दीर्घायु पुरुष के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥ १ ॥

सार हीन (शक्तिहीन व कर्त्तव्यविमुख) अधिक फौजकी अपेक्षा सार-युक्त (शक्तिशाली व कर्त्तव्य-परायण) थोड़ी सी सेना हो तो उत्तम है॥ १६ ॥

नारद[3] ने भी अच्छी तैयार थोड़ी भी फौजको उत्तम व बहुत सी डरपोकको नगण्य बताया है १

जब शत्रु-कृत उपद्रव द्वारा विजिगीषु की सार-हीन (शक्तिहीन) सेना नष्ट होती है तब उसकी शक्तिशाली सेना भी नष्ट हो जाती है—अधीर हो जाती है अतः विगिगीषु जदुर्बल सैन्य न रक्खे ॥१७॥

कौशिक[4] ने भी कायर सेना का भंग विजिगीषु को वीर सेना के भङ्ग का कारण बताया है ।१।

राजा को कभी अकेले युद्ध में नहीं जाना चाहिये ॥ १८ ॥

गुरु[5] ने भी अर्जुन समान वीर राजा को अकेले (सैन्य के बिना) युद्ध में जाने से खतरा बताया है ॥ १ ॥

प्रतिग्रह का स्वरूप व फल, युद्ध कालीन पृष्ट भूमि, जल-माहात्म्य, शक्तिशाली के साथ युद्ध हानि, राज-कर्त्तव्य (सामनीति व दृष्टान्त) एवं मूर्ख का कार्य व उसका दृष्टान्त द्वारा स्पष्टीकरण—

राजव्यञ्जनं पुरस्कृत्य पश्चात्स्वाम्यधिष्ठितस्य सारबलस्य निवेशनं प्रतिग्रहः ॥ १६ ॥ सप्रतिग्रहं बलं साधुयुद्धायोत्सहते ॥२०॥ पृष्ठतः सदुर्गजला भूमिर्बलस्य महानाश्रयः ॥२१॥ नद्या नीयमानस्य तटस्थपुरुषदर्शनमपि जीवितहेतुः ॥२२॥ निरन्नमपि सप्राणमेव बलं यदि जलं लभेत A ॥२३॥ आत्मशक्तिमविज्ञायोत्सहः शिरसा पर्वतभेदनमिव ।२४॥ सामसाध्यं

---

१ तथा च गौतमः—बलवन्तं रिपुं प्राप्य यो न नश्यति दुर्बलः । स नूनं [illegible] ॥ १ ॥

२ तथा च शुक्रः—पुरुषस्य यदायुः स्याद्दुर्बलोऽपि तदा परं । हिनस्ति [illegible] ॥ १ ॥

३ तथा च नारदः—वरं स्वल्पापि च श्रेष्ठा नाल्पस्वापि च कातरा । [illegible] ॥ १ ॥

४ तथा च कौशिकः—कातराणां च यो भंगो संग्रामे स्यान्महीपतेः । स हि भंगं [illegible] ॥ १ ॥

५ तथा च गुरुः—एकाकी यो व्रजेद्राजा संग्रामे सैन्यवर्जितः । स नूनं [illegible] ॥ १ ॥

A इसके पश्चात् मु० मू० प्रतिमें 'बलवता विग्रहीतस्य [illegible] [illegible] पाठ है, जिसका अर्थ यह है कि जब राजा बलिष्ट शक्तिशाली के साथ युद्ध करता है, तब [illegible] लोग प्रविष्ट हो जाते हैं; जिससे [illegible] के प्रवेश समान हानिकारक होता है ॥ १ ॥

युद्धसाध्यं न कुर्यात् ॥२५॥ गुडादभिप्रेतसिद्धौ को नाम विषं भुञ्जीत ॥२६॥ अल्पव्यय-भयात् सर्वनाशं करोति मूर्खः ॥२७॥ को नाम कृतधीः शुल्कभयाद्भाण्डं परित्यजति ॥२८॥

अर्थ—राज-चिन्ह —युद्धके बाजे-आदि—आगे करके पश्चात् राजा से अधिष्ठित प्रधान सैन्य सुसज्जित करके युद्ध के लिये तैयार करना वा स्थापित करना 'प्रतिग्रह' है, ऐसी प्रतिग्रह-सहित (विजिगीषु से अधिष्ठित) प्रधान फौज युद्ध करने में अच्छी तरह उत्साह करती है जिसका फल विजय है ॥१६-२०॥

नारद[1] व शुक्र[2] ने भी उक्तप्रकार प्रतिग्रह का लक्षण-निर्देश करते हुए उससे विजयश्री का लाभ बताया है ॥१॥

युद्धके अवसर पर सैन्य के पीछे दुर्ग व जल-सहित पृथ्वी रहने से उसे काफी जीवन-सहारा रहता है, क्योंकि पराजित होने पर भी वह दुर्ग में प्रविष्ट होकर जल-प्राप्ति द्वारा अपनी प्राण रक्षा उसी प्रकार कर सकती है, जिस प्रकार नदी में बहने वाले मनुष्य को तटवर्ती पुरुषका दर्शन उसकी प्राण-रक्षा का साधन होता है ॥२१-२२॥

गुरु[3] व जैमिनि[4] ने भी उक्त दृष्टान्त देकर फौज के पीछे वर्तमान जल-सहित दुर्ग भूमि सैन्य की प्राणरक्षा करने वाली बताई है ॥१-२॥

युद्ध के समय सेना को अन्न न मिलने पर भी यदि जल मिल जाय, तो वह अपनी प्राण-रक्षा कर सकती है ॥२३॥

भारद्वाज[5] ने भी उक्त बात की पुष्टि करते हुए प्राण-रक्षक जल को सैन्य के पीछे रखकर युद्ध करने को कहा है ॥१॥

जो निर्बल राजा अपनी सैन्य-आदि शक्ति को न जानकर बलिष्ठ शत्रु से युद्ध करता है, उसका वह कार्य मस्तक से पहाड़ तोड़ने के समान असम्भव व घातक है ॥२४॥

कौशिक[6] ने भी अपनी ताकत को बिना जाने युद्ध करनेवाले के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

विजिगीषु को सामनीति द्वारा सिद्ध होने वाला इष्ट-प्रयोजन युद्ध द्वारा सिद्ध नहीं करना चाहिये, क्योंकि जब गुड़-भक्षण द्वारा ही अभिलषित प्रयोजन (आरोग्य-लाभ) होता है, तब कौन बुद्धिमान पुरुष विष-भक्षण में प्रवृत्त होगा ? कोई नहीं ॥२५-२६॥

---

१ तथा च नारदः—स्वामिनं पुरतः कृत्वा तत्पश्चादुत्तमं बलं । ध्रियते युद्धकाले यः स प्रतिग्रहसंज्ञितः ॥ १ ॥

२ तथा च शुक्रः—राजा पुरः स्थितो यत्र तत्पश्चात् संस्थितं बलं । उत्साहं कुरुते युद्धे ततः स्याद्विजये पदं ॥ १ ॥

३ तथा च गुरुः—जलदुर्गवती भूमिर्यस्य सैन्यस्य पृष्ठतः । पृष्ठदेशे भवेत्तस्य तन्महाश्वासकारणं ॥ १ ॥

४ तथा च जैमिनिः—नीयमानोऽत्र यो नद्या तटस्थं वीक्षते नरं । हेतुं तं मन्यते सोऽत्र जीवितस्य हितात्मनः ॥ १ ॥

५ तथा च भारद्वाजः—अन्नाभावादपि प्रायो जीवितं न जलं विना । तस्माद्युद्धं प्रकर्तव्यं जलं कृत्वा च पृष्ठतः ॥ १ ॥

६ तथा च कौशिकः—आत्मशक्तिमजानानो युद्धं कुर्याद्बलीयसा । सार्द्धं स च करोत्येव शिरसा गिरिभेदनम् ॥ १ ॥

वल्लभदेव[1] व हारीत[2]ने भी सामनीति द्वारा सिद्ध होने वाले कार्यों को दंडनीति द्वारा सिद्ध करने का निषेध किया है ॥१-२॥

मूर्ख मनुष्य थोड़े से खर्च के डर से अपना सर्वनाश कर डालता है। प्राकरणिक अभिप्राय यह है कि मूर्ख राजा से जब प्रतिद्वन्दी (शत्रु) सामनीति से कुछ भूमि आदि मांगता है, तब वह थोड़े से खर्च के डर से उसे कुछ नहीं देता, पश्चात् उसके द्वारा आक्रमण किये जाने पर सर्वनाश कर बैठता है. अतः नैतिक व्यक्ति या विजिगीषु अल्प व्यय के डर से अपना सर्वनाश न करे ॥२७॥

वल्लभदेव[3]ने भी शक्ति-हीन मूर्ख राजा के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

कौन बुद्धिमान मनुष्य महसूल देने के डर से अपना व्यापार छोड़ता है ? कोई नहीं ॥२८॥

कौशिक[4] ने भी बुद्धिमान पुरुष को थोड़े से टैक्स आदि के भय से व्यापार न छोड़ने के विषय में कहा है ॥ १ ॥

प्रशस्तव्यय त्याग, बलिष्ठ शत्रु के लिये धन न देने का दुष्परिणाम, धन देने का तरीका व न देने से आर्थिक-क्षति, शत्रु द्वारा आक्रमण किये हुए राजा की स्थिति-समर्थक दृष्टान्त माला, स्थान-भ्रष्ट राजा व समष्टि का माहात्म्य—

स किं व्ययो यो महान्तमर्थं रक्षति ॥ २९ ॥ पूर्णसरः--सलिलस्य हि न परीवाहादपरोऽस्ति रक्षणोपायः ॥३०॥ अप्रयच्छतो बलवान् प्राणैः सहार्थं गृह्णाति ॥३१॥ बलवति सीमाधिपेऽर्थं प्रयच्छन् विवाहोत्सवगृहगमनादिमिषेण प्रयच्छेत् ॥ ३२ ॥ आमिषमर्थमप्रयच्छतोऽनवधिः स्यान्निबन्धः शासनम्[A] ॥ ३३ ॥ कृतसंघातविघातोऽरिभिर्विशीर्णयूथो गज इव कस्य न भवति साध्यः ॥ ३४ ॥ विनिःस्रावितजले सरसि विषमोऽपि ग्राहो जलव्यालवत् ॥३५॥ वनविनिर्गतः सिंहोऽपि शृगालायते[B] ॥ ३६ ॥ नास्ति संघातस्य निःसारता किन्न स्व-

---

१ तथा च वल्लभदेवः सामैव यत्र सिद्धिस्तत्र न दण्डो बुधैर्विनियोज्यः । पित्तं यदि शर्करया [illegible]

२ तथा च हारीत-- [illegible] सान्त्वादनतः शान्तिर्यदि शत्रुस्य जायते । [illegible] ॥ १ ॥

३ तथा च वल्लभदेवः—हीनो नृपोऽल्पं महते नृपाय यायाचितो नैव ददाति साम्ना ।
कदर्थ्यमानेन ददाति स्वारि [illegible] पूर्णस्य पुनर्ददाति ॥ १ ॥

४ तथा च कौशिकः—यस्य बुद्धिर्भवेत् कश्चित् स्वल्पापि हृदये स्थिता । न [illegible]

A इसके पश्चात् मु० मू० प्रति में '[illegible]' इतना अधिक पाठ वर्तमान है, जिसका अर्थ यह है कि [illegible] होने पर भी कोश, देश व दुर्ग [illegible] बलिष्ठ शत्रु [illegible] से [illegible] है, उस राजा को [illegible] स्थान-भ्रष्ट होना उचित नहीं ॥ १ ॥

B इसके पश्चात् '[illegible]' ऐसा मु० मू० प्रति में अधिक पाठ है, [illegible] अर्थ यह है कि जिसप्रकार [illegible] हुआ है [illegible]

युद्धसाध्यं न कुर्यात् ॥२५॥ गुडादभिप्रेतसिद्धौ को नाम विषं भुञ्जीत ॥२६॥ अल्पव्यय-भयात् सर्वनाशं करोति मूर्खः ॥२७॥ का नाम कृतधीः शुल्कभयाद्भाण्डं परित्यजति ॥२८॥

अर्थ—राज-चिन्ह —युद्धके बाजे-आदि—आगे करके पश्चात् राजा से अधिष्ठित प्रधान सैन्य सुसज्जित करके युद्ध के लिये तैयार करना वा स्थापित करना 'प्रतिग्रह' है, ऐसी प्रतिग्रह-सहित (विजिगीषु से अधिष्ठित) प्रधान फौज युद्ध करने में अच्छी तरह उत्साह करती है जिसका फल विजय है ॥१६-२०॥

नारद[1] व शुक्र[2] ने भी उक्तप्रकार प्रतिग्रह का लक्षण-निर्देश करते हुए उससे विजयश्री का लाभ बताया है ॥१॥

युद्धके अवसर पर सैन्य के पीछे दुर्ग व जल-सहित पृथ्वी रहने से उसे काफी जीवन-सहारा रहता है, क्योंकि पराजित होने पर भी वह दुर्ग में प्रविष्ट होकर जल-प्राप्ति द्वारा अपनी प्राण रक्षा उसी प्रकार कर सकती है, जिस प्रकार नदी में बहने वाले मनुष्य को तटवर्ती पुरुषका दर्शन उसकी प्राण-रक्षा का साधन होता है ॥२१-२२॥

गुरु[3] व जैमिनि[4] ने भी उक्त दृष्टान्त देकर फौज के पीछे वर्तमान जल-सहित दुर्ग भूमि सैन्य की प्राणरक्षा करने वाली बताई है ॥१-२॥

युद्ध के समय सेना को अन्न न मिलने पर भी यदि जल मिल जाय, तो वह अपनी प्राण-रक्षा कर सकती है ॥२३॥

भारद्वाज[5] ने भी उक्त बात की पुष्टि करते हुए प्राण-रक्षक जल को सैन्य के पीछे रखकर युद्ध करने को कहा है ॥१॥

जो निर्बल राजा अपनी सैन्य-आदि शक्ति को न जानकर बलिष्ठ शत्रु से युद्ध करता है, उसका वह कार्य मस्तक से पहाड़ तोड़ने के समान असम्भव व घातक है ॥२४॥

कौशिक[6] ने भी अपनी ताकत को बिना जाने युद्ध करनेवाले के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

विजिगीषु को सामनीति द्वारा सिद्ध होने वाला इष्ट-प्रयोजन युद्ध द्वारा सिद्ध नहीं करना चाहिये, क्योंकि जब गुड़-भक्षण द्वारा ही अभिलषित प्रयोजन (आरोग्य-लाभ) होता है, तब कौन बुद्धिमान पुरुष विष-भक्षण में प्रवृत्त होगा ? कोई नहीं ॥२५-२६॥

---

१ तथा च नारदः—स्वामिनं पुरतः कृत्वा तत्पश्चादुत्तमं बलं। ध्रियते युद्धकाले यः स प्रतिग्रहसञ्ज्ञितः ॥ १ ॥

२ तथा च शुक्रः—राजा पुरः स्थितो यत्र तत्पश्चात् संस्थितं बलं। उत्साहं कुरुते युद्धे ततः स्याद्विजये पदं ॥ १ ॥

३ तथा च गुरुः—जलदुर्गवती भूमिर्यस्य सैन्यस्य पृष्ठतः। पृष्ठदेशे भवेत्तस्य तन्महाश्वासकारणं ॥ १ ॥

४ तथा च जैमिनिः—नीयमानोऽत्र यो नद्या तटस्थं वीक्षते नरं। हेतुं तं मन्यते सोऽत्र जीवितस्य हितात्मनः ॥ १ ॥

५ तथा च भारद्वाजः—अन्नाभावादपि प्रायो जीवितं न जलं विना। तस्माद्युद्धं प्रकर्तव्यं जलं कृत्वा च पृष्ठतः ॥ १ ॥

६ तथा च कौशिकः—आत्मशक्तिमजानानो युद्धं कुर्याद्बलीयसा। सार्द्धं स च करोत्येव शिरसा गिरिभेदनम् ॥ १ ॥

बल्लभदेव[1] व हारीत[2] ने भी सामनीति द्वारा सिद्ध होने वाले कार्यों को दंडनीति द्वारा सिद्ध करने का निषेध किया है ॥१-२॥

मूर्ख मनुष्य थोड़े से खर्च के डर से अपना सर्वनाश कर डालता है। प्राकरणिक अभिप्राय यह है कि मूर्ख राजा से जब प्रतिद्वन्दी (शत्रु) सामनीति से कुछ भूमि आदि मांगता है, तब वह थोड़े से खर्चे के डर से उसे कुछ नहीं देता, पश्चात् उसके द्वारा आक्रमण किये जाने पर सर्वनाश कर बैठता है, अतः नैतिक व्यक्ति या विजिगीषु अल्प व्यय के डर से अपना सर्वनाश न करे ॥२७॥

बल्लभदेव[3] ने भी शक्ति-हीन मूर्ख राजा के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

कौन बुद्धिमान मनुष्य महसूल देने के डर से अपना व्यापार छोड़ता है ? कोई नहीं ॥२८॥

कौशिक[4] ने भी बुद्धिमान पुरुष को थोड़े से टैक्स आदि के भय से व्यापार न छोड़ने के विषय में कहा है ॥ १ ॥

प्रशस्तव्यय त्याग, बलिष्ठ शत्रु के लिये धन न देने का दुष्परिणाम, धन देने का तरीका व न देने से आर्थिक-क्षति, शत्रु द्वारा आक्रमण किये हुए राजा की स्थिति-समर्थक दृष्टान्त माला, स्थान-भ्रष्ट राजा व समष्टि का माहात्म्य—

स किं व्ययो यो महान्तमर्थं रक्षति ॥ २९ ॥ पूर्णसरः--सलिलस्य हि न परीवाहादपरोऽस्ति रक्षणोपायः ॥३०॥ अप्रयच्छतो बलवान् प्राणैः सहार्थं गृह्णाति ॥३१॥ बलवति सीमाधिपेऽर्थं प्रयच्छन् विवाहोत्सवगृहगमनादिमिषेण प्रयच्छेत् ॥ ३२ ॥ आमिषमर्थमप्रयच्छतोऽनवधिः स्यान्निबन्धः शासनम्[A] ॥ ३३ ॥ कृतसंघातविघातोऽरिभिर्विशीर्णयूथो गज इव कस्य न भवति साध्यः ॥ ३४ ॥ विनिःस्रावितजले सरसि विषमोऽपि ग्राहो जलव्यालवत् ॥३५॥ वनविनिर्गतः सिंहोऽपि शृगालायते[B] ॥ ३६ ॥ नास्ति संघातस्य निःसारता किन्न स्ख-

---

१ तथा च वल्लभदेवः साम्नैव यत्र सिद्धिस्तत्र न दण्डो बुधैर्विनियोज्यः। पित्तं यदि शर्करया शाम्यति ततः किं तत्पटोलेन

२ तथा च हारीत-- गुड़ास्वादनतः शक्तिर्यदि गात्रस्य जायते। आरोग्यलक्षणा नाम तद्भक्षयति को विषं ॥ १ ॥

३ तथा च वल्लभदेवः—हीनो नृपोऽल्पं महते नृपाय याचितो नैव ददाति साम्ना।
कदर्यमाणेन ददाति खारिं तेषां स चूर्णस्य पुनर्ददाति ॥ १ ॥

४ तथा च कौशिकः—यस्य बुद्धिर्भवेत् काचित् स्वल्पापि हृदये स्थिता। न भाण्डं त्यजेत् सारं स्वल्पदानकृताद्भयात्

A इसके पश्चात् मु०मू० प्रतिमें 'स्वयमल्पबलः कोश-देश दुर्गभूमिरप्रतिवेदयंश्च यदि शत्रुदेशं न परित्यजेत्' इतना अधिक पाठ वर्तमान है, जिसका अर्थ यह है कि अल्पसैन्य होने पर भी कोश, देश व दुर्गभूमिसे युक्त और जिसका बलिष्ठ शत्रु उक्त बातों से अपरिचित है, उस राजा को केवल शत्रु-कृत उपद्रव के भय से अपना देश छोड़कर स्थान भ्रष्ट होना उचित नहीं ॥ १ ॥

B इसके पश्चात् 'विच्छिन्नोपान्तप्रताने वंशे किमस्त्याकर्षस्य क्लेशः' ऐसा मु० मू० प्रति में अधिक पाठ है, जिसका अर्थ यह है कि जिसप्रकार जिसके समीपवर्ती—अगल बगलके बांसोंका समूह काट दिया गया है, उस बांसको खींचने

लयति मत्तमपि वारणं कुथिततृणसंघातः ॥३७॥ संहतैर्बिसतन्तुभिर्दिग्गजोऽपि नियम्यते ३८

अर्थ—जिस खर्च द्वारा अपने प्रचुर धन की रक्षा व महान् इष्ट प्रयोजन सिद्ध होता है क्या वह खर्च कहा जा सकता है ? नहीं कहा जा सकता। प्राकरणिक अभिप्राय यह है, कि बलिष्ट शत्रु से सन्धि करने में विजिगीषु द्वारा किया जाने वाला धनादि-खर्च, खर्च नहीं कहा जाता, क्योंकि उससे उसके संचित धन की रक्षा व इष्ट प्रयोजन-सिद्धि होती है ॥ २८ ॥

शौनक[1] ने भी निर्बल राजा को बलिष्ट शत्रु की धनादि द्वारा सेवा करके अपने प्रचुर धन की रक्षा करना बताया है ॥ १ ॥

जिस प्रकार जल से समूचे भरे हुए तालाब की रक्षा का बहाव (जल के निकास) के सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं, उसी प्रकार धनाढ्य पुरुष की धन-रक्षाका धन के सिवाय और कोई दूसरा उपाय नहीं है ॥ ३० ॥

विष्णुशर्मा[2] ने भी संचित धन की रक्षा का यही उपाय बताया है ॥ १ ॥

जो निर्बल मनुष्य बलिष्ठ शत्रु द्वारा प्राथेना किये जाने पर भी उसे अज्ञान व लोभ-वश धन नहीं देता, उसकी समस्त धन-राशि बलिष्ठ द्वारा अपहरण कर ली जाती है ॥३१॥

भागुरि[3] ने भी उक्त प्रकार कहा है ॥१॥

शक्तिहीन राजा यदि किसी शक्तिशाली सीमाधिपति के लिये प्रयोजन-वश धन देने का इच्छुक हो, तो वह उसे विवाह-आदि उत्सव के अवसर पर सम्मानपूर्वक अपने गृह बुलाकर किसी भी बहान द्रव्य-प्रदान करे ॥३२॥

शुक्र[4] ने भी उक्त बहाने से बलिष्ठ के लिये धन देने का संकेत किया है ॥१॥

जो शक्ति-हीन राजा शक्तिशाली प्रतिद्वन्दी सीमाधिपति को किसी बहाने से धननहीं देता, उसे भविष्यकालीन अपरिमित-असंख्य धन-राशि देना व उसकी कठोर आज्ञा-पालन में बंधना पड़ता है। अर्थात् भविष्य में उसके द्वारा किये जाने वाले हमले का कटुक फल (असंख्य धनराशि का अपहरण व राष्ट्र का बर्बादी-आदि) भोगना पड़ता है। अतः निर्बल राजा लोभ को तिलाञ्जलि देकर शत्रुभूत सीमाधिपति को धन-प्रदान द्वारा पहले से ही काबू में रक्खे ॥३३॥

गुरु[5] ने भी इसी प्रकार कहा है ॥१॥

या उन्मूलन करने में क्या खीचनेवालेको कुछ क्लेश हो सकता है ? नहीं होसकता उसीप्रकार जिसका पक्ष (सहायक लोग) नष्ट कर दिया गया है उस शत्रुको जीतने में भी कुछ क्लेश नहीं होसकता ॥ १ ॥ (पृ० ३६१ का शेषांश)

१ तथा च शौनकः—उपचारपरित्राणाद्दत्वा वित्तं सुबुद्धयः। बलिनो रक्षयन्तिस्म यच्छेषं गृहसंस्थितम् ॥ १ ॥

२ तथा च विष्णुशर्माः—उपार्जितानां वित्तानां त्याग एव हि रक्षणं। तडागोदरसंस्थानां परीवाह इवाम्भसां ॥ १ ॥

३ तथा च भागुरिः—[बलाढ्येन र्थितः साम्ना] यो न यच्छति दुर्बलः। किंचिद्वस्तु समं प्राणैस्तत्तस्यासौ हरेद् ध्रुवम् १

४ तथा च शुक्रः—वृद्ध्युत्सवगृहातिथ्यव्याजैर्देयं बलाधिके। सीमाधिपे सदैवात्र रक्षार्थं स्वधनस्य च ॥ १ ॥

५ तथा च गुरुः—सीमाधिपे बलाढ्ये तु यो न यच्छति किंचन। व्याजं कृत्वा स तस्याथ संख्याहीनं समाचरेत् ॥ १ ॥

शत्रु द्वारा जिसका सैन्य नष्ट कर दिया गया है व परदेश से आया हुआ ऐसा शक्ति-हीन राजा अपने झुण्ड से भ्रष्ट हुए अकेले हाथी के समान किसके द्वारा वश नहीं किया जाता ? सभी के द्वारा वश कर लिया जाता है। अर्थात् क्षुद्र लोग भी उसे पराजित कर देते हैं ॥३४॥

नारद[1] ने भी शत्रु द्वारा उच्चाटित, नष्ट सेना वाले राजा को अकेले हाथी समान वश करने योग्य बताया है ॥१॥

जिसकी समस्त जल-राशि निकाली जा चुकी है ऐसे जल-शून्य तालाब में वर्तमान मगर आदि भयङ्कर जल-जन्तु भी जिस प्रकार जल-सर्प के समान निर्विष व क्षीणशक्ति हो जाता है, उसी प्रकार सैन्य के क्षय हो जाने से राजा भी क्षीण-शक्ति हो जाता है ॥३५॥

रैभ्य[2] ने भी स्थान-हीन राजा को इसी प्रकार शक्ति-हीन बताया है ॥१॥

जिस प्रकार जंगल से निकला हुआ शेर गीदड़ समान शक्ति-हीन हो जाता है, उसी प्रकार नष्ट-सैन्य व स्थान-भ्रष्ट राजा भी क्षीणशक्ति हो जाता है ॥३६॥

शुक्र[3] ने भी स्थान-भ्रष्ट (पदच्युत) राजा की इसी प्रकार लघुता निर्दिष्ट की है ॥१॥

समूह निस्सार (शक्ति-हीन) नहीं होता, क्योंकि क्या बटा हुआ तृण-समूह (घास का रस्सा) मदोन्मत्त हाथी के गमन को नहीं रोकता ? अवश्य रोकता है। अर्थात् उसके द्वारा मदोन्मत्त हाथी भी बांधा जाता है ॥३७॥

विष्णुशर्मा[4] ने भी संघशक्ति का इसी प्रकार माहात्म्य बताया है ॥१॥

जिस प्रकार बटे हुए मृणाल-तन्तुओं से दिग्गज भी वशीभूत किया जाता है (बांधा जाता है) उसी प्रकार राजा भी सैन्यद्वारा शक्तिशाली शत्रु को वश कर लेता है—युद्ध में परास्त कर देता है ॥३८॥

हारीत[5] ने भी इसी प्रकार राजा की सैन्यशक्ति का माहात्म्य बताया है ॥१॥

दंडसाध्य शत्रु व दृष्टान्त, शक्ति व प्रताप-हीन शत्रु के विषय में दृष्टान्तमाला, शत्रु की चिकनी चुपड़ी बातें, व दृष्टान्त, नीतिशास्त्र अकेले विजिगीषु को युद्ध करने का निषेध व अपरीक्षित शत्रु-भूमि—

दण्डसाध्ये रिपावुपायान्तरमग्नावाहुतिप्रदानमिव ॥ ३९ ॥ यन्त्रशस्त्राग्निक्षारप्रतीकारे व्याधौ किं नामान्यौषधं कुर्यात्[A] ॥ ४० ॥ उत्पाटितदंष्ट्रो भुजंगो रज्जुरिव ॥ ४१ ॥

---

१ तथा च नारदः—उच्चाटितोऽरिभी राजा परदेशसमागतः। वनहस्तीव साध्यः स्यात् परिग्रहविवर्जितः ॥ १ ॥

२ तथा च रैभ्यः—सरसः सलिले नष्टे यथा ग्राहस्तुलां व्रजेत्। जलसर्पस्य तद्वच्च स्थानहीनो नृपो भवेत् ॥ १ ॥

३ तथा च शुक्रः—शृगालतां समभ्येति यथा सिंहो वनच्युतः। स्थानभ्रष्टो नृपोऽप्येवं लघुतामेति सर्वतः ॥ १ ॥

४ तथा च विष्णुशर्मा:—बहूनामप्यसाराणां समवायो बलाधिकः। तृणैरावेष्टितो रज्जुर्यथा नागोऽपि बध्यते ॥ १ ॥

५ तथा च हारीतः—अपि सूक्ष्मतरैर्भृत्यैर्बहुभिर्वश्यमानयेत्। अपि वीर्योत्कटं शत्रुं पद्मसूत्रैर्यथा गजम् ॥ १ ॥

A इसके पश्चात् मु० मू० पुस्तकमें 'अज्ञातरणवृत्तःसर्वोऽपि भवति शूरः ॥ १ ॥ अदृष्टान्यसामर्थ्यः को नाम न भवति

प्रतिहतप्रतापोऽङ्गारः संपतितोऽपि किं कुर्यात् ॥४२॥ विद्विषां चाटुकारं न बहु मन्येत ।४३। जिह्वया लिहन् खड्गो मारत्येव ॥ ४४ ॥ तन्त्रावापौ नीतिशास्त्रम् ॥ ४५ ॥ स्वमण्डलपालनाभियोगस्तंत्रम् ॥ ४६ ॥ परमण्डलावाप्त्यभियोगोऽवापः ॥४७॥ बहूनेको न गृह्णीयात् सदर्पोऽपि सर्पो व्यापाद्यत एव पिपीलिकाभिः ॥ ४८ ॥ अशोधितायां परभूमौ न प्रविशेन्निर्गच्छेद्वा ॥ ४९ ॥

अर्थ—जो शत्रु दण्ड द्वारा वश करने योग्य है, उसके प्रति अन्य सामदान-आदि उपायों का प्रयोग, प्रज्वलित अग्नि में घृत की आहुति देने के समान उसकी क्रोध-वृद्धि का कारण होता है । अर्थात् जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि घृत की आहुति द्वारा अत्यधिक बढ़ती है, उसी प्रकार दंड द्वारा काबू में किया जाने वाला शत्रु भी अन्य सामादि उपायों द्वारा अत्यधिक कुपित हो जाता है ॥ ३९ ॥

माघकवि[1] ने भी अग्निसे तपे हुए घृत में क्षेपण किये हुए जल बिन्दुओंके दृष्टान्त द्वारा उक्त बात का समर्थन किया है ॥ १ ॥

जिस प्रकार यन्त्र, शस्त्र, अग्नि व क्षारचिकित्सा द्वारा नष्ट होने योग्य व्याधि अन्य औषधि द्वारा नष्ट नहीं की जा सकती, उसी प्रकार दण्ड द्वारा वश में किया जाने वाला शत्रु भी अन्य सामादि उपाय द्वारा काबू में नहीं किया जा सकता जिस प्रकार सर्प की दाढ़ें निकाल देने पर वह रस्सी के समान शक्तिहीन (निर्विष) हो जाता है, उसीप्रकार जिसका धन व सैन्य नष्ट कर दिया गया है, ऐसा शत्रु भी शक्तिहीन हो जाता है ॥ ४१ ॥

नारद[2] ने भी उक्त व उखाड़े हुए सींगवाले बैल का दृष्टान्त देकर उक्त बातका समर्थन किया है ।१।

जिस प्रकार नष्ट हो गया है प्रताप जिसका ऐसा अङ्गार (भस्म) शरीर पर पड़ा हुआ कुछ नहीं कर सकता, उसी प्रकार जिसका धन व सैन्य रूप प्रताप नष्ट किया गया है, वह शत्रु भी कुछ नहीं कर सकता ॥ ४२ ॥ नैतिक पुरुष शत्रु के कपट-पूर्ण व्यवहार (चिकनी चुपड़ी बातें-आदि) पर अधिक ध्यान न देवे —उसके अधीन न होवे, क्योंकि जिसप्रकार तलवार जीभ द्वारा चाटी जाने पर भी उसे काट डालती है, उसी प्रकार शत्रु भी मधुर वचन बोलता हुआ मार डालता है ॥ ४३-४४ ॥ तंत्र (अपने देश

सदर्पः ? ॥ २ ॥ अतिप्रवृद्धा श्रीः कं नाम न दर्पयति ॥ ३ ॥ कृतार्थापहारो विघटिततन्त्रश्च परो क्रुध्यन्नपि किं कुर्यात् ?॥ ४ । इतना विशेष पाठ है, जिसका अर्थ यह है कि जब तक युद्ध संबंधी वृत्तान्त को नहीं जानते, तब तक सभी लोग शूरवीर होते हैं । दूसरेकी शक्तिको न जानकर कौन पुरुष अहंकार नहीं करता ? प्रायः सभी अहंकार करने लगते हैं । अत्यन्त बढ़ी हुई लक्ष्मी किसे गर्व-युक्त नहीं बनाती ? सभीको बनाती है जिसका धन अपहरण कर लिया गया है एवं जिसका सैन्य भी नष्ट कर दिया गया है, ऐसा शत्रु क्रुद्ध होकरके भी क्या कर सकता है ? कुछ नहीं कर सकता ॥ १-४ ॥ (पूर्व पृष्ठ का शेषांश)

१ तथा च माघकविः—सामवादाः सकोपस्य तस्य प्रत्युतदीपकाः । प्रतप्तस्येव सहसा सर्पिषस्तोयबिन्दवः ॥ १ ॥

२ तथा च नारदः—दंष्ट्राविरहितः सर्पो भग्नशृंगोऽथवा वृषः । तथा वैरी परिज्ञेयो यस्य नार्थो न सेवकाः ॥ १ ॥

की रक्षार्थ सैनिक-संगठन की योजना) व अवाप (दूसरे देश की प्राप्ति के लिये कीजाने वाली सन्धि विग्रहादि की योजना) को प्रतिपादन करने वाले शास्त्र को 'नीतिशास्त्र' कहते हैं। अपने देश की रक्षा के लिये सैन्य-संगठन आदि उपायों की योजना 'तंत्र' है और दूसरे देश की प्राप्ति के लिये किये जाने वाले (सन्धि-विग्रहादि) की योजना को 'अवाप' कहते हैं ॥ ४५-४७ ॥

शुक्र[1] ने भी स्वदेश की रक्षा का उपाय 'तंत्र' और दूसरे देश की प्राप्ति के उपाय को 'अवाप' कहा है ॥ १ ॥

अकेला व्यक्ति कभी भी बहुसंख्यक के साथ युद्ध न करे, क्योंकि मदोन्मत्त जहरीला सांप बहुत सी चीटियोंद्वारा भक्षण कर लिया जाता है॥ ४८ ॥

नारद[2] ने भी उक्त दृष्टान्त द्वारा अकेले व्यक्ति को युद्ध करने का निषेध किया है ॥ १ ॥

विजिगीषु बिना परीक्षा की हुई शत्रु की भूमि में न तो प्रविष्ट हो और न वहाँ से वापिस आवे ॥ ४६ ॥

युद्ध व उसके पूर्व कालीन राज-कर्त्तव्य, विजय प्राप्त कराने वाला मंत्र, शत्रु के कुटुम्बियों को अपने पक्ष में मिलाना, शत्रु द्वारा शत्रु नाश का परिणाम व दृष्टान्त, अपराधी शत्रु के प्रति राजनीति व दृष्टान्त—

विग्रहकाले परस्मादागतं कमपि न संगृह्णीयात् गृहीत्वा न संवासयेदन्यत्र तद्दायादेभ्यः, श्रूयते हि निजस्वामिना कूटकलहं विधायावाप्तविश्वासः कृकलासो नामानीकपतिरात्मविपक्षं विरूपाक्षं जघानेति ॥ ५० ॥ बलमपीड़यन् परानभिषेणयेत् ॥ ५१ ॥ दीर्घप्रयाणोपहतं बलं न कुर्यात् स तथाविधमनायासेन भवति परेषां साध्यं ॥ ५२ ॥ न दायादादपरः परबलस्याकर्षणमंत्रोऽस्ति ॥५३॥ यस्याभिमुखं गच्छेत्तस्यावश्यं दायादानुत्थापयेत् ॥ ५४ ॥ कण्टकेन कण्टकमिव परेण परमुद्धरेत् ॥ ५५ ॥ बिल्वेन हि बिल्वं हन्यमानमुभयथाप्यात्मनो लाभाय ॥५६॥ यावत्परेणापकृतं तावतोऽधिकमपकृत्य सन्धिं कुर्यात् ॥५७॥ नातप्तं लोहं लोहेन सन्धत्ते ॥ ५८ ॥

अर्थ—लड़ाई के समय परचक्रसे आये हुए किसी भी अपरीक्षित व्यक्ति को अपने पक्ष में न मिलावे, यदि मिलाना हो तो अच्छी तरह जांच-पड़ताल करके मिलावे, परन्तु उसे वहां ठहरने न देवे और शत्रु के कुटुम्बी, जो कि उससे नाराज होकर वहां से चले आये हैं उन्हें परीक्षा-पूर्वक अपने पक्ष में मिलाकर ठहरा लेवे, अन्य किसी को नहीं। इतिहास बताता है कि कृकलास नाम के सेनापति ने अपने मालिक से झूंठ मूंठ कलह करके शत्रु के हृदय में अपना विश्वास उत्पन्न कराकर अपने स्वामी के प्रतिपक्षी (शत्रु) विरुपाक्ष नाम के राजा को मार डाला ॥ ५० ॥

---

१ तथा च शुक्रः—स्वमण्डलस्य रक्षायै यत्तंत्रं परिकीर्तितं। परदेशस्य संप्राप्त्या अवापो नयलक्षणम् ॥ १ ॥

२ तथा च नारदः—एकाकिना न योद्धव्यं बहुभिः सह दुर्बलैः। वीर्याढ्यैर्नापि हन्येत यथा सर्पः पिपीलिकैः ॥ १ ॥

विजिगीषु अपनी सेना की प्रसन्नता का ख्याल रखते हुए (उसे दान-मानादि द्वारा सुखी बनाते हुए) शत्रुओं से युद्ध करने अपनी सेना के साथ प्रस्थान करे ॥ ५१ ॥ विजिगीषु शत्रु-राष्ट्र में प्रविष्ट हुआ अपनी फौज से विशेष मुसाफिरी न करावे, क्योंकि लम्बी मुसाफिरी से ताड़ित-खेदखिन्न (थकीहुई) फौज शत्रुओं द्वारा सरलतासे जीती जा सकती है ॥५२॥ विजिगीषु शत्रु के कुटुम्बियोंको अपने पक्ष में मिलावे, क्योंकि उनके मिलानेके सिवाय दूसरा कोई शत्रु-सेना को नष्ट करने वाला मंत्र नहीं ॥ ५३ ॥

शुक्र[1] ने भी शत्रु के कुटुम्बियों को अपने पक्ष में मिलाना बताया है ॥१॥

विजिगीषु जिस शत्रु पर चढ़ाई करे, उसके कुटुम्बियों को साम-दानादि उपाय द्वारा अपने पक्ष में मिलाकर उन्हें शत्रु से युद्ध करने के लिये प्रेरित करे। उसे अपनी सैन्य क्षति द्वारा शत्रु को नष्ट नहीं करना चाहिये, किन्तु कांटे से कांटा निकालने की तरह शत्रु द्वारा शत्रु को नष्ट करने में प्रयत्नशील होना चाहिये। जिस प्रकार वेल से वंश फाड़े जाने पर दोनों में से एक अथवा दोनों फूट जाते हैं, उसी प्रकार जब विजिगीषु द्वारा शत्रु से शत्रु लड़ाया जाता है,तब उनमें से एक का अथवा दोनोंका नाश निश्चित होता है जिससे विजिगीषु का दोनों प्रकार से लाभ होता है ।५४-५६। विजिगीषु का कर्तव्य है कि शत्रु ने इसका जितना नुकसान किया है उससे ज्यादा शत्रु की हानि करके उससे सन्धि कर ले। ५७॥

गौतम[2]ने भी इसी प्रकार उक्त बात का समर्थन किया है ॥ १ ॥

जिस प्रकार ठंडा लोहा गरम लोहे से नहीं जुड़ता, किन्तु गरम लोहे ही जुड़ते हैं, उसी प्रकार दोनों कुपित होने पर परस्पर सन्धि के सूत्र में बंधते हैं ॥ ५८ ॥

शुक्र[3] विद्वान के उद्धरण से भी यही प्रतीत होता है ॥ १ ॥

विजय प्राप्ति का उपाय, शक्तिशाली विजिगीषु का कर्तव्य व उसकी उन्नति, सन्धि के योग्य शत्रु पराक्रम कराने वाला तेज, लघु व शक्तिशाली विजिगीषु का बलिष्ठ से युद्ध करने का परिणाम व दृष्टान्त, पराजित शत्रु के प्रति राजनीति, व शूरवीर शत्रु के सन्मान का दुष्परिणाम—

तेजो हि सन्धाकारणं नापराधस्य क्षान्तिरुपेक्षा वा ॥ ५९ ॥ उपचीयमानघटेनेवाश्मा हीनेन विग्रहं कुर्यात् ॥ ६० ॥ दैवानुलोम्यं पुण्यपुरुषोपचयोऽप्रतिपक्षता च विजिगीषोरुदयः ॥६०॥ पराक्रमकर्कशः प्रवीरानीकश्चेद्धीनः सन्धाय साधूपचरितव्यः ॥ ६२ ॥ दुःखामर्षजं तेजो विक्रमयति ॥ ६३ ॥ स्वजीविते हि निराशस्याचार्यो भवति वीर्यवेगः ॥ ६५ ॥ लघुरपि सिंह-शावो हन्त्येव दन्तिनम् ॥ ६४ ॥ न चातिभग्नं पीड़येत् ॥६६॥ शौर्यैकधनस्योपचारो मनसि तच्छागस्येव पूजा ॥ ६७ ॥

---

१ तथा च शुक्रः—न दायादात् परो वैरी विद्यतेऽत्र कथंचन। अभिचारकमंत्रश्च शत्रुसैन्यनिपूदने ॥ १ ॥

२ तथा च गौतमः—यावन्मात्रोऽपराधश्च शत्रूणा हि कृतो भवेत्। तावत्तं स्याधिकं कृत्वा सन्धिः कार्यो बलान्वितैः १

३ तथा च शुक्रः—द्वाभ्यामपि तप्ताभ्यां लोहाभ्यां च यथा भवेत्। भूमिपानां च विज्ञेयस्तथा सन्धिः परस्परं ॥ १ ॥

अर्थ—अपराधी शत्रु पर विजय प्राप्त करने में क्षमा या उपेक्षा का कारण नहीं, किन्तु विजिगीषु का कोष व सैन्यशक्ति रूप तेज ही कारण है। अर्थात्—तेज से ही शत्रु जीता जा सकता है, न कि क्षमा या उपेक्षा से। ॥ ५६ ॥ जिस प्रकार छोटा सा पत्थर शक्तिशाली (वजनदार) होनेके कारण बड़े घडे को फोड़ने की क्षमता रखता है, उसी प्रकार विजिगीषु भी सैन्य शक्तियुक्त होने के कारण महान् शत्रु को नष्ट करने की क्षमता रखता है, अतः शक्तिशाली को हीन शक्ति वाले शत्रु के साथ युद्ध करना चाहिये ॥६०॥

जैमिनि[1] ने भी शक्तिशाली विजिगीषु द्वारा महान् शत्रु नष्ट किये जाने के विषय में लिखा है ॥१॥

भाग्य की अनुकूलता, उत्तम व कर्त्तव्यशील पुरुषों की प्राप्ति और विरोधियों का अभाव इन गुणों से विजिगीषु की उन्नति होती है ॥ ६१ ॥

गुरु[2] ने भी विजिगीषु के उक्त गुणों का निर्देश किया है ॥ १ ॥

जब विजिगीषु स्वयं शक्तिहीन हो और शत्रु विशेष पराक्रमी व प्रबल सैन्य-युक्त हो, तो उसके सन्धि कर लेनी चाहिये ॥ ६७ ॥

शुक्र[3] ने भी शक्तिहीन विजिगीषु को शक्तिशाली शत्रु के साथ युद्ध करने का निषेध किया है १

दुःख से क्रोध और क्रोध से तेज उत्पन्न होता है, पश्चात् उस तेज द्वारा शत्रु पराक्रम करने के लिये प्रेरित किया जाता है। अर्थात् विजिगीषु द्वारा शत्रु क्लेशित किया जाता है, तब उसके हृदय में क्रोधरूपी भीषण ज्वाला धधकती है, जिसके फलस्वरूप उसमें तेज उत्पन्न होता है जो कि उसे पराक्रमी बनाने में सहायक होता है अतः वीर सैन्यशक्तिवाला व प्रतापी शत्रु अपने भाग्य की प्रतिकूलतावश यदि एक बार विजिगीषु द्वारा हरा दिया जाता है परन्तु उसका परिणाम विजिगीषु के लिये महाभयङ्कर होता है, क्योंकि वह पुनः बार बार हमला करने तत्पर रहता है, इसलिये प्रबल सैनिकों वाले शत्रु के साथ युद्ध न कर सन्धि ही करनी चाहिये ॥ ६३ ॥

किसी विद्वान[4] ने तो दुःख व क्रोध से उत्पन्न हुये विजिगीषु के तेज को विजय का कारण बताया है ॥ १ ॥

जो विजिगीषु अपने जीवन की भी अभिलाषा नहीं करता—मृत्यु से भी नहीं डरता—उसकी वीरता का वेग उसे शत्रु से युद्ध करने के लिये प्रेरित करता है ॥ ६४ ॥

नारद[5] ने भी मृत्यु से डरने वालों में कायरता और न डरने वालों में वीरता व विजय प्राप्ति का निरूपण किया है ॥ १ ॥

जिस प्रकार शेर का बच्चा छोटा होने पर भी शक्तिशाली होने के कारण बड़े भारी हाथी को मार डालता है, उसी प्रकार विजिगीषु भी प्रबल सैन्य की शक्ति से महान शत्रु को युद्ध में परास्त कर देता है ॥ ६५ ॥

---

१ तथा च जैमिनिः—यदि स्याच्छक्तिसंयुक्तो लघुः शत्रोश्च भूपतिः। तदा हन्ति परं शत्रुं यदि स्यादतिपुष्कलम् १

२ तथा च गुरुः—यदि स्यात प्राञ्जलं कर्म प्राप्तियोग्यनृणां तथा। तथा चाप्रतिपक्षत्वं विजिगीषोरिमे गुणाः ॥१॥

३ तथा च शुक्रः—यदा स्याद्वीर्यवान् शत्रुः श्रेष्ठसैन्यसमन्वितः। आत्मानं बलहीनं च तदा तस्योपचर्यते ॥ १ ॥

४ तथा चोक्तम्:—दुःखामर्षोद्भवं तेजो यत् पुंसां सम्प्रजायते। तच्छत्रुं समरे हत्वा ततश्चैव निवर्तते ॥ १ ॥

५ तथा च नारदः—न तेषां जायते वीर्यं जीवितव्यस्य वाञ्छकाः। न मृत्योर्ये भयं चक्रुस्ते [वीरास्तुर्जयान्विताः] ॥१॥

जैमिनि[1] ने भी उक्त दृष्टान्त द्वारा इसी बात की पुष्टि की है ॥ १ ॥

विजिगीषु अत्यन्त पराजित किये हुये शत्रु को पीड़ित न करे—फिरसे उस पर चढ़ाई न करे। अन्यथा सताया हुआ शत्रु अपने नाश की आशंका से पुनः पराक्रमशक्ति का प्रयोग करता है ॥ ६६ ॥

विदुर[2] ने भी पराजित शत्रु के बारे में इसी प्रकार कहा है ॥ १ ॥

शूरता ही है अद्वितीय धन जिसका ऐसे शूरवीर शत्रु का जब विजिगीषु दुरभिप्राय-वश सन्मान करता है तब वह शत्रु अपने मनमें उसके प्रति बकरेकी पूजा के समान अत्यधिक कुपित हो जाता है अर्थात् जिस प्रकार दुरभिप्राय वश बलिदान करने के पूर्व की जाने वाली बकरे की पूजा उसे कुपित करती है, उसी प्रकार दुरभिप्रायवश विजिगीषु द्वारा किये हुये सन्मान से भी शक्तिशाली शत्रु की क्रोधाग्नि पूर्व से अत्यधिक उद्दीपित हो जाती है, अतः विजिगीषु को शक्तिशाली शत्रु का कपट-पूर्ण सन्मान करके अपने को खतरे में नहीं डालना चाहिये ॥ ६७ ॥

भागुरि[3] ने भी उक्त दृष्टान्त द्वारा उक्त बात का समर्थन किया है ॥ १ ॥

समानशक्ति व अधिक शक्ति वाले के साथ युद्ध से हानि, धर्म, लोभ व असुर विजयी राजा का स्वरूप, असुर-विजयी के आश्रय से हानि, श्रेष्ठ पुरुष के सन्निधान से लाभ, निहत्थे शत्रु पर प्रहार करने वाले की कड़ी आलोचना, युद्ध भूमि से भागने वाले शत्रुओं के प्रति राजनीति व शत्रुभूत राजाओं के अन्य बन्दी राजाओं से भेंट के विषय में—

समस्य समेन सह विग्रहे निश्चितं मरणं जये च सन्देहः, आमं हि पात्रमामेनाभिहतमुभयतः क्षयं करोति ॥ ६८ ॥ ज्यायसा सह विग्रहो हस्तिना पदातियुद्धमिव ॥ ६९ ॥ स धर्मविजयी राजा यो विधेयमात्रेणैव सन्तुष्टः प्राणार्थमानेषु न व्यभिचरति[A] ॥ ७० ॥ स लोभविजयी राजा यो द्रव्येण कृतप्रीतिः प्राणाभिमानेषु न व्यभिचरति ॥ ७१ ॥ सोऽसुरविजयी यः प्राणार्थमानोपघातेन महीमभिलषति ॥ ७२ ॥ असुरविजयिनः संश्रयः सूनागारे मृगप्रवेश इव ॥ ७३ ॥ यादृशस्तादृशो वा यायिनः स्थायी बलवान् यदि साधुचरः संचारः ॥ ७४ ॥

---

१ तथा च जैमिनिः—यद्यपि स्याल्लघुः सिंहस्तथापि द्विपमाहवे । एवं राजापि वीर्याढ्यो महारिं हन्ति चेल्लघुः ॥ १ ॥

२ तथा च विदुरः—भग्नः शत्रुर्न गन्तव्यः पृष्ठतो विजिगीषुणा । कदाचिच्छूरतां याति मरणे कृतनिश्चयः ॥ १ ॥

३ तथा च भागुरिः उपयाचितदानेन च्छागेनापि प्रकुप्यति । चंडिका बलवान् भूपः स्वल्पयाऽपि तथेज्यया ॥ १ ॥

A मु० मू० प्रतिमें इसके स्थानमें नापकरोति ऐसा पाठान्तर है, जिसके कारण उक्त सूत्रका इस प्रकार का भी अर्थ होता है कि जो विजिगीषु पराजित शत्रु के शरणागत होनेपर सन्तुष्ट होता हुआ उसके प्राण, धन और मानमर्यादा को नष्ट करनेके दुरभिप्राय से उसपर पुनः प्रहार नहीं करता वही 'धर्मविजयी' कहा गया है। विमर्श—उक्त दोनों अर्थ सुसंगत हैं, केवल पार्थक्य भेद इतना ही है कि पहले अर्थ में अपनी प्रजापर और दूसरे अर्थमें पराजित शत्रुपर अन्याय न करने वाले को 'धर्मविजयी' कहा गया है। — सम्पादक

चरणेषु पतितं भीतमशस्त्रं च हिंसन् ब्रह्महा भवति ॥ ७५ ॥ संग्रामधृतेषु यायिषु सत्कृत्य विसर्गः ॥ ७६ ॥ स्थायिषु संसर्गः सेनापत्यायत्तः ॥ ७७ ॥

अर्थ—समान शक्ति वालों का परस्पर युद्ध होने से दोनों का मरण निश्चित और विजयप्राप्ति संदिग्ध रहती है, क्योंकि यदि कच्चे घड़े परस्पर एक दूसरे से ताड़ित किये जावें तो दोनों नष्ट हो जाते हैं ॥ ६८ ॥

भागुरि[1] ने भी उक्त दृष्टान्त देते हुए तुल्य बलवानों को युद्ध करनेका निषेध किया है ॥ १ ॥

जिस प्रकार पदाति (पैदल) सैनिक हाथी के साथ युद्ध करने से नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार हीन-शक्ति वाला विजिगीषु भी अपने से अधिक शक्तिशाली शत्रु के साथ युद्ध करने से नष्ट हो जाता है ॥ ६६ ॥

भारद्वाज[2] ने भी उक्त दृष्टान्त द्वारा उक्त बात की पुष्टि की है ॥ १ ॥

जो राजा प्रजा पर नियत किये हुए टैक्स से ही सन्तुष्ट होकर उसके प्राण धन व मान की रक्षा करता हुआ अन्याय प्रवृत्ति नहीं करता—उसके प्राण व धनादि नष्ट नहीं करता, उसे 'धर्म विजयी' और जो सिर्फ धन से ही प्रेम रखकर प्रजा के प्राण और मान मर्यादा की रक्षार्थ उसके साथ अन्यायपूर्ण वर्ताव नहीं करता उसे 'लोभ विजयी' एवं जो प्रजाके प्राण, धन और सन्मानका नाश पूर्वक शत्रु का वध करके उसकी भूमि चाहता है उसे 'असुर विजयी' कहते हैं ॥ ७०-७२ ॥

शुक्र[3] ने भी उक्त धर्मविजयी-आदि राजाओं के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥ १-३ ॥

जिस प्रकार चाण्डाल-गृह में प्रविष्ट हुए हिरण का बध होता है, उसी प्रकार असुरविजयी राजा के आश्रय से भी प्रजा का नाश होता है ॥ ७३ ॥

शुक्र[4] ने भी असुरविजयी के आश्रय से प्रजा की मृत्यु बताई है ॥ १ ॥

विजिगीषु जैसा-वैसा—दुर्वल व कोश-हीन क्यों न हो परन्तु यदि वह उत्तम कर्त्तव्य-परायण व वीर पुरुषों के सन्निधान से युक्त है तो उसे शत्रु की अपेक्षा बलिष्ठ समझना चाहिये ॥ ७४ ॥

नारद[5] ने भी वीर पुरुषों से युक्त विजिगीषु को शक्तिशाली बताया है ॥ १ ॥

जो व्यक्ति संग्राम भूमि में अपने पैरों पर पड़े हुए, भयभीत व शस्त्र-हीन (निहत्थे) शत्रु की हत्या करता है, वह ब्रह्मघाती है ॥ ७५ ॥

---

१ तथा च भागुरिः—समेनापि न योद्धव्यमित्युवाच बृहस्पतिः। अन्योन्याहतिना भंगो घटाभ्यां जायते यतः ॥ १ ॥

२ तथा च भारद्वाजः—हस्तिना सह संग्रामः पदातीनां क्षयावहः। तथा बलवता नूनं दुर्बलस्य क्षयावहः ॥ १ ॥

३ तथा च शुक्रः—प्राणवित्ताभिमानेषु [यो राजा न द्रुहेत प्रजाः]। सधर्मविजयी लोके यथा लोभेन कोशभाक् ॥१॥
प्राणेषु चाभिमानेषु यो जनेषु प्रवर्तते। स लोभविजयी प्रोक्तो यः स्वार्थेनैव तुष्यति ॥ २ ॥
अर्थमानोपघातेन यो महीं वाञ्छते नृपः। देवारिविजयी प्रोक्तो भूलोकेऽत्र विचक्षणैः ॥ ३ ॥

४ तथा च शुक्रः—असुरविजयिनं भूपं संश्रयेनन्मतिवर्जितः। स नूनं मृत्युमाप्नोति सूनं प्राप्य मृगो यथा ॥ १ ॥

५ तथा च नारदः—राज्यं च दुर्बलो वापि स्थायी स्याद्बलवत्तरः। सकाशाद्यादिनश्चैव स्यात् सुनद्धः सुचारकः ॥१॥

जैमिनि[1] ने भी उक्त प्रकार का अधर्म-पुरुष ब्रह्महत्या का पात्र बताया है ॥ १ ॥

संग्राम-भूमि से भागने वाले शत्रु, जो विजिगीषु द्वारा पकड़ लिये गये हैं, उन्हें वस्त्रादि द्वारा सन्मानित करके छोड़ देना चाहिये ॥ ७६ ॥

भारद्वाज[2] ने तो गिरफ्तार किये गये, भागने वाले व स्थायी (युद्ध करने वाले) दोनों प्रकार के शत्रुओं को क्षात्र धर्म से सन्मानित करके छोड़ देनके विषय में कहा है ॥ १ ॥

स्थायी शत्रुभूत राजाओं की अन्य गिरफ्तार किये हुए बन्दी राजाओं के पास जाकर भेंट होने देना यह सेनापति के अधीन है। अर्थात यदि वह कोई खतरा न समझे तो भेंट करने दे अन्यथा नहीं।

किसी विद्वान्[3] ने भी उक्त बात सेनापति की रुचि के अधीन बताई है ॥ १ ॥

मनुष्य मात्र को बुद्धिरूप नदी का बहाव, उत्तम पुरुषों की वचन-प्रतिष्ठा, सत्-असत्पुरुष के व्यवहार व लोक पूज्यता का साधन, नीति-युक्त वाणी की महत्ता, मिथ्या वचनों का दुष्परिणाम, विश्वासघात व विश्वासघाती की कड़ी आलोचना व झूठी शपथ का दुष्परिणाम—

मतिनदीयं नाम सर्वेषां प्राणिनामुभयतो वहति पापाय धर्माय च, तत्राद्यं स्रोतोऽतीव सुलभं दुर्लभं तद् द्वितीयमिति ॥ ७८ ॥ सत्येनापि शप्तव्यं महतामभयप्रदानवचनमेव शपथः ॥७९॥ सतामसतां च वचनायत्ताः खलु सर्वे व्यवहाराः स एव सर्वलोकमहनीयो यस्य वचनमन्यमनस्कतयाप्यायातं भवति शासनं॥८०॥नयोदिता वाग्वदति सत्या ह्येषा सरस्वती॥८१॥ व्यभिचारिवचनेषु नैहिकी पारलौकिकी वा क्रियास्ति ॥ ८२ ॥ न विश्वासघातात् परं पातकमस्ति ॥ ८३ ॥ विश्वासघातकः सर्वेषामविश्वासं करोति ॥ ८४ ॥ असत्यसन्धिषु कोशपानं जातान् हन्ति[A] ॥ ८५ ॥

---

१ तथा च जैमिनिः—भग्नशस्त्रं तथा त्रस्तं तवास्मीति च वादिनं। यो हन्याद्वैरिणं संख्ये ब्रह्महत्यां समश्नुते ॥ १ ॥

२ तथा च भारद्वाजः—संग्रामे वैरिणो ये च यायिनः स्थायिनो वृताः। गृहीता मोचनीयास्ते क्षात्रधर्मेण पूजिताः ॥ १ ॥

३ तथा च चोक्तम्—यायिना संसर्गस्तु स्थायिनः संप्रणश्यति। यदि सेनापतेश्चित्ते रोचते नान्यथैव तु ॥ १ ॥

A इसके पश्चात्—मु० मू० प्रति में 'असत्यवादिनो मृतस्यापि हि न दुर्यशो विनश्यति ॥ १ ॥ सकृदुत्थिता प्रसिद्धिर्देवैरपि निवारयितुं न शक्यते ॥ २ ॥ तथाहि धर्मपुत्रः किलासत्यमभाषतापीतमद्यमित्यन्ययाप्यस्ति दुःप्रसिद्धिः ॥ ३ ॥ यशोवधः प्राणवधाद्गरीयान् ॥ ४ ॥ इसप्रकार विशेष पाठ वर्तमान है, जिसका अर्थ यह है कि मिथ्यावादीका अपयश मरने पर भी नष्ट नहीं होता, फिर जीवित अवस्था में किस प्रकार नष्ट होसकता है? एक बार असत्यभाषण आदि दुर्गुणों से फैलाहुआ अपयश देवताओं द्वारा भी निवारण नहीं किया जासकता। जैसे 'महाभारत के समय युधिष्ठिर ने अत्यधिकमद्यपान करके मिथ्या भाषण किया' यद्यपि यह बात झूठ है, तथापि उनकी अपकीर्ति जनसाधारण में सुनी जाती है।

उक्त ऐतिहासिक दृष्टान्त का स्पष्टीकरण— (शेष अग्रिम पृष्ठके नीचे)

अर्थ—आश्चर्य है कि संसार में मनुष्य मात्र की बुद्धि रूप नदी पाप व पुण्य दोनों तरफ बहा करती है। उनमें से उसका पहला पाप की ओर बहाव अत्यन्त सुलभ--सरलता से होने वाला और दूसरा धर्म की ओर बहाव महाकठिन है। सारांश यह है कि मनुष्यों की बुद्धि नीति विरुद्ध व त्याज्य (असत्कार्यों–जुआ व मद्यपानादि पाप कार्यों) में स्वतः प्रवृत्त होती है, परन्तु अहिंसा व सत्य आदि नैतिक शुभ कार्यों में लाखों प्रयत्न करने पर भी प्रवृत्त नहीं होती; इसलिये कल्याण की कामना करने वाले नैतिक पुरुष को अपनी बुद्धि अनीति व अनाचार से हटा कर नीति व सदाचार की ओर प्रेरित करने में प्रयत्नशील रहना चाहिये ॥ ७८ ॥

गुरु[1] ने भी मनुष्यों की बुद्धि रूप नदी के पाप और पुण्य इन दोनों स्रोतों का उल्लेख किया है॥१॥

वादीभसिंह सूरि[2] ने भी प्राणियों की बुद्धि त्याज्य में स्वतः प्रवृत्त होने वाली और शुभ में अनेक प्रयत्नों द्वारा भी प्रवृत्त न होने वाली कहा है।

नैतिक मनुष्य को दूसरों के हृदय में अपना विश्वास उत्पन्न करने के लिये सच्ची शपथ–सौगंध (कसम) खानी चाहिये, झूठी नहीं, अभयदान देने वाले प्रामाणिक वचन बोलना ही महापुरुषों की सौगंध है, अन्य नहीं ॥ ७९ ॥

शुक्र[3] ने भी उत्तम पुरुषों की शपथ के बारे में इसी प्रकार कहा है ॥ १ ॥

कौरवों व पाण्डवोंके गुरु द्रोणाचार्यके इकलौते पुत्रका नाम 'अश्वत्थामा' एवं कौरवों की सेनामें वर्तमान हाथी का नाम भी अश्वत्थामा था। महाभारत के युद्धमें गुरु द्रोणाचार्यकी यह प्रतिज्ञा थी कि यदि मेरा इकलौता पुत्र 'अश्वत्थामा' मारा जायगा तो मैं युद्ध नहीं करूंगा। कौरवों की तरफसे युद्ध करने वाले वीर गुरु द्रोणाचार्य को जीतना पांडवोंके लिये टेढी खीर थी, इसलिये उन्होंने गुरु द्रोणाचार्य को युद्ध से अलहदा करनेको राजनैतिक चाल चली। एक समय जब पाण्डवों द्वारा कौरव-सैन्यका अश्वत्थामा नामका हाथी धराशायी किया गया और विजयदुन्दुभि बजाई गई एवं 'अश्वत्थामा मृतः अश्वत्थामा मृतः' इस प्रकार अश्वत्थामा नाम के गुरु द्रोणाचार्यके पुत्र के मरनेका शोर किया गया, उसे द्रोणाचार्य ने सुना। परन्तु उन्हें शत्रुपक्ष की कही हुई बात पर सहसा विश्वास नहीं हुआ, इसलिये उन्होंने इसका निश्चय करने के लिये सत्यवादी धर्मराज युधिष्ठिर से पूंछा। कृष्ण, अर्जुन व भीमद्वारा धर्मराज युधिष्ठिर ऐसे अवसर पर मिथ्याभाषण के लिये बाध्य किये गये अतः इनकेद्वारा प्रेरित युधिष्ठिरने 'अश्वत्थामा नाम का हाथी ही मारा गया है न कि गुरु द्रोणाचार्यका पुत्र' यह जानते हुए भी 'अश्वत्थामा मृतः नरो वा कुञ्जरोवा' अर्थात् 'अश्वत्थामा मर चुका है, परन्तु वह मनुष्य है ? अथवा हाथी इसे मैं नहीं जानता' इस प्रकार मिथ्याभाषण कर डाला। पांडवोंकी तरफ से खेले जाने वाले राजनैतिक दाव-पैचों से गुरु द्रोण 'अश्वत्थामा मृतः नरो'-इतना ही सुन सके इसलिये उन्हें धर्मराज युधिष्ठिर की बात पर विश्वास हो गया और पुत्रशोक-से व्याकुल होकर स्वर्गवास को प्राप्त हुए। सारांश यह है कि एकबार मिथ्याभाषण करने से युधिष्ठिर की अभी भी कटु आलोचना की जाती है कि उन्हों ने मद्यपान करके मिथ्याभाषण किया ॥ १-३ ॥ दूसरेकी कीर्तिका लोप करना उसके प्राणों के घात से भी अधिक हानिकर है ॥ ४ ॥

१ तथा च गुरुः—मतिर्नाम नदी ख्याता पापधर्मोद्भवा नृणां। द्विस्रोतः प्रथमं तस्याः पापोधर्मस्तथापरं ॥ १ ॥

२ तथा च वादीभसिंहसूरिः– हेये स्वयं सती बुद्धिर्यत्नेनाप्यसती शुभे ॥ १ ॥

३ तथा च शुक्रः— उत्तमानां नृणामत्र यद्वाऽभयप्रदं। स एव सत्यः शपथः किमन्यैः शपथैः कृतैः ॥१॥

लोक में सत्पुरुष व असत्पुरुषों के सभी व्यवहार उनके द्वारा कहे हुए वचनों पर निर्भर होते हैं, इसलिये नैतिक व्यक्ति को अपने कहे हुए वचनों का पालन करना चाहिये। जिसके वचन मानसिक उपयोग के विना भी कहे हुए लिखित स्टाम्प के समान प्रामाणिक-सच्चे होते हैं, वही पुरुष लोक में समस्त मनुष्यों द्वारा पूज्य होता है॥८०॥

शुक्र [1] ने भी सत्यवादी को समस्त मनुष्यों द्वारा पूज्य माना है॥ १॥

शिष्ट पुरुषों द्वारा कही जाने वाली नैतिक वाणी साक्षात् सरस्वती के समान प्यारी प्रतीत होती है॥ ८१॥

गौतम [2] भी सज्जनों की नीति-युक्त वाणी को साक्षात् सरस्वती के समान मानता है॥ ८२॥

जो प्रामाणिक (सत्य) वचन नहीं बोलते, उनकी ऐहिक वा पारलौकिक क्रियाएँ (कर्तव्य) निष्फल होती हैं॥ ८२॥

गौतम [3] ने भी मिथ्यावादी को ऐहिक वा पारलौकिक कल्याण से वंचित कहा है॥ १॥

लोक में विश्वासघात से बढ़कर दूसरा कोई महान् पाप नहीं अतः शिष्ट पुरुष कदापि किसी के साथ विश्वासघात न करे॥८३॥

अङ्गिर [4] ने भी विश्वासघात को महान् पाप बताकर उसका त्याग कराया है॥ १॥

विश्वासघाती अपने ऊपर सभी लोगों का अविश्वास उत्पन्न करता है अर्थात् उस पर कोई भी विश्वास नहीं करता॥ ८४॥

रैभ्य [5] ने भी विश्वासघाती के ऊपर उसके माता-पिता का भी विश्वास न होना बताया है॥१॥

झूठी प्रतिज्ञा करने वालों द्वारा खाईजाने वाली झूठी सौगन्ध उनकी सन्तान-हानि कर डालती है॥ ८५॥

किसी विद्वान [6] के उद्धरण का भी यही अभिप्राय है॥ १॥

सैन्य की व्यूह-रचना के कारण व उसकी स्थिरता का समय, युद्ध-शिक्षा, शत्रु के नगर में प्रविष्ट होने का अवसर, कूट युद्ध व तूष्णी युद्ध का स्वरूप व अकेले सेनाध्यक्ष से हानि—

बलं बुद्धिर्भूमिग्रहानुलोम्यं परोद्योगश्च प्रत्येकं बहुविकल्पं दण्डमण्डलाभोगासंहतव्यूह-

---

१ तथा च शुक्रः—स एव पूज्यो लोकानां यद्वाक्यमपि शासनं। विस्तीर्णप्रसिद्धं च लिखितं शासनं यथा॥ १॥

२ तथा च गौतमः—नीत्यात्मिकात्र या वाणी प्रोच्यते साधुभिर्जनैः प्रत्यक्षा भारती ह्येषा विकल्पो नास्ति कश्चन॥१॥

३ तथा च गौतमः—न तेषामिह लोकोऽस्ति न परोऽस्ति दुरात्मनां। यैरेव वचनं प्रोक्तमन्यथा जायते पुनः॥ १॥

४ तथा चाङ्गिरः—विश्वासघातकादन्यः परः पातकसंयुतः। न विद्यते धरापृष्ठे तस्मात्तं दूरतस्त्यजेत्॥ १॥

५ तथा च रैभ्यः—विश्वासघातको यः स्यात्तस्य माता पितापि च। विश्वासं न करोत्येव जनेष्वन्येषु का कथा॥ १॥

६ तथा चोक्तम्—यदसत्यं जने कोशपानं तदिह निश्चितं। करोति पुत्रपौत्राणां घातं गोत्रसमुद्भवं॥ १॥

रचनाया हेतवः ॥ ८६ ॥ साधुरचितोऽपि व्यूहस्तावत्तिष्ठति यावन्न परबलदर्शनं ॥ ८७ ॥ न हि शास्त्रशिक्षाक्रमेण योद्धव्यं किन्तु परप्रहाराभिप्रायेण ॥ ८८ ॥ व्यसनेषु प्रमादेषु वा परपुरे सैन्यप्रेष्यणमवस्कन्दः ॥ ८९ ॥ अन्याभिमुखंप्रयाणकमुपक्रम्यान्योपघातकरणं कूट-युद्धं ॥ ९० ॥ विषविषमपुरुषोपनिपदवाग्योगोपजापैः परोपघातानुष्ठानं तूष्णीदण्डः ॥ ९१ ॥ एकं बलस्याधिकृतं न कुर्यात्, भेदापराधेनैकः समर्थो जनयति महान्तमनर्थं ॥ ९२ ॥

अर्थ—अनेक प्रकार का सैन्य (हाथी व घोड़े आदि), बुद्धि, विजिगीषु के ग्रहों की अनुकूलता, शत्रु द्वारा की जाने वाली लड़ाई का उद्योग और सैन्य मंडल का विस्तार ये संगठित सैन्य व्यूह (विन्यास) की रचना के कारण हैं अर्थात् उक्त कारण सामग्री के सन्निधान से विजिगीषु द्वारा सैन्य-व्यूह की रचना की जाती है ॥ ८६ ॥ अच्छी तरह से रचा हुआ सैन्य-व्यूह तब तक ठीक व स्थिर-शील रहता है, जब तक कि उसके द्वारा शत्रु-सैन्य दृष्टिगोचर नहीं हुआ। अभिप्राय यह है कि शत्रु-सेना दिखाई पड़ने पर विजिगीषु के वीर सैनिक अपना व्यूह छोड़ कर शत्रु की सैन्य में प्रविष्ट होकर उससे भयङ्कर युद्ध करने भिड़ जाते हैं ॥ ८७ ॥

शुक्र[1] ने भी सैन्य की व्यूह रचना के विषय में इसी प्रकार का उल्लेख किया है ॥ १ ॥

विजिगीषु के वीर सैनिकों को युद्ध शास्त्र की शिक्षानुसार युद्ध न कर शत्रु द्वारा किए जाने वाले प्रहारों के अभिप्राय से—उन्हें ध्यान में रखते हुए—युद्ध करना चाहिए ॥ ८८ ॥

शुक्र[2] ने भी लड़ाई करने का यही तरीका बताया है ॥ १ ॥

जब शत्रु मद्यपान आदि व्यसनों व आलस्य में फसा हुआ हो, तब विजिगीषुको अपना सैन्य उसके नगर में भेजकर व प्रविष्ट करके उसके द्वारा शत्रु नगर का घेरा डालना चाहिए ॥ ८९ ॥

शुक्र[3] ने भी विजिगीषु की फौज के प्रवेशका यही अवसर बताया है ॥ १ ॥

दूसरे शत्रु पर चढ़ाई प्रकट करके वहां से अपना सैन्य लौटा कर युद्ध द्वारा जो अन्य शत्रु का घात किया जाता है उसे कूट युद्ध कहते हैं ॥ ९० ॥

शुक्र[4] ने भी कूट युद्ध का इसी प्रकार लक्षण किया है ॥ १ ॥

विष-प्रदान, घातक पुरुषों को भेजना, एकान्त में चुपचाप स्वयं शत्रु के पास जाना व भेद-नीति इन उपायों द्वारा जो शत्रु का घात किया जाता है, उसे 'तूष्णी युद्ध, कहते हैं ॥ ९१ ॥

गुरु[5] ने भी उक्त उपायों द्वारा किए जाने वाले शत्रु वध को तूष्णी युद्ध कहा है ॥ १ ॥

---

१ तथा च शुक्रः—व्यूहस्य रचना तावत्तिष्ठति शास्त्रनिर्मिता । यावदन्यद्बलं नैव दृष्टिगोचरमागतं ॥ १ ॥

२ तथा च शुक्रः—शिक्षाक्रमेण नो युद्धं कर्तव्यं रणसंकुले । प्रहारान् प्रेक्ष्य शत्रूणां तदर्हं युद्धमाचरेत् ॥ १ ॥

३ तथा च शुक्रः—व्यसने वा प्रमादे वा संसक्तः स्यात् परो यदि । तदावस्कन्ददानं च कर्तव्यंभूतिमिच्छता ॥ १ ॥

४ तथा च शुक्रः—अन्याभिमुखमार्गेण गत्वा किंचित् प्रयाणकं । व्यावृत्य घातः क्रियते सदैव कुटिलाहवः ॥ १ ॥

५ तथा च गुरुः—विषदानेन योऽन्यस्य हस्तेन क्रियते वधः । अभिचारककृत्येन रिपो र्मानाहवो हि सः ॥ १ ॥

राजा किसी अकेले व्यक्ति को सैन्याधिकारी न बनावे, क्योंकि अकेला सैन्याधिकारी स्वेच्छाचारी और सेना के कारण राजा से भी अधिक शक्तिशाली होता है, इसलिये वह शत्रु द्वारा फोड़े जाने के अपराध-वश अपने स्वामी से प्रतिकूल होकर सेना की सहायता से किसी समय राजा का व राष्ट्र का महान् अनर्थ उत्पन्न कर सकता है ॥ ६२ ॥

भागुरि[1] ने भी अकेले व्यक्ति को सैनाध्यक्ष बनाने से उक्त प्रकार की हानि बताई है ॥ १ ॥

ऋणी राजा, वीरता से लाभ, युद्ध से विमुख होने वाले की हानि, युद्ध के लिये प्रस्थान करने वाले राजा का व पर्वतनिवासी गुप्तचरों का कर्त्तव्य, सेना के पड़ाव-योग्य स्थान, अयोग्य पड़ाव से हानि व शत्रु-भूमि में प्रविष्ट होने के विषय में राज-कर्त्तव्य—

राजा राजकार्येषु मृतानां सन्ततिमपोषयन्नृणभागी स्यात् साधु नोपचर्यते तंत्रेण ॥ ६३ ॥ स्वामिनः पुरः सरणं युद्धेऽश्वमेधसमं ॥६४॥ युधि स्वामिनं परित्यजतो नास्तीहामुत्र च कुशलं ॥६५॥ विग्रहायोच्चलितस्यार्द्धं बलं सर्वदा सन्नद्धमासीत्, सेनापतिः प्रयाणमावासं च कुर्वीत चतुर्दिशमनीकान्यदूरेण संचरेयुस्तिष्ठेयुश्च ॥ ६६ ॥ धूमाग्निरजोविषाणध्वनिव्याजेनाटविकाः प्रणधयः परबलान्यागच्छन्ति निवेदयेयुः ॥६७॥ पुरुषप्रमाणोत्सेधमबहुजनविनिवेशनाचरणापसरणयुक्तमग्रतो महामण्डपावकाशं च तदंगमध्यास्य सर्वदा स्थानं दद्यात् ॥ ६८ ॥ सर्वसाधारणभूमिकं तिष्ठतो नास्ति शरीररक्षा ॥ ६९ ॥ भूचरो दोलाचरस्तुरंगचरो वा न कदाचित् परभूमौ प्रविशेत् ॥१००॥ करिणं जंपाणं वाप्यध्यासीने न प्रभवन्ति क्षुद्रोपद्रवाः ॥१०१॥

अर्थ—यदि राजा राजकीय कार्यों–युद्ध-आदि में मरे हुए सैनिक-आदि सेवकों की सन्तति-पुत्र-पौत्रादि का पालन-पोषण नहीं करता, तो वह उनका ऋणी रहता है और ऐसा अनर्थ करने से प्रतिकूल हुए मंत्री-आदि प्रकृतिवर्ग भी उसकी भली-भांति सेवा नहीं करते। अतएव राजा को राजकीय कार्य में निधनता को प्राप्त हुए सेवकों की सन्तति का पालन-पोषण करना चाहिये ॥६३॥

वशिष्ठ[2] ने भी युद्ध में मारे गये सैनिकों की सन्ततिका पालन-पोषण न करने वाले राजा को निस्सन्देह उनकी हत्या का पाप होना बताया है ॥१॥

लड़ाई में अपने स्वामी से आगे जाकर शत्रु से युद्ध करने वाले वीर सैनिक को अश्वमेध यज्ञ समान फल मिलता है। विमर्श यह है कि लौकिक दृष्टि से उक्त उदाहरण समझना चाहिये, क्योंकि धार्मिक दृष्टि से अश्वमेध यज्ञ में संकल्पी स्थूल जीवहिंसा होती है, अतः उसका करने वाला–अनिष्ट फल–दुर्गति के भयानक दुःख भोगता है, जिसका स्पष्टीकरण यशस्तिलक में इन्हीं आचार्य श्री ने भी किया है ॥६४॥

---

१ तथा च भागुरिः— एकं कुर्यान्न सैन्येशं सुसमर्थं विशेषतः। धनाकृष्टः परैर्भेदं कदाचित् स परैः क्रियात् ॥ १ ॥

२ तथा च वशिष्ठः— मृतानां पुरतः संख्ये योऽपत्यानि न पोषयेत्। तेषां सहत्यायाः ? तूर्णं गृह्णते नात्र संशयः ॥ १ ॥

वशिष्ठ[1] ने भी इसी प्रकार वीर सैनिकों की प्रशंसा की है ॥१॥

लड़ाई में अपने स्वामी को छोड़कर युद्ध भूमि से भाग जाने वाले सैनिक का ऐहलौकिक व पारलौकिक कल्याण नहीं होता। अर्थात्– रणेऽपलायनं–युद्ध से न भागना–इस क्षात्र धर्म का त्याग करने से उसकी इस लोक में अपकीर्ति व परलोक में दुर्गति होती है ॥९५॥

भागुरि[2] ने भी युद्ध से पराङ्मुख होने वाले सैनिक के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥१॥

जब विजिगीषु, शत्रु से युद्ध करने के लिये प्रस्थान करे, उस समय उसका सेनाध्यक्ष आधी फौज सदा तैयार–शस्त्रादि से सुसज्जित रक्खे, इसके पश्चात् ही विजिगीषु शत्रु पर चढ़ाई करे और जब वह शत्रु-सैन्य के आवास (निवास-स्थान) की ओर प्रस्थान करने में प्रयत्नशील होवे, तब उसके समीप चारों तरफ फौज का पहरा रहे एवं उसके पीछे डेरे में भी फौज मौजूद रहनी चाहिये। इसका कारण यह है कि विजिगीषु कितना ही शक्तिशाली हो, परन्तु वह चढ़ाई के समय व्याकुल हो जाता है और शूरवीर लोग उस पर प्रहार कर देते हैं ॥९६॥

शुक्र[3] ने भी शत्रुभूमि के प्रति प्रस्थान करनेवाले राजाओंको सदा सावधान रहना बताया है।

जब विजिगीषु दूरवर्त्ती हो और शत्रुकी फौज उसको ओर आ रही हो, ऐसे अवसर पर जंगल में रहने वाले उसके गुप्तचरों को चाहिए कि वे धुआं करने, आग जलाने, धूल उड़ाने, अथवा भैंसे के सींग फूकने का शब्द करने के बहाने उसे शत्रु की फौज आने का बोध करावें ताकि उनका स्वामी सावधान हो जावे ॥ ९७ ॥

गुरु[4] ने भी पर्वतों पर रहने वाले गुप्तचरों का यही कर्त्तव्य बताया है ॥ १ ॥

विजिगीषु शत्रु के देश में पहुँच कर अपनी फौज का पड़ाव ऐसे स्थान में डाले जो कि मनुष्य की ऊंचाई माफक ऊंचा हो, जिसमें थोड़े आदमियों का प्रवेश, घूमना तथा निकास हो जिसके आगे विशाल सभामंडप के लिये पर्याप्त स्थान हो, उसके मध्य में स्वयं ठहर कर उसमें अपनी सेना को ठहरावें। सर्वसाधारण के आने जाने योग्य स्थान में सैन्य का पड़ाव डालने व स्वयं ठहरने से विजिगीषु अपनी प्राण-रक्षा नहीं कर सकता ॥ ९८ ॥

शुक्र[5] ने भी सैन्य के पड़ाव के बारे में यही कहा है ॥ १ ॥

विजिगीषु पैदल, पालकी अथवा घोड़े पर चढ़ा हुआ शत्रु की भूमि में प्रविष्ट न होवे, क्योंकि ऐसा करने से जब उसे अचानक शत्रु-कृत उपद्रवों का भय प्राप्त होगा, तब वह उन से अपनी रक्षा नहीं कर सकता ॥ १०० ॥

---

१ तथा वशिष्ठः—स्वामिनं पुरतः संख्ये हन्त्यात्मानं च सेवकः। यत्प्रमाणानि यागानि तान्याप्नोति फलानि च ॥ १ ॥

२ तथा च भागुरिः—यः स्वामिनं परित्यज्य युद्धे याति पराङ्मुखः। इहाकीर्तिं परां प्राप्य मृतोऽपि नरकं व्रजेत् ॥ १ ॥

३ तथा च शुक्रः—परभूमिप्रतिष्ठानां नृपतीनां शुभं भवेत्। आवासे च प्रयाणे च यतः शत्रुः परीक्ष्यते ॥ १ ॥

४ तथा च गुरुः—प्रभौ दूरस्थिते वैरी यदागच्छति सन्निधौ। धूमादिभिर्निवेद्यः स चरैश्चारण्यसंभवैः ॥ १ ॥

५ तथा च शुक्रः—परदेशं गतो यः स्यात् सर्वसाधारणं नृपः। आस्थानं कुरुते मूढो घातकैः स निहन्यते ॥ १ ॥

गुरु[1] ने भी उक्त प्रकार विजिगीषु को शत्रुद्वारा घातेजाने का संकेत किया है ॥ १ ॥

जब विजिगीषु हाथी अथवा जंपान (वाहन विशेष) पर आरूढ़ हुआ शत्रु-भूमिमें प्रविष्ट होता है, तो उसे क्षुद्र उपद्रवों–शत्रु द्वारा मारा जाना आदि—का भय नहीं होता ॥ १०१ ॥

भागुरि[2] ने भी उक्त प्रकार से शत्रु-भूमि में प्रस्थान करने वाले विजिगीषु को सुरक्षित कहा है ॥ १ ॥

इति युद्ध-समुद्देश ।

३१—विवाह-समुद्देश ।

काम सेवनकी योग्यता, विवाह का परिणाम, लक्षण, ब्राह्म, दैव आदि चार विवाहों का स्वरूप व श्रेष्ठता—

द्वादशवर्षा स्त्री षोडशवर्षः पुमान् प्राप्तव्यवहारौ भवतः ॥ १ ॥ विवाहपूर्वो व्यवहारश्चातुर्वर्ण्यं कुलीनयति ॥ २ ॥ युक्तितो वरणविधानमग्निदेव-द्विजसाक्षिकं च पाणिग्रहणं विवाहः ॥ ३॥ स ब्राह्म्यो विवाहो यत्र वरायालंकृत्य कन्या प्रदीयते ॥ ४ ॥ स दैवो यत्र यज्ञार्थमृत्विजः कन्याप्रदानमेव दक्षिणा ॥५॥ गोमिथुनपुरःसरं कन्यादानादार्षः ॥६॥ 'त्वं भवास्य महाभागस्य सहधर्मचारणीति' विनियोगेन कन्याप्रदानात् प्राजापत्यः एते चत्वारो धर्म्या विवाहाः ॥ ८ ॥

अर्थ—१२ वर्ष की स्त्री और १६ वर्ष का पुरुष ये दोनों काम सेवन की योग्यतावाले होते हैं ॥१॥ विवाहपूर्वक किये जानेवाले कामसेवन से चारों वर्ण की सन्तान में कुलीनता उत्पन्न होती है ॥२॥

राजपुत्र[3] जैमिनि[4] ने भी कामसेवन की योग्यता व कुलीन एवं शुद्ध सन्तानोत्पत्ति उक्त प्रकार समर्थन किया है ॥ १—२ ॥

युक्ति से कन्या का वरण निश्चय करके अग्नि देव व ब्राह्मण की साक्षी पूर्वक वर द्वारा कन्या का जो पाणिग्रहण किया जाता है उसे विवाह कहते हैं ॥ ३ ॥ विवाहके आठ भेद हैं—ब्राह्म्य, दैव आर्ष, प्राजापत्य, गान्धर्व, आसुर पैशाच और राक्षस विवाह । उनमें से जिसमें कन्या के पिता आदि

---

१ तथा च गुरुः— परभूमिं प्रविष्टो यः पारदारी परिभ्रमेत् । हये स्थितो वा दोलायां घातकैर्हन्यते हि सः ॥ १ ॥

२ तथा च भागुरिः— परभूमौ महीपालः करिणं यः समाश्रितः । व्रजन् जंपाणमध्यास्य तस्य कुर्वन्ति किं परे ॥१॥

३ तथा च राजपुत्रः—यदा द्वादशवर्षा स्यान्नारी षोडशवार्षिकः । पुरुषः स्यात्तदा रंगस्ताभ्यां मैथुनजः परः ॥ १ ॥

४ तथा च जैमिनिः— सुवर्णकन्यका यस्तु विवाहयति धर्मतः । सन्तानं तस्य शुद्धं स्यान्नाकृत्येषु प्रवर्तते ॥ १ ॥

संरक्षक अपनी शक्ति-अनुसार कन्या को वस्त्राभूषणों से अलंकृत करके वर के लिये कन्या प्रदान करते हैं, वह 'ब्राह्म्य विवाह, है ॥ ४० ॥

भारद्वाज[1] और किसी विद्वान्[2] ने भी उक्तप्रकार विवाह का लक्षण एवं भेद निरूपण किये हैं ॥ १-२ ॥

जिसमें यज्ञ (हवन आदि) कर्ता के लिये यज्ञ के निमित्त संरक्षकों द्वारा दक्षिणारूप में कन्या दी जाती है, वह 'दैव विवाह' है ॥ ५ ॥ जिसमें गौमिथुन (गाय बैल का जोड़ा) आदि दहेज देकर कन्या दी जाती है, वह 'आर्ष विवाह' कहते हैं ॥ ६ ॥

गुरु[3] व किसी विद्वान्[4] ने भी 'दैव और आर्ष विवाह'के उक्त प्रकार लक्षण किये हैं ॥ १-२ ॥

'तू इस महाभाग्यशाली की सधर्मचारिणी(व्यवहार धर्म में सहायता पहुँचाने वाली धर्म पत्नी)हो, इसप्रकार नियोग करके जहां पर कन्या प्रदान की जाती है, वह 'प्राजापत्य विवाह, है ॥ ७ ॥

गुरु[5] ने धनिक पुरुष द्वारा धनिक के लिये अपनी कन्या दी जाने को 'प्राजापत्य विवाह' माना है ॥ १ ॥

ये पूर्वोक्त चारों विवाह धर्मरूप—न्याय-संगत (श्रेष्ठ) हैं ॥ ८ ॥

गान्धर्व आदि विवाहों के लक्षण व उनकी समालोचना एवं विवाह की अयोग्यता प्रगट करने वाले कन्या-दूषण—

मातुः पितुर्बन्धूनां चाप्रामाण्यात् परस्परानुरागेण मिथः समवायाद्गान्धर्वः ॥९॥ पणबन्धेन कन्याप्रदानादासुरः ॥ १० ॥ सुप्तप्रमत्तकन्यादानात्पैशाचः ॥ ११ ॥ कन्यायाः प्रसह्यादानाद्राक्षसः १२ एते चत्वारोऽधमा अपि नाम्र्या यद्यस्ति वधूवरयोरनपवादं परस्परस्य भाव्यत्वं ॥ १३ ॥ उन्नतत्वं कनीनिकयोः, लोमशत्वं जंघयोरमांसलत्वमूर्वोरचारुत्वं कटिनाभिजठरकुचयुगलेषु, शिरालुत्वमशुभ संस्थानत्वंच बाह्वोः, कृष्णत्वं तालुजिह्वाधरहरीतकीषु, विरलविषमभावो दशनेषु, कूपत्वं कपोलयोः, पिंगलत्वमक्ष्णोर्लग्नत्वंपि (चि) ल्लिकयोः, स्थपुटत्वं ललाटे, दुःसन्निवेशत्वं श्रवणयोः, स्थूलकपिलपरुषभावः केशेषु, अतिदीर्घातिलघुन्यूनाधिकता समकटकुब्जवामनकिराताङ्गत्वं जन्मदेहाभ्यां समानताधिकत्वं चेति कन्यादोषाः सहसा तद्गृहे स्वयं दूतस्य चागतस्याग्रे अभ्यक्ता व्याधिमती रुदती पतिघ्नी सुप्ता स्तोकायुष्का बहिर्गता

१ तथा च भारद्वाजः—वरणं युक्तितो यच्च वह्निब्राह्मणसाक्षिकं । विवाहः प्रोच्यते शुद्धो योऽन्यस्य स्याच्च विप्लवः १

२ तदुक्तं—ब्राह्म्यो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथापरः । गन्धर्वश्चासुरश्चैव पैशाचो राक्षसस्तथा

३ तथा च गुरुः—कृत्वा यज्ञविधानं तु यो ददाति च ऋत्विजः । समाप्तौ दक्षिणां कन्यां दैवं वैवाहिकं हि तत् ॥ १ ॥

४ तदुक्तं—कन्यां दत्वा पुनर्दद्याद्यत्र गोमिथुनपरं । वराय दीयते सोऽत्र विवाहश्चार्षसंज्ञितः ॥ १ ॥

५ तथा च गुरुः—धनिनो धनिनं यत्र विषये कन्यकामिह । सन्तानाय स विज्ञेयः प्राजापत्यो मनीषिभिः ॥ १ ॥

कुलटाऽप्रसन्ना दुःखिता कलहोद्यता परिजनोद्वासिन्यप्रियदर्शना दुर्भगेति नैतां वृणीति कन्याम् ॥ १४ ॥

अर्थ—जिसमें वर कन्या अपने माता पिता व बन्धुजनों को प्रमाण न मान कर (उनकी उपेक्षा करके) पारस्परिक प्रेम-वश आपस में मिल जाते हैं—दाम्पत्य प्रेम कर लेते हैं वह 'गान्धर्व विवाह' है ॥ ६ ॥ जिस में कन्या के संरक्षक (पिता आदि) लोभवश वर पक्ष से धनादि ले कर अयोग्य वर के लिये कन्या प्रदान करते हैं उसे 'आसुर विवाह' कहते हैं ॥ १० ॥ जिसमें सोती हुई व बेहोश कन्या का अपहरण किया जाता है, वह 'पैशाच विवाह' है ॥ ११ ॥ जिसमें कन्या बलात्कार पूर्वक (जबरदस्ती) लेजाई जाती है या अपहरण की जाती है, वह 'राक्षस विवाह' है ॥ १२ ॥

गुरु[1] ने भी उक्त गांधर्व आदि विवाहों के लक्षण निर्देश किये हैं ॥ १ ॥

यदि वर-वधूका दाम्पत्यप्रेम निर्दोष है तो उक्त चारों विवाह जघन्यश्रेणी के होनेपर भी उन्हें अन्याय-युक्त नहीं कहा जासकता ॥ १३ ॥

यदि कन्या में निम्न लिखित दूषण वर्तमान हों, तो उसके साथ विवाह नहीं करना चाहिये जिसकी आँखों की तारकायें उठी हुई व जंघाओं में रोम वर्तमान हों एवं उरु भाग अधिक पतले तथा कमर, नाभि, उदर और कुच कलश भद्दे हों। जिसकी भुजाओं में अधिक नसें दृष्टिगोचर हों और उस का आकार भी अशुभ प्रतीत हो। जिसके तालु, जिह्वा, व ओष्ठ हरड़ समान काले हों व दाँत विरले और विषम (छोटे बड़े) हों। जिसके गालों में गड्ढे, आंखें पीली बंदर समान रंग वाली हों। जिसकी दोनों भ्रुकटियां जुड़ी हुईं, मस्तक जिसका ऊंचा-नीचा और श्रोत्रों की आकृति भद्दी एवं केश, मोटे, भूरे व रूक्ष हों। जो बहुत बड़ी व छोटी हो। जिसके कमर के पार्श्वभाग सम हों जो कुबड़ी बौनी व भीलों के समान अङ्गों वाली हो। जो वर के बराबर आयु वाला या उससे बड़ी हो, जो वर के यहां से आये हुये दूत के समक्ष एकान्त में प्रकट होती हो। इसी प्रकार बीमार, रोती हुई, पतिका घात करने वाली, सोती हुई, क्षीण आयु वाली, अप्रसन्न, दुःखी, बाहर निकली हुई (मर्यादा में न रहने वाली) व्यभिचारिणी, कलह- प्रिय, कुटुम्बियों का उजाड़ने वाली, कुरूप व जिसका भाग्य फूटा हो ॥ १४ ॥

पाणिग्रहण की शिथिलता का कुप्रभाव, नवा वधू की प्रचण्डता का कारण, उसके द्वारा तिरस्कार और द्वेष का पात्र पुरुष एवं उसके द्वारा प्राप्त होने योग्य प्रणय (प्रेम) का साधन तथा विवाह के योग्य गुण व उनके न होने से हानि—

शिथिले पाणिग्रहणे वरः कन्यया परिभूयते ॥ १५ ॥ मुखमपश्यतो वरस्यानमीलितलोचना कन्या भवति प्रचण्डा ॥ १६ ॥ सह शयने तूष्णीं भवन् पशुवन्मन्येत ॥ १७ ॥ बलादा—

१ तथा च गुरुः—पितरौ समतिक्रम्य यत्कन्या भजते पतिं। सानुरागा सरंगं च स गान्धर्व इति स्मृतः ॥१॥
मूल्यं सारं गृहीत्वा च पिता कन्यां च लोभतः। सुरूपामथ वृद्धाय विवाहश्चासुरो मतः ॥ २ ॥
सुप्तां वाथ प्रमत्तां वा यो मत्वाथ विवाहयेत्। कन्यकां सोऽत्र पैशाचो विवाहः परिकीर्तितः ॥ ३ ॥
रुदतीं च बन्धुवर्गाणां हठाद्गुरुजनस्य च। गृह्णाति यो वरो कन्यां स विवाहस्तु राक्षसः ॥ ४ ॥

क्रान्ता जन्मविद्वेष्यो भवति ॥ १८ ॥ धैर्यचातुर्यायत्तं हि कन्याविस्रम्भणं ॥ १९ ॥ समविभवाभिजनयोरसमगोत्रयोश्च विवाहसम्बन्धः ॥ २० ॥ महतः पितुरैश्वर्यादल्पमवगणयति । अल्पस्य कन्या, पितुर्दौर्बल्यान् महतावज्ञायते ॥ २२ ॥ अल्पस्य महता सह संव्यवहारे महान् व्ययोऽल्पश्चायः ॥ २३ ॥ वरं वेश्यायाः परिग्रहो नाविशुद्धकन्याया परिग्रहः ॥ २४ ॥ वरं जन्मनाशः कन्यायाः नाकुलीनेष्ववक्षेपः[A] ॥ २५ ॥

अर्थ—वर-कन्या का पाणिग्रहण शिथिल हो जानेसे कन्याद्वारा वर तिरस्कृत किया जाता है ॥ १५ ॥ जब वर लज्जा के कारण अपनी नवा वधू के मुख की ओर दृष्टिपात नहीं करे और वधू अपने नेत्र उघाड़ती हुई टकटकी लगाकर उसके मुखकमल की ओर सतृष्ण दृष्टि से देखती रहे, तब वह प्रचण्ड (बेशर्म) हो जाती है ॥ १६ ॥

नारद[1] व जैमिनि[2] ने भी पाणिग्रहण की शिथिलता एवं नवा वधू की प्रचण्डता के विषय में यही बताया है ॥ १ ॥ जो वर अपनी नवा (नई) वधू के साथ एक स्थान में शयन करता हुआ लज्जा वश चुपचाप रहता है। अपना कर्त्तव्य पालन—(चतुरता पूर्वक संलाप, हास्यादि) पतिधर्म का पालन—नहीं करता) उसे वह पशु समान मूर्ख समझती है ॥ १७ ॥ यदि वर अपनी नई वधू के साथ जबर्दस्ती काम-क्रीड़ा करने तत्पर होता है, तो उसकी वधू जन्मपर्यन्त उससे द्वेष करती रहती है ॥ १८ ॥ क्योंकि नवा वधू द्वारा प्राप्त होने वाला प्रणय (प्रेम) वर की धीरता व चतुराई के अधीन होता है। सारांश यह है कि यदि वर धीरता व चतुरता से अपनी नवा वधू के साथ प्रेम-पूर्ण दान-मानादि का वर्ताव करता है, तो उसे उसका प्रणय मिलता है, अन्यथा नहीं ॥ १९ ॥ समान ऐश्वर्य व कुटुम्ब-युक्त तथा विषम (भिन्न गोत्रवाले वर-कन्याओं में विवाह संबंध माना गया है ॥ २० ॥ क्योंकि ऐसा न होने पर जब धनाढ्य की कन्या दरिद्र वर प्राप्त करती है, तब वह अपने पिता के ऐश्वर्यसे उन्मत्त होकर अपने दरिद्र पति को नीचा गिनने लगती है। यदि निर्धन की कन्या धनाढ्य वर के साथ व्याही जाती है, तो वह अपने पिता की दुर्बलता के कारण अपने धनाढ्य पति द्वारा तिरस्कृत की जाती है ॥ २२ ॥ जब छोटा (साधारण पैसे वाला) बड़े (धनाढ्य) के साथ विवाह संबंध आदि व्यवहार करता है, तो उसमें उसका ज्यादा खर्च व आमदनी थोड़ी होती है ॥ २३ ॥ किसी प्रकार वेश्या का अङ्गीकार करना अच्छा है, परन्तु अशुद्ध (व्यभिचारिणी या असज्जातीय) कन्या के साथ विवाह करना उचित नहीं, क्योंकि इससे भविष्य में असज्जाति सन्तान उत्पन्न होने के कारण उसका मोक्षमार्ग बंद हो जाता है ॥ २४ ॥ कन्या

A इसके पश्चात् मु० मू० प्रतिमें 'अदातरि समृद्धेऽपि किं कुर्युरुपजीविनः । किं शुके किंशुकाः कुर्युः फलितेऽपि बुभुक्षिताः' इस प्रकारका पद्यरूप पाठ विशेष पाया जाता है, जिसका अर्थ यह है कि जिसप्रकार किंशुक (टेसू) वृक्षके फलशाली होनेपर भी उससे शुक (तोते) लाभ नहीं उठा सकते क्योंकि वे भूखे रहते हैं उसी प्रकार धनिक व कृपण (लोभी) मनुष्य के धन से भी सेवकों का कोई लाभ नहीं हो सकता। प्राकरणिक अभिप्राय यह है कि कृपण व धनाढ्य पिता के प्रचुर धन से कन्या लाभ नहीं उठा सकती ॥ १ ॥ —सम्पादक

१ तथा च नारदः—शिथिलं पाणिग्रहणं स्यात् कन्यावरयोर्यदा । परिभूयते तदा भर्ता कान्तया तत्प्रभावतः ॥ १ ॥

२ तथा च जैमिनिः—मुखं न वीक्षते भर्ता वेदिमध्ये व्यवस्थितः । कन्याया वीक्षमाणायाः प्रचण्डा सा भवेत्तदा ॥ १ ॥

का पैदा होते ही मरजाना अच्छा है, परन्तु उसका नीच कुलवाले वर के साथ विवाह करना अथवा उसका नीच कुल में पैदा होना अच्छा नहीं ॥ २५ ॥

कन्या के विषय में, पुनर्विवाह में स्मृतिकारों का अभिमत, विवाह संबंध, स्त्री से लाभ, गृह का लक्षण, कुलवधू की रक्षा के उपाय, वेश्या का त्याग व उसके कुलागत कार्य—

सम्यग्वृत्ता कन्या तावत्सन्देहास्पदं यावन्न पाणिग्रहः A ॥ २६ ॥ विकृतप्रत्यूढाऽपि पुनर्विवाहमर्हतीति स्मृतिकाराः ॥ २७ ॥ आनुलोम्येन चतुस्त्रिद्विवर्णाः कन्याभाजनाः ब्राह्मणक्षत्रियविशः ॥ २८ ॥ देशापेक्षो मातुलसंबन्धः ॥ २९ ॥ धर्मसन्ततिरनुपहता रतिर्गृहवार्तासुविहितत्वमाभिजात्याचारविशुद्धिर्देवद्विजातिथिबान्धवसत्कारानवद्यत्वं च दारकर्मणः फलं ॥ ३० ॥ गृहिणी गृहमुच्यते न पुनः कुड्यकटसंघातः ॥ ३१॥ गृहकर्मविनियोगः परिमितार्थत्वमस्वातंत्र्यं सदाचारः मातृव्यंजनस्त्रीजनावरोध इति कुलवधूनां रक्षणोपायः ॥ ३२ ॥ रजकशिलाकुक्कुरखर्परसमा हि वेश्याः कस्तास्वभिजातोऽभिरज्येत ॥३३॥ दानैर्दौर्भाग्यं सत्कृतौ परोपभोग्यत्वं आसक्तौ परिभवो मरणं वा महोपकारेऽप्यनात्मीयत्वं बहुकालसंबन्धेऽपि त्यक्तानां तदैव पुरुषान्तरगामित्वमिति वेश्यानां कुलागतो धर्मः ३४

अर्थ—जब तक कन्या का विवाह-संस्कार नहीं होता, तब तक वह सन्देह का स्थान होती है, चाहे वह सदाचारिणी हो ॥ २६ ॥ जिसकी पहले सगाई की जा चुकी हो ऐसी कन्या का वर यदि विकृत—लूला लंगड़ा या काल-कवलित—हो गया हो, तो उसका पुनर्विवाह—अन्य वरके साथ विवाह करना योग्य है ऐसा स्मृतिकार मानते हैं ॥ २७ ॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अनुलोम (क्रम) से चारों तीनों व दोनों वर्ण की कन्याओं से विवाह करने के पात्र हैं। अर्थात् ब्राह्मण चारों वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य व शूद्र) की और क्षत्रिय तीनों वर्ण (क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र) की एवं वैश्य दोनों वर्ण (वैश्य व शूद्र) की कन्याओं के साथ विवाह कर सकता है ॥ २८ ॥ मामाका विवाह आदि संबंध देश व कुल की अपेक्षासे योग्य समझा जाता है। अर्थात्—जिस देश व कुल में मामा पुत्रीका संबंध प्रचलित है, वहां उसे योग्य मानाजाता है, सर्वत्र नहीं ॥२९॥ धर्मपरम्पराका अक्षुण्ण चलते रहना अथवा धार्मिक सज्जाति सन्तान का लाभ होना, कामोपभोग में बाधा न आना, गृह व्यवस्था का सुचारु रूप से संचालन,कुलीनता व आचार-शुद्धि, देव, ब्राह्मण अतिथि और बंधुजनों का निर्दोष सन्मान उक्त प्रकार के लाभ धर्मपत्नी द्वारा सम्पन्न होते हैं ॥३०॥जहां पर स्त्री वर्तमान है, उसे 'गृह' कहा जाता है न कि केवल लकड़ी पाषाण व मिट्टी के संघात से बने हुए गृह को ॥ ३१ ॥ कुलवधुओं की रक्षा के निम्न उपाय हैं -१—गृह के काम धन्धों में निरन्तर लगाये रखना, २ उसे खर्च के लिये सीमित (थोड़ा) धन देना, ३ स्वच्छन्द न होने

A मु० मू० प्रतिमें 'सम्यग्वृत्ता इत्यादि' पाठान्तर है, जिसका अर्थ यह है कि जब तक कन्या का विवाह संस्कार नहीं होता तब तक वह वरी जाने पर भी (सगाई होने पर भी) संदेह का स्थान रहती है। —सम्पादक

देना—सन्तान-संरक्षण-आदि उत्तरदायित्व पूर्ण कार्यों में स्वतंत्रता देते हुए भी अपने अधीन रखना, ४ नीति एवं सदाचार की शिक्षा देना और माताके समान चिन्ह वाले स्त्रीजनोंद्वारा रोकरखना—अन्यत्र-न जाने देना (उसकी चौकसी रखना) ॥ ३३ ॥ वेश्याएं धोबीको शिला, कुत्तोके खप्पर समान सर्व-साधारण व घृणास्पद होती हैं, उनमें कौन कुलीन पुरुष अनुराग करेगा ? कोई नहीं ॥ ३३ ॥ वेश्याओं के निम्नप्रकार कुलपरम्परा से चले आने वाले कार्य हैं—१-दान करने में उनका भाग्य फूटा रहता है—जो कभी भी दान करना नहीं जानती, २—अनुरक्त पुरुषों द्वारा सम्मानित होने पर भी दूसरे पुरुषों से काम सेवन कराना, ३—आसक्त पुरुषोंका तिरस्कार वा घात करना, ४-अनुरक्त पुरुषोंद्वारा महान् उपकार किये जानेपर भी उनके प्रति अपनापन प्रगट न करना एवं ५-अनुरक्त पुरुषोंके साथ बहुत समयतक प्रेम संबंध रहने पर भी उनके द्वारा छोड़ दी जाने पर अन्य पुरुषों से रति कराना ॥ ३४ ॥

इति विवाह समुद्देश ।

—०—

३२—प्रकीर्णक समुद्देश ।

प्रकीर्णक व राजा का लक्षण, विरक्त एवं अनुरक्त के चिन्ह, काव्य के गुण-दोष, कवियों के भेद तथा लाभ, गीत, वाद्य तथा नृत्य-गुण—

समुद्र इव प्रकीर्णकसूक्तरत्नविन्यासनिबन्धनं प्रकीर्णकं॥१॥ वर्णपदवाक्यप्रमाणप्रयोगनिष्णातमतिः सुमुखः सुव्यक्तो मधुरगम्भीरध्वनिः प्रगल्भः प्रतिभावान् सम्यगूहापोहावधारणगमकशक्तिसम्पन्नःसंप्रज्ञातसमस्तलिपि भाषावर्णाश्रमसमयस्वपरव्यवहारस्थितिराशुलेखनवाचन समर्थश्चेति सान्धिविग्रहिकगुणाः॥२॥ कथाव्यवच्छेदो व्याकुलत्वं मुखे वैरस्यमनवेक्षणंस्थानत्यागः साध्वाचरितेपि दोषोद्भावनं विज्ञप्तेच मौनमक्षमाकालयापनमदर्शनं वृथाभ्युपगमश्चेति विरक्तलिंगानि ॥३॥ दूरादेवेक्षणं, मुखप्रसादः संप्रश्नेष्वादरः प्रियेषु वस्तुषु स्मरणं, परोक्षे गुणग्रहणं तत्परिवारस्य सदानुवृत्तिरित्यनुरक्तलिंगानि ॥ ४ ॥ श्रुतिसुखत्वमपूर्वाविरुद्धार्थातिशययुक्तत्वमुभयालंकारसम्पन्नत्वमन्यूनाधिकवचनत्वमतिव्यक्तान्वयत्वमिति काव्यस्य गुणाः ॥५॥ अतिपरुषवचनविन्यासत्वमनन्वितगतार्थत्वं दुर्बोधानुपपन्नपदोपन्यासमयथार्थयतिविन्यासत्वमभिधानाभिधेयशून्यत्वमिति काव्यस्य दोषाः ॥६॥ वचनकविरर्थकविरुभयकविश्चित्रकविर्वर्णकविर्दुष्करकविररोचकीसतुषाभ्यवहारी चेत्यष्टौ कवयः ॥ ७ ॥ मनःप्रसादः कलासु कौशलं सुखेन चतुर्वर्गविषयाव्युत्पत्तिराससंसारं च यश इति कविसंग्रहस्य फलं ॥ ८ ॥ आलप्तिशुद्धिर्माधुर्यातिशयः प्रयोगसौन्दर्यमतीवमसृणतास्थानकम्पितकुहरितादिभावो रागान्तरसंक्रान्तिः परिगृहीतरागनिर्वाहो हृदयग्राहिता चेति गीतस्य गुणाः ॥ ९ ॥ समत्वं ताला-

नुयायित्वं गेयाभिनेयानुगतत्वं श्लक्ष्णत्वं प्रव्यक्तयतिप्रयोगत्वं श्रुतिसुखावहत्वं चेति वाद्य-गुणाः ॥ १० ॥ दृष्टिहस्तपादक्रियासु समसमायोगः संगीतकानुगतत्वं सुश्लिष्टललिताभिनयांगहारप्रयोगभावो सर भावव्रृत्तिलावण्यभाव इति नृत्यगुणाः ॥११॥

अर्थ—जो समुद्र के समान फैले हुए सुभाषित-रूप रत्नों की रचना का स्थान है, उसे 'प्रकीर्णक' कहते हैं। अर्थात्—जिस प्रकार समुद्र में फैली हुई प्रचुर रत्नराशि वर्तमान होती है, उसी प्रकार प्रकीर्णक काव्य समुद्र में भी फैली हुई सुभाषित रत्न राशि पाई जाती है॥ १ ॥ वर्ण पद, वाक्य और तर्कशास्त्र इन विषयों में परिपक्व है बुद्धि जिसकी, स्पष्ट व सार्थक बोलने वाला, मधुर व गम्भीर है वाणी जिसकी, चतुर, प्रतिभाशाली (तेजस्वी), अपने हृदय में योग्य-अयोग्य के ज्ञान को धारण करने की शक्ति से सम्पन्न, समस्त देशों की लिपि, भाषा तथा चार वर्ण (ब्राह्मणादिक) व चार आश्रमों (ब्रह्मचारी आदि) के शास्त्र का वेत्ता, सम्पूर्ण स्व और पर का व्यवहार का जानकार तथा शीघ्र लिखने व बाँचने की कला में प्रवीण ये राजा के गुण हैं। अर्थात् उक्त गुणों से अलंकृत पुरुष राजा होने लायक है॥ २॥ जो कथा को ध्यान पूर्वक न सुने व उसे सुनता हुआ भी व्याकुल हो जाय, जिसकी मुखाकृति उस समय म्लान हो जाय, बात कही जाने पर जो वक्ता के सामने दृष्टिपात न करे, जिस स्थान पर बैठा हो वहाँ से उठकर दूसरी जगह चला जाय वक्ता द्वारा अच्छे कार्य किये जाने पर भी उसे दोषी बतावे, समझाने पर भी जो मौन धारण कर ले कुछ भी उत्तर न देवे, जो स्वयं क्षमा (वक्ता की बात को सहन करने की शक्ति) न होने के कारण अपना काल क्षेप करता हो–निरर्थक समय बिताता हो, जो वक्ता को अपना मुख न दिखावे और अपने वायदा को झूठा करता हो ये कथा से या अपत से विरक्त रहने वाले मनुष्य के चिन्ह हैं। अर्थात्—उक्त चिन्हों से विरक्त की परीक्षा करनी चाहिये॥ ३॥ अपने को दूर से आता हुआ देखकर जिसका मुख कमल विकसित होजाय कुछ प्रश्न किये जाने पर जो अपना सन्मान करे अपने द्वारा पूर्व में की हुई अभीष्ट वस्तुओं (उपकारआदि) का स्मरण करने वाला (कृतज्ञ) परोक्ष में गुण-कीर्तन करने वाला व अपने (मित्र के) परिवार से सदा स्नेह-वृत्ति धारण करने वाला ये अपने से अनुरक्त (अनुराग करने वाले) पुरुष के चिन्ह हैं। अर्थात् नैतिक पुरुष उक्त लक्षणों से युक्त पुरुष को अपने में अनुरक्त समझे॥ ४॥

श्रवण करने से श्रोत्रेन्द्रिय को प्रिय लगने वाला अपूर्व (नवीन) व विरोधादि दोष शून्य (निर्दोष) अर्थ का निरूपण करने के कारण अतिशय युक्त (श्रेष्ठ) शब्दालङ्कार-अनुप्रास आदि और अर्थालंकार (उपमा उत्प्रेक्षा-प्रभृति) से व्याप्त, हीन अधिक वचनोंसे रहित और जिसका अन्वय अति स्पष्ट हो—जो दूरान्वयी न हो ये काव्य के गुण हैं। अर्थात् उक्त गुण-युक्त काव्य उत्तम माना गया है॥ ५॥ जिसमें श्रुति-कटु वचन (श्रोत्र को अप्रिय लगने वाले कठोर) पदोंकी रचना व अप्रसंगत अर्थ पाया जावे, दुर्बोध (कठिन) एवं अयोग्य शब्दों की रचना से युक्त, छन्द–भ्रष्ट होने के कारण जिसमें यथार्थ यतिविन्यास (विश्रान्त की रचना) न हो, जिसकी पद–रचना कोशविरुद्ध हो, जिसमें स्वरुचि-कल्पित (मन गढन्त) ग्राम्य (असभ्य) पद रचना वर्त्तमान हो, ये काव्य के दोष हैं। कवि आठ

प्रकार के होते हैं—१ वचन कवि जो आचार्य श्री वीरनन्दी कालीदास आदिके समान ललित पदों द्वारा काव्य रचना करता हो, २ अर्थकवि जो महाकवि हरिचन्द्र व भारवि कवि समान गूढ़ार्थ वाले काव्य का रचयिता हो, ३—उभय कवि जो भगवज्जिनसेचार्य या माघ कवि समान ललित शब्द युक्त और गूढ़ार्थ युक्त काव्य माला का गुम्फन करता हो, ४—चित्र कवि (चित्रालंकारयुक्त काव्य रचयिता), ५—वर्ण कवि (शब्दाडम्बर युक्त) काव्य बनाने वाला, ६—दुष्करि कवि - चाणिक्य आदि कवियों के समान अत्यन्त कठिन शब्द कुसुमों द्वारा काव्य माला गुम्फित करने वाला, ७—अरोचकी जिसकी काव्य रचना रुचिकर न हो, और ८—सम्मुखाभ्यवहारी—श्रोताओं के समक्ष तत्काल काव्यरचना करने वाला ॥ ७ ॥

मानसिक प्रसन्नता, ललितकलाओं (पद्यरचनाकी कला आदि) में चातुर्य, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थों का सरलता से सम्यग्यान होना, एवं उमास्वामी आचार्य व व्यास आदि के समान संसार पर्यन्त स्थायी कीर्ति रहना इतनी चीजों का लाभ कवि होने से होता है ॥ ८ ॥ षड्ज, ऋषभ गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद, (सा, रे, गा, मा, पा, धा, नी,) इन सातों स्वरों का आलाप शुद्ध (एक स्वरमें दूसरे स्वरका सांकर्य—सम्मिश्रण न होना)हो श्रोत्रेन्द्रियको अत्यन्त प्रिय मालूम हो. (जिसमें अत्यन्त मिठास हो) सुकोमल पद रचना—युक्त अथवा अभिनय (नाट्य) क्रियामें निपुणता का प्रदर्शक हो, जिसके पदोच्चारण में घनाई हो, जिसमें त्रिमात्रा वाले षड्ज व ऋषभ आदि स्वरों का विस्तार (आरोहीपन) व संकोच (अवरोहीपन) वर्तमान हो, जिसमें एक राग से दूसरे राग का संक्रमण वर्तमान हो अथवा राग-वेध पाया जावे, जिस राग में गीत प्रारम्भ किया गया हो उसी राग में उसका निर्वाह (समाप्ति) हो एवं जिसे सुन कर हृदय फड़क (अत्यन्त आल्हादित) उठे ये गायन के गुण हैं ॥ ९ ॥ कर्कशता-शून्य, पांच प्रकार का ताल तथा व गीत व नृत्य के अनुकूल वजने वाला, वाद्य (वाजे) संबन्धी दोषों से रहित (निर्दोष) जिसमें यति (विश्रान्ति) यथोचित व प्रगट रीतिसे पाई जावे एवं जिनके सुनने से श्रोत्रेन्द्रिय को सुख प्रतीत हो, ये वाजे के गुण हैं ॥ १० ॥ जिसमें नेत्र, हाथ व पैरों की संचालन क्रिया का एक काल में मिलाप गाने व बजाने के अनुकूल एवं यथोचित पाया जावे संगीत (गाने बजाने) का अनुसरण करने वाला, जिसमें गायनाचार्य द्वारा सूचित किये हुये सघन और ललित अभिनय (नृत्य) द्वारा अङ्ग-संचालन अभिव्यक्त किया गया हो तथा शृङ्गार आदि नवरस और आलम्बन भाव व उद्दीपन भावों के प्रदर्शन से जिसमें दर्शकों को लावण्य प्रतीत हो, ये नृत्यके गुण हैं अर्थात् उक्त गुणों वाला नृत्य श्रेष्ठ माना गया है ॥ ११ ॥

महापुरुष, निंद्य गृहस्थ, तत्कालीन सुख चाहने वालों के कार्य, दान-विचार, कर्जा देने के कटु-फल, कर्जा लेनेवाले के स्नेहादि की अवधि, सत्यासत्य निर्णय व पापियोंके दुष्कर्म—

स महान् यः खल्वार्तोऽपि न दुर्वचनं ब्रूते ॥ १२ ॥ स किं गृहाश्रमी यत्रागत्यार्थिनो न भवन्ति कृतार्थाः ॥ १३ ॥ ऋणग्रहणेन धर्मः सुखं सेवा वणिज्या च तादात्विकानां नायतिहितवृत्तीनां ॥ १४ ॥ स्वस्य विद्यमानमर्थिभ्यो देयं नाविद्यमानं ॥ १५ ॥ ऋण-दातुरासन्नं फलं परोपास्तिः कलहः परिभवः प्रस्तावेऽर्थालाभश्च॥१६॥ अदातुस्तावत्स्नेहः

धाजेन्यं प्रियभाषणं वा साधुता च यावन्नार्थावाप्तिः ॥ १७ ॥ तदसत्यमपि नासत्यं यत्र न सम्भाव्यार्थहानिः ॥ १८ ॥ प्राणवधे नास्ति कश्चिदसत्यवादः ॥ १९ ॥ अर्थाय मातरमपि लोको हिनस्ति किं पुनरसत्यं न भाषते ॥ २० ॥

अर्थ—जो शिष्ट पुरुष दुःखी होने पर भी किसी के सामने दुर्वचन (कटु शब्द) नहीं कहता, वही महापुरुष है ॥ १२ ॥ जिसके पास आकर याचक लोग कृतार्थ (संतुष्ट) नहीं होते, वह गृहस्थ निन्द्य है ॥ १३ ॥

शुक्र[1] व गुरु[2] ने उक्त प्रकार महापुरुष का एवं निर्धन गृहस्थ को भी आये हुये याचकों के लिये आसन, जमीन, पानी और मीठी वाणी देने का उल्लेख किया है ॥ १-२ ॥

तत्कालीन क्षणिक सुख चाहने वाले पुरुष धनाढ्यों से ऋण लेकर उस धन से दान-पुण्यादि धर्म, सांसारिक सुखों (विवाह आदि) का उपभोग और राजा का सन्मान एवं व्यापार करते हैं, परन्तु भविष्यमें स्थायी सुख चाहने वाले नहीं ॥ १४ ॥ दाता याचकों के लिये अपने मौजूद धनादि वस्तु देवे, गैरमौजूद नहीं। अर्थात् उसे कर्जा लेकर दान नहीं करना चाहिये ॥ १५ ॥

गर्ग[3] ने भी उक्त दोनों विषयों का इसी प्रकार समर्थन किया है ॥ १-२ ॥ कर्जा देने वाले धनाढ्य पुरुष को निम्न प्रकार कटुफल भोगने पड़ते हैं। १—सबसे पहला निकट फल परोपासित (ऋण लेने वाले की सेवा-सुश्रूषा करना), २—कलह (धन-प्राप्ति न होने से कर्जा लेने वाले के साथ लड़ाई झगड़ा होना), ३—तिरस्कार (ऋण लेने वाले के द्वारा अपमानित होना), ४—अवसर पड़ने पर धन न मिलना। निष्कर्ष—किसी को ऋण रूप में धन देना उचित नहीं ॥ १६ ॥ धनाढ्य के साथ तभी तक स्नेह, प्रिय भाषण व सज्जनता प्रकट करता है, जब तक कि उसे उससे धन-प्राप्ति नहीं हुई। अर्थात् धन प्राप्त हो जाने पर वह उसके साथ उक्त शिष्ट व्यवहार (स्नेहादिक) नहीं करता ॥ १७ ॥

अत्रि[4] एवं शुक्र[5] ने भी ऋण देनेसे हानि व ऋण लेने वालेके बारे में यही कहा है ॥१-२॥ वह वचन असत्य होनेपर भी असत्य नहीं माना जासकता, जिससे सम्भावना किये हुये इष्ट प्रयोजन (प्राण-रक्षा) आदि की क्षति नहीं होती—उसकी सिद्धि होती है, क्योंकि वक्ता के वचनोंमें सत्यता वा असत्यता का निर्णय लौकिक प्रमाण—किसी के कहने मात्र—से नहीं किया जा सकता, किन्तु नैतिक विचार द्वारा ही किया जासकता है, अतः गुरुतर इष्ट प्रयोजन की सिद्धि के अभिप्राय से कहे हुये मिथ्या वचन

---

१ तथा च शुक्रः—दुर्वाक्यं नैव यो ब्रूयादत्यर्थं कुपितोऽपि सन्। स महत्वमवाप्नोति समस्ते धरणीतले ॥ १ ॥

२ तथा च गुरुः—तृणानि भूमिरुदकं वाचा चैव तु सूनृता। दरिद्रैरपि दातव्यं समासन्नस्य चार्थिनः ॥ १ ॥

३ तथा च गर्गः—धर्मकृत्यं ऋणप्राप्त्या सुखं सेवापरं परं। तादात्विकविनिर्दिष्टं तद्धनस्य न चापरं ॥ १ ॥

अविद्यमानं यो दद्यादृणं कृत्वापि वल्लभः। कुटुम्बं पीड्यते येन तस्य पापस्य भाग्भवेत् ॥ २ ॥

४ तथा च अत्रिः—उद्धारकप्रदातॄणां त्रयो दोषाः प्रकीर्तिताः। स्वार्थदानेन सेवा च युद्धं परिभवस्तथा ॥ १ ॥

५ तथा च शुक्रः—तावत्स्नेहस्य बन्धोऽपि ततः पश्चाच्च साधुता। ऋणकस्य मनेद्यावत्तस्य गृह्णाति नो धनम् ॥ १ ॥

मिथ्या नहीं कहे जा सकते ॥ १८ ॥ प्राण-घात के समय उनकी रक्षार्थ कहा हुआ असत्य वचन असत्य नहीं भी है ॥ १९ ॥

बादरायण[1] ने गुरुतर प्रयोजन साधक वचनों को सत्य और व्यास[2] ने भी प्राण वध आदि पांच अवसरों पर प्रयुक्त किये हुये पांच प्रकार के मिथ्या भाषण को निष्पाप सत्य बताया है ॥ १-२ ॥

जब कि पापी पुरुष धन के लिये माता का भी घात कर डालता है, तब क्या वह उसके लिये मिथ्याभाषण नहीं करता? अवश्य करता है। अतः धन के विषय में किसी पर विश्वास नहीं करना चाहिये चाहे वह अनेक प्रकार की शपथ भी खावे ॥ २० ॥

शुक्र [3] ने भी उक्त दृष्टान्त देते हुये उक्त बात का समर्थन किया है ॥ १ ॥

भाग्याधीन वस्तुएं, रतिकालीन पुरुष-वचनों की मीमांसा, दाम्पत्य-प्रेम की अवधि, युद्ध में पराजय का कारण, स्त्री को सुखी बनाने से लाभ, लोगों की विनयतत्परता की सीमा, अनिष्ट का प्रतीकार, स्त्रियों के बारे में व साधारण मनुष्य से लाभ, एवं लेख व युद्ध संबन्धी नैतिक विचारधारा—

सत्कलासत्योपासनं हि विवाहकर्म, दैवायत्तस्तु वधूवरयोर्निर्वाहः A ॥ २१ ॥ रतिकाले यन्नास्ति कामार्तो यन्न ब्रूते पुमान् न चैतत्प्रमाणं ॥ २२ ॥ तावत्स्त्रीपुरुषयोः परस्परं प्रीतिर्यावन्न प्रातिलोम्यं कलहो रतिकैतवं च ॥ २३ ॥ तादात्विकबलस्य कुतो रणे जयः प्राणार्थः स्त्रीषु कल्याणं वा ॥ २४ ॥ तावत्सर्वः सर्वस्यानुवृत्तिपरो यावन्न भवति कृतार्थः B ॥ २५ ॥ अशुभस्य कालहरणमेव प्रतीकारः ॥ २६ ॥ पक्वान्नादिव स्त्रीजनाद्दाहोपशान्तिरेव प्रयोजनं किं तत्र रागविरागाभ्यां ॥ २७ ॥ तृणेनापि प्रयोजनमस्ति किं पुनर्न पाणिपादवता मनुष्येण ॥ २८ ॥ न कस्यापि लेखमवमन्येत, लेखप्रधाना हि राजानस्तन्मूलत्वात् सन्धि-विग्रहयोः सकलस्य जगद्व्यापारस्य च ॥ २९ ॥ पुष्पयुद्धमपि नीतिवेदिनो नेच्छन्ति किं पुनः शस्त्रयुद्धं ॥ ३० ॥

---

१ तथा च वादरायणः—तदसत्यमपि नासत्यं यदत्र परिगीयते। गुरुकार्यस्य हानिं च ज्ञात्वा नीतिरिति स्फुटम् ॥ १ ॥

२ तथा च व्यासः—नासत्ययुक्तं वचनं हिनस्ति, न स्त्रीषु राजा न विवाहकाले।
प्राणात्यये सर्वधनापहारी, पंचानृतान्याहुरपातकानि ॥ १ ॥

३ तथा च शुक्रः—अपि स्याद्यदि मातापि तां हिनस्ति जनोऽधनः। किं पुनः कोशपानाद्यं तस्मादर्थे न विश्वसेत् १

A 'सकलासत्योपायनं किं? विवाहकर्म' इत्यादि पाठान्तर मु० मू० प्रति में वर्तमान है जिसका अर्थ यह है कि समस्त झूठी भैंट क्या है? विवाहकर्म; उसमें दम्पतियोंका निर्वाह (जीवन-रक्षा) भाग्याधीन है अर्थात् भाग्य अनुकूल होने पर ही उनका निर्वाह होसकता है, अन्यथा नहीं। —संपादक।

B इसके पश्चात् मु० मू० प्रति में 'सहसम्भवो देहोऽपि नामुत्र सहानुयायी किं पुनरन्यः' ऐसा विशेष पाठ वर्तमान है, जिसका अर्थ यह है कि जीवके साथ उत्पन्न हुआ शरीर भी जब इसके साथ दूसरे भव में नहीं जाता तब क्या अन्य पदार्थ जा सकते हैं? नहीं जासकते ॥ १ ॥—सम्पादक

अर्थ—पूर्व कर्मानुसार मनुष्यों को प्रशस्त कलाएं, सत्य की उपासना व विवाह संबन्ध प्राप्त होता है, परन्तु विवाह सम्बन्ध हो जाने पर भी दम्पति का निर्वाह उनके भाग्य की अनुकूलता के अधीन है ॥ २१ ॥ काम- पीड़ित पुरुष रति (काम-सेवन) के अवसर पर ऐसा कोई वचन (सत्य व झूंठ) बाकी नहीं रखता, जिसे वह अपनी प्रियतमा (स्त्री) से नहीं बोलता—वह सभी प्रकार के सत्य असत्य वचन बोलता है, परन्तु उसके वे वचन प्रामाणिक नहीं होते। अभिप्राय यह है कि विषयाभिलाषी व सज्जाति सन्तान के इच्छुक पुरुष को रतिकाल के समय तात्कालिक प्रिय (मधुर) वचनों द्वारा अपनी प्रिया को अनुरक्त करना चाहिये ॥ २२ ॥

गुरु [1] व राजपुत्र [2] ने भी विद्या व विवाह आदि को भाग्याधीन व काम-पीड़ित पुरुष का रतिकालीन उक्त कर्तव्य बताया है ॥ १–२ ॥

दम्पतियों में तभी तक पारस्परिक प्रेम रहता है, जब तक कि उनमें प्रतिकूलता, कलह और विषयोपभोग संबन्धी कुटिलता नहीं पाई जाती ॥ २३ ॥ जिस विजिगीषु के पास थोड़े समय तक टिकने वाली अल्प सैन्य वर्तमान है वह युद्ध में शत्रु से विजयश्री किस प्रकार प्राप्त कर कर सकता है ? नहीं कर सकता। इसी प्रकार स्त्रियों का कल्याण (उपकार) करने से भी मनुष्य अपनी प्राण-रक्षा नहीं कर सकता अतः युद्ध में विजयश्री के लाभार्थ प्रचुर सैन्य शक्ति होनी चाहिये तथा विवेकी पुरुष स्त्रियों के प्रति किये हुये उपकार को प्राण-रक्षा का साधन न समझे ॥ २४ ॥

राजपुत्र [3] व शुक्र [4] ने भी दाम्पत्यप्रेम व अल्प सैन्य वाले विजिगीषु के विषय में उक्त बात का समर्थन किया है ॥ १-२ ॥

जब तक लोग दूसरों के द्वारा कृतार्थ (अपनी प्रयोजन-सिद्धि करने वाले) नहीं होते, तभी तक सभी लोग सभी के साथ विनय शीलता दिखाते हैं, परन्तु प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर कौन किसे पूंछता है ? कोई नहीं पूंछता ॥ २५ ॥ अशुभ करने वाले (विरोधी) व्यक्ति से समय पर न मिलना ही उसके शान्त करने का उपाय है। अर्थात् जब शत्रुता करने वाला मनुष्य समय का उल्लंघन और मिष्ट वचनों द्वारा वंचना किया जाता है, तभी वह शान्त होता है, अन्यथा नहीं ॥ २६ ॥

व्यास [5] व नारद [6] ने भी कृतार्थ व अशुभ करने वाले पदार्थके विषयमें उक्तबातकी पुष्टि की है ॥ १-२॥ जिस प्रकार बुभुक्षित (भूखे) को क्षुधा की निवृत्ति करनेके लिये पके हुये अन्न से प्रयोजन रहता है, उसी प्रकार काम रूपी अग्नि से संतप्त हुये पुरुष को भी शारीरिक आताप (मैथुनेच्छा) को

---

१ तथा च गुरुः—विद्यापत्यं विवाहश्च दंपत्योश्चामिता रतिः। पूर्वकर्मानुसारेण सर्वं सम्पद्यते सुखं ॥ १ ॥

२ तथा च राजपुत्रः—नान्यचिन्तां भजेन्नारीं पुरुषः कामपंडितः। यतो न दर्शयेद्भावं नैवं गर्भं ददाति च ॥ १ ॥

३ तथा च राजपुत्रः—ईर्ष्यात्कलहकौटिल्यं दम्पत्योर्जायते यदा। तदा कोशविदेहंगस्ताभ्यामेव परस्परं ॥ १ ॥

४ तथा च शुक्रः—तावन्मात्रं बलं यस्य नान्यत् सैन्यं करोति च। शत्रुभिर्हीनसैन्यः स लक्षयित्वा निपात्यते ॥ १ ॥

५ तथा च व्यासः—सर्वस्व हि कृतार्थस्य मतिरन्या प्रवर्तते। तस्मात् सा देवकार्यस्य किमन्यैः पोषितैः विटैः ॥ १ ॥

६ तथा च नारदः—अशुभस्य पदार्थस्य भविष्यस्य प्रशान्तये। कालातिक्रमणं मुक्त्वा प्रतीकारो न विद्यते ॥ १ ॥

शांत करने के लिये स्त्री से प्रयोजन रहता है, अन्य कोई प्रयोजन नहीं। इसलिये उनमें अनुराग (प्रेम) व विराग (विरोध) करने से कोई लाभ नहीं। अर्थात् उनके साथ माध्यस्थ्य भाव रक्खे। क्योंकि उनमें विशेष अनुरक्त व आसक्त पुरुष धार्मिक (दान-पुण्यादि) व आर्थिक (व्यापार आदि) कार्यों से विमुख होने के कारण अपनी धार्मिक व आर्थिक क्षति कर डालता है, एवं उनसे विरोध रखने वाला काम पुरुषार्थ से वंचित रह जाता है, अतः स्त्रियों के प्रति माध्यस्थ्य भाव ही श्रेयस्कर है॥ २७ ॥ जबकि तिनकेसे भी मनुष्यका प्रयोजन (दन्त-शुद्धि आदि सिद्ध होता है तब क्या हाथ पांव वाले मनुष्य से उसका प्रयोजन सिद्ध न होगा अवश्य सिद्ध होगा? अतः उसे उत्तम, मध्यम व अधम सभी के साथ मैत्री रखनी चाहिये एवं अधम पुरुष की अवज्ञा नहीं करनी चाहिये ॥ २८ ॥

गौतम [1] व विष्णुशर्मा [2] ने भी उक्त दोनों बातों का समर्थन किया है॥ १-२ ॥

विजिगीषु अथवा विवेकी पुरुष किसी भी साधारण व्यक्ति के लेख (पत्र) की अवज्ञा (तिरस्कार) न करे क्योंकि राजा लोग लेख द्वारा ही शत्रु की चेष्टाका ज्ञान करते हैं, इसलिये वे लेखप्रधान कहे जाते हैं एवं सन्धि, विग्रह व समस्त संसार के व्यापार की स्थिति का ज्ञान भी लेख द्वारा ही होता है॥ २९ ॥ नीति के वेत्ता पुरुष पुष्पों द्वारा भी युद्ध करना नहीं चाहते, तब शस्त्र-युद्ध किस प्रकार चाहेंगे? नहीं चाहेंगे॥ ३० ॥

गुरु [3] व विदुर [4] ने भी लेख व युद्ध के विषय में उक्त बात की पुष्टि की है॥ १-२ ॥

स्वामी और दाता का स्वरूप, राजा, परदेश, बन्धु-हीन दरिद्र तथा धनाढ्य के विषय में, निकट विनाश वाले की बुद्धि, पुण्यवान, भाग्य की अनुकूलता, कर्मचाण्डाल एवं पुत्रों के भेद—

स प्रभुर्यो बहून् बिभर्ति किमर्जुनतरोः फलसम्पदा या न भवति परेषामुपभोग्या ॥३१॥ मार्गपादप इव स त्यागी यः सहते सर्वेषां संबाधां ॥ ३२ ॥ पर्वता इव राजानो दूरतः सुन्दरालोकाः ॥ ३३ ॥ वार्तारमणीयः सर्वोऽपि देशः ॥ ३४ ॥ अधनस्याबान्धवस्य च जनस्य मनुष्यवत्यपि भूमिर्भवति महाटवी ॥ ३५ ॥ श्रीमतो ह्यरण्यान्यपि राजधानी ॥ ३६ ॥ सर्वस्याप्यासन्नविनाशस्य भवति प्रायेण मतिर्विपर्यस्ता ॥ ३७ ॥ पुण्यवतः पुरुषस्य न क्वचिदप्यस्ति दौःस्थ्यं ॥ ३८ ॥ दैवानुकूलः कां सम्पदं न करोति विघटयति वा विपदं ॥३९॥ असूयकः पिशुनः कृतघ्नो दीर्घरोप इति कर्मचाण्डालाः ॥४०॥ औरसः क्षेत्रजो दत्तः कृत्रिमो

---

१ तथा च गौतमः—न रागो न विरागो वा स्त्रीणां कार्यो विचक्षणैः। पक्वान्नमिव तापस्य शान्तये स्याच्च सर्वदा ॥१॥

२ तथा च विष्णुशर्मा:—दन्तस्य निष्कोषणकेन नित्यं, कर्णस्य कण्डूयनकेन चापि।
तृणेन कार्यं भवतीश्वराणां किं पादयुक्तेन नरेण न स्यात् ॥ १ ॥

३ तथा च गुरुः—लेखमुख्यो महीपालो लेखमुख्यं च चेष्टितं। दूरस्थस्यापि लेखो हि लेखोऽतो नावमन्यते ॥ १ ॥

४ तथा च विदुरः—पुष्पैरपि न योद्धव्यं किं पुनः निशितैः शरैः। उपायपतया ? पूर्वं तस्माद् युद्धं समाचरेत् ॥ १ ॥

द्वितीयोत्पन्नोऽपविद्ध एते षट् पुत्रा दायादाः पिण्डदाश्च A ॥ ४१ ॥

अर्थ—जो साधारण धनवाला होकरके भी अपनी उदारता के कारण बहुत से मनुष्यों का पालन-पोषण करता है, वही स्वामी है और जो स्वामी धनाढ्य होकर कृपणता-वश ऐसा नहीं करता वह दूसरोंके द्वारा उपभोगमें न आने वाली अर्जुन वृक्षकी फलसम्पत्तिके समान निरर्थक व निन्द्य गिना जाता है ॥ ३१ ॥ जो रास्तेमें रहने वाले वृक्षके समान समस्त अभ्यागत या याचकों के उपद्रव सहन करता हुआ क्लेशित नहीं होता, वही दाता है। अर्थात्— जिस प्रकार रास्ते में वर्तमान वृक्ष पान्थों द्वारा किए जाने वाले उपद्रव (पुष्प व फल तोड़ना) सहन करता है, उसी प्रकार भोजन व शयनादि के दान द्वारा अभ्यागतों को सन्मानित करने वाला दाता भी उनके द्वारा दिये जाने वाले कष्ट सहन करता है ॥ ३२ ॥

व्यास[1] और गुरु[2] ने भी स्वामी और दाताके विषय में इसी प्रकारका उल्लेख किया है ॥१-२॥

राजा लोग पर्वतोंके समान दूर से ही सुन्दर दिखाई देते हैं, समीप में जाने से नहीं। अर्थात्— जिस प्रकार पर्वत पार्श्व भाग-आदि के कारण दूर से मनोहर और समीप में जाने पर अनेक थूहर-आदि कटीले वृक्षों व बड़ी २ विशाल चट्टानों के कारण चढ़ने में कष्टदायक होते हैं, उसी प्रकार राजा लोग भी छत्र-चामरादि विभूति-युक्त होने से दूर से रमणीक दृष्टिगोचर होते हैं, परन्तु पास जाने से कष्टदायक—आर्थिक दण्ड आदि द्वारा पीड़ित करने वाले होते हैं, अतः उनसे दूर रहना ही श्रेष्ठ है ॥३३॥ सभी देश उनके बारेमें कही जाने वाली लोगों की सुन्दर बातें सुननेसे रमणीक मालूम पड़ते हैं, अतः बिना परीक्षा किए ही किसी के कहने मात्र से परदेश को गुण-युक्त जानकर स्वदेश का त्याग करना उचित नहीं ॥३४॥

गौतम[3] और रैभ्यने[4] भी राजाओं व परदेशके विषयमें इसी प्रकारका उल्लेख किया है ॥१-२॥

निर्धन (दरिद्र) और बन्धुहीन पुरुष को अनेक मनुष्यों से व्याप्त पृथिवी भी महान् अटवी के समान दुःखदायक है, क्योंकि उसे दारिद्र्य व कुटुम्बहीनता के कारण वहां सांसारिक सुख नहीं मिल सकता। धनाढ्य पुरुष को वनस्थली भी राजधानी समान सुख देने वाली हो जाती है ॥ ३५-३६ ॥

रैभ्य[5] ने भी दरिद्र व बन्धुहीन व्यक्ति के बारे में इसी प्रकार का कथन किया है ॥ १ ॥

A इसके पश्चात् मु०मू०प्रतिमें 'कानीनः सहोढः क्रीतः पौनर्भवः स्वयंदत्तः शौद्रश्चेति षट्पुत्रा न दायादा नापि पिण्डदाश्च' ॥१॥ इतना विशेष पाठ है, जिसका अर्थ यह है कि कानीन (कन्यासे उत्पन्न हुआ) सहोढ, (दामाद) क्रीत-(पैसे से लिया हुआ) पौनर्भव (विधवासे उत्पन्नहुआ) स्वयंदत्त और शूद्र स्त्री से उत्पन्न हुआ ये पुत्र अधम होने से न पैत्रिक सम्पत्ति के अधिकारी होते हैं और न पिताको स्मृत्यर्थ आहारादि दान देनेवाले। —संपादक

१ तथा च व्यासः— स्वल्पवित्तोऽपि यः स्वामी यो बिभर्ति बहून् सदा। प्रभूतफलयुक्तोऽपि सम्पदाप्यर्जुनस्य च ॥१॥

२ तथा च गुरुः—यथा मार्गतरुस्तद्वत्सहते य उपद्रवं। अभ्यागतस्य लोकस्य स त्यागी नेतरः स्मृतः ॥ १ ॥

३ तथा च गौतमः—दुरारोहा हि राजानः पर्वता इव चोन्नताः। दृश्यन्ते दूरतो रम्याः समीपस्थाश्च कष्टदाः ॥ १ ॥

४ तथा च रैभ्यः—दुर्भिक्षाढ्योऽपि दुःस्थोऽपि दूराजसहितोऽपि च। स्वदेशं च परित्यज्य नान्यस्मिंश्चिच्छुभे व्रजेत् १

५ तथा च रैभ्यः—निर्धनस्य मनुष्यस्य बान्धवैः रहितस्य च। प्रभूतैरपि संकीर्णा जनैर्भूमिर्महाटवी ॥ १ ॥

विनाशकाल के निकट आने पर प्रायः सभी की बुद्धि विपरीत (उल्टी) हो जाती है, क्योंकि निकट विनाश वाला व्यक्ति अपने हितैषियों की निन्दा व शत्रु की प्रशंसा आदि विपरीत कार्य करता है, जिससे प्रतीत होता है कि इसका विनाश निकट है ॥ ३७ ॥ भाग्यशाली पुण्यवान् पुरुष को कभी भी आपत्तियां नहीं होतीं ॥३८॥ दैव— पूर्वजन्ममें किए हुए कर्म (भाग्य) की अनुकूलता होने पर भाग्यशाली पुरुष को कौन २ सी सम्पत्तियां प्राप्त नहीं होतीं ? सभी सम्पत्तियां प्राप्त होती हैं और उसकी कौन २ सी विपत्तियां नष्ट नहीं होतीं ? सभी नष्ट हो जाती हैं ॥ ३९ ॥

गर्ग [1] व हारीत [2] ने भी निकट विनाश वाले और भाग्यशाली के विषयमें उक्त बातका समर्थन किया है ॥ १-२ ॥

दूसरों की निन्दा करने वाला, चुगलखोर, कृतघ्न—उपकार को न मानने वाला (गुणमेटा) और दीर्घकाल तक क्रोध करने वाला ये चारों मनुष्य अनीति के कारण कर्मचाण्डाल हैं ॥ ४० ॥

गर्ग [3] ने भी उक्त चार प्रकार के मनुष्यों को कर्मचाण्डाल माना है ॥ १ ॥

औरस (धर्मपत्नी से उत्पन्न हुआ पुत्र), क्षेत्रज (दूसरे स्थान में धर्मपत्नी से उत्पन्न हुआ), दत्त (गोद लिया हुआ) कृत्रिम—बन्धन से मुक्त किया हुआ, गूढ़ोत्पन्न (गूढ़ गर्भ से उत्पन्न हुआ), और अपविद्ध (पति के अन्यत्र चले जाने पर या मरने के बाद उत्पन्न हुआ) यह छह प्रकार के पुत्र दायाद पैतृकसम्पत्ति के अधिकारी और पिता के स्वर्गारोहण के पश्चात् उसकी स्मृति में अन्नादि (पिण्ड)का दान करने वाले हैं ॥ ४१ ॥

अन्य नीतिकारों [4] नेभी उक्त छह प्रकार के पुत्र कहे हैं ॥ १-३ ॥

दायभाग के नियम, अति परिचय, सेवक के अपराधका दुष्परिणाम, महत्ताका दूषण, रति-आदि की वेला, पशुओं के प्रति वर्ताव, मतवाले हाथी व घोड़े की क्रीड़ा, ऋण, व्याधि-ग्रस्त शरीर, साधुजीवन-युक्त महापुरुष, लक्ष्मी, राजाओं का प्रेमपात्र व नीच पुरुष—

देशकालकुलापत्यस्त्रीसमापेक्षो दायादविभागोऽन्यत्र यतिराजकुलाभ्यां ॥ ४२ ॥ अति परिचयः कस्यावज्ञां न जनयति ॥ ४३ ॥ भृत्यापराधे स्वामिनो दण्डो यदि भृत्यं न मुञ्चति ॥ ४४ ॥ अलं महत्तया समुद्रस्य यः लघुं शिरसा वहत्यधस्ताच्च नयति गुरुम् ४५ रतिमंत्राहारकालेषु न कमप्युपसेवेत ॥४६॥ सुष्ठुपरिचितेष्वपि तिर्यक्षु विश्वासं न गच्छेत् ४७

---

१ तथा च गर्गः—सर्वेष्वपि हि कृत्येषु वैपरीत्येन वर्तते । यदा पुमांस्तदा ज्ञेयो मृत्युना सोऽवलोकितः ॥ १ ॥

२ तथा च हारीतः—यस्य स्यात् प्राक्तनं कर्म शुभं मनुजधर्मणः । अनुकूलं तदा तस्य सिद्धिं यान्ति समृद्धयः ॥ १ ॥

३ तथा गर्गः—पिशुनो निंदकश्चैव कृतघ्नो दीर्घरोषकृत् । एते तु कर्मचाण्डाला जात्या दैव तु पंचमः ॥ १ ॥

४ तथा चोक्तमन्यत्र:—औरसो धर्मपत्नीतः संजातः पुत्रिकासुतः । क्षेत्रजः क्षेत्रजातः स्वगोत्रेणेतरेण वा ॥ १ ॥

दद्यान्माता पिता बन्धुः स पुत्रो दत्तसंज्ञितः । कृत्रिमो मोचितो बन्धात् स्वयमुदेन वा [illegible] ॥२॥

गृहप्रच्छन्नकोत्पन्नो गूढजस्तु सुतः स्मृतः । गते मृतेऽथवोत्पन्नः सोऽपविद्धसुतः परः ॥ ३ ॥

मत्तवारणारोहिणो जीवितव्ये सन्देहो निश्चितश्चापायः ॥ ४८ ॥ अत्यर्थं हयविनोदोऽङ्गभङ्गमनापाद्य न तिष्ठति ॥ ४९ ॥ ऋणमददानो दासकर्मणा निर्हरेत् ॥ ५० ॥ अन्यत्र यतिब्राह्मणक्षत्रियेभ्यः॥५१॥ तस्यात्मदेह एव वैरी यस्य यथालाभमशनं शयनं च न सहते ॥५२॥ तस्य किमसाध्यं नाम यो महामुनिरिव सर्वान्नीनः सर्वक्लेशसहः सर्वत्र सुखशायी च ॥५३॥ स्त्रीप्रीतिरिव कस्य नामेयं स्थिरा लक्ष्मीः ॥५४॥ परपैशून्योपायेन राज्ञां वल्लभो लोकः ५५ नीचोमहत्त्वमात्मनो मन्यते परस्य कृतेनापवादेन ॥ ५६ ॥

अर्थ—आचार्य-कुल व राजकुल को छोड़कर दायभाग (पैतृक सम्पत्ति प्राप्त करना) के अधिकारियों में देश, काल, कुल, पुत्र, स्त्री व शास्त्र की अपेक्षा भेद होता है। अर्थात् समस्त देश और सभी कुलों में दायाधिकारी एक समान नहीं होते, जैसे केरल देश में पुत्र की मौजूदगी में भी भागिनेय (भानेज) पैतृक सम्पत्ति पाने का अधिकारी होता है, दूसरा नहीं एवं किन्हीं २ कुलों में दुहिता–लड़कीका लड़का–दायाधिकारी होता है, इत्यादि, परन्तु आचार्य-कुलमें उसका प्रधान शिष्य (जैन धर्मानुसार दीक्षित मुनि) ही आचार्य पदवी के योग्य होगा, अन्य नहीं इसीप्रकार राज–कुल में पट्टरानी का ही ज्येष्ठ पुत्र राज्यपद का अधिकारी होगा, दूसरा नहीं ॥ ४२ ॥

गुरु [1] ने भी देश-कालादि की अपेक्षा दायभाग का विश्लेषण किया है ॥ १ ॥

ज्यादा परिचय (संसर्ग) से किसका अपमान नहीं होता ? सभी का होता है ॥ ४३ ॥ यदि नौकर अपराध करे, तो उसका स्वामी दंडका पात्रहै, परन्तु यदि वह (मालिक) अपने अपराधी नौकर को नहीं निकाले। अर्थात् अपराधी नौकर के छुड़ा देने पर उसका स्वामी सजा का पात्र नहीं ॥ ४४ ॥

वल्लभदेव [2] व गुरु [3] ने भी अति परिचय और नौकर के अपराधी होने से स्वामी के विषय में उक्त बात की पुष्टि की है ॥ १-२ ॥

समुद्रका बड़प्पन किस कामका ? किसी कामका नहीं, जोकि छोटी वस्तु तृणादिको अपने शिरपर धारण करता है और भारी-बड़ी को डुबो देता है। उसी प्रकार साधारण लोगों को सन्मानित तथा बड़े पुरुषों को तिरस्कृत करने वाला स्वामी भी निन्द्य है ॥ ४५ ॥

विष्णुशर्मा [4] ने भी चूड़ामणि के दृष्टान्त द्वारा सेवकों व पुत्रों को यथा-योग्य स्थान में नियुक्त करने का संकेत किया है ॥ १ ॥

---

१ तथा च गुरुः—देशाचारान्नयाचारौ स्त्रियापेक्षासमन्वितौ ? । देयो दायादभागस्तु तेषां चैवानुरूपतः ॥ १ ॥
एकस्मै दीयते सर्वं विभवं रूपसम्भवं । यः स्याद्‌द्भुतस्तु सर्वेषां तथा च स्यात् समुद्भवः ॥ २ ॥

२ तथा च वल्लभदेवः—अतिपरिचयादवज्ञा भवति विशिष्टेऽपि वस्तुनि प्रायः । लोकः प्रयागवासी कूपे स्नानं समाचरति

३ तथा च गुरुः—यः स्वामी न त्यजेद्भृत्यमपराधे कृते सति । तत्तस्य पतितो दण्डो दुष्टभृत्यसमुद्भवः ॥ १ ॥

४ तथा च विष्णुशर्मा:—स्थानेष्वेव नियोज्यन्ते भृत्याश्च निजपुत्रकाः । न हि चूडामणिं पादे कश्चिद्देवात्र संन्यसेत् ॥१

रति (मैथुन), मंत्र व आहार में प्रवृत्त हुए किसी भी पुरुष के पास उस समय न जावे। क्यों कि रति क्रिया में प्रवृत्त पुरुष लज्जा के कारण अपने पास आये हुए मनुष्य से वैर विरोध करने लगता है। इसीप्रकार मंत्रकाल में आये हुए व्यक्ति से मंत्र-भेद की आशंका रहती है; इससे वह भी द्वेष का पात्र होता है। एवं भोजन की वेला में अज्ञान व लोभवश अधिक खाने वाला यदि वमन कर देता है या उसे उदर रोग होजाता है; तो आने वाले का दृष्टिदोष समझाजाता है, जिसके कारण आहार करने वाला उससे घृणा व द्वेष करने लगता है। अतः उक्त रति आदि की वेला में किसी के पास नहीं जाना चाहिये॥ ४६॥ गाय वगैरह पशुओं पर विश्वास न करे चाहे वे अच्छी तरह से परिचित (विश्वसनीय) भी क्यों न हों॥ ४७॥

शुक्र [1] ने भी रति व मंत्र आदि के समय समीप में जाने का निषेध किया है और वल्लभदेव [2] ने पाणिनीय-आदि के घातक सिंह-आदि के दृष्टान्त द्वारा उक्त बात की पुष्टि की है॥ १-२॥

मतवाले हाथी पर आरोहण (चढ़ना) करने वाले मनुष्य के जीवन में सन्देह रहता है और यदि वह भाग्यवश जीवित बच जाता है, तो निश्चय से उसके शारीरिक अङ्गोपाङ्ग भङ्ग होजाते हैं—टूट जाते हैं॥ ४८॥ घोड़े पर सवार होकर जो उससे अत्यधिक विनोद-क्रीड़ा की जाती है, वह सवार के शारीरिक अङ्गोपाङ्ग तोड़े बिना विश्राम नहीं लेती॥ ४६॥

गौतम [3] व रैभ्य [4] ने भी मतवाले हाथी पर सवारी करने से और घोड़े द्वारा अति क्रीड़ा करने से उक्त प्रकार हानि निर्दिष्ट की है॥ १॥

जो ऋणी पुरुष, ऋण देने वाले धनाढ्य पुरुष का कर्जा विना चुकाये मर जाता है उसे दूसरे जन्म में दास होकर उसका ऋण चुकाना पड़ता है, परन्तु साधु, ब्राह्मण व क्षत्रियों पर उक्त नियम लागू नहीं होता क्योंकि साधु व विद्वान ब्राह्मणोंसे धनाढ्योंका हित साधन होता है, अतः वे ऋणी नहीं रहते, इसीप्रकार क्षत्रिय राजा लोग जो प्रजा से टेक्स लेते हैं वह कर्जा ही नहीं कहा जाता॥ ५१॥

नारद [5] ने भी कर्जा न चुकाने वाले के विषय में उक्त बात की पुष्टि की है॥ १॥

जिसका भोजन व शयन रोगादि के कारण सुखदायक नहीं है, उसे अपने शरीर को वैरी समझना चाहिये। क्योंकि जिस प्रकार शत्रु के भय से स्वेच्छा-पूर्वक भोजन व शयन नहीं

---

१ तथा च शुक्रः—रतिमंत्रासन विधं कुर्वाणो नोपगम्यते। अभीष्टतमश्च लोकोऽपि यतो द्वेषमवाप्नुयात्॥ १॥

२ तथा च वल्लभदेवः—सिंहो व्याकरणस्य कर्तुरहरत् प्राणान् प्रियान् पाणिनेः।
मीमांसाकृतमुन्ममाथ तरसा हस्ती मुनिं जैमिनिं॥ १॥
छन्दोज्ञाननिधिं जघान मकरो वेलातटे पिंगलं।
चाज्ञानावृतचेतसामतिरुषां कोऽर्थस्तिरश्चां गुणैः॥ १॥

३ तथा च गौतमः—यो मोहान्मत्तनागेन्द्रं समारोहति दुर्मतिः। तस्य जीवितनाशः स्याद्गात्रभंगस्तु निश्चितः॥ १॥

४ तथा च रैभ्यः—अत्यर्थं कुरुते यस्तु वाजिक्रीडां सकौतुकां। गात्रभंगो भवेत्तस्य रैभ्यस्य वचनं यथा॥ १॥

५ तथा च नारदः—ऋणं यच्छति नो यस्तु धनिकाय कथंचन। देहान्तरमनुप्राप्तस्तस्य दासत्वमाप्नुयात्॥ १॥

किया जाता, उसी प्रकार शरीर के व्याधि-पीड़ित रहने से भी यथेष्ट भोजन व शयन नहीं किया जा सकता ॥५२॥ जो महापुरुष महामुनि समान उत्तम-मध्यम-आदि सभी जाति के अन्न-भक्षण करने की रुचि रखने वाला तथा समस्त प्रकार के शीत उष्ण आदि के कष्ट सहन करने में समर्थ एवं सभी जगह (पाषाणादि) पर सुख पूर्वक निद्रा लेने की प्रकृति-युक्त है, उसे संसार में कोई कार्य असाध्य (न करने योग्य) नहीं ॥ ५३ ॥ यह लक्ष्मी स्त्रीकी प्रीति-समान अस्थिर—नाश होनेवाली है ५४।

जैमिनि [1] व गुरु [2] ने भी रुग्ण शरीर व साधु जीवन के विषय में इसी प्रकार कहा है ॥ १-२॥

वही लोग राजाओं के प्रेमपात्र होते हैं, जो कि उनके समक्ष दूसरों की चुगली किया करते हैं ॥ ५५ ॥ नीच पुरुष दूसरोंकी निन्दा करके अपनेको बड़ा मानता है ॥ ५६ ॥

हारीत [3] व जैमिनी [4] ने भी राजाओंके प्रेमपात्र और नीचपुरुष केबारेमें इसी प्रकारकहा है ॥१-२॥

गुण-कृत महत्त्व, महापुरुष, सत्-असत्संगका असर, प्रयोजनार्थी व निर्धनका धनाढ्य के प्रति कर्त्तव्य, सत्पुरुष-सेवा का परिणाम, प्रयोजनार्थी द्वारा दोष-दृष्टि का अभाव, चित्त प्रसन्न करनेवाली वस्तुएं व राजा के प्रति पुरुष का कर्त्तव्य—

न खलु परमाणोरल्पत्वेन महान् मेरुः किन्तु स्वगुणेन ॥ ५७ ॥ न खलु निर्निमित्तं महान्तो भवन्ति कलुषितमनीषाः ॥ ५८ ॥ स वन्हेः प्रभावो यत्प्रकृत्या शीतलमपि जलं भवत्युष्णं ॥५९॥ सुचिरस्थायिनं कार्यार्थी वा साधुपचरेत् ॥ ६० ॥ स्थितैः सहार्थोपचारेण व्यवहारं न कुर्यात् ॥६१॥ सत्पुरुषपुरश्चारितया शुभमशुभं वा कुर्वतो नास्त्यपवादः प्राणव्यापादो वा।६२। सपदि सम्पदमनुबध्नाति विपच्च विपदं ॥ ६३ ॥ गोरिव दुग्धार्थी को नाम कार्यार्थी परस्परं विचारयति ॥६४॥ शास्त्रविदः स्त्रियश्चानुभूतगुणाः परमात्मानं रञ्जयन्ति ॥६५॥ चित्र—गतमपि राजानं नावमन्येत क्षात्रं हि तेजो महतीसत्पुरुषदेवतास्वरूपेण तिष्ठति ॥ ६६ ॥

अर्थ—जिस प्रकार सुमेरुपर्वत अपने गुण-उच्चता आदि के कारण महान् है न कि परमाणु की लघुता से, उसी प्रकार मनुष्य भी विद्वत्ता व सदाचार-आदि सद्गुणों के कारण महान होता है, न कि किसी के दुष्ट होने से ॥ ५७ ॥ महा पुरुष बिना निमित्त के मलिन बुद्धि-युक्त नहीं होते। अर्थात्-जिस प्रकार दुष्ट लोग बिना प्रयोजन अचानक कुपित हो जाते हैं, वैसे महापुरुष नहीं होते, वे किसी कारण-वश कुपित होते हैं ॥ ५८ ॥

---

१ तथा च जैमिनिः—भोजनं यस्य नो याति परिणामं न भक्षितं । निद्रा सुशयने नैति तस्य कायो निजो रिपुः ॥ १ ॥
२ तथा च गुरुः—नारुचिः क्वचिदन्नान्ये तदन्तेऽपि कथंचन । निद्रां कुर्या हि तस्यापि स समर्थः सदा भवेत् ॥ १ ॥
३ तथा च हारीतः—पैशून्ये निरतो लोको राज्ञां भवति वल्लभः । कातरोऽप्यकुलीनोऽपि बहुदोषान्वितोऽपि च ॥ १ ॥
४ तथा च जैमिनिः—आत्मानं मन्यते भद्रं नीचः परापवादतः । न जानाति परे लोके पाते नरकसम्भवम् ॥ १ ॥

गुरु[1] व भारद्वाज[2] ने भी सुमेरुको महत्ता व महापुरुषोंके विषयमें उक्त वातकी पुष्टि की है। १-२

जिस प्रकार स्वभाव से शीतल जल के उष्ण होने में अग्नि का असर कारण है, उसीप्रकार स्वाभाविक शान्त पुरुष के कुपित होने में दुष्टों की संगति ही कारण समझना चाहिये ॥ ५९ ॥

वल्लभदेव[3] ने भी कहा है कि 'घोड़ा, शस्त्र, शास्त्र, वीणा; वाणी, मनुष्य व स्त्री ये पुरुषविशेष (उत्तम व अधम) को प्राप्त कर योग्य-अयोग्य हो जाते हैं ॥ १ ॥

प्रयोजनसिद्धि चाहने वाले मनुष्य को इसप्रकार के मनुष्य की अच्छी तरह सेवा करनी चाहिये, जो कि चिरकाल तक स्थिरशील होकर उसकी प्रयोजन-सिद्धि में सहायक हो ॥ ६० ॥ दुर्बल-निर्धन पुरुष को स्थिरशील (धनाढ्य) पुरुषोंके साथ धन देने का वर्ताव नहीं करना चाहिये, इससे उसकी अत्यधिक आर्थिक—क्षति—धन व्यय— नहीं होने पाता ॥ ६१ ॥

शुक्र[4] व गुरु[5] ने भी प्रयोजनार्थी एवं निर्धन पुरुषके विषयमें उक्त वातका समर्थन किया है ॥१-२॥

महापुरुषों का ऐसा अपूर्व माहात्म्य है कि उनकी सेवा करने से मनुष्य में ऐसा व्यक्तित्व आ जाता है कि यदि वह असावधानी-वश कोई अच्छा बुरा कार्य कर बैठता है—कोई अपराध कर लेता है—तो लोक में उसको निन्दा नहीं हो पाती और न उसे अपने प्राणों के नष्ट होने का खतरा रहता है। इसी प्रकार सत्पुरुषों की सेवा तत्काल सम्पत्ति उत्पन्न करती है एवं विपत्ति का नाश करती है ॥ ६२-६३ ॥

हारीत[6] ने भी महापुरुषों की सेवा का इसी प्रकार माहात्म्य निर्देश किया है ॥ १-२ ॥

कौनसा प्रयोजनार्थी मनुष्य स्वार्थ सिद्धि के निमित्त गाय से दूध चाहने वाले मनुष्य के समान उसकी प्रयोजन सिद्धि करने वाले दूसरे मनुष्य के आचार का विचार करता है? कोई नहीं करता। अर्थात्—जिस प्रकार गाय से दूध चाहने वाला उसके आचार (अपवित्र वस्तु का भक्षण करना) पर दृष्टिपात नहीं करता, उसी प्रकार प्रयोजनार्थी भी 'अर्थी दोषं न पश्यति'—स्वार्थसिद्धि का इच्छुक दूसरेके दोष नहीं देखता' इस नीति के अनुसार अपनी प्रयोजनसिद्धि के लिये दूसरे के दोषों पर दृष्टिपात न करे ॥६४॥

शुक्र[7] ने भी प्रयोजन सिद्धि के इच्छुक पुरुष का यही कर्त्तव्य बताया है ॥ १ ॥

---

१ तथा च गुरुः—नीचैन कर्मणा मेरुर्न महत्वमुपागतः। स्वभावनियतिस्तस्य यथा याति महत्वतां ॥ १ ॥

२ तथा च भारद्वाजः—न भवन्ति महात्मानो निर्निमित्तं क्रुधान्विताः। निमित्तेऽपि संजाते यथान्ये दुर्जनाः जनाः ॥१॥

३ तथा च वल्लभदेवः—अश्वः शस्त्रं शास्त्रं वीणा वाणी नरश्च नारी च।
पुरुषविशेषं लब्ध्वा भवन्ति योग्या अयोग्याश्च ॥ १ ॥

४ तथा च शुक्रः—कार्यार्थी वा यशोर्थी वा साधु संसेवयेत्स्थिरं। सर्वात्मना ततः सिद्धिः सर्वदा तत्र प्रजायते ॥ १ ॥

५ तथा च गुरुः—महद्भिः सह नो कुर्याद्व्यवहारं सुदुर्बलः। गतस्य गोचरं तस्य न स्यात् प्राणदा महान् व्ययः ॥१॥

६ तथा च हारीतः—महापुरुषसेवायामनपराधेऽपि संस्थिते। नापवादो भवेत् पुंसां न च प्राणक्षयस्तथा ॥ १ ॥
शीघ्रं समान ! नः यो व्यसनान्निर्वर्तयेद्व्यसनं महत्। सत्पुरुषे कृता सेवा कालेनापि च नान्यथा ॥२॥

७ तथा च शुक्रः—कार्यार्थी न विचारं च कुरुते च क्रियान्वितः। दुग्धार्थी च यथा धेनोरमेध्यस्य प्रभक्षणं ॥ १ ॥

जिनके पुष्कल ज्ञान व सदाचार प्रभृति सद्गुणोंसे परिचय हो चुका है, ऐसे विद्वान और कमनीय कान्ताएं (स्त्रियां) मनुष्यको आत्माको अत्यन्त रञ्जायमान (सुखी) करती हैं ॥६५॥ चित्र (फोटो) में वर्तमान राजाका भो तिरस्कार नहीं करना चाहिये, क्योंकि उसमें ऐसा अपूर्व क्षात्र-तेज (क्षत्रियसंबंधी तेज) विद्यमान रहता है, जो कि राज-पुरुषके शरीर में महान् देवता रूप से निवास करता है ॥ ६६ ॥

शुक्र[1] व गर्ग[2] ने भी विद्वानों और कमनीय कामिनियों तथा राजा के विषय में इसी प्रकार का उल्लेख किया है ॥ १-२ ॥

विचारपूर्वक कार्य न करने व ऋण बाकी रखने से हानि, नया सेवक, प्रतिज्ञा, निर्धन अवस्था में उदारता, प्रयोजनार्थी, व पृथक किये हुये सेवक का कर्तव्य—

कार्यमारभ्य पर्यालोचः शिरो मुण्डयित्वा नक्षत्रप्रश्न इव ॥ ६७ ॥ ऋणशेषाद्रिपुशेषादिवावश्यं भवत्यायत्यां भयं ॥ ६८ ॥ नवसेवकः को नाम न भवति विनीतः ॥ ६९ ॥ यथाप्रतिज्ञं को नामात्र निर्वाहः ॥ ७० ॥ अप्राप्तेऽर्थे भवति सर्वोऽपि त्यागी ॥ ७१ ॥ अर्थार्थी नीचैराचरणान्नोद्विजेत्, किन्नाधो व्रजति कूपे जलार्थी ॥ ७२ ॥ स्वामिनोपहतस्य तदाराधनमेव निर्वृत्तिहेतु जनन्या कृतविप्रियस्य हि बालस्य जनन्येव भवति जीवितव्याकरणं ॥७३॥

अर्थ—जो मनुष्य कार्य-आरम्भ करने के पश्चात् उसके होने वाले लाभ का विचार करते हैं, वे शिर मुड़ाकर नक्षत्र प्रश्न (शुभ-अशुभ मुहूर्त का पूछना) करने वाले के समान मूर्ख हैं। अर्थात् जिस प्रकार शिर मुड़ाकर शुभ-अशुभ मुहूर्त पूछना निरर्थक है, उसी प्रकार कार्यारम्भ करके पश्चात् उससे होने वाले हानि-लाभ का विचार करना भी निरर्थक है, अतः कार्य आरम्भके पहिले उस पर विचार कर लेना उचित है, क्योंकि उतावली से किये हुये कार्य हृदय में काँटे चुभने के समान अत्यधिक पीड़ा पहुँचाते हैं ॥ ६७ ॥ जो मनुष्य शत्रु को बाकी रखने की तरह ऋण (कर्जा) बाकी रखता है, उसे भविष्य में भय रहता है, अतः सुखाभिलाषी पुरुष अग्नि, रोग, शत्रु और ऋण इन चार कष्टदायक चीजों को बाकी न छोड़े, अन्यथा ये बढ़कर अत्यन्त पीड़ा पहुँचाती हैं ॥ ६८ ॥

नारद[3] ने भी विचारपूर्वक कार्य करने का एवं शुक्र[4] ने भी अग्नि व रोगादि उक्त चारों चीजों के उन्मूलन करने का उल्लेख किया है ॥ १-२ ॥

कौनसा नया सेवक शुरू में नम्रता प्रदर्शन नहीं करता ? प्रायः सभी करते हैं। अभिप्राय यह है कि नया नौकर शुरू में विश्वसनीय कार्यों द्वारा स्वामीको प्रसन्न करने में प्रयत्नशील रहता है, पश्चात्

---

१ तथा च शुक्रः—स्त्रियं वा यदि वा किञ्चिदनुभूय विचक्षणाः। आत्मानं चापरं वापि रञ्जयन्ति न चान्यथा ॥ १ ॥
२ तथा च गर्गः—नावमन्येत भूपालं हीनकोशं सुदुर्बलं। क्षात्रं तेजो यतस्तस्य देवरूपं तनौ वसेत् ॥ १ ॥
३ तथा च नारदः—अनारम्भेण कृत्यानामालोचः क्रियते पुरा। आरम्भे तु कृते पश्चात् पर्यालोचो वृथा हि सः ॥१॥
शिरसो मुण्डने यद्वत् कृते मूर्खतमैर्नरैः। नक्षत्र एव प्रश्नात्र ? पर्यालोचस्तथैव सः ॥ २ ॥
४ तथा च शुक्रः—अग्निशेषं रिपोः शेषं तृणार्णाभ्यां च शेषकं। पुनः पुनःप्रवर्धेत तस्मान्निःशेषतां नयेत् ॥१॥

विकृत—कार्य में असावधानी करने वाला (आलसी) हो जाता है, अतः नये सेवक पर विश्वास नहीं करना चाहिये ॥ ६६ ॥

वल्लभदेव [1] ने भी लोक में प्रायः सभी मनुष्यों को नये सेवकों की विनय द्वारा एवं अतिथि वेश्याओं व धूर्त लोगो' के मिष्ट वचनो' द्वारा ठगे जाने का उल्लेख किया है ॥ १ ॥

कौन पुरुष इस कलिकाल में की हुई प्रतिज्ञा का निर्वाह (पूर्णरूपसे पालन)करता है ? कोई नहीं करता, अतः खूब सोच समझ कर प्रतिज्ञा लेकर उसका पालन करना चाहिये, अन्यथा प्रतिज्ञा-भङ्ग होने से पुण्य क्षीण हो जाता है ॥ ७० ॥ जब तक धन नहीं मिलता—निर्धन अवस्था में—सभी लोग उदार होते हैं। सारांश यह है कि दरिद्रावस्था में प्रायः सभी लोग प्रचुर दान करने के मनोरथ किया करते हैं कि यदि मैं धनाढ्य होता तो प्रचुर दान करता ॥ ७१ ॥

नारद [2] व रैभ्य [3] ने भी प्रतिज्ञा भङ्ग से पुण्यक्षीण होनेका एवं दरिद्र के त्यागी होनेका उल्लेख किया है ॥ १-२ ॥

स्वार्थी जघन्य पुरुष अपनी प्रयोजन-सिद्धि के लिये नीच आचरण से भयभीत नहीं होते, क्या जलाभिलाषी मनुष्य कुआ खोदने के लिये नीचे नहीं जाता ? अवश्य जाता है। अभिप्राय यह है कि इष्ट प्रयोजन सिद्धि के लिये उत्तम आचरण ही श्रेयस्कर है ॥ ७२ ॥

शुक्र [4] ने भी स्वार्थी पुरुष के विषय में उक्त बात का समर्थन किया है ॥ १ ॥

जिस प्रकार अपराध के कारण माता द्वारा तिरस्कृत किये हुये बच्चे की माता ही जीवन रक्षा करती है, उसी प्रकार अपराध-वश पृथक् किये हुये सेवक को जीवन-रक्षा उसके द्वारा की जाने वाली स्वामी की सेवा शुश्रूषा द्वारा ही होती है।

शुक्र [5] ने भी सेवक के कर्तव्य के विषय में उक्त बात की पुष्टि की है ॥ १ ॥

इति प्रकीर्णक–समुद्देश ।

इति सोमदेवसूरि-विरचित नीतिवाक्यामृत संस्कृत ग्रन्थ की सागर-
(सी० पी०) निवासी परवार जैनजातीय पं० सुन्दरलाल
शास्त्री जैनन्यायतीर्थ, प्राचीनन्यायतीर्थ व
काव्यतीर्थ-कृत भाषा टीका
समाप्त हुई ।

---

१ तथा च वल्लभदेवः—अभिनवसेवकविनयैः [प्राघूर्णिकोक्तैर्विलासिनीरुदितैः] । धूर्तजनवचननिकरैरिह कश्चिद वञ्चितो नास्ति ॥ १ ॥ सं०

२ तथा च नारदः—प्रतिज्ञां यः पुरा कृत्वा पश्चाद्भंगं करोति च । ततः स्याद्गमनिरच हस्स्येव जानन्ति के ? ॥ १ ॥

३ तथा च रैभ्यः—दरिद्रः कुरुते वाञ्छां सर्वदानसमुद्भवां । यावन्नाप्नोति वित्तं स वित्ताप्त्या निपुणो भवेत् ॥१॥

४ तथा च गुरुः—स्वकार्यसिद्धये पुंभिर्नीचमार्गोऽपि सेव्यते । कूपस्य खनने यद्वत् पुरुषेण जलार्थिना ॥ १ ॥

५ तथा च शुक्रः—निःसारितस्य भृत्यस्य स्वामिनिर्वृतिकारणं । यथा कुपितया माता बालस्यापि च सा गतिः ॥ १ ।

ग्रन्थकार की प्रशस्ति

इति सकलतार्किकचक्रचूडामणिचुम्बितचरणस्य, पंचपंचाशन्महावादिविजयोपार्जितकीर्तिमन्दाकिनीपवित्रितत्रिभुवनस्य, परमतपश्चरणरत्नोदन्वतः श्रीमन्नेमिदेवभगवतः प्रियशिष्येण वादीन्द्रकालानलश्रीमन्महेन्द्रदेवभट्टारकानुजेन, स्याद्वादाचलसिंह-तार्किकचक्रवर्तिवादीभपंचानन-वाक्कल्लोलपयोनिधि-कविकुलराजप्रभृतिप्रशस्तिप्रशस्तालङ्कारेण, षण्णवतिप्रकरणयुक्तिचिन्तामणिसूत्रमहेन्द्रमातलिसंजल्प-यशोधरमहाराजचरितमहाशास्त्रवेधसा श्रीसोमदेवसूरिणा विरचितं (नीतिवाक्यामृतं) समाप्तमिति।

अर्थ—समस्त तार्किक-समूह में चूडामणि—शिरोरत्न (श्रेष्ठ), विद्वानों द्वारा पूजे गये हैं चरण-कमल जिनके, पचपन महावादियों पर विजयश्री पानेसे प्राप्ति की हुई कीर्ति-रूपी स्वर्गंगासे पवित्र किये हैं तीन भुवनों को जिन्होंने एवं परम तपश्चरणरूप रत्नोंके रत्नाकर (समुद्र) ऐसे श्रीमत्पूज्य नेमिदेव, उनके प्रिय शिष्य, 'वादीन्द्रकालानल' (बड़े २ वादियोंके लिये प्रलयकालीन अग्निके समान) उपाधि-विभूषित श्रीमान् महेन्द्रदेव भट्टारकके अनुज, 'स्याद्वादाचलसिंह' (स्याद्वादरूप विशाल पर्वतके सिंह) 'तार्किकचक्रवर्ती' 'वादीभपंचानन' (वादीरूप हाथियोंके गर्वोन्मूलन करनेके लिये सिंह सदृश) 'वाक्कल्लोलपयोनिधि' (सूक्ति-तरङ्गोंके समुद्र) 'कविकुलराज' इत्यादि प्रशस्तियाँ (उपाधियाँ) ही हैं प्रशस्त अलङ्कार (आभूषण) जिनके तथा षण्णवतिप्रकरण (९६ अध्याय वाला शास्त्र), युक्तिचिन्तामणि (दार्शनिक ग्रन्थ), त्रिवर्गमहेन्द्रमातलिसंजल्प (धर्मादिपुरुषार्थत्रय-निरूपक नीतिशास्त्र) और यशोधरमहाराजचरित (यशस्तिलकचम्पू) इन महाशास्त्रोंके वृहस्पतिसमान रचयिता श्रीमत्सोमदेवसूरि द्वारा रचा गया यह 'नीतिवाक्यामृत' समाप्त हुआ।

अल्पेऽनुग्रहधीः समे सुजनता मान्ये महानादरः, सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्रचरिते श्रीसोमदेवे मयि।
यः स्पर्धेत तथापि दर्पदृढताप्रौढिप्रगाढाग्रहस्तस्याखर्वितगर्वपर्वतपविर्मद्वाक् कृतान्तायते ॥ १ ॥
सकलसमयतर्के नाकलङ्कोऽसि वादी, न भवसि समयोक्तौ हंससिद्धान्तदेवः।
न च वचनविलासे पूज्यपादोऽसि तत्वं, वदसि कथमिदानीं सोमदेवेन सार्धम् ॥ २ ॥
[दुर्जनाङ्घ्रिपकठोरकुठार] स्तर्ककर्कशविचारणसारः। सोमदेव इव राजनि सूरिर्वादिमनोरथभूरिः ॥३॥ संशोधित व परिवर्तित
दर्पान्धबोधबुधसिन्धुरसिंहनादे, वादिद्विपोद्दलनदुर्धरवाग्विवादे।
श्रीसोमदेवमुनिपे वचनारसाले, वागीश्वरोऽपि पुरतोऽस्ति न वादकाले ॥ ४ ॥

'छोटोंके साथ अनुग्रह, बराबरी वालोंके साथ सज्जनता और पूज्य महापुरुषोंके साथ महान् आदरका बर्ताव करना' यह उच्च व चित्र (आश्चर्यजनक) चरित्र वाले मुझ सोमदेवका सिद्धान्त है तथापि जो व्यक्ति अत्यधिक गर्व वृद्धिसे दुराग्रही होकर मुझसे स्पर्द्धा करता है—ऐंठ दिखाता है—उसके गर्वरूप पर्वतको भेदन करनेके लिये मेरे वचन वज्र-समान व काल-तुल्य आचरण करते हैं ॥ १ ॥ हे वाद-विवाद करने वाले वादी न तो तू समस्त दर्शनशास्त्रों पर तर्क करनेके लिये अकलंक देवके समान है, न जैन सिद्धान्त निरूपण करनेके लिये हंससिद्धान्त देव है और न व्याकरणमें पूज्यपादके समान उसका पारदर्शी है, फिर इस समय पर सोमदेव सूरिके साथ किस विरते पर वार्ता करने तत्पर हुआ है? ॥ २ ॥ श्री सोमदेवसूरि राजाके समान गुण-विभूषित हैं, क्योंकि वे दुर्जनरूप वृक्षोंके

निग्रह करनेके लिये तीक्ष्ण कुठार (कुल्हाड़ी), तर्कशास्त्र (सोमदेवसूरिके पक्षमें न्यायशास्त्र और राज-पक्षमें मुदई-मुद्दायलोंके मुकद्दमेंका न्यायोचित निर्णय) के तीक्ष्ण (गम्भीर) विचार करनेमें बलिष्ठ हैं तथा अपनी लज्जित (दार्शनिक) मनोऽनुकूल प्रवृत्ति द्वारा वादियोंको परास्त करने वाले (राजकीय पक्षमें मुदईके मनोरथोंको पूर्ण करनेवाला-तराजूकी तरह परीक्षा द्वारा मुकदमेकी सत्यताका निर्णायक) हैं ॥ ३ ॥ अत्यधिक अभिमानी पंडितरूप हाथियोंको सिंह समान ललकारने वाले, वादी रूप गजोंको दलित करने वाला दुर्धर विवाद करनेवाले और तार्किकचूड़ामणि सोमदेवसूरिके सामने वादके समय वृहस्पति भी नहीं ठहर सकता, फिर अन्य साधारण पंडित किस प्रकार ठहर सकते हैं ? ॥ ४ ॥

इति ग्रन्थकारकी प्रशस्ति समाप्त

—❀—
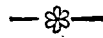
अन्त्य मङ्गल तथा आत्म-परिचय

जो है सत्यमार्गका नेता, अरु रागादि-विजेता है ।
जिसकी पूर्णज्ञान-रश्मि से, जग प्रतिभासित होता है ॥
जिसकी चरणकमल-सेवा से, यह अनुवाद रचाया है ।
ऐसे ऋषभदेवको हमने, शत-शत शीश नवाया है ॥१॥

दोहा—सागर नगर मनोज्ञतम, धर्म-धान्य आगार । वर्णाश्रम आचारका, शुभ्र रूप साकार ॥ २ ॥
जैनी जन तहँ बहु बसें, दया धर्म निज धार । पूज्य चरण वर्णी लसें, जिनसे हों भव-पार ॥ ३ ॥
जैन जाति परवारमें, जनक कन्हैयालाल । जननी हीरादेवि थीं, कान्त रूप गुणमाल ॥ ४ ॥
पुत्र पाँच उनसे भये, पहले पन्नालाल । दूजे कुंजीलाल अरु, तीजे छोटेलाल ॥ ५ ॥
चौथे सुन्दरलाल वा, पंचम भगवतलाल । प्रायः सबही बन्धुजन, रहँ मुदित खुशहाल ॥ ६ ॥
वर्तमान में बन्धु दो, विलसत हैं अमलान । बड़े छोटेलाल वा, सुन्दरलाल सुजान ॥ ७ ॥
भाई छोटेलाल तो करें वणिज व्यापार । जिनसे रहती है सदा कमला मुदित अपार ॥ ८ ॥
बाल्यकालतें मम रुचि, प्रकटी विद्या हेत । तातें हम काशी गये, ललितकला-संकेत ॥ ९ ॥

चौपाई—द्वादश वर्ष साधना करी । गुरु पद-पङ्कज में चित दई ॥
मातृसंस्था में शिक्षा लही । गैल सदा उन्नति की गही ॥ १० ॥
व्याकरण, काव्य, कोष, अति माना । तर्क, धर्म अरु नीति बखाना ॥
वाग्मित्व आदि कला परधाना । नानाविध सिख भयो सुजाना ॥ ११ ॥

दोहा—कलकत्ता कालेज की, तीर्थ उपाधि महान । जो हमने उत्तीर्ण की, तिनका करूँ बखान ॥ १२ ॥

चौपाई—पहली 'न्यायतीर्थ' कूँ जानों । दूजी 'प्राचीनन्याय' प्रमानों ॥
तीजी 'काव्यतीर्थ' को मानों । जिसमें साहित्य सकल समानों ॥ १३ ॥
गुरुजन मेरे विद्यासागर । ललित कला के सरस सुधाकर ॥
पहले शास्त्री अम्बादत्त । जो थे दर्शनशास्त्र महत्त ॥ १४ ॥

दूजे श्रीमद्गुरुगणेश हैं, न्यायाचार्य अरु तीर्थ समान।
वर्णी 'बापू' हैं अति दार्शनिक सौम्य प्रकृति वा सन्त महान ॥ १५॥

दोहा—'सरस्वती' मेरी प्रिया, उनसे हुई सन्तान। एक पुत्र पुत्री-उभय जो हैं बहुगुण खान ॥ १६ ॥
पत्नी मम दुर्दैव बने, सद्यः लीनी छीन। वंश बढ़ावन हेतु है, सुत 'मनहर' परवीन ॥ १७॥
मेरी शिष्य परम्परा भी है अति विद्वान। जिसका अति संक्षेपसे अब हम करें बखान ॥ १८॥
पहले 'महेन्द्रकुमार' हैं, दूजे 'पवनकुमार'। 'मनरञ्जन' तीजे लसैं चौथे 'कनककुमार' ॥ १९ ॥

चौपाई—वि० संवत बीस सै अरु सात, भाद्र शुक्ल चउदश अवदात।
पूर्ण प्रकाशित जब यह हुआ, शुभ उद्यमका मम फल हुआ ॥ २० ॥

दोहा—अल्पबुद्धि परमादतें, भूल चूक जो होय। सुधी सुधार पढ़ो सदा, जातें सज्जन होय ॥ २१ ॥

सुन्दरलाल शास्त्री

प्राचीन न्याय-काव्यतीर्थ

शुद्धि-पत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
होवा	होता है	४४	१०	परणित	परिणत	१६६	८
घेड़े	घोड़े	५४	१	प्नयान	प्नुयान्	१७५	४ टि०
धर्मके विना	धनके विना	५७	६	अदष्टस्य	अदृष्टस्य	१६०	११
बुभुजते	बुभुजाते	५८	८ टि०	स्वयं	स्वयं शुभं	१६३	६ टि०
आर	और	६३	१६	हानशक्ति	हीनशक्ति	१६५	५
कत्तव्य	कर्त्तव्य	१२०	१६	छोड़ेकर	छोड़कर	२६१	१०
भन्न २	भिन्न २	१२६	१७	ऽन्यथ	ऽप्यथ	२६१	२ टि०
गणी	गुणी	१३६	६	ऽप्यवज्ञायकएव	ऽप्यवज्ञायत एव	२६४	११
वेश्यानां	वैश्यानां	१३८	२ टि०	मशुचि	मशुचिं	२६७	२०
मूलवृद्धि	मूल्यवृद्धि	१४५	५	आमदनीके समान	केसमान	२६८	१ टि०
तेव	तेषु	१६०	२४				
पूवदुष्कृत	पूर्वदुष्कृतं	१६०	१ टि०	घनोद्भुवम्	घनोद्भवम्	२६६	४ टि०
परुष	पुरुष	१६१	२४	चुकी	चुका	२७१	१७
नपुंसक	नपुंसकके	१६२	८	बनाता	बनाती	२७६	१३
सिद्धि	सिद्धिं	१६३	२ टि०	कुवन्नथमानौ	कुर्वन्नर्थमानौ	२७८	५
राजा	राज्ञो	१६७	१ टि०	कर्मा	कर्मा	२७६	६

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
हाता है	होता है	३६६	१२	विगीपु	विजिगीपु	३८६	११
ज्ञयं	ज्ञेयं	३६६	१ टि०	जदुर्वल	दुर्वल	३८६	११
दवकृतं	दैवकृतं	३६६	१ टि०	विज्ञायोत्सहा:	विज्ञायोत्साह:	३८६	२१
ध्वस	ध्वंस	३७०	१६	सेव्यवर्जित:	सैन्यवर्जित:	३८६	५ टि०
कौमारवया	कौमारवयो	३७०	११	जनानो	जानानो	३६०	६ टि०
अधम	अधर्म	३७०	१६	यहान	वहाने	३६२	१६
वत्ता	वेत्ता	३७१	२	यर्मविजयी	धर्मविजयी	३६८	८ टि०
स	से	३७२	२	त्तत्रु	शत्रु	३६६	२१
व्यवहार-समुद्देश	षाड्गुण्य-समुद्देश	३६६से३८५		नार्म्या	नाधर्म्या	४०६	२२
				तथवार्ण:	तथैवार्ण:	४०७	२ टि०
यु	युद्ध	३७२	१	भट्टी	भट्टी	४०८	१७
पतनक	पतनके	३७३	६	आयुवाला	आयुवाली	४०८	१६
मानिना	मानिनो	३७६	१७	मामा	मामाकी	४१०	२१
सुवण	सुवर्ण	३८१	८	कुलीता	कुलीनता	४१०	२३
वैरिणु:	वैरिणा:	३८२	७ टि०	सरभावधृत्ति	रसभावधृत्ति	४१२	३
प्रविशेत्	न प्रविशेत्	३८३	७	यत्रागत्याथिनो	यत्रागत्यार्थिनो	४१३	२८
पुयोजन	प्रयोजन	३८३	२७	प्रतिकूलका	प्रतिकूलता	४१६	१०
सर्व	सर्प	३८३	३ टि०	परुष	पुरुष	४१६	१४
परप्रणेया	परप्रणेयो	३८४	१५	पुष्टि	पुष्टि	४१७	१५
दादेव	दावेव	३८६	१२	संत्रामनविधं	मंत्राशनविधं	४२१	२४
असमथ	असमर्थ	३८७	११	साधुपचरेत्	साधूपचरेत्	४२२	१५
उमूल्लन	उन्मूलन	३८७	१४	यशोऽर्थ	यशोऽर्थी	४२३	२६
वद्धिशक्ति	बुद्धिशक्ति	३८७	२३	रमेध्यास्य	रमेध्यस्य	४२३	६ टि०
रिपोवधे	रिपोर्वधे	३८७	५ टि०	तनो	तनौ	४२५	२ टि०
रात्रावदृष्टे	शत्रावदृष्टे	३८८	७ टि०				

भावार्थ:—बाल्यकालमें बालकोंके हृदय नवीन मिट्टीके वर्तनोंकी तरह अत्यंत कोमल होते हैं, इसलिये उनके मानसिक क्षेत्रमें जैसे—प्रशस्त या अप्रशस्त (अच्छे या बुरे) संस्कारोंका बीजारोपण किया जाता है वह स्थायी—अमिट—होता है, अतएव उनके शिक्षक—गुरुजन—उत्तमसंस्कार-युक्त—सदाचारी, कुलीन और विद्वान् होने चाहिये।

वर्ग[1] विद्वान्ने भी कहा है 'जो मनुष्य बाल्यकालमें जिस प्रकारकी अच्छी या बुरी विद्या पढ़ लेता है वह उसीके अनुकूल कार्योंको करता रहता है और पुनः किसी प्रकार उनसे निवृत्त नहीं होता ॥ १ ॥'

निष्कर्ष:—अतः उत्तमसंस्कार-युक्त—भद्रप्रकृति (सदाचारी)होनेके लिये शिष्योंके शिक्षक—गुरुजन—कुलीन, सदाचारी और विद्वान् होने चाहिये ॥ ७४ ॥

अब दुराग्रही—हठी—राजाका होना अच्छा नहीं है इसे बताते हैं:—

अन्ध इव वरं परप्रणेयो[2] राजा न ज्ञानलवदुर्विदग्धः ॥ ७५ ॥

अर्थ:—जो राजा जन्मान्ध—जन्मसे अन्धे पुरुष—के समान मूर्ख है परन्तु यदि वह दूसरे मन्त्री और अमात्य आदि द्वारा कर्त्तव्य मार्ग—सन्धि, विग्रह यान और आसन आदि षाड्गुण्य—में प्रेरित किया जाता है तो ऐसे राजाका होना किसीप्रकार अच्छा है। परन्तु जो थोड़ेसे राजनैतिक-ज्ञानको प्राप्तकर दुराग्रही—हठी—है—अर्थात् सुयोग्य मन्त्री और अमात्य आदिकी समुचित सलाहको नहीं मानता उसका राजा होना अच्छा नहीं है—हठी राजासे राज्यकी क्षति होनेके सिवाय कोई लाभ नहीं।

गुरु[3] विद्वान्ने कहा है कि 'मूर्ख राजा मंत्र—सलाह—में कुशल मंत्रियोंके द्वारा राजनैतिक कर्तव्यों—सन्धि और विग्रह आदि षाड्गुण्य—में प्रेरित कर दिया जाता है, इसलिये वह कुमार्गमें प्रवृत्त नहीं होता परन्तु थोड़ेसे ज्ञानको प्राप्त करनेवाला राजा उसमें प्रवृत्त होजाता है ॥ १ ॥'

निष्कर्ष:—राजाका कर्तव्य है कि वह राजनीतिके विद्वान् और कुशल मन्त्रियोंकी उचित सलाहको सदा माने और कदापि दुराग्रह न करे ॥ ७५ ॥

अब मूर्ख और दुराग्रही राजाका वर्णन करते हैं:—

नीलीरक्ते वस्त्र इव को नाम दुर्विदग्धे राज्ञि रागान्तरमाधत्ते ॥ ७६ ॥

अर्थ:—मूर्ख और दुराग्रही—हठी—राजाके अभिप्रायको नीले रंगसे रंगेहुए वस्त्रके समान कौन बदलनेमें समर्थ होसकता है? कोई नहीं।

---

१ तथा च वर्गः—
कुविद्यां वा सुविद्यां वा प्रथमं यः पठेन्नरः।
तथा कृत्यानि कुर्वाणो न कथंचिन्निवर्तते ॥ १ ॥

२ मु० मू० प्रतिमें 'परमप्राज्ञो' और गवर्न० लायब्रेरी पूनाकी ह० लि० मू० प्रतिमें 'परप्रायो' ऐसा पाठ है परन्तु अर्थभेद कुछ नहीं, तथापि विचार करनेसे संस्कृत टी० पु० का पाठ सुन्दर प्रतीत हुआ।

३ तथा च गुरुः—
मंत्रिभिर्मंत्रकुशलैरन्धः संचार्यते नृपः।
कुमार्गेण न स याति स्वल्पज्ञानस्तु गच्छति ॥ १ ॥

भावार्थः—जिसप्रकार नीले रंगसे रंगे हुए वस्त्रपर दूसरा रंग नहीं चढ़ाया जासकता उसीप्रकार मूर्ख और हठी राजाका अभिप्राय—विचार—भी किसीके द्वारा बदला नहीं जा सकता।

नारद[1] विद्वान्ने भी उक्त बातका समर्थन किया है कि 'नील रंगसे रंगे हुए वस्त्रके समान दुराग्रही राजाकी बात किसीके द्वारा बदली नहीं जा सकती ॥ १ ॥'

निष्कर्षः—मूर्ख और दुराग्रही राजासे राष्ट्रकी हानि—क्षति—होती है, क्योंकि वह आप्त—हितैषी—पुरुषोंकी पथ्य—हितकारक—बातकी अवहेलना करता है जिससे राष्ट्रकी श्रीवृद्धि नहीं हो पाती ॥ ७६ ॥

अब पथ्य—हितकारक—उपदेश देनेवाले विद्वानोंके प्रति संकेत करते हुए उन्हें कर्तव्य मार्ग बताते हैं:—

यथार्थवादो विदुषां श्रेयस्करो यदि न राजा गुणप्रद्वेषी ॥ ७७ ॥

अर्थः—यदि राजा गुणोंसे द्वेष नहीं रखता—गुणग्राही है, तो उसके समक्ष यथार्थ वचन बोलना—तत्काल अप्रिय होने पर भी भविष्यमें कल्याणकारक बचन बोलना—विद्वानोंके लिये कल्याणकारक है, अन्यथा नहीं।

हारीत[2] विद्वान्ने भी कहा है कि 'राजाके समक्ष विद्वानोंके द्वारा कहे हुए यथार्थवचन—पथ्यरूप उपदेश—उन्हें तब कल्याणकारक होसकते हैं जब राजा गुणोंसे द्वेष न करता हो ॥ १ ॥'

अब स्वामीके प्रति विद्वानोंका कर्तव्य निर्देश करते हैं:—

वरमात्मनो मरणं नाहितोपदेशः स्वामिषु ॥ ७८ ॥

अर्थः—शिष्ट पुरुषको एक बार मर जाना उत्तम है परन्तु उसे अपने स्वामीके प्रति अहितकारक मार्ग का उपदेश देना अच्छा नहीं ॥ ७८ ॥

व्यास[3] विद्वानने कहा है कि 'यदि राजा अपनी हितकारक बातको ध्यान देकर नहीं भी सुनता हो, तथापि मन्त्रियोंको उसे कर्तव्य-पथ पर आरूढ़ करनेके लिये हितकी बात समझाते रहना चाहिये।

---

१ तथा च नारदः—

दुर्विदग्धस्य भूपस्य भावः शक्येत नान्यथा।
कर्तुं वर्णोऽत्र यद्वच्च नीलीरक्तस्य वाससः ॥ १ ॥

२ तथा च हारीतः—

श्रेयस्कराणि वाक्यानि स्युरुक्तानि यथार्थतः।
विद्वद्भिर्यदि भूपालो गुणद्वेषी न चेद्भवेत् ॥ १ ॥

३ तथा च व्यासः—

अशृण्वन्नपि बोद्धव्यो मंत्रिभिः पृथिवीपतिः।
यथात्मदोषनाशाय विदुरेणाम्बिकासुतः ॥ १ ॥